राजनीति-विज्ञान

आशाराम एम० ए०

अध्यापक, राजनीति विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

तथा

पन्नालाल श्रीवास्तव एम० ए०



कलकत्ता ★ इलाहाबाद ★ पटना

प्रधान कार्यालय
बुकलैण्ड लिमिटेड
१, शंकर घोष लेन, कलकत्ता - ६

शाखाएँ
बुकलैण्ड लिमिटेड
२११।१, कार्नवालिस स्ट्रीट,
कलकत्ता - ६

४४, जान्स्टन गंज, इलाहाबाद - ३

पटना मार्केट, रूम नं० ११२
पटना - ४

प्रथम संस्करण, जून १९५५
मूल्य ७॥)

श्री जानकीनाथ बसु, एम० ए०, बुकलैण्ड लि०, १, शंकर घोष लेन, कलकत्ता ६ द्वारा प्रकाशित तथा श्री आनन्द्र शर्मा, जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स लि०, ३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता ७ द्वारा मुद्रित ।

भूमिका

इस ग्रन्थ के लिखने का उद्देश्य यह है कि विश्वविद्यालय के राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियों को हिन्दी में एक अच्छा पाठ्य ग्रन्थ सुलभ हो सके। जब से विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो गई है, तब से विभिन्न विषयों पर राष्ट्रभाषा में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। इसी कार्य में हमने भी अपनी शक्ति के अनुसार योग देने का प्रयत्न किया है। यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के सब विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। हम चाहते यह हैं कि इस एक ग्रन्थ से इस विषय के विद्यार्थियों की अधिक से अधिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में सब विद्यार्थियों के लिये अंगरेजी भाषा में उपलब्ध कीमती पुस्तकें खरीदना सम्भव नहीं है।

हमारे लिये यह कहना अधिक होगा कि हमने इस ग्रन्थ में नये विचार रखे हैं; परन्तु इतना तो हम कह ही सकते हैं कि राजनीति-विज्ञान पर उपलब्ध सामग्री को हमने क्रमबद्ध तरीक़े से सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। चूँकि अभी इस विषय पर कोई सर्वमान्य शब्दावली उपलब्ध नहीं है, इसलिये आवश्यकतानुसार हिन्दी शब्दों के साथ कहीं-कहीं अँगरेज़ी शब्द भी दे दिये हैं, जिससे विद्यार्थी विषय को आसानी से समझ सकें।

संसार की राजनीतिक विचारधाराओं पर इस समय जितना संघर्ष और संक्रमण हो रहा है उतना शायद पहले कभी नहीं हुआ था। एक ओर धमकी और भय है तो दूसरी ओर सह-अस्तित्त्व और पंचशील है और इन सबके ऊपर मानव जीवन है। अतएव हमारे विद्यार्थियों को इस शास्त्र के अध्ययन में दिलचस्पी लेनी चाहिये। यदि यह ग्रन्थ उनके अध्ययन में कुछ भी सहायक हो सका तो हम अपना प्रयास सफल मानेंगे।

आशाराम एम० ए०

पन्नालाल श्रीवास्तव एम० ए०

विषयानुक्रमणिका

राजनीति विज्ञान

अध्याय १

विषय-प्रवेश

(Introduction)

राजनीति विज्ञान सुसंगठित मानव समाज के जीवन के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन है। प्रारम्भ से लेकर मानव समाज संगठन और सभ्यता की ओर बहुमुखी प्रगति करता आ रहा है। राजनीतिक प्रगति इस प्रगति का एक अंग या पहलू है और राजनीति विज्ञान इसी अंग का अध्ययन तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करता है और उसके आधार पर कुछ सिद्धान्त निर्धारित करता है। जब हम यह कहते हैं कि राजनीति विज्ञान मानव समाज का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, तो हमारा यह तात्पर्य है कि हम मानव समाज की उस संस्था का अध्ययन करते हैं, जिसे राज्य कहते हैं। सामाजिक जीवन के सब पहलुओं के अध्ययन करनेवाले शास्त्र या विज्ञान को समाज विज्ञान कहते हैं। लेकिन सामाजिक जीवन के राजनीतिक पहलू का अध्ययन करनेवाले विज्ञान को राजनीति विज्ञान कहते हैं। आज मनुष्य समाज कई राजनीतिक इकाइयों अर्थात् राज्यों में बँटा हुआ है, जिन्हें हम राज्य कहते हैं। इन राज्यों की अपनी-अपनी शासन-प्रणालियाँ होती हैं, जिन्हें हम सरकार कहते हैं। इन्हीं दोनों का, अर्थात् राज्य और सरकार का अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है। आज-कल इस सम्बन्ध में राजनीति विशारदों में मतभेद है कि इस विज्ञान के अन्तर्गत किन-किन बातों का अध्ययन किया जा सकता है। लेकिन इस बात पर सब विद्वान सहमत हैं कि अध्ययन का आधार और केन्द्र राज्य (State) तथा सरकार (Government) हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान में हम भूत तथा वर्तमान राजनीतिक समाजों और संस्थाओं का क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ग्रीस देश का प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री अरिस्टॉटल (Aristotle) आधुनिक राजनीति विज्ञान का जनक माना जाता है। उसने लिखा है कि "राज्य का प्रारम्भ जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हुआ और उच्चतर तथा श्रेष्ठतर जीवन की उपलब्धि के लिये उसका अस्तित्व जारी

रहा।"[१] उसने लिखा है कि स्वभाव से ही मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।[२] मनुष्य की प्रकृति सामूहिक जीवन में रहने की है। सामूहिक जीवन में उसे पारस्परिक सहयोग द्वारा कई प्रकार के उपभोग प्राप्त होते हैं। भौतिक लाभों तथा सुरक्षा सम्बन्धी सुविधाओं ने ही राज्य नाम की सामाजिक संस्था को जन्म दिया। इंगलैंड

राजनीति विज्ञान क्या है?

के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एडमन्ड बर्क ने लिखा है कि "राज्य नामक संस्था के प्रति हमें श्रद्धा रखनी चाहिए तथा उसका आदर करना चाहिये, क्योंकि उसका उद्देश्य केवल मनुष्य की पाशविक, भौतिक और अस्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं है। बल्कि उसका उद्देश्य मनुष्य जीवन की पूर्णता प्राप्त करना है। सम्पूर्ण विज्ञान कला, नैतिकता तथा सद्गुणों की उच्चतम अनुभूति ही राज्य का उद्देश्य होता है। यह लक्ष्य केवल एक या कुछ पीढ़ियों में साध्य नहीं हो सकता। यह तभी सम्भव है, जब हम भूत, वर्तमान तथा भविष्य की पीढ़ियों से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध रखें।"[३] राज्य के सम्बन्ध में इससे अधिक भावपूर्ण और उच्च विचार शायद ही कहीं मिलें। अन्य विद्वानों ने राज्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे इन्हीं विचारों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। उदाहरण के लिये ब्लुशली (Bluntschli) ने कहा है कि "राजनीति विज्ञान राज्य की मूल प्रकृति, सर्वांगीण परिस्थितियों, उसके विभिन्न रूप तथा विकास की प्रगति का अध्ययन करता है।" राज्य की व्याख्या करते हुए प्रोफेसर गारनर ने लिखा है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में निम्नलिखित बातें शामिल रहती हैं। पहले तो वह राज्य को सामाजिक कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन मानता है और इस दृष्टि से उसकी प्रकृति और संगठन का अध्ययन करता है। दूसरे वह राजनीतिक संस्थाओं की रूपरेखा और इतिहास का अध्ययन करता है तथा तीसरे इस अध्ययन के आधार पर राज-

---

१ "The state originated in the bare needs of life and continued in existence for the sake of good life." (**Aristotle**)

२ "Man is by nature a political animal." (**Aristotle**)

३ "The state is to be looked on with reverence, because it is not a partnership in things subservient only to the gross animal existence of a temporary and perishable nature. It is a partnership in all science, a partnership in all art ; a partnership in every virtue and in all perfection. As the ends of such a partnership cannot be obtained in many generations, it becomes a partnership not only between those who are living, but between those who are living, those who are dead and those who are to be born."

(Edmund Burke—"Reflections on the French Revolution.")

नीतिक विकास सम्बन्धी नियम निर्धारित करता है। सबसे संक्षिप्त परिभाषा जेनेट (Janet) की है। उसने लिखा है कि राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अंग है, जो राज्य के मूल आधारों तथा शासन के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।

राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में जब हम इन विभिन्न विद्वानों के मतों और परिभाषाओं पर विचार करते हैं, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनीति विज्ञान का पहला उद्देश्य राज्य की प्रकृति का अध्ययन करना है। वह राज्य को सामाजिक कल्याण-साधन का सर्वश्रेष्ठ साधन मानता है और इसी दृष्टि से नागरिक जीवन के सिद्धान्त निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। इसके लिये वह पहले राज्य की बाहरी रूपरेखा या संगठन का विश्लेषण करता है। फिर यह देखता है कि राज्य का व्यक्ति तथा अन्य राज्यों के साथ क्या सम्बन्ध है। यह अध्ययन और विश्लेषण विभिन्न राज्यों की गति-विधि के अवलोकन द्वारा होता है। प्रत्येक देश में एक मानव समाज होता है, उसमें एक शासन संगठन होता है। उस शासन की सत्ता, उसका संगठन अपनी एक विशेषता रखता है। विभिन्न युगों और विभिन्न देशों में शासन के रूप भिन्न-भिन्न होते आये हैं। इन्हीं का अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है। दूसरा काम राजनीति विज्ञान यह करता है कि वह राजनीतिक संस्थाओं के प्रारम्भ और विकास का अध्ययन करता है। कोई भी वस्तु धीरे-धीरे विकसित होती है। आज हम प्रजातन्त्र को जिस रूप में देखते हैं, वह इससे बहुत ही भिन्न रूप में प्रारम्भ हुआ था। प्रजातन्त्र में नागरिकों के राजनीतिक अधिकार प्रारम्भिक काल में बहुत ही सीमित थे। अन्य कलाओं तथा संस्थाओं की तरह राजनीतिक संस्थाओं का विकास भी बहुत धीरे-धीरे हुआ करता है। लेकिन मनुष्य की बुद्धि हमेशा गतिवान रहती है। इस लिये राजनीतिक संस्थाओं का विकास भी क्रमशः होता है। राजनीति विज्ञान यह देखता है कि विभिन्न युगों और देशों में राज्य और उसके शासन के स्वरूपों का विकास कैसे हुआ है। इसीलिये ट्रीट्स्के (Treitschke) नामक जर्मन लेखक ने लिखा है कि राजनीति विज्ञान को संसार के विभिन्न राज्यों के अध्ययन के आधार पर यह देखना चाहिये कि संसार के विभिन्न भागों में राज्य के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं। दूसरी बात यह देखनी चाहिये कि विभिन्न देशों में लोगों ने किस प्रकार के राज्य को चुना है और उसके सहारे उन्होंने कितनी और कैसी उन्नति की है। उनकी उन्नति अथवा अवनति में उनके राज्य का योग किस हद तक रहा है। अर्थात् यह अध्ययन सर्वांगीण होना चाहिये। जैसा कि लीकॉक ने लिखा है, राजनीति विज्ञान का

अध्ययन का उद्देश्य

अध्ययन तुलनात्मक और गत्यात्मक होना चाहिये, एकांगी और स्थैतिक नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीति में केवल संस्थाओं का भूतकाल के ज्ञान से समस्त अध्ययन पूरा नहीं हो जाता। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक कारणों से राज्यों में उथल-पुथल हुआ करती है। इनके कारण राजनैतिक परिवर्त्तन भी हुआ करते हैं। राजनीति विज्ञान किसी परिस्थिति को अन्तिम नहीं मानता। वह हमेशा परिवर्त्तन स्वीकार करने को तैयार रहता है। प्रत्येक परिस्थिति परिवर्त्तनशील होती है। इसलिये उस पर आधारित मान्यतायें या निष्कर्ष में भी परिवर्त्तन हो सकते हैं।

इसलिये राजनीतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के बाद राजनीति विज्ञान को यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि कौन से नियमों के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ है। अर्थात् राजनीति विज्ञान को राजनीति के नियम निर्धारित करना चाहिये। राज्य को किन नियमों के आधार पर काम करना चाहिये। यह विज्ञान वे नियम निर्धारित करता है, जिनके आधार पर सरकारें काम करती हैं, शासन चलाती हैं। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के तीन कार्य होते हैं—एक तो वह इस बात का विश्लेषण करता है कि राज्य क्या है। दूसरे वह यह ऐतिहासिक अध्ययन करता है कि भूतकाल में राज्य के स्वरूप क्या रहे हैं और तीसरे नैतिक विचार के आधार पर वह यह निर्धारित करता है कि राज्य का रूप कैसा होना चाहिये। इस अध्ययन के लिये इस विज्ञान में तीन आधार होते हैं—राज्य, (State), सरकार (Government) और कानून (Law)। आज मानव जीवन बहुत सुसंगठित और विस्तृत हो गया है। हम पूरे मानव समाज को एक इकाई मान सकते हैं। यदि संसार के एक कोने में कोई घटना घटती है तो उसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। इसीलिये अमेरिकन राजनीतिज्ञ स्वर्गीय वेन्डल विल्की ने अपनी पुस्तक "एक विश्व" (One World) में सम्पूर्ण मानव समाज की एकरूपता दिखाई है। अतएव राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र भी बहुत बढ़ गया है।

एक बात की चर्चा करना यहाँ आवश्यक है। ऊपर हमने कहा है कि आधुनिक राजनीति विज्ञान का जनक प्राचीन ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक अरिस्टॉटल माना जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हमारे देश में राजनीतिशास्त्र अज्ञात था। महाभारत, धर्मशास्त्र, बार्हस्पत्य नीति, कौटिल्य नीति इत्यादि में राजनीतिशास्त्र का विस्तृत अध्ययन पाया जाता है। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने "हिन्दू राजतन्त्र" (Hindu Polity) नामक ग्रन्थ में इसका विस्तृत अध्ययन किया है। लेकिन वर्तमान आधुनिक

रूप में यह शास्त्र हमें पश्चिम से ही प्राप्त हुआ है। और पश्चिम ने यह शास्त्र अन्य कई शास्त्रों की तरह ग्रीस से प्राप्त किया और कालान्तर में उसके रूप में बहुत से परिवर्त्तन हुए। आज सारा विश्व पश्चिमी विचारधारा के अनुसार पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं को अपना रहा है। हमने भी अपने देश में उन्हें अपनाया है। अतएव इस ग्रन्थ में हम उसी राजनीति विज्ञान का अध्ययन करेंगे जिसे पश्चिम ने विकसित किया है।

बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता क्या है? इसका उत्तर बहुत आसान है। वर्तमान समय में इस विज्ञान का जो महत्त्व है, उसे देखते हुए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज प्रत्येक नागरिक के जीवन पर राजनीति का प्रभाव अविच्छिन्न रूप से किसी-न-किसी रूप में पड़ता रहता है। संगठित समाज में प्रत्येक व्यक्ति मतदाता, करदाता इत्यादि के रूप में राज्य से सम्बन्धित है। राज्य उसे कुछ अधिकार देता है और उसके लिये कुछ कर्त्तव्य निर्धारित करता है। राजनीतिक दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अपने जीवन की पूर्णता केवल राज्य के संगठन में रहकर ही प्राप्त कर सकता है। राज्य मनुष्य जीवन की उन्नति की पराकाष्ठा का प्रतीक है। कहा जाता है कि प्रत्येक समाज को उसके अनुरूप सरकार मिलती है।[1] इस कथन में सत्य की प्रचुर मात्रा निहित है।

अध्ययन की उपयोगिता

राजनीति विज्ञान में हम मनुष्य के सामाजिक कृत्यों का अध्ययन एक विशिष्ट दृष्टिकोण से करते हैं। अर्थात् हम मनुष्य का अध्ययन करते हैं। कोई भी ज्ञान या विज्ञान हो उसका उद्देश्य उच्चतम आत्मानुभूति और आत्म-कल्याण है। राजनीति विज्ञान एक राजनीतिक समाज में मनुष्य की प्रकृति का अनुभव प्राप्त करता है। अर्थात् उसे आत्म-समीक्षा या आत्म-दर्शन करने का मौका देता है।

फिर इस विज्ञान के अध्ययन में हम विभिन्न देशों की शासन-प्रणालियों का अध्ययन करते हैं और यह देखते हैं कि उनके आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं। उनके आधार पर हम अपनी शासन-प्रणाली में उपयुक्त परिवर्त्तन कर सकते हैं। हमारे देश का संविधान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपने संविधान के अध्ययन से हम यह बात सहज ही जान सकते हैं कि उसमें कई देशों के संविधानों की श्रेष्ठ बातों का समावेश है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन हमें सजग रखता है। हमें इस बात की चेतावनी देता रहता है कि कहीं नागरिक हानिप्रद विचारों को स्वीकार करके राजतन्त्र को

१ "A people get a Government they deserve."

भ्रष्ट और निरंकुश न बनाने दें। कभी-कभी विचारधाराओं ने समाज को बड़ी हानि पहुँचाई है और हिटलर मुसोलिनी को भी उत्पन्न किया है, यह सर्वविदित है। विचारों का प्रभाव हित और अनाचार भी बड़ी व्यापकता से होता है। और कोई विचारधारा यह कहती है कि कुछ व्यक्तियों का संघ ही समाज की अच्छी संस्था के लिए लाभकर है, तो दूसरी राजनीतिक व्यवस्था इसे दूर करने का सामर्थ्य रख सकता है और उसे दूर भी कर सकता है। अत्याचारी मनुष्यों के समान विचार और संस्थाएं भी आततायी हो सकती हैं। राजनीतिक विज्ञान इस ओर इसका संकेत कर सकता है। आर० एच० सोल्टो (R. H. Soltau) ने कहा है कि मनुष्य की तरह राज्य भी स्वार्थ और लालच तथा अन्य प्रकार के प्रलोभन में आसानी से पड़ सकते हैं। जब कुछ प्रलोभन आते हैं, तो व्यक्तियों को दोषी ठहराया जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास से इसके उदाहरण मिल सकते हैं। कैथोलिक चर्च और इन्क्वीजीशन का इतिहास इसका साक्षी है। यह देखा गया है कि मनुष्य के सामूहिक जीवन में बुरे विचारों ने बुरे कार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक हानि पहुँचाई है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि संस्थाएँ मनुष्य के लिये होती हैं। मनुष्य संस्थाओं के लिये नहीं होता। राज्य का उद्देश्य मनुष्य का कल्याण साधन है, उसे अपना दास बनाना नहीं। यह लक्ष्य तभी सध सकता है, जब हम राजनीतिक विज्ञान का गहन और यथार्थ अध्ययन करते रहें।

इन तर्कों के बावजूद भी कुछ लोग राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि यह एक रूखा विषय है, जिससे हमें कोई वास्तविक और प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता। उनका मत है कि इस विज्ञान का वास्तविकता से प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके सिद्धान्तों को व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। इसके तर्कवितर्क थोथे व काल्पनिक अनुमानों और आधारहीन मान्यताओं को लेकर चलते हैं, यह विज्ञान निश्चित अर्थात् नपा-तुला नहीं है। जैसे कि, विवादग्रस्त प्रश्नों पर यह निश्चित राय नहीं दे सकता और सबसे बड़ी बात यह है कि वास्तविक राजनीति में कभी-कभी इसके भयावह परिणाम होते हैं। इन आलोचकों को प्रोफेसर गेटेल[१] ने बड़ा अच्छा उत्तर दिया है। उनका कहना है कि यह विज्ञान राजनीति में प्रयोग में आनेवाले शब्दों को सुनिश्चित और यथार्थ स्वरूप तथा भावना प्रदान करता है। हम एक तर्कपूर्ण ढंग से विचार कर सकते हैं और उन्हें ईमानदारी के साथ प्रकट कर सकते हैं। राजनीतिक विज्ञान इतिहास की टीका करने में

१ Gettell. "History of Political Thought."

बड़ी सहायता करता है। यदि हमें भूतकाल की राजनीतिक विचारधारा का ज्ञान अच्छा होगा, तो हम वर्तमान राजनीति की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय गुत्थियों को अच्छी तरह जल्दी समझ सकते हैं। यदि राजनीति विज्ञान के ठोस सिद्धान्तों को वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं में लागू किया जाय, तो हमारी राजनीतिक प्रगति बड़ी संतोषप्रद होगी। उसमें हमें कभी धोखा नहीं खाना पड़ेगा। क्योंकि; राजनीति विज्ञान बहुत ही ऊँचे किस्म की विचार-शक्ति का परिचय देता है। यदि शासन की रूपरेखा मनुष्य की बुद्धि द्वारा प्रभावित होती है, तब तो हमें इस विज्ञान की उपादेयता में किसी किस्म का सन्देह होना ही नहीं चाहिये। इस प्रकार राजनीति विज्ञान बहुत ही व्यावहारिक और महत्त्वपूर्ण विषय है। यह एक प्रत्यक्ष और व्यावहारिक विषय का बौद्धिक अध्ययन है।

अध्ययन के लाभ

इसलिये यह कहना सही नहीं है कि राजनीति विज्ञान का वास्तविक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्यक्ष राजनीति का क्षेत्र ऐसा है कि उसमें कदम-कदम पर गम्भीर विश्लेषण और उपयुक्त यथार्थ परिभाषा की आवश्यकता होती है। व्यावहारिक राजनीति ठोस दर्शन का आधार और नैतिकता का परिधान चाहती है और राजनीति विज्ञान ही उसे यह देता है। राजनीति का सफल खिलाड़ी नैतिक औचित्य के बल पर आगे बढ़ता है। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि जहाँ राजनीति का प्रयोग होगा; वहाँ राजनीति के सिद्धान्त अवश्य होंगे। आइवर ब्राउन ने ठीक ही कहा है कि यदि हम सामाजिक जीवन के वास्तविक मूल्य को पहचान कर व्यवहार बुद्धि से काम लें तो राजनीति विज्ञान का अध्ययन प्रत्यक्ष रूप में फलदायक हो सकता है।

कई विद्वानों का मत है कि इस विषय को "राजनीति विज्ञान" का जो नाम दिया गया है, वह उपयुक्त नहीं है। उन्हें विज्ञान शब्द स्वीकार करने में विशेष रूप से आपत्ति है। यदि हम केवल भारतीय दृष्टिकोण से और केवल भारतीय विचारधारा के आधार पर अपना अध्ययन करते होते, तो आसानी से हम इस विषय को राजनीतिशास्त्र कह सकते थे और शायद उस पर कोई आपत्ति नहीं करता। हमारे यहाँ ज्योतिषशास्त्र, न्यायशास्त्र, मीमांसाशास्त्र इत्यादि कई शास्त्र होते हैं। राजनीति को भी शास्त्र कहने में कोई आपत्ति नहीं करता। परन्तु हम यहाँ एक मूलतः पश्चिमी विषय को पश्चिमी विचारधारा के अनुसार अध्ययन कर रहे हैं। पश्चिम में विज्ञान का बोलबाला है। यह सभ्यता ही विज्ञान के आधार पर खड़ी है। पश्चिमी विद्वान प्रत्येक विषय को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना चाहते हैं। इसी कारण वे अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र

नाम और शब्द की विवेचना

और राजनीतिशास्त्र इत्यादि विषयों को भी एक विज्ञान मानते हैं। किन्तु हमारे यहाँ प्रत्येक शास्त्र में धर्म और प्रथाओं तथा पारलौकिकता इत्यादि का सम्मिश्रण रहता है। पश्चिम में जब किसी विषय का अध्ययन किया जाता है, तो उसे शुद्ध तर्क, इतिहास प्रयोग और वास्तविकता के आधार पर किया जाता है। ग्रीस देश के विद्वानों ने यह तरीका प्रारम्भ किया और बाद में पश्चिम ने इसे स्वीकार कर लिया।

क्या राजनीति एक विज्ञान है?

लेकिन मुश्किल यह है कि बहुत से पश्चिमी विद्वान भी राजनीति को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। उनका मत है कि भौतिक-शास्त्र या रसायनशास्त्र की तरह इसकी कोई प्रयोग-शाला नहीं होती। इन विज्ञानों की प्रयोगशालाओं में बहुत से प्रयोग किये जाते हैं और उनके आधार पर इनके सिद्धान्त बनाये जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोग राजनीति में सम्भव नहीं हैं। राज्य की चालक शक्ति मनुष्य होता है। मनुष्य के कार्य तथा कार्य-कारण इतने विस्तृत होते हैं कि उन्हें सामान्य नियमों के दायरे में सीमित करना सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्टे[१] ने तीन तर्कों के आधार पर राजनीति को विज्ञान मानने से इनकार कर दिया। उसका मत था कि एक तो राजनीति के विचारक अपने सिद्धान्तों की प्रणालियों और निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। दूसरे राजनीति के विकास में कोई शृंखला नहीं पाई जाती। तीसरे इसमें ऐसी सामग्री नहीं पाई जाती जिसके आधार पर नियम बनाये जा सकें। यह कहना एक हद तक ठीक है। पर हमें यह भी सोचना चाहिये कि राज्य की क्रियाशीलता इतनी व्यापक, इतनी बहुमुखी और इतनी गुथी हुई होती है कि उसे भौतिक विज्ञानों की नपी-तुली कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। भौतिक विज्ञानों की सुनिश्चितता की हमें इसमें आशा नहीं करनी चाहिये। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र इत्यादि ऐसे विज्ञान हैं, जो जड़ पदार्थों पर प्रयोग करते हैं। इन जड़ पदार्थों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। ये जड़ पदार्थ सब जगह और सब समय एक से होते हैं। लेकिन; मनुष्य प्रकृति में हमेशा अन्तर होता है। सब मनुष्य एक से नहीं होते। परिस्थितियाँ उनके कार्यों पर अपना प्रभाव डालती हैं। इसलिये राजनीति में हम ऐसा सिद्धान्त निर्धारित नहीं कर सकते, जो सब समय और सब परिस्थितियों में लागू हो।

---

१ Auguste Comte—"Positive Philosophy."

फिर भी राजनीति को समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र इत्यादि की तरह विज्ञान इसलिये माना जाता है कि वैज्ञानिक तरीकों के अनुसार इसका अध्ययन किया जाता है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में बहुत से प्रयोग किये जाते हैं, उनकी क्रिया का अवलोकन किया जाता है, परिणामों का वर्गीकरण किया जाता है और तब उनके आधार पर नियम निर्धारित किये जाते हैं; उसी प्रकार राजनीति में भी घटनाओं का क्रमिक रूप से अवलोकन किया जाता है, उनका वर्गीकरण किया जाता है और तब उनके आधार पर नियम निर्धारित किये जाते हैं। राजनीति के विद्यार्थियों के लिये इतिहास का घटनाचक्र एक महान प्रयोगशाला है। राजनीति के विद्यार्थी भौतिकशास्त्र के विद्यार्थियों की तरह स्वयं प्रयोग तो नहीं करते, पर इतिहास में जो प्रयोग होते रहते हैं, उनका गहन और सूक्ष्म अवलोकन तथा अध्ययन और वर्गीकरण करते रहते हैं। कहा जाता है कि राजनीति के महान विशारद अरिस्टॉटल ने अपने समय में प्रचलित १५८ संविधानों का अध्ययन किया था और उस अध्ययन के आधार पर क्रान्ति के कारण निर्धारित किये थे और यह भी बतलाया था कि राजनीतिक क्रान्तियाँ कैसे रोकी जा सकती हैं। राजनीति का विद्यार्थी प्रयोग के रूप में एक प्रान्त में निर्वाचित न्यायाधीश और दूसरे प्रान्त में नाम निर्देशित न्यायाधीश नियुक्त नहीं कर सकता कि देखें वे किस तरह काम करते हैं। अथवा वह भारत में अपने तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाँच वर्ष के लिये तानाशाही और पाँच वर्ष के लिये प्रजातन्त्र स्थापित नहीं कर सकता। लेकिन; वह सन् १६८८ की इंगलैण्ड की राज्यक्रान्ति का, सन् १७८९ की फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का सन् १८५७ की भारत की राज्यक्रान्ति का और सन् १९१७ की रूस की राज्य-क्रान्ति का तुलनात्मक अध्ययन कर सकता है। यदि वह डिक्टेटरशिप या तानाशाही का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहे तो इटली में मुसोलिनी, जर्मनी में हिटलर और रूस में स्टॉलिन के शासन कालों का अध्ययन कर सकता है। इंगलैण्ड और भारत में न्यायाधीश नियुक्त किये जाते हैं। राज-नीतिक दलबन्दी से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। लेकिन अमेरिका में न्यायाधीश जनमत द्वारा निर्वाचित होते हैं। राजनीतिक दलों से उनका सम्बन्ध होता है। इन दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करके वह दोनों की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ जान सकता है। इतिहास में कभी-कभी ऐसे मौके आ जाते हैं, जब राजनीति विज्ञान के निष्कर्षों के आधार पर प्रयोग भी किये जाते हैं। इंगलैण्ड ने जब कनाडा को स्वशासन और संविधान दिया, तब वह एक महान राजनीतिक प्रयोग था और वह प्रयोग बड़ा सफल रहा।

यहाँ हमें थोड़ा-सा राजनीतिशास्त्र के प्रारम्भिक काल की ओर भी ध्यान देना चाहिये और यह देखना चाहिये कि वह विज्ञान के पद पर कैसे आसीन हो गया। प्राचीन लेखक केवल राजनीति शब्द का प्रयोग करते थे। अरिस्टॉटल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम केवल "राजनीति" (Politics) ही रखा है। प्राचीन ग्रीस में नगर राज्य होते थे और उन्हें पोलिस (Polis) कहा जाता था। उसी से "पोलिटिक्स" शब्द बना है। आधुनिक काल के प्रारम्भिक लेखक जैसे कि जेलीनेक, होजेनडार्फ और सिजविक आदि राजनीति विज्ञान की अपेक्षा सीधा-सादा राजनीति शब्द ही पसन्द करते थे। लेकिन; समयान्तर में राजनीति शब्द के अर्थ में कुछ भिन्नता आ गई। उसका अर्थ राज्य चालन के सिद्धान्त से हटता गया और प्रतिदिन की व्यावहारिक राजनीति के अधिक निकट आता गया। राजनीति का अर्थ साधारणतः निम्नलिखित दो अर्थों में किया जाता है :—

(१) राजनीतिक दलबन्दी, निर्वाचन और शासन में पद-प्राप्ति इत्यादि।

(२) किसी विशेष राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये शासन चलाना।

सर फ्रेडरिक पोलक नामक लेखक ने राजनीति को दो वर्गों में विभाजित किया, यथा, राजनीति के सिद्धान्त (Theoretical politics) और व्यावहारिक राजनीति (Practical or Applied politics)। सिद्धान्तों में राज्य की मूल समस्याओं की विवेचना करते हैं; जैसे कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसकी प्रकृति क्या है, राज्य की आवश्यकता क्यों है, इत्यादि। व्यावहारिक राजनीति में हम शासन और संविधान का अध्ययन करते हैं। कई विद्वान विशेषकर इंगलैण्ड के विचारक राजनीति दर्शन (Political philosophy) शब्द कहना पसन्द करते हैं। उनका मत है कि दर्शन ज्ञान की पराकाष्ठा है; इसलिये हम राजनीति को दर्शनशास्त्र का ही एक अंग क्यों न मान लें; लेकिन यह मत बहुत कम लोगों को मान्य है। आज दर्शन शब्द की अपेक्षा विज्ञान शब्द अधिक ग्राह्य है; इसलिये जब राजनीति की व्यापकता और परिमिति नगर राज्यों से कहीं अधिक बढ़ गई, राष्ट्र और विश्व तथा मानव जाति उसके अध्ययन की परिमिति में आ गये; और साथ ही जब भौतिक विज्ञानों ने मानव को सुनिश्चित और नियमबद्ध फल देना शुरू किये, तो अन्य समाजशास्त्रों की तरह राजनीति को भी एक विज्ञान कहना अधिक अच्छा लगने लगा और यह शब्द सर्वमान्य हो गया। राजनीति के अध्ययन ने आज वैज्ञानिक अध्ययन के सब लक्षण प्राप्त कर लिये हैं। इसीलिये गेटेल ने कहा है कि राजनीति विज्ञान "यह ऐतिहासिक

अनुशीलन करता है कि राज्य का स्वरूप और प्रकृति क्या रही है ; वह यह विश्लेषण करता है कि वह क्या है और यह राजनीतिक तथा नैतिक विवेचन करता है कि राज्य कैसा होना चाहिये।" अन्त में यदि हम भौतिक विज्ञान का आधार केवल इतना ही मानते हैं कि वह किसी वस्तु की क्रियाओं का क्रमबद्ध अवलोकन है तो राजनीति को भी एक विज्ञान मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रसिद्ध विचारक बरनार्ड शा ने भी इसे एक विज्ञान कहा है। उसने तो यहाँ तक कह डाला है कि "केवल राजनीति विज्ञान ही सभ्यता की रक्षा कर सकता है।"

हम इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि राजनीति का विषय एक विज्ञान है। हमने इस दावे को भी स्वीकार कर लिया है कि भौतिक या रसायनशास्त्र की तरह यह कोई निश्चित विज्ञान नहीं है। हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसों को एक निश्चित अनुपात में मिलाने से पानी बन जाता है। राजनीति विज्ञान में ऐसा कोई स्थिर सत्य नहीं होता। इसके नियमों की सत्यता तुलनात्मक और सम्बन्धित (relative) होती है। स्थिर और अन्तिम (absolute) नहीं। इसका कारण यह है कि राजनीति विज्ञान समाज के समस्त आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का सामूहिक अध्ययन करता है। अपने अध्ययन में वह कोई ऐसी घटना नहीं छोड़ता, जिसका प्रभाव समाज की किसी संस्था पर पड़ा हो। उसका अध्ययन एकांगी न होकर सर्वांगी होता है। फिर भी हम इस अध्ययन को वैज्ञानिक कहते हैं। अतः हमें इस वैज्ञानिक अध्ययन की प्रणालियों पर विचार करना चाहिये।

अध्ययन की प्रणाली

जब राजनीति विचारकों ने राजनीति को एक विज्ञान मान लिया तो उन्होंने उसके अध्ययन की पद्धतियाँ निर्धारित करने का भी प्रयत्न किया। इनमें ऑगस्ट कॉमटे, जॉन स्टुअर्ट मिल, ब्लुंशली और लॉर्ड ब्राइस इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कॉमटे ने कहा है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन की सही पद्धति अवलोकन या पर्यवेक्षण (observation), प्रयोग (experiment) तथा तुलना (comparison) है। ब्लुंशली का मत है कि केवल दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धतियों द्वारा ही इसका सही अध्ययन किया जा सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी अपनी दो पद्धतियाँ रखी हैं। कुछ राजनीतिक दार्शनिकों ने एक अन्य दृष्टिकोण को अपनाकर व्याप्तिमूलक (Inductive) और निगमनात्मक (Deductive) प्रणालियों को ही प्रधान माना है। अरिस्टॉटल, मेकियावेली, लॉक मान्टेस्क्यू, बर्क, सेविनी और सर हेनरी मेन इत्यादि विचारकों ने व्याप्तिमूलक पद्धति के आधार पर अपना अध्ययन किया है

और प्लेटो, टॉमस एक्विनास, बोदाँ, हॉब्स, स्पिनोजा, बेंथम, कान्ट, हीगेल और ऑस्टिन इत्यादि ने अपना अध्ययन प्रधानतः निगमनात्मक प्रणाली के आधार पर किया है। एक बात यह भी कही जाती है कि इन विचारकों ने अपने दृष्टि-कोण की सुविधा के अनुसार विभिन्न प्रणालियों को अपनाया है। अर्थात् किसी प्रणाली विशेष के आधार पर इन विद्वानों ने अपने निष्कर्ष नहीं निकाले हैं बल्कि इनके निष्कर्षों में जो प्रणाली अच्छी जमी उसी को ग्रहण कर लिया। जैसे कि जिन विद्वानों का यह मत था कि राज्य का विकास धीरे-धीरे क्रमिक रूप से हुआ है, उन्होंने व्याप्तिमूलक प्रणाली को अपनाया और जिनका मत यह था कि राज्य बुद्धिमूलक और सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न संस्था है, उसमें व्यक्ति की हस्ती का कोई महत्त्व नहीं है, उन्होंने निगमनात्मक प्रणाली को अपनाया। व्याप्तिमूलक पद्धति में हम पर्यवेक्षण, प्रयोग और तुलना करके अपना निष्कर्ष निकालते हैं। निगमनात्मक पद्धति में कुछ बातों को या सिद्धान्तों को स्वयं सिद्ध मान लिया जाता है और तब पर्यवेक्षणों या विशेष परिस्थितियों का अध्ययन उनके आधार पर किया जाता है। इसी वर्ग में एक तीसरी प्रणाली भी आती है, जिसे सादृश्यात्मक या साम्यमूलक प्रणाली (Analogical method) कहा जाता है। समाजशास्त्र, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान इत्यादि में इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलरूप में इन तीन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, यथा—

(१) व्याप्तिमूलक (Inductive)
(२) निगमनात्मक (Deductive)
(३) सादृश्यात्मक (Analogical)

लेकिन वास्तव में ये तो मूल पद्धतियाँ हैं, जिनका व्यवहार प्रायः प्रत्येक समाजशास्त्र सम्बन्धी विज्ञान में होता है। इन तीन मूल पद्धतियों के आधार पर कुछ विशिष्ट पद्धतियों का विकास किया गया है, जिन्हें विद्वानों ने निम्न-लिखित नाम दिये हैं :—

(१) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)
(२) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(३) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(४) पर्यवेक्षण या अवलोकन पद्धति (The Method of Observation)
(५) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)

इन पाँचों में से पहली चार पद्धतियाँ व्याप्तिमूलक पद्धति पर आधारित हैं और पाँचवीं निगमनात्मक पद्धति पर। सादृश्यात्मक पद्धति पर भी राज-नीति विज्ञान के अध्ययन की चार पद्धतियाँ आधारित हैं, यथा—

(१) समाजशास्त्रीय (Sociological Method)
(२) जीवविज्ञानीय (Biological Method)
(३) न्यायशास्त्रीय (Juristic Method)
(४) मनोवैज्ञानिक (Psycholoigical Method)

चूँकि राजनीति विज्ञान अन्य कई समाज विज्ञानों से सम्बन्ध रखता है, इसलिये जब कोई विशिष्ट विचारक अपने विषय की दृष्टि से राजनीति का अध्ययन करता है, तो वह अपने विषय सम्बन्धी उपमा और रूपक प्रस्तुत करता है ; इसलिये वास्तव में वह अध्ययन की एक स्वतन्त्र पद्धति न होते हुए भी एक आधार जैसा लगने लगता है। उदाहरण के लिये यदि हम राज्य की उपमा एक कुटुम्ब से दें, तो उसका अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत होगा। यदि हम राज्य की उपमा मनुष्य के शरीर और अंगों से दें, तो उसका अध्ययन जीव-विज्ञान पर आधारित होगा। यदि हम राज्य की उपमा मनुष्य के मस्तिष्क से दें, तो वह अध्ययन मनोविज्ञान से सम्बद्ध हो जायगा। इस प्रकार सादृश्यात्मक प्रणाली से सम्बन्धित रीतियाँ राजनीति विज्ञान के अध्ययन की प्रणालियाँ नहीं हैं। फिर भी वे इस विज्ञान के अध्ययन में सहायता करती हैं और कई विद्वानों ने उन्हें स्वीकार किया है।

अब हम एक-एक करके अध्ययन की उन पद्धतियों के स्वरूप की चर्चा करेंगे जिन्हें राजनीति विज्ञान के अध्ययन में काम में लाया जाता है। इनमें सबसे पहली पद्धति प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method) है।

प्रयोगात्मक पद्धति

यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि रसायनशास्त्र और भौतिकशास्त्र की तरह राजनीति-शास्त्र में प्रयोग सम्भव नहीं है। १५०° गरमी का जो प्रभाव लोहे पर भारत में पड़ेगा वही अमेरिका में भी पड़ेगा। पर किसी राजनीतिक निर्वाचन या कर के प्रभाव दोनों देशों में एक से नहीं पड़ेंगे। इस प्रकार हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि राजनीति विज्ञान के प्रयोग बिलकुल भिन्न प्रकार के होते हैं। विभिन्न देशों में जो क्रान्तियाँ, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आन्दोलन, हड़तालें तथा युद्ध इत्यादि होते रहते हैं, यही राजनीति के प्रयोग हैं। मानव जाति का इतिहास ही राजनीति विज्ञान की एक महान प्रयोगशाला है। इतिहास के घटनाचक्र के निरन्तर अवलोकन और अनुभव के आधार पर ही राजनीति के विद्यार्थी अपने सिद्धान्त निर्धारित करते हैं। देशों में युद्ध और क्रान्तियों द्वारा परिवर्त्तन होते हैं, नये-नये कानून बनाये जाते हैं, जिनसे शासन और समाज में परिवर्त्तन होते हैं। नये-नये आविष्कार होते हैं, जो देशों और विश्व की रूपरेखा बदल देते हैं। राजनीति के विद्यार्थी के लिये

ये सब घटनाएँ प्रयोग हैं। यह बात अवश्य है कि अधिकतर में प्रयोग राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिये नहीं किये जाते। ये होते रहते हैं। इनकी प्रेरक शक्तियाँ दूसरी होती हैं। केवल राजनीति का विद्यार्थी बैठा-बैठा इन प्रयोगों का अवलोकन और अध्ययन करता रहता है और उनसे अपने निष्कर्ष निकालता रहता है। साथ ही यह बात भी है कि कभी-कभी राजनीति के प्रयोग जान-बूझ कर किये जाते हैं। सन् १८३९ में लॉर्ड डरहाम की रिपोर्ट के आधार पर कनाडा को स्वायत्त शासन दिया। इंगलैण्ड ने यह कार्य एक प्रयोग के रूप में ही किया था। सन् १९१९ में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट के आधार पर भारत के लिये जो शासन कानून बनाया गया था, वह भी एक प्रयोग था। फिर साइमन कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९३५ का जो शासन कानून बना वह भी एक प्रयोग था।

ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति प्रयोगात्मक पद्धति का ही एक रूप है। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन आवश्यक है। इतिहास में हम संस्थाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करते हैं कि उनका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ और कालान्तर में उनका रूप कैसा हो गया। इसी प्रकार के अध्ययन के आधार पर हम भविष्य के लिये भी निष्कर्ष निकालते हैं। ऐतिहासिक पद्धति का रूप व्याप्तिमूलक (inductive) होता है। अर्थात् इसमें हम ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन करते हैं। इसके द्वारा हमें अन्य सब पद्धतियों की अपेक्षा अधिक निश्चयात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं। इंगलैण्ड में सीले, बर्क और फ्रीमेन इनके प्रधान समर्थक हुए हैं। योरोप में मानटेस्क्यू तथा हीगेल इसके प्रतिपादक थे। इस पद्धति का अनुसरण करते समय हमें निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(१) ऐतिहासिक घटनाओं की साधारण या ऊपरी समानता को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये।

(२) हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि वर्तमान और भविष्य का घटनाचक्र केवल भूतकाल के आधार पर ही घटित होता है। यदि ऐसा होता तो इतिहास में कुछ नवीनता ही न रह जाती। मनुष्य की बुद्धि और नवीन परिस्थितियाँ इतिहास के घटनाचक्र को अर्थात् वर्तमान को हमेशा प्रभावित करती हैं। एक कहावत प्रचलित है कि इतिहास बहुधा पुनरावृत्ति करता है (History repeats itself) यह धारणा गलत है। एक दार्शनिक ने कहा है कि आप एक नदी में दुबारा प्रवेश नहीं कर सकते। अर्थात् जब आप एक बार एक नदी में प्रवेश करते हैं, तब उसका वह पानी हमेशा

के लिये आगे बढ़ जाता है। यही हाल इतिहास का है। गत पचास वर्षों में दो महायुद्ध हुए हैं; लेकिन हम जानते हैं कि उनके कार्य, कारणों तथा परिणामों में कितना अन्तर है।

(३) इतिहास का अध्ययन हमें अपनी पूर्व निर्धारित धारणाओं के अनुसार नहीं करना चाहिये। इतिहास का अध्ययन निष्पक्ष होना चाहिये। तभी हम वैज्ञानिक प्रणाली पर सही तरीके से चल सकेंगे।

लेकिन दर्शन शास्त्री इस पद्धति को उतना महत्त्व नहीं देते। जैसे कि सिजविक ने कहा है कि ऐतिहासिक प्रणाली को स्वीकार करने में हमें दो आपत्तियाँ हैं। एक तो यह कि राजनीतिक जीवन में इतिहास किसी चीज के औचित्य या अनौचित्य को अन्तिम रूप से निश्चित नहीं कर सकता। राजनीतिक संस्थाओं की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, गुण और दोष इतिहास के अलावा, नैतिक और दार्शनिक आधारों पर भी निश्चित होते हैं। दूसरे इतिहास का अध्ययन राजनीतिक समस्याओं के हल में बहुत सीमित रूप में सहायक हो सकता है। एक तो हम भूतकाल को पूर्णरूप से अध्ययन नहीं कर सकते। फिर प्रत्येक युग की अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं। इनका सम्बन्ध उसी युग से होता है। आज की समस्याओं का हल हम महाभारत काल अथवा मुगलकालीन इतिहास के अध्ययन की सहायता से नहीं कर सकते। कुछ हद तक सिजविक की यह आलोचना सही है। लेकिन इसके लिये इतना कहना पर्याप्त है कि यदि राजनीति का विद्यार्थी सतर्कता और विवेक से काम लेता है, तो वह गुमराह न होगा। फिर इतिहास से हम इतना तो जान ही जाते हैं कि कौन काम अच्छा है और कौन बुरा। चाहे इससे नैतिकता का मान भले ही स्थापित न होता हो, पर अच्छे-बुरे का ज्ञान हो जाता है। ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग हमें एक रूढ़िवादी की तरह नहीं करना चाहिये। ऐतिहासिक पद्धति का महत्त्व और उद्देश्य पोलक ने बड़ी अच्छी तरह समझाया है। उन्होंने कहा है कि ऐतिहासिक पद्धति द्वारा हम यह देखते हैं कि संस्थाओं का जो रूप आज है वह कैसे हुआ है। भूतकाल में उनका रूप क्या था और किन परिस्थितियों ने उनका वर्तमान रूप बनाया है तथा इन सब बातों को देखते हुए भविष्य में उनके रूप में कौन-कौन से परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं।

तुलनात्मक पद्धति ऐतिहासिक पद्धति की सहायक या पूरक पद्धति है। यह पद्धति भी अरिस्टॉटल के समय से प्रचलित है। कहा जाता है कि अरिस्टॉटल ने अपने समकालीन १५८ संविधानों का अध्ययन किया था। तब अपने निष्कर्ष और सिद्धान्त निर्धारित किये थे। फ्रान्स के प्रसिद्ध लेखक मान्टेस्क्यू ने भी इस पद्धति का बड़ा प्रयोग किया है। इंगलैण्ड में सर

हेनरी मेन ने इसी पद्धति के आधार पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन विधि" ("Ancient Law") लिखा। डॉ टाकविले, ब्राइस तथा अन्य विद्वानों ने भी इस रीति का बृहत् प्रयोग किया है। इस पद्धति के प्रयोग में हमें छः तार्किक रीतियों का अनुसरण करना पड़ता है, यथा—

तुलनात्मक पद्धति

(१) संग्रह (Accumulation) पहले हम ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह करते हैं। (२) प्रबन्ध (Arrangement) संग्रह के बाद हम तथ्यों का क्रमबद्ध अनुशीलन या जुड़ान करते हैं। (३) वर्गीकरण (Classification) तब उन तथ्यों को छांट-छांट कर उनका विषयवार वर्गीकरण करते हैं। (४) सम्बन्ध तारतम्य (Co-ordination) उसके बाद हम देखते हैं कि हमने जो वर्गीकरण किया है, उसमें पारस्परिक तारतम्य, समानता या असमानता क्या है। (५) छँटनी (Elimination) हमारे मतलब के जो तथ्य नहीं होते अर्थात् जिन तथ्यों का सम्बन्ध हमारे अध्ययन से नहीं रहता, उन्हें हम छोड़ देते हैं। (६) निष्कर्ष (Deduction) इन पाँचों रीतियों के आधार पर हम अपने निष्कर्ष निकालते हैं। इस प्रकार तार्किक ढंग पर हम अपना अध्ययन करते हैं।

ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन में यह पद्धति बड़ी सहायता करती है। इतिहास में समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियों में क्रान्तियाँ होती रहती हैं। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम उनके मूल कारणों में समानता देखने का प्रयत्न करते हैं। आज के राजनीति के विद्यार्थी फ्रान्स की राज्यक्रान्ति तथा रूस की राज्यक्रान्ति की तुलना करके यह बतलाते हैं कि उनका होना अनिवार्य क्यों था। साथ ही वे कुछ ऐसे सूत्र भी निर्धारित करते हैं, जो भविष्य में पथ-प्रदर्शन कर सकें।

लेकिन इस पद्धति का उपयोग बहुत ही सावधानी के साथ करना चाहिये। कभी-कभी एक-सी राजनीतिक परिस्थितियों में दो देशों में विभिन्न प्रकार की घटनाएँ घटती हैं; और कभी-कभी असमान परिस्थितियों में एक समान घटनाएँ घटती हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि उन्हें भली-भांति समझने के लिये हम आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक इत्यादि सभी परिस्थितियों का अध्ययन करें। यदि हम मध्य पूर्व के मुसलिम देशों और भारत की तुलना करें, तो देखेंगे कि उन देशों के लोगों की पद्धति यहाँ के अथवा इंगलैण्ड के लोगों की प्रकृति से एकदम भिन्न है। इंगलैण्ड के समान वहाँ प्रजातन्त्रवादी संस्कार नहीं है। भारत के समान वहाँ के लोग बुद्धिवादी और अहिंसक प्रकृति के नहीं हैं। जब तक हम भारत और अमेरिका के मौलिक भेदों को अच्छी तरह न पहचानेंगे तब तक दोनों देशों की प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली को वास्तविक

रूप से नहीं समझ सकते। अपने अध्ययन में हमें समानताओं और असमानताओं दोनों की ओर ध्यान देना चाहिये। तुलनात्मक अध्ययन के लिये सबसे अच्छा यह होगा कि हम ऐसे राज्यों को चुनें जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समान रही हो तथा घटनाओं में कालान्तर अधिक न होना चाहिये।

पीछे हमने सादृश्यात्मक पद्धति (Analogical Method) की चर्चा करते हुए कहा था कि प्रायः विद्वान इसे वास्तव में अध्ययन की एक स्वतन्त्र प्रणाली नहीं मानते। वे उसे व्याप्तिमूलक पद्धति के अन्तर्गत तुलनात्मक प्रणाली का केवल एक अंगमात्र मानते हैं। प्रसिद्ध लेखक गिलक्राइस्ट ने इसे स्पष्ट रूप से कहा है। उसने यह भी कहा है कि इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सादृश्यता बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि केवल सादृश्यता को हम किसी बात का प्रमाण या सबूत नहीं मान सकते। वह केवल सम्भावना की ओर संकेत करती है; निस्संदेहता की ओर नहीं। इसलिये सादृश्यता पर बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिये। अतः सादृश्यता को तुलनात्मक प्रणाली का एक अंग मानना ही अच्छा होगा।

पर्यवेक्षण पद्धति

इस पद्धति में राजनीति का विद्यार्थी स्वयं घटनाओं तथा संस्थाओं का अध्ययन करता है। वह निर्वाचनों का अध्ययन करता है, विधान सभाओं की कार्यवाही देखता है, देश के राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिशास्त्रियों से बातें करता है तथा इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके अपने निष्कर्ष (Method of Observation) निकालता है। लॉवेल ने लिखा है कि राजनीति अवलोकन का विज्ञान है, प्रयोग या परीक्षण का नहीं। स्वयं अनुभव द्वारा उसकी गुत्थियाँ बड़ी आसानी से समझ में आ सकती हैं। इस शताब्दी के राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध लेखक लॉर्ड ब्रॉइस ने इस पद्धति का खूब उपयोग किया। उनकी 'अमरीकी प्रजातन्त्र' ("American Commonwealth") तथा "आधुनिक प्रजातन्त्र" ("Modern Democracies") नामक पुस्तकों ने खूब प्रसिद्धि पाई। लॉर्ड ब्रॉइस जिस देश की राजनीति तथा उसके सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहते थे, वहाँ स्वयं जाते थे। वहाँ के राजनीतिज्ञों तथा उच्चपदाधिकारियों से मिलते थे, वहाँ की संस्थाओं का अध्ययन करते थे, वहाँ की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अवलोकन करते थे और तब अपने निष्कर्ष निर्धारित करते थे। एक प्रकार से यह रीति बहुत अच्छी है, क्योंकि इसमें लोग स्वयं देखकर, स्वतः अनुभव प्राप्त कर तब सोचते-विचारते हैं। लेकिन; पहली बात तो यह है कि इस प्रकार के स्वयं अनुभव प्राप्त करने के अवसर कितने लोगों को उपलब्ध होते हैं या हो सकते हैं। दूसरी बात यह है

कि मान लो किसी व्यक्ति को इतने साधन उपलब्ध भी हो जाते हैं और वह स्वयं अवलोकन और अध्ययन करता है। तो भी सम्भव है कि वह भ्रमात्मक या गलत धारणाओं के कारण गलत निष्कर्षों पर पहुँचे। हम लोग अपने अनुभव से जानते हैं कि भारत में कितने पश्चिमी विद्वानों ने आकर यहाँ की संस्कृति का स्वयं अध्ययन किया, फिर भी वे यहाँ की वर्ण-व्यवस्था अथवा भारतीय संस्कृति की मूल एकरूपता के बारे में सही तथ्य न समझ सके। फ्रान्स में मानटेस्क्यू ने इंगलैण्ड के संविधान के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही गलत धारणाएँ बना ली थीं। वह स्वयं इंगलैण्ड गया था, लॉक और हैरिंग्टन जैसे तत्कालीन विद्वानों के सम्पर्क में भी आया। वहाँ की संस्थाओं का पर्यवेक्षण या अध्ययन भी किया, लेकिन फिर भी वह ब्रिटिश संविधान का वास्तविक रूप न समझ सका। उसने समझा कि शासनाधिकारों का विभाजन ही ब्रिटेन के संविधान की सबसे बड़ी विशेषता है। बाद में उसने अपने इन विचारों को बड़े जोर के साथ व्यक्त किया। लेकिन; आज सभी जानते हैं कि उसकी धारणा बिलकुल गलत थी। संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान पर मानटेस्क्यू के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा है और अमरीकी और ब्रिटिश संविधानों में जो अन्तर है, उसे सभी जानते हैं। मतलब यह है कि पर्यवेक्षण में भी बुद्धिमान और विद्वान भी गलती कर सकते हैं। इसलिये इस पद्धति का प्रयोग बहुत समझ-बूझ कर होना चाहिये।

अभी तक हमने अपने अध्ययन की जितनी पद्धतियों का वर्णन किया है, वे सब व्याप्तिमूलक (Inductive) पद्धति के अन्तर्गत आती हैं। लेकिन; जैसा हम कह चुके हैं राजनीति विज्ञान के अध्ययन की एक पद्धति का नाम निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) भी है। इस पद्धति के अन्तर्गत दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method) आती है। रूसो, मिल तथा सिजविक इसी पद्धति के अनुयायी हुए हैं।

दार्शनिक

इस पद्धति के जो विचार होते हैं, वे पहले मनुष्य की मूल प्रकृति का स्वरूप निर्धारित करते हैं। उसके आधार पर वे राज्य के उद्देश्यों और उसकी रूपरेखा की कल्पना करते हैं और; यह बतलाते हैं कि वह राज्यशक्ति क्यों और कैसे कार्य करती है। फिर वे इन विचारों का ऐतिहासिक घटनाओं के साथ सामंजस्य और सान्निध्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन यही इस पद्धति की सबसे बड़ी कठिनाई भी उपस्थिति होती है। अर्थात् उनके विचार ऐतिहासिक घटनाओं की कसौटी पर चोखे नहीं उतरते। ये विचारक अपनी कल्पना की धारा में बह जाते हैं। सत्य या वास्तविकता का सहारा और किनारा छूट जाता है। प्लेटो का "रिपब्लिक" तथा टॉमस मोर का "उटोपिया" इसके उदाहरण हैं। फलस्वरूप

यह पद्धति वास्तविकता से दूर कल्पना जगत में विचरने लगती है। रूसो इसी प्रकार का विचारक था। उसने ऐसी ही भावुकतापूर्ण विचारधारा में स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व की आवाज उठाई। इतिहास उसके विचारों की पुष्टि नहीं करता था और उसके कुफल हमें फ्रान्स की राज्यक्रान्ति में देखने को मिले।

फिर भी दर्शनशास्त्र के महान महत्त्व को सभी लोग स्वीकार करते हैं और दार्शनिक पद्धति को हम हेय नहीं समझ सकते। शुद्ध काल्पनिक भावनाओं ने भी इतिहास पर प्रभाव डाला है। इसलिये यदि दार्शनिक और ऐतिहासिक पद्धति को सम्बन्धित कर दिया जाय तो हमारा अध्ययन सम्पूर्ण हो सकता है। इन दोनों पद्धतियों को जोड़ना सम्भव भी है। अरिस्टॉटल और बर्क इसके प्रमाण हैं। इन दोनों पद्धतियों में आपस में संघर्ष नहीं होता। बल्कि ये एक दूसरी की पूरक और सहायक हैं। सच्चा इतिहासकार दर्शन के महत्त्व को पहचानता है और दार्शनिक इतिहास का सहारा लेता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों पद्धतियों के प्रयोग से राजनीति विज्ञान का अध्ययन करना चाहिये।

पद्धति और दृष्टिकोण

हम कह चुके हैं कि सादृश्यता के अन्तर्गत कुछ रीतियों या दृष्टिकोणों को लोग राजनीति विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ मान बैठे हैं। कुछ जर्मन तथा फ्रेंच विद्वानों ने राजनीति विज्ञान का अध्ययन समाजशास्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, कानूनशास्त्र इत्यादि शास्त्रों और विज्ञानों के दृष्टिकोण से किया और अपने अध्ययन को एक स्वतन्त्र पद्धति मान लिया। वास्तव में यह धारणा ग़लत है। ये केवल दृष्टिकोण या विधियाँ हैं, पद्धतियाँ नहीं। यदि जीव विज्ञान का पंडित राजनीति विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करता है तो वह कहेगा कि एक प्राणी के समान राज्य में भी अंग-प्रत्यंग होते हैं। इस प्रकार का अध्ययन केवल तुलनात्मक और रूपक प्रधान होता है। वह शरीर के रूप में राज्य का रूपक बाँधता है। इसीलिये जब एक न्यायशास्त्री अथवा कानून का पंडित राज्य का अध्ययन करता है तो वह राज्य की इमारत को केवल कानून का एक ढाँचा पाता है। वह उन सब प्रभावों की ओर ध्यान नहीं देता जो मनुष्य के कार्य-कलापों को प्रभावित करते हैं।

इन सब पद्धतियों को देखकर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि रसायन-शास्त्र अथवा भौतिक विज्ञान की तरह राजनीति विज्ञान भी एक विज्ञान है। इसकी सामग्री भी उन्हीं विज्ञानों की तरह होती है। उक्त विज्ञानों के अध्ययन की पद्धतियाँ इस विज्ञान पर भी लागू होती हैं। बल्कि कुछ लोगों का तो यहाँ तक मत है कि यह विज्ञान उन विज्ञानों से कहीं अधिक कठिन है, क्योंकि इसका

क्षेत्र इतना विस्तृत है और पद्धतियाँ भी इतनी भिन्न हैं कि उनके प्रयोग में तथा निष्कर्ष निकालने में यदि अधिकतम सावधानी न रखी जाय तो कदम-कदम पर गलतियाँ हो सकती हैं। इसके प्रयोगों से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उनका प्रभाव करोड़ों व्यक्तियों के दैनिक जीवन पर पड़ता है।

राजनीति विज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञान

मनुष्य एक सुसंगठित समाज में रहता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसके कार्य कई क्षेत्रों में बँटे हुए होते हैं। यदि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के एक से कार्यों का वर्गीकरण किया जाय तो अध्ययन का एक अलग विषय बन जाता है। और ऐसा ही हुआ है। मनुष्य के सामाजिक कार्य-कलापों का अध्ययन आज समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र, इतिहास, न्याय या कानून-शास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि आधारों पर होता है। ये सब शास्त्र या विज्ञान एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। एक दूसरे से अपने अध्ययन की सामग्री प्राप्त करते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कभी-कभी ये प्रभाव बड़े व्यापक, प्रत्यक्ष और स्थायी होते हैं तथा कभी सूक्ष्म और क्षणिक। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति राज्य में रहता है और उसके सब कार्य राज्य में होते हैं, इसलिये राजनीति विज्ञान अथवा राज्य विज्ञान का सम्बन्ध सब सामाजिक विज्ञानों से होता है। इसलिये राजनीति विज्ञान के साथ विविध सामाजिक विज्ञानों पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

समाज विज्ञान (Sociology):—मनुष्य के विभिन्न सामाजिक कार्यों का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं और तदनुसार उनके नाम भी होते हैं। परन्तु जो शास्त्र या विज्ञान मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अर्थात् सामाजिक जीवन के सब अंगों का अध्ययन समष्टि रूप से करता है, उसे समाज विज्ञान कहते हैं। समाज विज्ञान सामाजिक जीवन के मूल तत्त्वों का अध्ययन करता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का एक अंग है, क्योंकि वह सामाजिक जीवन के केवल एक अंग का अध्ययन करता है। दोनों विज्ञानों की सीमाएँ कई स्थानों पर मिलती हैं और एक दूसरे का अतिक्रमण करती हैं। साथ ही एक कठिनाई यह भी है कि दोनों की सीमाओं का ठीक-ठीक निर्धारण भी आसान नहीं है। मोटे तौर से केवल इतना कहा जा सकता है कि समाज विज्ञान समाज का अध्ययन करता है और राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन करता है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र अधिक सुनिश्चित है। इसके विपरीत समाज विज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि बहुत से आधुनिक विद्वान समाज-जीवन के केवल कुछ पहलुओं का अध्ययन करना ही

अधिक अच्छा समझते हैं। यदि हम समाज विज्ञान और राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्रों का अध्ययन करें तो दोनों में निम्नलिखित भिन्नताएँ पाते हैं—

(१) समाज विज्ञान मनुष्य के समाज के साथ सब सम्बन्धों का अध्ययन करता है। लेकिन राजनीति विज्ञान मनुष्य के केवल राज्य के साथ संबंधों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र मनुष्य के सब प्रकार के समूहों का अध्ययन करता है, लेकिन राजनीति विज्ञान मनुष्य के केवल राज्य नामक समूह का अध्ययन करता है।

(२) समाजशास्त्र संगठित तथा असंगठित दोनों प्रकार के समूहों का अध्ययन करता है। लेकिन राजनीति विज्ञान केवल उस संगठित समूह का अध्ययन करता है, जिस पर राजनीति का प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान से कहीं अधिक पुराना है।

(३) समाज विज्ञान मनुष्य के कानूनी तथा कानून से परे आचार, प्रथा और धर्म इत्यादि संबंधों का अध्ययन करता है। लेकिन राजनीति विज्ञान केवल कानून पर आधारित राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है।

(४) राजनीति विज्ञान केवल मनुष्य के सचेष्ट सामाजिक कार्यों का अध्ययन करता है। इसके विपरीत समाज विज्ञान सब प्रकार के सामाजिक कार्यों का अध्ययन करता है।

(५) राजनीति विज्ञान यह बात मानकर अपना अध्ययन आरंभ करता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। लेकिन समाज विज्ञान इससे परे जाकर यह भी देखता है कि मनुष्य क्यों और कैसे सामाजिक प्राणी हुआ।

(६) समाज विज्ञान यह देखता है कि क्या हुआ और जो कुछ हुआ वह कैसे हुआ। उसका इस बात से कोई संबंध नहीं कि क्या होना चाहिये। लेकिन राजनीति विज्ञान यह भी कहता है कि क्या होना चाहिये। अर्थात् वह कुछ आदर्श भी उपस्थित करता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान से अधिक विशिष्ट विषय है।

इतिहास (History):—राजनीति विज्ञान का इतिहास से बहुत निकटवर्ती संबंध है। इंगलैण्ड के इतिहास और राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध लेखक सर जॉन सीले (Sir John Seeley) ने लिखा है कि बिना राजनीति विज्ञान के अध्ययन के केवल इतिहास के अध्ययन से कोई फल प्राप्त नहीं होता। और साथ ही बिना इतिहास के अध्ययन के राजनीति विज्ञान का अध्ययन जड़

रहित होता है।[1] इसी लेखक ने यह भी लिखा है कि यदि इतिहास और राजनीति विज्ञान का अध्ययन एक साथ न किया जाय तो इतिहास केवल साहित्य रह जाता है और राजनीति विज्ञान व्यर्थ हो जाता है। उन्होंने तो यहां तक कह डाला कि अन्त में दोनों विषय मिलकर एक हो जाते हैं। लेकिन इससे बहुत से विद्वान सहमत नहीं हैं। लॉर्ड ब्राइस का मत है कि "राजनीति विज्ञान इतिहास और राजनीति के मध्य में स्थित है, वह भूत और वर्तमान के बीच में स्थित है। वह एक विषय से अपने अध्ययन की सामग्री लेकर उसका उपयोग दूसरे विषय के अध्ययन में करता है।"

तात्पर्य यह है कि इतिहास से राजनीति विज्ञान को अपने अध्ययन की सामग्री प्राप्त होती है। इतिहास का विद्यार्थी भूतकाल की घटनाओं का कारण और परिणाम सहित अध्ययन करता है और वही सामग्री राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिये उपयोगी सिद्ध होती है। एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इतिहास भी कई प्रकार का होता है, जैसे कि साहित्य और ललित कलाओं का इतिहास भाषा का इतिहास, प्रथाओं का इतिहास इत्यादि। लेकिन वास्तव में राजनीति विज्ञान का प्रत्यक्ष संबंध केवल राजनीतिक इतिहास तथा कुछ विशिष्ट संस्थाओं से होता है। उदाहरण के लिये हम ब्रिटेन के संसद के इतिहास को ले सकते हैं। यह संस्था लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है और इसके विकास का इतिहास भी बहुत रोचक है। साथ ही इसका राजनीतिक महत्त्व भी सर्व विदित है। राजनीति विज्ञान का महत्त्व इस बात में है कि वह इतिहास से अपनी सामग्री लेकर उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालता है और कुछ नियम निकालता है, अर्थात् वह सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों से अपने सिद्धान्त निर्धारित करता है। इतिहास केवल यह देखता है कि भूतकाल में क्या हुआ है। राजनीति विज्ञान एक क़दम आगे बढ़कर यह भी कहता है कि वर्त्तमान तथा भविष्य में क्या होना चाहिये।

इस प्रकार पारस्परिक रूप में एक दूसरे पर बहुत अधिक निर्भर होते हुए भी इन दोनों विषयों में भी परिमिति, पद्धति और उद्देश्य की दृष्टि से मौलिक अन्तर है। उसे हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) **परिमिति**—इतिहास राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, क्योंकि वह समाज के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सैनिक इत्यादि पहलुओं का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान केवल उन बातों का अध्ययन करता है, जिनका संबंध राज्य और शासन से है।

---

१ "History without Political Science has no fruit, Political Science without History has no root."

(२) पद्धति—इतिहास सब प्रकार की घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन करता है जिनका संबंध राजनीतिक विकास से है।

(३) उद्देश्य—इतिहास का अध्ययन दर्शनशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करके राज्य के लिये आदर्श उपस्थित करता है।

इस भिन्नता को ध्यान में रखते हुए भी हमें इन दोनों विषयों की निकटता और पारस्परिक निर्भरता को नहीं भूलना चाहिये। प्रोफेसर लीकॉक ने कहा है कि इतिहास का एक अंश निश्चय ही राजनीति विज्ञान का एक भाग या अंग है। बहुधा एक की विषय-वस्तु दूसरे की विषय-वस्तु हो जाती है।[1] इसी प्रकार लॉर्ड एक्टन ने कहा है कि राजनीति विज्ञान उन स्वर्णकणों के समान है जिन्हें नदी की धारा अपनी बालू के साथ तट पर छोड़ जाती है।[2] इतिहास और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन इससे अधिक अच्छी तरह से नहीं किया जा सकता।

अर्थशास्त्र (Economics):—गत शताब्दी में अर्थशास्त्र राजनीति विज्ञान का अंग माना जाता था और उसे राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) के नाम से पुकारा जाता था। लेकिन इन दोनों विज्ञानों के अध्ययन के क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होते गये और आधुनिक विद्वान इन दोनों को अलग-अलग विज्ञान मानते हैं। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि एक बहुत बड़ी हद तक ये एक दूसरे के सहायक हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों विज्ञानों के मूल आधारों में काफी एकरूपता है। अर्थशास्त्र या अर्थविज्ञान मनुष्य के उन सामाजिक कार्यों का अध्ययन करता है, जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण और उपभोग से है। लेकिन आधुनिक काल में सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण पर राज्य-शासन या सरकार की नीति का बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये रूस में उत्पादन और वितरण की जो व्यवस्था प्रचलित है, वह इंगलैण्ड की व्यवस्था से बिलकुल भिन्न है। इसका कारण यह है कि इंगलैण्ड में व्यक्ति निजी सम्पत्ति रख सकता है। लेकिन रूस में नहीं।

---

१ "Some of history is part of political science, the circles of their contents overlapping an area enclosed by each."
—(**Leacock.**)

२ "The Science of Politics is the one science that is deposited by the stream of history like the grains of gold in the sands of a river". !—(**Lord Action**)

अर्थात् दोनों देशों की राज्य-व्यवस्था में मौलिक भेद है। इसके विपरीत आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव राजनीतिक संस्थाओं पर बहुत अधिक पड़ता है। जैसे कि समाज में जब एक धनी वर्ग उत्पन्न हो गया तो राजा की शासन शक्ति काफी सीमित हो गई और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक नये मजदूर या जनवर्ग की स्थापना हुई, जिसने आधुनिक जनतन्त्र को जन्म दिया।

इन दोनों विज्ञानों में घनिष्ट सम्बन्ध होने का एक प्रमाण यह है कि यदि हम आजकल के विधानमंडलों के कार्यक्रमों की सूची की ओर देखें तो पता चलेगा कि उनमें बननेवाले अधिकतर कानूनों का सम्बन्ध कर, श्रम और औद्योगिक विवादों इत्यादि से रहता है। देश के भीतर प्रायः सभी आर्थिक कार्य राज्य के बनाये हुए कानूनों द्वारा नियंत्रित होते हैं। साथ ही पूंजीवाद, समाजवाद इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जिनकी विवेचना ये दोनों विज्ञान करते हैं। इस घनिष्टता के बावजूद भी कुछ लेखकों ने इन दोनों विज्ञानों में मौलिक भेद बतलाये हैं। उनका मत है कि यदि हम इन मौलिक भेदों को स्वीकार न करें तो फिर इन विषयों का अलग-अलग अस्तित्व मानने की जरूरत नहीं है। उदाहरण के लिये आइवर ब्रॉउन ने कहा है कि अर्थ विज्ञान का सम्बन्ध वस्तुओं (Things) से है और राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मूलतः मनुष्य से है। अर्थशास्त्र कीमतों या मूल्यों (Prices) का अध्ययन करता है और राजनीति विज्ञान महत्ता (Values) का। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य से वहीं तक है, जहाँ तक वह वस्तुओं का उत्पादन, वितरण और उपभोग करता है। वह स्वयं मनुष्य की चिन्ता नहीं करता। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक महत्ता पर भी विचार करता है और उसे महत्त्व देता है। लेकिन इस तर्क पर भी अर्थशास्त्री आपत्ति कर सकते हैं और इसका उचित जवाब दे सकते हैं। वे कह सकते हैं कि सारे आर्थिक कार्यों का उद्देश्य आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना होता है। एक निपट ग़रीब कंगाल के लिये आध्यात्मिकता, संस्कृति इत्यादि अर्थहीन शब्द हैं। मतभेद और मतैक्य होने पर भी यह निर्विवाद है कि राजनीति और अर्थशास्त्र एक दूसरे के सहायक और पूरक विज्ञान हैं।

आचारशास्त्र (Ethics):—आचारशास्त्र व्यक्ति के आचार का अध्ययन करता है और राजनीति विज्ञान राजनीतिक आचार का अध्ययन करता है जिसमें अधिकार और कर्त्तव्यों का समावेश रहता है और उन्हें कानून का समर्थन प्राप्त रहता है। लेकिन वैयक्तित तथा राजनीतिक आचार का जन्म उस समय के धर्म तथा प्रथाओं के आधार पर हुआ जब मनुष्य समूहों में रहता था। बाद में जब सभ्यता का विकास हुआ तब धीरे-धीरे आचार समाज के समर्थन पर निर्भर

हो गया और राजनीति राज्य के कानूनों के समर्थन पर। परन्तु अभी भी इन दोनों विषयों में बहुत निकटता है। गेटेल (Gettell) ने लिखा है कि जब आचार अथवा नैतिक विचार बहुत प्रचलित और स्थायी हो जाते हैं, तब उन्हें कानून का रूप या समर्थन प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जो व्यक्ति सामाजिक आचार बनाते हैं, वे ही तो राज्य बनाते हैं। फिर राजनीति विज्ञान जब सरकार के लिये आदर्श उपस्थित करता है तो वह किसी हद तक आचारशास्त्र पर ही निर्भर रहता है।

इन दोनों विषयों की घनिष्टता इसी से समझी जा सकती है कि प्लेटो का मत था कि राजनीति विज्ञान आचारशास्त्र का केवल भाग है। उसका विश्वास था कि राज्य को अपने नागरिकों को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये जिससे वे पवित्र और श्रेष्ठ जीवन बिता सकें। प्लेटो के बाद अरिस्टॉटल ने राजनीति और आचारशास्त्र को दो अलग-अलग विषय मान लिया। लेकिन उसने भी इस बात को स्वीकार किया है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों के उच्च आचार-विचारों का नैतिक प्रभाव राजनीति पर अवश्य पड़ता है। उसका मत था कि राज्य का उद्देश्य समाज का कल्याण है। पश्चिम में मेकियावेली पहला लेखक था जिसने राजनीति विज्ञान और आचारशास्त्र में कोई सम्बन्ध आवश्यक नहीं समझा। उसका मत था कि राज्य को नैतिकता और आचार का उपयोग अपने स्वार्थ साधन के लिये करना चाहिये।

आधुनिक विद्वान राजनीति विज्ञान और आचारशास्त्र में निकटवर्ती सम्बन्ध आवश्यक मानते हैं। जैसे कि फॉय (Foy) ने लिखा है कि जो बात नैतिक दृष्टि से गलत है, वह राजनीतिक दृष्टि से कभी सही नहीं हो सकती।[१] इसी प्रकार लॉर्ड एक्टन ने भी कहा है कि समस्या यह नहीं है कि सरकारें क्या करती हैं; समस्या यह है कि उन्हें क्या करना चाहिये। आइवर ब्रॉउन का भी मत है कि राजनीति विज्ञान के बिना आचारशास्त्र अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य समाज में रहने वाला व्यक्ति है और समाज को शासन की आवश्यकता होती है। साथ ही आचारशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान भी उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि नैतिकता की दृष्टि से जो चीज़ उचित और अनुचित होती है उसी की दृष्टि से राजनीति के निर्णय किये जाते हैं और मान्य होते हैं।

एक बात स्पष्ट है। चूंकि मनुष्य राज्य में रहता है, इसलिये उसके सही और ग़लत, उचित और अनुचित, नैतिक और अनैतिक कार्यों का प्रभाव राज्य

---

१ "If a thing is morally wrong it can never be politically right".—(Foy)

पर अवश्य पड़ता है। हम ऐसे पूर्ण राज्य की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें नैतिकता की दृष्टि से ग़लत आदर्शों का प्रचलन हो। इस दृष्टि से आचारशास्त्र को राजनीति विज्ञान पर प्राथमिकता प्राप्त होती है। पहले हम नैतिक और अनैतिक पर विचार करके तब राजनीतिक संस्थाओं और आदर्शों का निरूपण करते हैं। आचारशास्त्र जिस नैतिकता को स्थापित करता है, उसी को राजनीति विज्ञान ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। कैटलिन ने कहा है कि दोनों में अन्तर केवल इतना है कि राजनीतिज्ञ को यह विचार करना पड़ता है कि नैतिक दृष्टि से जो बात वांछित है, उसका पालन करना राजनीतिक परिस्थितियों के कारण संभव है या नहीं।

मनोविज्ञान (Psychology):—मनोविज्ञान मनुष्य के मानस या मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। यह अपेक्षाकृत एक नई विद्या है और मनुष्य जो वैयक्तिक या सामाजिक कार्य करता है, उनका यह अध्ययन करती है। आजकल राजनीति विज्ञान के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर काफी ज़ोर दिया जाता है। कहा जाता है कि अभी तक राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर दर्शनशास्त्र का बहुत बड़ा प्रभाव रहा है और मनुष्य के कार्यों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया गया है। मनुष्य की मानसिक क्रिया का अध्ययन करने से राजनीति विज्ञान के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है। यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष अवलोकन होता है, इसलिये यह अधिक विश्वसनीय होता है। यदि हम मनुष्य की आदतों और उद्देश्यों का अध्ययन करें तो हमें उसके कार्यों का पूर्वाभास बहुत कुछ हो सकता है। कोई भी सरकार लोकप्रिय तभी हो सकती है जब वह अपने नागरिकों की भावनाओं को पहिचाने और उनका उचित प्रतिनिधित्व करे। इस शताब्दी में योरोप और एशिया में जो राज्य-क्रान्तियाँ हुई हैं उनके पीछे उन देशों के नागरिकों की प्रबल मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ काम कर रही थीं। किसी भी देश के नेता और शासक अपने देश की राजनीति का संचालन तबतक सफलतापूर्वक नहीं कर सकते, जबतक वे देशवासियों की मनोदशाओं से पूर्णरूप से परिचित न हों। आजकल निर्वाचनों, शिक्षा, युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी प्रचार इत्यादि राजनीति के दायरे में आ गये हैं और इन सब पर मनोविज्ञान बहुत अधिक दखल रखता है। फिर भी जब हम राजनीति विज्ञान का अध्ययन मनोविज्ञान की दृष्टि से करते हैं, तो हमें कुछ सीमाओं का ध्यान रखना पड़ता है और दोनों विज्ञानों के अलग-अलग क्षेत्रों का भी ज्ञान होता है, उदाहरण के लिये—(१) एक मनोवैज्ञानिक और आचार-नीतिशास्त्र के विद्यार्थियों का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से होता है। मनोवैज्ञानिक महत्ता (Value) को श्रेय नहीं देता। लेकिन आचार-नीति केवल महत्ता पर ज़ोर देती है।

मनोवैज्ञानिक वस्तुओं को केवल उसी रूप में देखता है, जैसी वे हैं। लेकिन नीतिशास्त्री यह भी कहता है कि उन्हें कैसा होना चाहिये। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान के लिये आचार-नीतिशास्त्र मनोविज्ञान की अपेक्षा अधिक सहायक होगा। (२) कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य की मनोदशाओं का अध्ययन और संग्रह तो आसान है, पर उनके आधार पर भावी कार्यों की सूची बनाना कठिन है। फिर भी अनुभव यह बतलाता है कि मनोविज्ञान राजनीति विज्ञान के अध्ययन में बहुत सहायक होता है। जॉन ड्यूवी ने अपने राजनीतिक अध्ययन में मनोविज्ञान से बहुत सहायता ली है।

कानूनशास्त्र (Law):—राज्य न केवल सामाजिक विकास का प्रतीक है, बल्कि कानून पर आधारित एक संस्था भी है। यदि कानून की दृष्टि से देखा जाय तो राज्य अधिकारों और कर्त्तव्यों का एक समूह है। कानूनशास्त्र अथवा न्यायशास्त्र (Jurisprudence) वास्तव में राजनीति विज्ञान का एक अंग है, लेकिन उसके अध्ययन का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि अब वह एक स्वतंन्त्र विषय माना जाता है। संवैधानिक कानून (Constitutional Law) में राज्य के विविध अंगों की परिभाषा की जाती है और उनके पारस्परिक संबन्ध निर्धारित किये जाते हैं। साथ ही व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की भी विवेचना की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

भूगोल (Geography):—मनुष्य पृथ्वी के जिस भाग में रहता है वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव उसके स्वभाव, शारीरिक गठन तथा राजनीतिक संस्थाओं पर बहुत अधिक पड़ता है। अरिस्टॉटल ने इस बात को स्वीकार किया है कि राजनीतिक संस्थाओं तथा मनुष्य-प्रकृति पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। १६ वीं शताब्दी में बोदां (Bodin) ने भी इस सत्य को स्वीकार किया और उसके बाद रूसो ने इस आधार पर सरकार के स्वरूपों का अध्ययन किया। रूसो का मत था कि उष्ण जलवायु के देशों में निरंकुश शासन होता है। शीत जलवायु के देशों में कठोर एवं असंस्कृत (Barbarism) शासन पनपता है ; तथा समशीतोष्ण देशों में अच्छे किस्म जनतान्त्रिक शासन जड़ पकड़ता है। उसका मत यह भी था कि जिन देशों का क्षेत्रफल बड़ा होता है, उनके लिये राजतन्त्र (Monarchy) अच्छा होता है और जिन देशों का क्षेत्रफल छोटा होता है उनके लिये जनतन्त्र (Democracy) उपयुक्त होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में टॉमस बकल नामक विद्वान ने लिखा था कि राजनीतिक संस्थाओं की रूपरेखा, जलवायु, भोजन और मिट्टी की किस्म इत्यादि द्वारा प्रभावित और निर्धारित होती है। आधुनिक काल

में भी राजनीति पर हम तेल, लोहा, कोयला और यण्शक्ति के साधनों इत्यादि का प्रत्यक्ष प्रभाव देखते हैं।

इतना सब होते हुए भी हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि मनुष्य अब प्रकृति का वैसा गुलाम नहीं है, जैसा कि वो पहले था। आज उसने प्रकृति पर काफी विजय पाई है और अब राजनीति पर भूगोल का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना की पहले पड़ता था।

ललित कलाएँ (Fine Arts):—साहित्य, संगीत, चित्रकला और वास्तुकला इत्यादि कलाओं का भी राजनीति से घनिष्ठ संबन्ध है। किसी कवि ने कहा है कि मुझे अपने देश के राष्ट्रीय गान लिखने दो फिर मुझे परवाह नहीं है कि वहाँ के कानून कौन बनाता है। इस कथन से राजनीति पर साहित्य का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि केवल शान्तिपूर्ण राजनीतिक वातावरण में ही उत्कृष्ट साहित्य और कला का सृजन होता है। कला अपने युग का प्रतिनिधित्व करती है। किसी युग की कला उस युग की राजनीति की अवस्था बतलाती है।

समय की प्रगति के साथ मनुष्य के ज्ञान में भी विस्तार होता जाता है और अध्ययन के छोटे-छोटे क्षेत्र स्वतन्त्र विषय बनते जाते हैं। स्वयं राजनीति विज्ञान के कई अंग स्वतन्त्र विज्ञान बनने की प्रवृत्ति दिखा रहे हैं, क्योंकि उनके अध्ययन के क्षेत्र दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। शासन-प्रबन्ध (Public Administration) और तुलनात्मक राजनीति (Comparative Politics) राजनीति विज्ञान के ही अंग हैं। परन्तु इनके अध्ययन का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि ये स्वतन्त्र विषय या विज्ञान बनने की प्रवृत्ति दिखा रहे हैं। इनके सिवाय समाज-शास्त्र से सम्बन्धित कई ऐसे विज्ञान हैं, जिनका राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर प्रभाव पड़ता है। प्राच्यमानव विज्ञान (Anthropology), मानव वंश विज्ञान (Ethnology) और धर्मशास्त्र इत्यादि सबका प्रभाव राजनीतिक संस्थाओं पर पड़ता है और इनका सम्बन्ध राजनीति विज्ञान के अध्ययन से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य होता है। इसलिये अपने अध्ययन में हम इनकी ओर से उदासीन नहीं हो सकते।

अखिल ज्ञान का उद्देश्य मानव-कल्याण है। ज्ञान के उपार्जन के क्षेत्र अथवा विद्याएँ दो प्रधान वर्गों में बाँट दिये गये हैं, यथा—प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणि विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, वनस्पति और खगोल इत्यादि प्राकृतिक विज्ञान हैं और अर्थ, दर्शन, तर्क, नीति और धर्म इत्यादि सामाजिक विज्ञान हैं। इन सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीति विज्ञान से है, क्योंकि अन्त में राजनीति विज्ञान का उद्देश्य भी मानव-कल्याण ही है। इतना अवश्य है कि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो

यह स्पष्ट हो जायगा कि प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध राजनीति विज्ञान से अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष है और सामाजिक विज्ञानों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है।[1]

अध्याय २

राज्य का स्वरूप (क)

(Nature of the State)

अभी तक हमने "राजनीति विज्ञान" की विवेचना करके इस विषय के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया है। अर्थात् राजनीति विज्ञान का अर्थ क्या है? वह किस वस्तु का अध्ययन करता है और उसके अध्ययन के तरीके क्या हैं? अन्य विज्ञानों से उसका क्या सम्बन्ध है? हमने देखा कि राजनीति विज्ञान 'राज्य' का अध्ययन करता है। इसलिये हमें राज्य के अर्थ और रूप को जानना चाहिये। आजकल राज्य शब्द का अर्थ कई दृष्टियों से कई अर्थों में किया जाता है। हमारे अध्ययन की दृष्टि से अथवा राजनीति विज्ञान की दृष्टि से यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिये भारत के संविधान में देश के विभिन्न राज्यों की चर्चा है। उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और विन्ध्य-प्रदेश इत्यादि राज्य विभिन्न वर्गों के राज्य कहे गये हैं। वास्तव में राजनीति विज्ञान की दृष्टि से ये राज्य नहीं हैं, बल्कि एक राज्य के उपखंड हैं। क्योंकि इनमें वे सब गुण नहीं हैं जो "राज्य" में होना चाहिये। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) के विभिन्न राज्य भी भारत के राज्यों की तरह केवल प्रान्त हैं, "राज्य" नहीं। ये एक राज्य की केवल इकाइयाँ हैं। इसी प्रकार राज्य (State) और सरकार (Government) में भी अन्तर है। सरकार या शासन राज्य के कई अंगों में से एक अंग है। कई विशेषताओं में से एक विशेपता है। जब हम राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन कर रहे हैं तो हमें अपने विचारों में बिलकुल सुनिश्चित होना चाहिये।

अब हमें देखना यह चाहिये कि राज्य में कौन-कौन सी विशेषताएँ होनी चाहियें। वे कौन से गुण हैं जो किसी समाज को राज्य कहलाने का अधिकार देते हैं। इसके लिये सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम विभिन्न विद्वानों

१ पाठकों को यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि हम 'शास्त्र' और 'विज्ञान' शब्द में मूल भेद नहीं मानते। चूंकि हमने अपने अध्ययन का आधार पश्चिमी पद्धति को बनाया है, इसलिये 'शास्त्र' के स्थान पर 'विज्ञान' शब्द ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

द्वारा दी गई राज्य की परिभाषाएँ देखें और उनका विश्लेषण करें। नीचे कुछ चुने हुए विद्वानों की परिभाषाएँ दी जाती हैं।

राज्य की परिभाषा

१. **गारनर** :—"राजनीति विज्ञान तथा शासन कानून की दृष्टि से राज्य उपयुक्त संख्या में लोगों का ऐसा समूह होता है, जो एक निश्चित भूमिखंड पर स्थायी रूप से रहता है और किसी भी प्रकार के बाहरी प्रभुत्व से स्वतन्त्र अथवा प्राय: स्वतन्त्र होता है तथा जिसमें एक ऐसा सुसंगठित शासन होता है कि जिसके प्रति बहुसंख्यक नागरिक आदतन श्रद्धा रखते हैं और उसकी हुकूमत मानते हैं।"[1]

२. **मैकआइवर** :—"राज्य एक ऐसा संघ है, जो सरकार द्वारा बनाये गये कानून के आधार पर कार्य करता है। सरकार के पास कानून बनाने तथा उसे पालन कराने की शक्ति होती है। इस शक्ति के सहारे राज्य एक निश्चित भूखंड पर रहनेवाले समाज में बाहरी जीवन की सुव्यवस्था बनाये रखता है।"[2]

३. **प्रोफेसर लॉस्की** :—"राज्य एक निश्चित भूखंड में रहनेवाला एक ऐसा समाज होता है, जो शासक और शासितों में बंटा होता है और उस निश्चित क्षेत्र में वह अन्य सब संस्थाओं पर अपना प्राधान्य रखता है।"[3]

४. **हॉलेण्ड** :—"मनुष्यों की एक ऐसी संख्या जो एक निश्चित भूखंड पर रहती है और जिसमें बहुमत अथवा ऐसे वर्ग का बहुमत जो प्राप्त किया जा सकता है, विरोधियों के मत पर अपनी बहुलता के कारण मान्यता पाता है और कार्यान्वित होता है।"[4]

---

१ "The State, as a concept of political science and public law, is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so, of external control and possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience."—(**Garner**)

२ "The state is an association which, acting through law as promulgated by a government endowed to this end with **coercive** power, maintains within a community territorially demarcarted the universal external condition of social order."
—(**Maciver**)

३ "A territorial society divided into government and subjects claiming, within its allotted physical area, a supremacy over all other institutions."—(**Laski**)

४ "A numerous assemblage of human beings, generally

५. फिलीमोर :—"राज्य मनुष्यों का ऐसा समूह है, जो एक निश्चित भूखंड पर रहता हो और जो समान कानून, आचार तथा प्रथाओं के द्वारा एक समाज के रूप में व्यवस्थित हो। एक सुसंगठित सरकार के द्वारा वह समाज अपनी सीमा के भीतर सब व्यक्तियों और वस्तुओं पर अपना प्रभुत्व और नियंत्रण रखता हो। वह युद्ध तथा शान्ति रखने की तथा अन्य देशों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखता हो।"[1]

६. ब्लुंशली :—"राज्य मनुष्यों का वह समूह अथवा संघ है, जो शासक और शासित के रूप में संगठित होकर एक निश्चित भूखंड पर रहता है तथा एक सबल नैतिक व्यक्तित्व के रूप में संगठित रहता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राज्य किसी देश का राजनीतिक संगठित व्यक्ति है।"[2] ब्लुंशली एक जर्मन विद्वान था।

७. सिजविक :—ये दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र या विज्ञान के विद्वान थे। इन्होंने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है। "राज्य एक ऐसा राजनीतिक समाज है, जिसके व्यक्तित्त्व की एकता इस बात पर आधारित रहती है कि वह एक सरकार की स्थायी अधीनता स्वीकार करता है। जब यह समाज अन्य राजनीतिक समाजों के साथ कार्य करता है तो वह इसी प्रतिनिधि सरकार के द्वारा करता है।"[3] सिजविक ने इस बात पर

---

occupying a certain territory, amongst whom the will of the majority, or of an ascertainable class of persons, is by the strength of such a majority, or class, is made to prevail against any of their number who oppose it."—(**Holland**)

1 "A people permanently occupying a fixed territory, bound together by common laws, habits, and customs into one body politic, exercising through the medium of an organised government independent sovereignty and control over all persons and things within its boundaries, capable of making war and peace and of entering into all international relations with the communities of the globe."—(**Phillimore**)

2 "The state is a combination or association of men in the form of government and governed, on a definite territory, united together into a moral organised masculine personality, or, more shortly, the state is the politically organised national person of a definite country."—(**Bluntuschli**)

3 "The state is a political society or community, i. e., a body of human beings deriving its corporate unity from the

बहुत जोर दिया है कि राज्य किसी विदेशी व्यक्ति, शक्ति या सरकार की अधीनता किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करता।

८. **बरगेस** :—"राज्य मनुष्य जाति का वह भाग है, जो एक इकाई के रूप में संगठित हो।"[१]

९. **विलोबी** :—"मनुष्यों के जिस समाज में एक ऐसी सत्ता पाई जाती है, जिसका व्यक्तियों के और व्यक्ति समूहों के सामाजिक कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है, लेकिन स्वयं उस पर ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं होता, उसे राज्य कहते हैं।"[२]

१०. **वुडरो विलसन** :—"राज्य उस समाज को कहते हैं, जो एक निश्चित भूखंड में कानून का पालन करने के लिये संगठित हो।"[३]

प्रोफेसर वुडरो विलसन बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति भी हुए थे।

११. **गिलक्राइस्ट** :—"राजनीति विज्ञान की दृष्टि से राज्य एक ऐसी नैतिक और वास्तविक इकाई है, जिसमें बहुत से लोग एक निश्चित भूखंड पर रहते हैं और एक ऐसी सरकार के अन्तर्गत संगठित हों जो कि आन्तरिक कार्यों में उनकी संप्रभुता प्रकट करे और बाह्य मामलों में अन्य सरकारों से पूर्णतया स्वतन्त्र हो।"[४]

---

fact that its members acknowledge permanent obedience to the same government which represents the society in any transactions that it may carry on as a body with other political societies."—(**Sidgwick**)

१ "The state is a particular portion of mankind viewed as an organised unity."—(**Burgess**)

२ "The State exists whenever there can be discovered in any community of men a supreme authority exercising a control over the social actions of individuals and groups of individuals, and itself subject to no such regulation."

—(**W. W. Willoughby**)

३ "The State is a people organised for law within a definite territory."—(**Wilson**)

४ "The State is a concept of Political Science, and a moral reality which exists where a number of people, living on a definite territory, are unified under a government which in internal matters is the organ for expressing their sovereignty, and in external matters is independent of other governments."

—(**R. N. Gilchrist**)

अब हम कुछ ऐसे व्यक्तियों की परिभाषाएँ देते हैं, जो राजनीति के सक्रिय नायक थे।

१२. मुसोलिनी :—"राज्य मनुष्य की आत्मा और भावना है। राज्य के द्वारा ही मानव-समाज उन्नति करता है और अपने सब प्रकार के उद्देश्यों की पूर्त्ति करता है। राज्य से परे कुछ नहीं है। राज्य के बिना भी कुछ नहीं है।"

१३. हिटलर :—"राज्य छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े काम का प्रतीक है। उसकी क्रिया एक नेता के द्वारा प्रकट होती है। इसलिये जनता की उस नेता पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये।"

१४. लेनिन :—"राज्य जनता के दमन की एक विशेष अवस्था है।"

मुसोलिनी और हिटलर फॉसिस्टवादी विचारधारा के थे और लेनिन कम्यूनिस्ट विचारधारा के। इसलिये इनकी परिभाषाओं में यह अन्तर पाया जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इन सक्रिय राजनीतिज्ञों ने केवल अपनी ही दृष्टि से राज्य के तत्त्वों की परिभाषा की है; इस विज्ञान के समष्टि की दृष्टि से नहीं।

यदि हम ऊपर दी गई राज्य की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करें तो देखेंगे कि उनमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। फिर भी उनमें से अधिकांश में यह स्वीकार किया गया है कि राज्य के अस्तित्त्व के लिये ये चार बातें आवश्यक हैं। एक तो मनुष्य अथवा जनसंख्या; दूसरा रहने का स्थान अथवा भूखण्ड; तीसरा एक संगठन अथवा शासन या सरकार और चौथा ऐसी संप्रभुता जो आन्तरिक तथा बाह्य कार्यों के सम्बन्ध में पूर्णतया स्वतन्त्र हो। यद्यपि सिजविक और विलोबी ने राज्य के लिये केवल तीन तत्त्व ही आवश्यक माने हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त चार तत्त्वों को मान्यता दी है। अब हम इन चारों तत्त्वों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

जनसंख्या (Population) :—यह तो स्वयंसिद्ध है कि जनसंख्या के बिना राज्य नहीं हो सकता। लेकिन यह बात ध्यान में रखने की है कि जब तक लोग एक सुसंगठित सामाजिक जीवन न व्यतीत करेंगे तबतक राज्य का अस्तित्त्व संभव नहीं है। एक प्रश्न बहुधा यह पूछा जाता है कि राज्य बनने के लिये कितनी जनसंख्या उपयुक्त होती है। पुराने लेखक इस प्रश्न को बहुत महत्त्व देते थे। लेकिन आजकल इसे उतना महत्त्व नहीं दिया जाता। प्लेटो का विचार था कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या ५०४० होनी चाहिये। अरिस्टॉटल का विचार था कि एक लाख किसी राज्य के लिये बहुत अधिक जनसंख्या होगी। रूसो ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्यों का भक्त था। वह उनका पुनर्जीवन चाहता था। इसलिये वह भी थोड़ी-सी जनसंख्या चाहता था। उसके विचार से दस हजार

आदर्श जनसंख्या थी। लेकिन आजकल रूस और चीन जैसे बड़े-बड़े राज्यों से लेकर मोनाको और सॉन मारिनो जैसे छोटे-छोटे राज्य भी पाये जाते हैं। चीन की जनसंख्या ४६ करोड़ है, भारत की ३६ करोड़ और सॉन मारिनो की केवल कुछ हज़ार। आजकल विज्ञान ने सारी पृथ्वी को एक नगर बना दिया है। यदि पृथ्वी के किसी कोने में कोई घटना होती है तो चौबीस घंटे में वह संसार भर में गूंज जाती है। इसलिये बड़े-बड़े राज्यों की कल्पना असम्भव नहीं है। उनका शासन भी उतनी ही योग्यता पूर्वक हो सकता है जितना कि प्राचीन काल में नगर-राज्यों का होता था। कई शताब्दियों पहले अरिस्टॉटल और रूसो का यह विचार था कि संघ-शासन, जनतन्त्र, राष्ट्रीयता इत्यादि केवल छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही सम्भव हो सकते हैं, लेकिन आज हम देखते हैं कि ये सिद्धान्त अमेरिका, भारत और चीन जैसे बड़े राज्यों में भी पनप रहे हैं। फिर आजकल सैनिक शक्ति का जमाना है। अधिक जनशक्ति इसके लिये भी आवश्यक समझी जाती है। रूस जैसे देशों में अधिक बच्चे पैदा करनेवाली माताएं पुरस्कृत की जाती हैं। इसलिये सिद्धान्त अथवा व्यवहार की दृष्टि से आधुनिक राज्य के लिये आदर्श जनसंख्या निर्धारित करना न सम्भव है और न उचित ही है।

यदि हम कानूनी दृष्टि से देखें तो जनसंख्या को शासक और शासित दो वर्गों में बाँट सकते हैं। रूसो का मत था कि राज्य की जनता के दो रूप होते हैं। जो लोग राज्य की नीति निर्धारित करते हैं, वे शासक होते हैं और जो उस नीति का पालन करते हैं, वे शासित होते हैं। आजकल यह अवश्य होता है कि कभी शासक शासित हो जाते हैं और कभी शासित शासक हो जाते हैं। आधुनिक जनतन्त्र में राजनीति दलबन्दी के आधार पर चलती है और जिस दल का राज्य में बहुमत होता है, उसे शासक वर्ग कहा जा सकता है। एक विचारक ने इस तथ्य को दूसरे रूप में रखा है। उसने कहा है कि आधुनिक राज्य में नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। जब वे उन अधिकारों का प्रयोग करते हैं तब वे शासक होते हैं और साथ ही उन्हें कुछ कर्त्तव्यों का पालन भी करना पड़ता है। जब वे कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तब शासित होते हैं।

जनसंख्या के सम्बन्ध में आधुनिक राज्य को नयी-नयी समस्याओं का हल करना पड़ता है, जैसे कि अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या (Problem of the minorities), अधिक जनसंख्या की समस्या (Problem of overpopulation), प्रतिनिधित्त्व की समस्या इत्यादि। अल्प वर्गों की समस्या आधुनिक राजनीति की एक बड़ी समस्या है। भारत में अल्प वर्गों की समस्या को एक बड़ी राजनीतिक समस्या का रूप दे दिया गया। अन्त में इसी आधार पर देश का विभाजन भी हो गया और पाकिस्तान नाम का

एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। यहूदियों की समस्या को लेकर इसरायल नाम का एक स्वतन्त्र देश बन गया। द्वितीय महायुद्ध का एक कारण यह भी था कि जर्मन जाति के कुछ लोग अन्य देशों में पड़ गये थे। वे अपने क्षेत्रों को जर्मनी में मिलाना चाहते थे। दक्षिण अफ्रिका में इस समस्या ने रंग-भेद नीति का रूप ग्रहण कर लिया है। वहाँ अश्वेत जातियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व से वंचित किया जा रहा है। भारत जैसे देशों में अधिक जनसंख्या की समस्या है, क्योंकि जनसंख्या की दृष्टि से यहाँ खाद्य-सामग्री कम है। चीन में भी पाँच वर्ष पहले यह समस्या थी, लेकिन आज नहीं है, क्योंकि वहाँ एक दूसरा शासनतन्त्र स्थापित हो गया है। वास्तव में ये समस्याएँ व्यावहारिक राजनीति की हैं। राजनीति विज्ञान से इनका सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध वास्तव में नीति से रहता है, सिद्धान्तों से नहीं।

भूमि (Territory):—कुछ लेखकों ने भूमि को राज्य का आवश्यक अंग नहीं माना है। हॉल का मत यह है कि भ्रमणशील जातियाँ भी राज्य बना सकती हैं। लेकिन विलसन, सीले, ब्लुंशली इत्यादि विद्वानों ने भूमि को राज्य का आवश्यक अंग माना है। ब्लुंशली ने लिखा है कि जिस प्रकार जनसंख्या के बिना राज्य नहीं बन सकता उसी प्रकार भूमि के बिना भी नहीं बन सकता। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, एक बिल में दो साँप नहीं रह सकते उसी प्रकार एक भूमिखंड पर दो राज्य भी नहीं रह सकते। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि बीसवीं शताब्दी में यहूदियों ने जब तक अपना स्वतन्त्र राज्य बसाने के लिये भूमिखंड नहीं प्राप्त कर लिया तब तक उन्होंने अपने को एक राज्य स्वीकार नहीं किया। भूमि के आधार पर ही इसरायल राज्य की स्थापना हुई है। हम भूमि को राज्य की देह कह सकते हैं। एक राज्य के नागरिक जाकर दूसरे राज्य में बस जाते हैं और वहाँ की नागरिकता ग्रहण कर लेते हैं। भूमि राज्य को स्थिरता प्रदान करता है। नागरिकता और संप्रभुता भूमि की सीमा के ही आधार पर बनती हैं। भूमि के आधार पर ही संप्रभुता के सम्बन्ध में अभी तक यह विवाद चलता आया है कि क्या संप्रभुता का अर्थ शासन-शक्ति के साथ-साथ भूमि पर स्वामित्त्व भी होता है? पहले यह अधिकार स्वीकार किया जाता था, यद्यपि लॉक और रूसो जैसे विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया। आजकल यह माना जाता है कि सरकार को केवल शासन करने का अधिकार प्राप्त है, भूमि पर स्वामित्त्व प्राप्त नहीं है। भारत के संविधान में भी यह स्पष्ट किया गया है कि यदि राज्य अपने उपयोग के लिये भूमि पर अधिकार करेगा तो उसके लिये उचित मुआवज़ा देगा।

जनसंख्या के समान भूमि के सम्बन्ध में भी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। आज संसार में छोटे-बड़े सभी प्रकार के राज्य पाये जाते हैं। मानाको सभी अर्थ में एक पूर्ण राज्य है, लेकिन उसका क्षेत्रफल केवल आठ वर्गमील है। इसके विपरीत रूस जैसे विशाल राज्य का क्षेत्रफल डेढ़ करोड़ वर्गमील है। यदि हम छोटे राज्यों और बड़े राज्यों के पक्ष और विपक्ष में लाभ-हानि देखें तो मालूम होगा कि आजकल बड़े राज्यों की स्थिति ही अधिक सुविधाजनक है। पुराने लेखक छोटे राज्यों की जो प्रशंसा किया करते थे, उसका आधार यह था कि क्षेत्र कम होने से शासन अधिक अच्छा होता था और राज्य में प्रायः सभी बातों में एकरूपता होती थी। लेकिन विज्ञान ने आज परिस्थिति बदल दी है।

रूस और अमेरिका जैसे बड़े-बड़े देशों में भी राज्य का एक-एक कोना तार, टेलीफोन, रेडियो, रेल और हवाई जहाज द्वारा नथा हुआ है। अर्थात् दूरी की समस्या अब हल हो गई है। अब रह गया शासन के घनत्व (Compactness) अथवा केन्द्रीयता का प्रश्न। प्राचीनकाल के छोटे-छोटे राज्यों में शासन केन्द्रीभूत होता था। अर्थात् राज्य के किसी भी भाग में परित्यक्तता या उपेक्षा की भावना नहीं रह सकती थी। राज्य का कोई भाग यह भावना नहीं रख सकता था कि उसके प्रति सरकार उदासीन है। इसके उत्तर में आधुनिक बड़े-बड़े राज्यों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे राज्यों के क्षेत्र का विकास हुआ है, उसी के साथ-साथ विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) और स्थानीय स्वशासन (Local Self-Government) की प्रवृत्ति भी पुष्ट होती गई है। एक संघ में राज्य होते हैं। राज्यों में जिले होते हैं, जिनों में नगरपालिकाएँ, जिला बोर्ड, ग्राम-पंचायतें इत्यादि होते हैं। इन सबको कर लगाने इत्यादि के शासन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। तात्पर्य यह है कि स्थानीय या क्षेत्रीय प्रश्नों की ओर ध्यान देने के लिये स्थानीय और क्षेत्रीय संस्थाएँ भी हैं। कोई भाग यह शिकायत नहीं कर सकता है कि वह उपेक्षित छोड़ दिया गया है। तीसरी बात यह है कि यदि हम सुरक्षा (Defence) बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास इत्यादि की समस्याओं पर विचार करें तो देखेंगे कि बड़े राज्यों की तुलना में छोटे राज्यों की कोई स्थिति नहीं रह जाती। छोटे-छोटे राज्य केवल बड़े राज्यों की अनुकम्पा से ही जीवित रह सकते हैं। गत दो महा-युद्धों में हम देख चुके हैं कि बड़ी शक्तियों के संघर्ष में बेलजियम जैसे छोटे-छोटे देश पिस जाते हैं। यदि भारत का संरक्षण प्राप्त न हो तो भूटान की स्वतन्त्रता किसी भी दिन खतरे में पड़ सकती है। सैनिक संघर्ष के समय धन और जन वाले बड़े राज्य ही अधिक शक्तिशाली पड़ते हैं। बड़े राज्यों के पास प्राकृतिक

साधन अधिक होते हैं। वे लोहा-कोयला से लेकर एटम बम तक बना सकते हैं। रूस जितना सुसज्जित हो सकता है, उतना अफगानिस्तान नहीं। लेकिन हमारा यह भी अनुभव है कि क्षेत्रफल में छोटे होते हुए भी इंगलैण्ड और जापान जैसे छोटे देश भी सुशासित और शक्तिशाली हो सकते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने प्रारम्भ में कहा है कि यद्यपि बड़े क्षेत्रवाले राज्यों के पास कुछ स्पष्ट लाभ होते हैं, फिर भी राज्य के लिये एक आदर्श क्षेत्रफल निर्धारित करना उपयुक्त नहीं है।

भूमि राज्य के भौतिक आधार की परिचायक है। इसलिये राज्य के सम्बन्ध में जब हम भूमि की चर्चा करते हैं तो उससे भौगोलिक परिस्थितियाँ, जलवायु, प्राकृतिक साधन इत्यादि भी सम्बन्धित रहते हैं। नदियाँ, पर्वत-श्रेणियाँ, समद्र-तट इत्यादि राज्यों पर बहुत प्रभाव डालते हैं। भारत के इतिहास में हिमालय का क्या महत्त्व है, यह किसी से छिपा नहीं है। मिस्र में नील नदी का महत्त्व स्पष्ट है। प्रायः नदियों और पहाड़ों द्वारा राज्यों की सीमाएँ निर्धारित होती हैं। यदि लंका और भारत के बीच में थोड़ा-सा समुद्र न होता तो शायद वह देश भारत का ही एक भाग होता। ब्रिटेन और जापान के स्वतन्त्र अस्तित्त्व का कारण भी उन देशों का स्वतन्त्र तट है। जिन देशों की सीमाएँ प्रकृति द्वारा सुदृढ़ कर दी जाती हैं उन्हें सैनिक सुरक्षा पर अधिक खर्च नहीं करना पड़ता, जैसे कि भारत को अपनी दक्षिणी सीमा की सुरक्षा के सम्बन्ध में अधिक चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। अथवा अपनी प्राकृतिक सीमा के अनुरूप ही विभिन्न देश अपनी सैनिक शक्ति का संगठन करते हैं। जैसे कि इंगलैण्ड ने अपनी जलसेना हमेशा तगड़ी रखी है। इसके विपरीत जर्मनी ने अपनी स्थल सेना हमेशा तगड़ी रखी है। स्विटज़रलैण्ड और अफगानिस्तान को जल-सेना की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि उनके पास समुद्री किनारे नहीं हैं। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार लोगों के पेशे भी बहुत कुछ निर्धारित हो जाते हैं। भारत के मैदानों में रहनेवाले लोग किसान होते हैं। नार्वे और कनाडा के समुद्रतटवासी मछली पकड़ने का व्यवसाय करते हैं, इंगलैण्ड और अमेरिका-वासी समुद्री-जीवन पसन्द करते हैं और अच्छे नाविक होते हैं।

राज्य की सीमा निर्धारित करने में खनिज पदार्थों का भी बहुत महत्त्व होता है। लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, पेट्रोल और जलविद्युत् के साधन, इन्हीं ने तो इंगलैण्ड, अमेरिका और जर्मनी को महान अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ बना दिया। ऐसे खनिज क्षेत्रों पर देश अपने दाँत गड़ाते हैं और उन पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। "सार" के कोयला क्षेत्र को लेकर जर्मनी और फ्रान्स में घोर शत्रुता हो गई, ईरान के तेल के क्षेत्र और मलाया के रबड़ और टिन के क्षेत्र

ब्रिटेन अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहता है। आधुनिक सभ्यता का आधार औद्योगिक परिस्थितियाँ हैं, इसलिये इन वस्तुओं का बड़ा महत्त्व है। ये वस्तुएँ राष्ट्रीय सम्पत्ति समझी जाती हैं। इन्हें सभी देश चाहते हैं। इनके कारण युद्ध होते हैं और राज्यों की सीमाएँ बदलती रहती हैं। प्राचीन और मध्ययुग में अन्न और पशु ही सम्पत्ति के आधार थे, अतएव जहाँ की जलवायु अच्छी होती थी, भूमि उपजाऊ होती थी और जहाँ चरागाह होते थे, वहाँ लोग बस जाते थे, राज्य स्थापित होते थे और उन्हीं वस्तुओं का महत्त्व भी होता था। आजकल प्रकृति के इन साधनों का उतना महत्त्व नहीं है।

जलवायु भी राज्य-निर्माण में बहुत प्रभावकारी होता है। जो राज्य बहुत शीतवाले होते हैं, वहाँ जीवन-यापन के साधन पर्याप्त नहीं होते। लोगों का अधिकांश समय उदर-पोषण की चिन्ता में ही बीत जाता है। ऐसे राज्यों में अधिक राजनीतिक विकास नहीं होता। जिन राज्यों का जलवायु बहुत गरम और आर्द्र होता है, वहाँ के लोग आलसी और विलासी होते हैं। ऐसे क्षेत्रों में प्रकृति जीवन-यापन के साधन बहुत जुटा देती है और लोग आराम का जीवन पसन्द करते हैं। वे बहुधा भाग्यवादी होते हैं और उनके समाजों में निरंकुश शासन पनपता है। इतिहास साक्षी है कि केवल सम-शीतोष्ण जलवायु वाले राज्यों में ही सभ्यता, संस्कृति और राजनीति ने प्रगति की है। सिन्ध गंगा के मैदान से लेकर हड़प्पा मोहेनजोदड़ो, बेबीलोनिया, असीरिया, प्राचीन ग्रीस और रोम के राज्य इसके साक्षी हैं।

लेकिन राज्य-निर्माण में इन भौगोलिक परिस्थितियों को कई विद्वान अधिक महत्त्व नहीं देते। संसार का जलवायु जो आज है, तीन हज़ार वर्ष पहले भी प्रायः वही था; भौगोलिक परिस्थितियों में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। लेकिन आज अमेरिका और योरोप की जो विजयिनी शक्तियाँ संसार को हिला रही हैं वे तीन हज़ार वर्ष पहले कहाँ थीं? उस प्राचीन काल में मध्य एशिया में जिन महान राज्यों का उद्भव हुआ था, उनका प्रखर प्रताप फैला था, वे आज कहाँ हैं?

आलोचना

सच बात तो यह है कि जब जिस शक्ति का उद्भव होता है वही अपने को सर्वोच्च कहती है। लेकिन उसके कारण भौगोलिक या प्राकृतिक नहीं होते। आज अमेरिका और योरोप के लोग अपने को सर्वोच्च समझते हैं। लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले ग्रीक लोग भी अपने को सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ समझते थे। उसका प्रमाण अरिस्टॉटल है। उसने लिखा है—"जो लोग उत्तरी योरोप की शीत जलवायु में रहते हैं, उनमें शारीरिक बल और साहस तो होता है, लेकिन बुद्धि और चतुराई नहीं होती। इससे वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा तो कर लेते हैं, पर उनमें कोई राजनीतिक संगठन

नहीं होता और न वे दूसरों पर शासन ही कर सकते हैं। इसके विपरीत एशिया के लोग बुद्धिमान और चतुर होते हैं, लेकिन उनमें बल और साहस नहीं होता, इससे वे हमेशा पराधीनता और गुलामी में फँसे रहते हैं। इन दोनों के बीच में हैलेनीज़ जाति (ग्रीक) बसती है और उसमें इन दोनों जातियों के गुण हैं। अर्थात् वह बली और साहसी भी है और बुद्धिमान भी। इसी से वह स्वतन्त्र है और उसका राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है।"

अन्त में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि आधुनिक काल में विज्ञान की प्रगति ने जिस प्रकार अन्य कई बातों का महत्त्व घटा दिया है, उसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव भी कम कर दिया है। हवाई सेना की शक्ति में वृद्धि होने से नदियों, पहाड़ों और समुद्र तट द्वारा बनी हुई सीमाओं का महत्त्व क्षीण हो गया है। आज यह स्थिति है कि जबतक नौसेना को हवाई सेना का संरक्षण प्राप्त न हो तबतक वह अधिक सफल नहीं हो सकती। मनुष्य की वैज्ञानिक विजय ने बड़ी-बड़ी नहरें बना डाली हैं, पाताल कुएँ खोद दिये हैं, नदियों को बांध डाला है और पहाड़ों को फोड़ दिया है। पनामा और स्वेज की नहर मनुष्य की प्रकृति पर विजय के प्रतीक हैं। इतना सब होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भौगोलिक परिस्थितियों का राजनीतिक परिस्थितियों पर काफी प्रभाव पड़ता है।

प्रोफेसर गिलक्राइस्ट का मत है बहुधा सरकारों या शासकों की नीति के कारण भी राज्यों की सीमाओं और क्षेत्रों में परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन युद्ध, आक्रमण, समझौता इत्यादि के द्वारा होते हैं। कभी कोई सरकार सुरक्षा की दृष्टि से सीमा का विस्तार करना चाहती है तो कभी कोई शासक कोई खनिज क्षेत्र प्राप्त करने के लिये दूसरे राज्य पर आक्रमण करता है। कभी-कभी केवल बड़प्पन के लिये स्पर्धा दो राज्यों में युद्ध का कारण बन जाती है और कभी केवल "वाद" (साम्यवाद बनाम पूंजीवाद) ही युद्ध और सीमा परिवर्तन का कारण बन जाते हैं।

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किसी राज्य की भूमि के ऊपर का वायुमंडल तथा तट से लेकर तीन मील तक का समुद्र उस भूमि का अंश समझा जाता है। अर्थात् उन पर राज्य का उसी प्रकार आधिपत्य समझा जाता है जिस प्रकार कि भूमि पर।

शासन या सरकार (Government):—राजनीति विज्ञान के मूल आधारों को समझने के लिये यह बात जाननी बहुत आवश्यक है कि राज्य (State) और सरकार (Government) में बहुत अन्तर है। इन दोनों तत्त्वों के भेद को स्पष्टरूप से न समझने के कारण कई विद्वान भूतकाल

में बड़ी भूलें कर बैठे हैं। 'राज्य' शब्द एक भावना का प्रतीक है। हम बिना किसी राज्य-विशेष की ओर संकेत किये ही एक राज्य की कल्पना कर सकते हैं, क्योंकि सब राज्यों के मूल तत्त्व समान होते हैं। इसके विपरीत 'सरकार' शब्द एक भावना का प्रतीक न होकर एक ठोस या साकार वस्तु को इंगित करता है। सरकार के रूप राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग होते हैं। राज्य एक ऐसा सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त समाज (Sovereign Community) है, जो राजनीतिक आधार पर संगठित है। सरकार एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा (Will) प्रकट होती है और पूरी भी होती है। राज्य को संप्रभुता प्राप्त होती है और इस संप्रभुता के आधार पर राज्य सरकार को एक संविधान के द्वारा कुछ शक्ति या अधिकार देता है। इस दृष्टि से सरकार शब्द राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक संकुचित है। किसी भी राजनीतिक समाज के सब नागरिक राज्य के अंग होते हैं, लेकिन वे सरकार के अंग नहीं होते। राज्य स्थायी होता है, लेकिन सरकार परिवर्तनशील होती है, उसके रूप बदलते रहते हैं। युद्ध द्वारा अथवा आन्तरिक क्रान्ति द्वारा अथवा वैधानिक परिवर्तनों द्वारा सरकार के रूप बदलते रहते हैं। जिस राज्य में किसी समय राजतन्त्र (Monarchy) हो, उसी राज्य में जनतन्त्र राजतन्त्र का स्थान ले सकता है। लेकिन किसी-न-किसी रूप में सरकार होना अवश्य चाहिये। बिना सरकार के कोई राज्य नहीं रह सकता। इसीलिये सरकार को राज्य का एक मूल तत्त्व माना गया है। राज्य के सब कार्य सरकार द्वारा ही होते हैं। राज्य की क्रियाशीलता, उसके सब कार्य केवल सरकार द्वारा होते हैं। राज्य की जनसंख्या में विभिन्न वर्ग होते हैं, उनके अपने-अपने स्वार्थ होते हैं। विशेषकर जनतन्त्र राज्यों में यह देखा जाता है कि विभिन्न वर्गों के स्वार्थ या दल सरकार पर अपना अधिकार करने की कोशिश करते रहते हैं।

राज्य का मूल रूप अपरिवर्तनशील होता है। लेकिन सरकार के रूप विभिन्न होते हैं। किन्तु प्रचलित माने में सरकार का अर्थ एक मंत्रिमंडल होता है, जो देश का शासन चलाता है। यदि जरा और गहराई से विचार किया जाय तो सरकार में मंत्रिमंडल, विधानमंडल और न्यायपालिका तीन अंग होते हैं और इन तीनों की सम्मिलित कार्य-प्रणाली को सरकार कहते हैं। विधानमंडल शासन सम्बन्धी कानून बनाता है और मंत्री भी विधान-मंडल के सदस्य होते हैं। इसलिये यदि हम सरकार का अर्थ थोड़ा और विस्तृत कर दें, तो मतदाता भी सरकार के अंग हो जाते हैं। गेटल ने लिखा है कि "जब मतदाता अपने मत द्वारा सरकारी पदाधिकारी निर्वाचित

करते हैं, तो वे सरकार की कार्यकारिणी का कार्य करते हैं। जब वे प्रत्यक्ष मतदान द्वारा कोई निर्णय करते हैं तो वे विधानमंडल का कार्य करते हैं और जब वे जूरी के रूप में न्याय-शासन में भाग लेते हैं तो न्यायपालिका का कार्य करते हैं।"[1]

संप्रभुता (Sovereignty):—राज्य का चौथा और सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व संप्रभुता है। संप्रभुता को हम राज्य का प्राण कह सकते हैं। वैसे तो समाज में अनेक संगठन या संघ रहते हैं, पर राज्य की यह विशेषता होती है कि शक्ति में वह सर्वोच्च या सर्वोपरि होता है। संप्रभुता अन्य किसी संगठन को प्राप्त नहीं रहती; केवल राज्य को ही यह गुण प्राप्त होता है। इसीलिये वह अपनी सीमा के भीतर अन्य सब संगठनों से सर्वोपरि होता है। अन्य संगठनों में क्षेत्र या भूमि हो सकती है, सदस्य होते हैं, कार्य-संचालन के नियम भी होते हैं, लेकिन उनमें संप्रभुता नहीं होती। यह गुण केवल राज्य में ही होता है। संप्रभुता के दो पहलू होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाहरी संप्रभुता की विशेषता यह होती है कि राज्य किसी बाहरी शक्ति का किसी प्रकार का नियंत्रण स्वीकार नहीं करता। वह सब प्रकार से स्वतन्त्र होता है। आन्तरिक गुण यह होता है कि वह अन्य सब संगठनों के प्रभाव और नियंत्रण से ऊपर होता है। वह अन्य संस्थाओं को प्रभावित कर सकता है, पर स्वयं प्रभावित नहीं होता। इस संप्रभुता को राज्य-सरकार द्वारा प्रकट करता है। यह इतना महत्त्वपूर्ण विषय है कि इसका अध्ययन हम स्वतन्त्र रूप से आगे करेंगे।

राज्य के इन चार तत्त्वों के आधार पर विभिन्न लेखकों ने राज्य की अन्य विशेषताएं भी बतलाई हैं, लेकिन वे सब प्रासंगिक हैं, मौलिक नहीं। उदाहरण के लिये हम यहाँ बरगैस[2] के मत पर विचार करेंगे। उसका मत है कि राज्य

१ "When the electorate, through the suffrage, chooses Governing officials, it is exercising the executive power of appointment; by means of the Initiative and Referendum it shares in legislation, and by jury service it becomes a part of the Judiciary."—(**Gettell**)

२ "The state is permanent. It does not lie within the power of men to create it today and destroy it tomorrow as caprice may move them. Human nature has two sides to it—the one universal and the other particular, the one the state the other the individual. Men can no more divert themselves of the one than the other, i. e. they cannot divert themselves of either. No great publicist since the days of Aristo-

सर्वव्यापी (all comprehensive) परम स्वतन्त्र या सर्वोपरि और स्थायी होता है। सर्वव्यापकता और सर्वोपरिता का अर्थ यह है कि राज्य के अन्तर्गत सब व्यक्ति और सब संस्थाएँ उसके नियन्त्रण में होती हैं। उसके समान या उससे बड़ा कोई नहीं हो सकता। इस बात को हम कह ही चुके हैं कि ये गुण संप्रभुता के अन्तर्गत आ जाते हैं। स्थायित्व का अर्थ यह है कि सरकारों के रूप बदलते रहते हैं, परन्तु राज्य नहीं बदलता। अंग्रेजी में एक कहावत है कि राजा कभी नहीं मरता यह इसी गुण का परिचायक है। जब एक सरकार दूसरी सरकार में बदल जाती है, जब एक राज्य दूसरे राज्य को हड़प कर लेता है, तब भी राज्य के मूल तत्व बने ही रहते हैं। इनका कभी नाश नहीं होता। भूमि और जनसंख्या रहती ही है, सरकार का रूप बदल सकता है और संप्रभुता दूसरे राज्य की संप्रभुता में लीन हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मानव-कल्याण के लिये राज का अस्तित्व आवश्यक है।

कुछ विद्वानों ने राज्यों की समानता पर जोर दिया है। उनका मत है कि राज्य छोटे हों अथवा बड़े, धनी हों अथवा निर्धन, संप्रभुता के आधार पर वे एक बराबर दर्जे के होते हैं। सिद्धान्त के रूप में तो यह बात सही है। लेकिन जब हम व्यवहार की दृष्टि से देखते हैं तो इसमें सत्यता नहीं पाते। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। राष्ट्रसंघ (United Nations Organisations) में भी हम देखते हैं कि यद्यपि सब राज्यों के लिये समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, लेकिन अन्तिम निर्णय बड़े-बड़े और शक्तिशाली राज्यों की इच्छानुसार ही होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी इतना बलवान नहीं हो पाया है कि राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर वास्तविक रूप में अमल करा सके। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि बल (Force) का सहारा राज्य का आवश्यक तत्व है। कुछ का कहना तो यहाँ तक है कि केवल राज्य को ही बल-प्रयोग का अधिकार होना चाहिये, तभी वह अपनी सर्वोच्च इच्छा का पालन करा सकता है और अपनी संप्रभुता सुरक्षित रख सकता है। यदि सरकार को बल-प्रयोग का साधन प्राप्त न हो तो उसके प्रति कोई श्रद्धा न रखेगा, दण्ड के आधार पर ही न्याय चल सकता है। इस कथन में तथ्य है। परन्तु यदि हम गहराई में जायें तो देखेंगे कि वास्तव में संप्रभुता के सिद्धान्त में बल-प्रयोग का अधिकार निहित है। बल-प्रयोग के साधन और विधि राज्य द्वारा ही निर्धारित होते हैं। अभि-

---

tle had dissented from this principle. Anarchy is permanent impossibility." (Burgess—Foundation of Political Science.)

शाप और वरदान एक ही शक्ति के दो रूप हैं। बल-प्रयोग को हमें राज्य का एक मूल तत्त्व न मानकर केवल उसका एक गुण या संप्रभुता का एक गुण मानना चाहिये।

राज्यों का लोप और जन्म :—हम कह चुके हैं कि राज्य अमर है, पर राज्य विशेष अमर नहीं होते। ऊपर हमने एक अँगरेजी कहावत का उल्लेख किया है जिसमें यह कहा जाता है कि "राज्य अमर है।" अर्थात् जो व्यक्ति राजा होता है वह तो अवश्य मरता है, परन्तु राजा की गद्दी कभी खाली नहीं रहती। उस पद पर कोई-न-कोई व्यक्ति हमेशा प्रतिष्ठित रहता है। इसी प्रकार राज्य-अमर है, पर राज्य-विशेष कालान्तर में नष्ट होते रहते हैं। राज्यों के भौतिक आधार अर्थात् भूमि और जनसंख्या तो बने रहते हैं, पर उनके नैतिक आधार अर्थात् सरकार और संप्रभुता बदल जाते हैं। इनका लोप दूसरे राज्य के इन्हीं तत्त्वों में हो जाता है। किसी राज्य-विशेष का लोप कई प्रकार से हो सकता है। एक तो एक राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण करके, उसे जीतकर अपने राज्य में शामिल कर सकता है। दूसरे कोई राज्य स्वेच्छा से दूसरे राज्य में मिल सकता है। तीसरे कई छोटे राज्य मिलकर एक बड़ा राज्य बना सकते हैं। इटली में ऐसा ही हुआ।

इसी प्रकार युद्ध अथवा सन्धि द्वारा बड़े राज्यों का विभाजन करके कई छोटे राज्य बनाये जा सकते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप में इस विधि से कई राज्यों का सृजन हुआ। कभी-कभी एक ही राज्य के लोग आपस में एक समझौता करके विभाजित होकर एक या एक से अधिक राज्य बना लेते हैं। सन् १९४७ में भारत की जनता की राय से भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान नामक एक नये राज्य का जन्म हुआ।

इस तरह इतिहास के पर्दे पर राज्यों का सृजन और लोप होता रहता है। परन्तु जब भी किसी नये राज्य का उदय होता है तो उसमें ऊपर बताये गये चार मूल तत्त्व अवश्य होते हैं।

राज्य के आवयविक स्वरूप का सिद्धान्त (Organic or Organismic theory of State) :—समय-समय पर राजनीति विज्ञान के विशारद राज्य की तुलना मानव-शरीर से करते आये हैं। प्लेटो के समय से लेकर आज तक विद्वानों ने इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन किया है। किसी ने इस उपमा को महत्त्व दिया और किसी ने नहीं दिया। ब्लुंशली नामक जर्मन विद्वान ने तो यह उपमा बारीकी की पराकाष्ठा पर पहुँचा दी। यद्यपि आजकल इस उपमा अर्थात् राज्य को मानव स्वरूप के समान मानने के सिद्धान्त को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसलिये इसका अध्ययन आवश्यक है।

प्राचीन ग्रीस के दार्शनिकों की प्रवृत्ति व्यक्ति को राज्य के अन्तर्गत स्थापित करने की थी। इसीलिये उन्होंने राज्य की तुलना एक विशालकाय मनुष्य से की। प्लेटो का मत था कि राज्य एक सुन्दर सजीव शरीर है और मनुष्य या व्यक्ति केवल उसके एक रजकण के समान है। उसने व्यक्ति और राज्य के कार्यों की समानता बतलाते हुए एक पूरा ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। उसने समाज को तीन वर्गों में बाँट दिया है—शासक वर्ग, योद्धा वर्ग और श्रमिक वर्ग। यह वर्गीकरण मनुष्य के मानसिक गुणों पर आधारित है अर्थात् बुद्धि और ज्ञान, साहस तथा इच्छा। व्यक्ति राज्य का एक अटूट अंग रहा है। राज्य के बिना व्यक्ति की सत्ता नहीं रह सकती। अरिस्टॉटल का भी यही सिद्धान्त था। वह व्यक्ति को राज्य का एक सजीव अंग मानता था। रोमी लेखक एवं राज्य के विचारक सिसरो ने राज्य की कार्य-संचालक शक्ति की तुलना मनुष्य के मस्तिष्क से की।

मध्ययुग में इस उपमा का भरपूर उपयोग किया गया। उस समय ईसाई धर्म (Christian Church) और राजा में संघर्ष चल रहा था। ईसाई धर्म का प्रधान पोप था। पोप कहता था कि समाज का सर्वोच्च वह है और राजा अपने को सर्वोच्च मानता था। सैलिसबरी के जॉन नामक एक धर्म-प्रचारक ने कहा कि धर्म एक रहस्यमय शरीर के समान है जिसका सिर ईसा है। इस कथन का भरपूर प्रयोग पोप और राजा दोनों करने लगे। फिर धर्म प्रचारकों ने कहा कि धर्म आत्मा है और राज्य शरीर। इसीलिये धर्म बड़ा है अर्थात् पोप राजा से बड़ा है। इस प्रकार इस उपमा का प्रयोग मध्ययुग के लेखकों ने तरह-तरह से किया और कुछ ने तो राज्य और मानव-शरीर की एकरूपता स्थापित करने में बाल की भी खाल खींच डाली। सन्त टॉमस एक्वीनास, सैलिसबरी, पादुआ के मार्सिगलियो और क्यूसा के पादरियों ने इस उपमा का प्रयोग किया। इन सबों ने मानव-शरीर के विभिन्न अंगों की उपमा राज्य के विभिन्न विभागों से दी।

आधुनिक काल के प्रारम्भिक लेखकों ने भी राज्य के आवयविक स्वरूप का अध्ययन किया और प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस पर जोर दिया जाता रहा। आधुनिक काल में रूसो, हॉब्स, हरबर्ट स्पेन्सर, ब्लुन्शली प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने इस सिद्धान्त को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, हॉब्स का "लेवायथन" (Leviathan) एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें उसने मनुष्य-शरीर और राज्य के बीच में पाई जाने वाली समानताओं का वर्णन किया है। कहीं-कहीं तो यह समानता हास्यास्पद जान पड़ती है। हॉब्स साहब फरमाते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य-शरीर रोगों से पीड़ित होता है, उसी प्रकार राज्य को भी फोड़ा, फुन्सी, खुजली, पेचिश का रोग इत्यादि बीमारियाँ होती हैं। हॉब्स का मत है कि राज्य वास्तव में मनुष्य का ही बृहद् आकार है।

क्योंकि राज्य आखिर मनुष्य की इच्छा की ही उत्पत्ति है। रूसो ने इतनी बारीक समानता स्थापित नहीं की है। लेकिन उसने भी कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में एक चालक शक्ति होती है, उसी प्रकार समाज में भी एक चालक शक्ति होती है। मनुष्य में जिस प्रकार इच्छा-शक्ति होती है, उसी प्रकार समाज में भी एक व्यापक या सामान्य इच्छा-शक्ति (General Will) होती है। रूसो ने राज्य की विधायिनी शक्ति की तुलना मनुष्य के हृदय से की है, और कार्यपालिका की तुलना मनुष्य के दिमाग या मस्तिष्क से।

उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ आदर्शवादी जर्मन विचारकों ने भी इस सिद्धान्त का उपयोग अपनी विचारधारा की पुष्टि के लिये किया। फिश्टे (Fichte) इनमें से एक था। उसने लिखा है कि मनुष्य का जीवन समाज में रहकर ही सार्थक हो सकता है। व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज से बाहर मनुष्य का जीवन कोई महत्त्व नहीं रखता। यही बात व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध में अक्षरशः लागू होती है। एक अवयव पूर्ण शरीर में प्रत्येक अवयव या अंग पूर्ण शरीर के पोषण में योग देता है और इस योग के कारण स्वयं भी पोषित होता है। यही बात व्यक्ति और राज्य के बारे में भी लागू होती है।[1]

जर्मन लेखकों में ब्लुंशली ने राज्य के आवयविक स्वरूप या संगठन पर सबसे अधिक जोर दिया है। उसने तो यहां तक कहा है कि राज्य में योनि सम्बन्धी गुण भी होते हैं। उसका मत था कि राज्य पुरुष जाति का है और तत्कालीन ईसाई धर्म संगठन स्त्री जाति का था। इसी आधार पर इस लेखक ने स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध किया था। उसने राज्य के स्वरूप का एक नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्त्व माना है। उसका मत था कि हम राज्य के शरीर और व्यक्ति के शरीर में तीन प्रकार की समानता मानते हैं। एक तो प्रत्येक प्राणी या जीवधारी शरीर और आत्मा के संयोग से बनता है। यह संयोग हम मनुष्य में भी पाते हैं और राज्य में भी। दूसरी बात यह है कि एक शरीर में विभिन्न अंग होते हैं। सब अंग अपनी-अपनी क्रियाएँ करते हैं। उससे वे भी जीवित रहते हैं और शरीर भी। इसी प्रकार राज्य में विभिन्न अंग होते हैं। प्रत्येक अंग का काम अलग निर्धारित रहता है। प्रत्येक अंग की शक्तियाँ भी अलग-अलग होती हैं। ये सब अपनी शक्ति के अनुसार अपने काम करते हैं और इसी तरह राज्य चलता है और जीवित रहता है। तीसरे

---

१ "In the organic body each part constantly maintains the whole and is, in maintaining the whole thereby is itself maintained. Just so stands the citizen in relation to the state."

—(**Fichte**)

प्रत्येक शरीर की उत्पत्ति बीज रूप में होती है। उसमें विकास और वृद्धि के तत्त्व छिपे रहते हैं। वृद्धि आभ्यन्तर में होती है। यही हाल राज्य का है। उसकी उत्पत्ति भी बीजरूप में हुई और उसका विकास क्रमशः बाह्य रूप में भीतर से बाहर की ओर हुआ है। व्यक्ति के समान इस प्रकार राज्य का एक भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक अस्तित्व होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में हर्बर्ट स्पेन्सर व्यक्तिवादी विचारधारा का एक बड़ा राजनीति विचारक हुआ है। उसने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये इस सिद्धान्त का बहुत अधिक उपयोग किया है। उसने शरीर और राज्य की न केवल समानताओं पर जोर दिया है बल्कि उनकी असमानताओं और विभिन्नताओं से भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है। लेकिन इस रूपक से उसने केवल अपने मतलब के विचार स्थापित करने का प्रयत्न किया है। चूँकि स्पेन्सर बहुत बड़ा व्यक्तिवादी था, वह व्यक्ति के लिये अधिक से अधिक स्वतन्त्रता का समर्थन करता था, इसलिये उसका इस रूपक का अध्ययन और उपयोग एकदम एकांगी हो गया। उसका मत था कि समाज एक जीवित शरीर है। चूँकि वह जीवित है, इसलिये उसका विकास होता रहता है। उसके अंग भी विकसित होते हैं, और उनके काम अलग-अलग बँटते जाते हैं। लेकिन फिर भी वे एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हाथ, पैर, पेट तथा मस्तिष्क एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। जिस प्रकार सब अंगों की क्रियाशीलता पर शरीर जीवित रहता है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों के कार्य-कलापों के कारण समाज का जीवन चलता है। लेकिन एक बड़ा अन्तर यह है कि शरीर में प्राण एक जगह केन्द्रित होता है। समाज में एक जगह प्राण केन्द्रित नहीं होता। वह विभाजित रहता है। अर्थात् समाज के अंग एक शरीर के अवयव होते हुए भी स्वतन्त्र हैं। इसलिये हमारा उद्देश्य पूरे समाज का कल्याण न होकर केवल अंगों अर्थात् व्यक्तियों या इकाइयों का कल्याण होना चाहिये। हम कह चुके हैं कि स्पेन्सर बड़ा भारी व्यक्तिवादी था। उसका उद्देश्य व्यक्ति के लिये अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। उसका मत था कि समाज विकास करता है, वह बनाया नहीं जाता। इसलिये उसे स्वाभाविक रूप से विकास करने दो। कृत्रिम रूप से नहीं। निःशुल्क शिक्षा, सरकारी नियंत्रण सार्वजनिक पुस्तकालय वह निरर्थक समझता था। ये चीजें व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। शरीर और समाज की तुलना वह बड़ी बारीकी से करता है। जैसे कि रेलें और तार शरीर की खूनवाहक नलियों और नसों के समान हैं। मुद्रा या सिक्के रक्त-कणों के समान हैं। जिस प्रकार शरीर में स्फूर्त्तिदायक तत्त्व होते हैं, उसी प्रकार समाज के स्फूर्त्तिदायक तत्त्व उद्योग-

कारखाने हैं। सरकार और सेना के समान तत्त्व भी मनुष्य शरीर में मौजूद है। अब ऐतिहासिक दृष्टि से देखिये जीवन के निम्नस्तर पर शरीर की गठन बड़ी साधारण होती है। एक केंचुआ को यदि काटकर दो कर दिया जाय तो भी वह जीवित रहेगा। इसी प्रकार इतिहास के प्रारम्भिक समाज का जीवन बड़ा सादा और सरल था। लेकिन उच्च स्तर पर जीवन जटिल हो जाता है। इसी प्रकार सभ्यता के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी आर्थिक तथा अन्य प्रकार की गुत्थियाँ आती-जाती हैं। इस वृहद् तुलना का एक मात्र उद्देश्य पूर्ण व्यक्तिवाद और प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन था। अरनेस्ट बारकर ने ठीक ही कहा है कि राज्य के आवयविक स्वरूप से जहाँ स्पेन्सर का मतलब सधता है वहाँ तो वह उसे ग्रहण कर लेता है और जहाँ मतलब नहीं बनता वहाँ इस सिद्धान्त को छोड़ देता है।

हरबर्ट स्पेन्सर (ब्रिटेन), ब्लुंशली (जर्मनी), ऑगस्ट ऑमटे (फ्रान्स) तथा गमप्लोविज (पोलैण्ड) इत्यादि विभिन्न देशों के जिन-जिन विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग किया है, उन्होंने शरीर और राज्य में तीन बातों में समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया है—उत्पत्ति, गठन और क्रिया।

समीक्षा

इस सिद्धान्त का लक्ष्य राज्य की मौलिक एकता दर्शाना है, यह बतलाता है कि व्यक्ति समाज की एक इकाई है। राज्य भी व्यक्तियों पर निर्भर करता है, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि समानता (Analogy) को एकरूपता (Identity) मान लिया गया है। मनुष्य शरीर के विभिन्न अंग जैसे कि हाथ, पैर इत्यादि अपनी अलग स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति नहीं रखते। लेकिन, राज्य की व्यापक इच्छा-शक्ति पर उसके व्यक्ति रूपी अंगों की इच्छा का काफी प्रभाव पड़ता है। दूसरे, मनुष्य शरीर के अथवा किसी भी प्राणी के अंग-प्रत्यंगों की क्रिया संपूर्ण रूप से शरीर ही तक सीमित रहती है, लेकिन राज्य के सदस्यों का अस्तित्त्व तथा उनके कार्य केवल राज्य ही तक सीमित नहीं रहते। राज्य कार्यों पर नियन्त्रण कर सकता है। लेकिन उनकी प्रेरक इच्छा-शक्ति पर नियंत्रण नहीं कर सकता। तीसरे, राज्य की इकाइयाँ अर्थात् नागरिक एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्वतन्त्रतापूर्वक आ और जा सकते हैं, साथ ही उनकी संख्या भी इच्छानुसार घटाई और बढ़ाई जा सकती है। लेकिन प्राणियों के शरीर के अंग-प्रत्यंग स्थायीरूप से निश्चित हैं। चौथे, प्राणियों का जन्म अन्य शरीरधारियों से होता है, लेकिन एक राज्य दूसरे राज्य से जीवन-शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। पाँचवें, शरीर में विकास के नियमों का पालन स्वाभाविक

रूप से होता रहता है, राज्य में ऐसा नहीं होता. राज्य का विकास किसी प्राकृतिक नियम के अनुसार नहीं होता। उसके लिए सोच-विचार कर प्रयत्न करना पड़ता है। छठें, इस सिद्धान्त के आधार पर यदि हम व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर दें, अथवा यदि व्यक्ति को राज्य में बहुत अधिक स्वतन्त्रता दे दें, तो इन दोनों के परिणाम भयावह हो सकते हैं।

गेटेल ने इस सिद्धान्त में निम्नलिखित उपयोगी बातें पाई हैं—

(१) यह सिद्धान्त राज्य के ऐतिहासिक विकास का महत्त्व बतलाता है।

(२) यह प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिणामों पर ज़ोर देता है।

(३) यह राज्य और नागरिकों की पारस्परिक निर्भरता दर्शाता है।

(४) यह सामाजिक जीवन की मौलिक एकता पर ज़ोर देता है और यह बतलाता है कि समाज के विभिन्न अंग एक दूसरे से किस तरह बंधे हुए हैं।

(५) यह इस बात को ज़ोर के साथ प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है कि समाज केवल व्यक्तियों का सूत्र रहित समूह नहीं है। यह स्पष्ट रूप से बतलाता है कि समाज के सदस्य एक निश्चित तरीके से एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और सब मिलकर समाज पर निर्भर रहते हैं और साथ ही समाज भी शक्तियों पर निर्भर रहता है।

(६) यह सिद्धान्त दर्शाता है कि मनुष्य प्रकृति से ही राजनीतिक प्रवृत्ति के प्राणी होते हैं और उनकी सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति राज्य की उत्पत्ति करती है।

इन समानताओं के बावजूद राज्य और प्राणि-शरीर में निम्नलिखित भेद पाये जाते हैं। इन्हें हम इस सिद्धान्त के खतरे भी कह सकते हैं।

(१) राज्य की इच्छा हमेशा उसके व्यक्तियों की इच्छा नहीं होती। अर्थात् राज्य की व्यापक इच्छा व्यक्तियों की निजी इच्छा से भिन्न हो सकती है।

(२) प्राणियों के शरीर के विकास में प्राकृतिक नियमों का पालन स्वाभाविक रूप से होता रहता है, लेकिन राज्य का विकास जागरूक और सचेष्ट प्रयत्नों के आधार पर होता है।

(३) इस सिद्धान्त में एक खतरा यह है कि राज्य को इतना अधिक महत्त्व दिया जा सकता है कि उसके सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व ही न रहेगा। व्यक्ति की इच्छा पूर्णतया राज्य की इच्छा के अधीन हो जायगी।

(४) राज्य का प्रत्येक व्यक्ति केवल राज्य के लिये नहीं जीता। उसका एक आध्यात्मिक जीवन भी होता है। उसकी अपनी इच्छा-शक्ति होती है, जो कि शरीर के अंगों या रक्तकणों में नहीं होती।

(५) यदि अंग-प्रत्यंग काट दिये जायँ तो शरीर प्राणरहित हो जाता है, पर थोड़े से व्यक्तियों के अलग होने से राज्य का अस्तित्त्व समाप्त नहीं होता।

जैसा कि हम कह चुके हैं इस सिद्धान्त में या इस उपमा में सबसे बड़ा गुण यह है कि यह राज्य की एकता पर ज़ोर देता है। लेकिन साथ ही इसमें सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि आखिर यह एक उपमा ही है, केवल एक तुलना है और उपमा को हम प्रमाण कभी नहीं मान सकते। दूसरी बात यह है कि इस उपमा के आधार पर राज्य के सम्बन्ध में हम कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, कोई सिद्धान्त या नियम निर्धारित नहीं कर सकते। जैसे कि शरीर के सम्बन्ध में तो हम यह कह सकते हैं कि उसका विकास कुछ प्राकृतिक नियमों के आधार पर होता है। लेकिन राज्य के विकास के लिये हम इस प्रकार के या किसी भी प्रकार के नियम निर्धारित नहीं कर सकते। यदि हम राज्य का विकास प्राकृतिक नियमों पर छोड़ दें तो सम्भव है कि हम भाग्यवादी बन बैठें और निकम्मे हो जायें। इस सिद्धान्त का सार यही है कि एक मोटे तौर से हम राज्य की समानता शरीर से कर सकते हैं। इससे हम राज्य की गतिविधि भली-भाँति समझ सकते हैं। लेकिन यदि हम बारीकियों में जाने लगें तो भ्रम में पड़ जायेंगे और गलत निष्कर्ष निकाल लेंगे। जिस प्रकार राज्य की तुलना हम एक इमारत से नहीं कर सकते, उसी प्रकार शरीर से भी नहीं कर सकते। फिर आज-कल प्रत्येक बात को विज्ञान की कसौटी पर कसा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से तो यह बहुत कम उपयोगी ठहरता है।

राज्य का व्यावहारिक और आदर्श स्वरूप (The Concept and Idea of the State):—कुछ जर्मन विचारकों ने राज्य के व्यावहारिक या वास्तविक रूप (Concept) और राज्य के आदर्श रूप (Idea) में भेद बताया है। उनका तात्पर्य यह है कि इतिहास के किसी काल में राज्य का जो वास्तविक रूप पाया जाता है; विभिन्न राज्यों में जो समान गुण पाये जाते हैं, वह राज्य का व्यावहारिक रूप है और एक राज्य जैसा होना चाहिये, जैसा हम चाहते हैं, जिस पूर्ण या त्रुटिहीन राज्य की हम कल्पना कर सकते हैं वह आदर्श राज्य है। जैसे कि हम आदर्श राज्य की कल्पना "राम-राज्य" के रूप में करते हैं। बर्गेस ने आदर्श या पूर्ण राज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "आदर्श राज्य वह है, जो पूर्णता प्राप्त कर चुका है, जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। व्यावहारिक राज्य वह है, जो पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। जैसे-जैसे मानव-समाज उन्नति करता है, वैसे-वैसे ये दो रूप एक दूसरे के निकट आते-जाते हैं।" ब्लुंशली ने भी आदर्श राज्य की व्याख्या इसी प्रकार की है। इतिहास के विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के आदर्श राज्यों

की कल्पना की गई है। प्राचीन काल में ग्रीक लोग नगर-राज्य (City State) को ही आदर्श राज्य मानते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय-राज्य (Nation State) को आदर्श राज्य माना जाता था। आधुनिक विचारक संघात्मक विश्व-राज्य की कल्पना करते हैं और उसे आदर्श राज्य मानते हैं।[१] यद्यपि विश्व-राज्य की कल्पना नयी नहीं है। सिकन्दर महान, रोमन सम्राटों, धर्म-प्रधान रोमन सम्राटों और नेपोलियन इत्यादि ने भी विश्व राज्य के स्वप्न देखे थे। परन्तु वे अपनी निज की इच्छा के अनुसार विश्व राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसी से असंतुष्ट जनता ने उनके स्वप्न पूरे नहीं होने दिये। यदि आज के राष्ट्रीय राज्य किसी प्रकार एक ऐसे विश्व संघ के सूत्र में बांधे जा सकें जिसमें प्रत्येक देश की संस्कृति और स्वार्थ सुरक्षित रहेंगे तो शायद मानव-समाज के लिये वह राज्य अधिक सुखदायी और कल्याणकारी हो सके, क्योंकि फिर उसमें युद्ध और आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता की इस समय जैसी सम्भावना न रहेगी। लेकिन फिर भी वह एक आदर्श राज्य होगा या नहीं इसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसका एक उदाहरण ले लीजिये। जब मनुष्य की बुद्धि ने एक तख्ता और तीन पाये लगाकर एक कुरसी बनाई तो वह बड़ी आरामदायक और आदर्श आसन मानी जाने लगी। उसके बाद कुरसी का रूप अधिकाधिक आरामप्रद होते-होते अपने वर्तमान स्वरूप पर पहुँचा। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि यह कुरसी का आदर्श रूप है। न जाने भविष्य में वह कितना अच्छा और अधिक आरामदायक रूप ग्रहण करे। इसलिये आदर्श की कोई सीमा नहीं है, उसका कोई मान या माप नहीं है। यही बात राज्य के विषय में भी लागू होती है।

---

१ See 'One World' by Wendell Wilkie.

अध्याय ३

राज्य का स्वरूप (ख)

(Nature of the State—continued)

पिछले अध्याय में हमने राज्य के चार मूल तत्त्वों का अध्ययन किया है और यह देखा है कि इन चार अंगों के मिलने से राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है। लेकिन बहुधा राजनीति विज्ञान के अध्ययन में हम राष्ट्र, राष्ट्रीयता, सरकार, संघ, समूह इत्यादि जैसे शब्द पाते हैं। प्रचलित या व्यावहारिक प्रसंगों में इन शब्दों का उपयोग कभी-कभी राज्य के लिये भी कर दिया जाता है। यह प्रयोग भ्रम उत्पन्न कर सकता है। इसलिये जब हम राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन कर रहे हैं तो इनका वास्तविक अर्थ समझना आवश्यक है और यह भी जानना आवश्यक है कि राज्य में और इनमें क्या सम्बन्ध है। प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना अच्छा होगा कि वास्तव में इनमें से किसी का भी अर्थ राज्य का परिचायक नहीं होता। उदाहरण के लिये सरकार को ही ले लें। हम देख चुके हैं कि वास्तव में सरकार राज्य का एक अंग मात्र है। लेकिन सरकार राज्य नहीं है। सरकार तथा कुछ अन्य तत्त्व मिलकर राज्य बनते हैं। इसी प्रकार अन्य जितनी संस्थाओं का नाम ऊपर कहा गया है, वे सब राज्य नहीं हैं। राज्य और इन संस्थाओं में जो अन्तर है, उसका अध्ययन हम एक-एक करके यहाँ करेंगे।

राज्य और सरकार (State and Government):—राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त समझने के लिये राज्य और सरकार में जो भेद है, उसे स्पष्ट रूप से जानना आवश्यक है। हम पहले भी कह चुके हैं कि राज्य एक भावनामूलक शब्द है। हम किसी राज्यविशेष की ओर इंगित किये बिना ही राज्य के मूल रूप का ध्यान कर सकते हैं। लेकिन सरकार या शासन तन्त्र एक निश्चित रूपवाला शब्द है। जब सरकार शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा ध्यान तुरन्त एक राज्यविशेष की ओर चला जाता है। किसी राज्य की सरकार का रूप उस राज्य में प्रचलित परिस्थितियों के अनुरूप होता है। राज्य एक निश्चित भूखंड पर रहनेवाली एक निश्चित जनसंख्या को कहते हैं, जो राजनीतिक ढंग से संगठित हो और जिसे संप्रभुता प्राप्त हो। अर्थात् जिसकी अपनी इच्छा हो। राज्य अपनी इच्छा सरकार के द्वारा प्रकट करता है। वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति सरकार अर्थात् शासन के द्वारा करता है। संप्रभुता

राज्य में निहित होती है, लेकिन उस संप्रभुता के आधार पर एक संविधान के द्वारा राज्य सरकार को अधिकार या शासन-शक्ति देता है। सरकार राज्य की प्रतिनिधि मात्र होती है। सरकार का रूप उतना व्यापक नहीं होता जितना कि राज्य का होता है। किसी राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या राज्य का अंग या अंश होती है, पर वह सरकार का अंश नहीं होती। सरकार परिवर्तनशील होती है, पर राज्य परिवर्तनशील नहीं होता। युद्ध के द्वारा, आन्तरिक क्रान्ति के द्वारा अथवा वैधानिक तरीकों के रूप बदलते रहते हैं, पर राज्य का रूप नहीं बदलता। एक ही राज्य में कभी एकतन्त्र अर्थात् राजा का राज्य होता है और कभी प्रजातन्त्र। बोलशेविक क्रान्ति के पहले रूस में राजा का राज्य था, पर क्रान्ति के द्वारा वहाँ प्रजातन्त्र हो गया, राज्य वही रहा, पर शासन का रूप बदल गया। सन् १९५३ में मिस्र में भी यही हुआ। लेकिन यह बात अवश्य है कि सरकार के बिना राज्य नहीं रह सकता। प्रत्येक राज्य में किसी-न-किसी प्रकार की सरकार अवश्य होनी चाहिये। क्योंकि सरकार के द्वारा ही तो राज्य अपना कार्य करता है। चूँकि राज्य की क्रियाशीलता सरकार के द्वारा ही प्रकट होती है, इसलिये हम भ्रम में पड़ जाते हैं और सरकार को राज्य समझने लगते हैं।

साधारण रूप में देखने से सरकार का आशय विधान द्वारा संस्थापित मंत्रियों की एक समिति होता है। यह मंत्रिमंडल सरकार की नीति निर्धारित करता है और उसके अनुसार देश का शासन चलता है। लेकिन यदि हम व्यापक दृष्टि से देखें तो शासन या सरकार का अर्थ वे सब कार्य होते हैं, जो विधानमंडलों, कार्यपालिकाओं और न्यायालयों द्वारा केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय क्षेत्रों में किये जाते हैं। सरकार क़ानून बनाती है, उन्हें कार्यान्वित कराने के लिये उसे कर्मचारियों का एक बड़ा भारी दल रखना पड़ता है, उसे सेना और पुलीस रखनी पड़ती है। शासन का खर्च चलाने के लिये वह कर लगाती है, इत्यादि। यदि हम अपनी व्याख्या थोड़ी और विस्तृत कर दें तो सरकार में हमें मतदाताओं को भी शामिल करना पड़ेगा, क्योंकि मतदाता ही उन प्रतिनिधियों को चुनते हैं, जो सरकार के रूप में शासन चलाते हैं। इसीलिये सरकार की परिभाषा करते हुए डीले ने लिखा है कि सरकार में वे सब संगठन शामिल हैं, जो राज्य की संप्रभुता सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग करते हैं या कर सकते हैं।[1]

राज्य और सरकार में यह भेद स्पष्ट रूप से जान लेने पर हम विचारकों, आलोचकों से सहमत नहीं हो सकते जो राज्य और शासन तंत्र में भेद ही नहीं

१ "The sum total of those organisations that exercise or may exercise the sovereign powers of the state."—(**Dealey**)

मानते। इस त्रुटिपूर्ण मत की कुछ जिम्मेदारी ऐतिहासिक परम्परा पर भी है। सदियों तक लोक प्रचलित भाषा में शासक और उसके शासन को ही राज्य माना जाता था। फ्रान्स का चौदहवाँ बादशाह लुई तो यहाँ तक कहा करता था कि मैं ही राज्य हूं। लेकिन इस प्रकार के विचार अब मान्यता नहीं पाते। एक बात और है, सरकार के वृहत् और स्थूल रूप को देखकर कुछ लोग राज्य के सूक्ष्म रूप को भूल जाते हैं या उसकी महत्ता कम देखते हैं। जैसे कि लॉस्की ने लिखा है कि थोड़े से लोगों को विधान द्वारा निर्णय करने के अधिकार प्राप्त होते हैं। वे ही राज्य की इच्छा प्रकट करते हैं। उन पर ही राज्य की इच्छा कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी रहती है। ये थोड़े से ही लोग सरकार होते हैं और राज्य के सब कर्तव्य करते हैं। यह बात सत्य है। हम यह कह भी चुके हैं कि राज्य के सब काम सरकार द्वारा होते हैं। परन्तु यदि ये लोग राज्य की व्यापक इच्छा का प्रतिनिधित्व सही ढंग से न करें तो राज्य इन्हें अपदस्थ कर सकता है। इसीलिये तो राज्य सदा एक रूप है और सरकार सदा परिवर्तनशील होती है।

जनता, राष्ट्र और राष्ट्रीयता[1] (People, Nation and Nationality) :—हम देख चुके हैं कि राज्य में एक निश्चित जनसंख्या होती है। जब हम राज्य की कल्पना करते हैं, तो उसका एक क़ानूनी और राजनीतिक रूप देखते हैं। जब हम किसी राज्य के लोगों (People) की कल्पना करते हैं तो उनमें जन्म, वंश, समान प्रथाओं, धर्म और समान स्वार्थों के आधार पर एकता की विशेषता पाते हैं। इन्हीं समान भावनाओं के आधार पर एक जनता की रूपरेखा बनती है। यदि कुछ कुटुम्ब एक साथ रहें और उनमें आपस में जान-पहचान और मेल-मिलाप हो तो उससे एक जनता नहीं बनती। यदि कुछ जर्मन, रूसी, चीनी, भारतीय, बर्मी, अफगानी और जापानी कुटुम्ब एक साथ रहने लगें तो उनसे एक जनता या एक जन समाज नहीं बनता। लेकिन जब ऐसे लोग एक साथ रहते हैं, जिनमें संस्कृति और परम्पराओं तथा आचार-विचार के आधार पर एकता होती है तो उसे एक समाज या एक जाति या 'एक लोग' कह सकते हैं। एक लोग या एक जनता की परिभाषा करते हुए बरगैस ने कहा है कि "जब भूमि की एक निश्चित इकाई पर ऐसे लोग रहते

१ इस समीक्षा में हम देखेंगे कि पश्चिमी लेखकों ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता का अर्थ विशेष माने में किया है। हमारे देश में जाति और जातीयता इस अर्थ के बहुत निकट आते हैं, जैसे मराठी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी इत्यादि। यदि राष्ट्र और राष्ट्रीय शब्दों के साथ हम जाति और जातीयता शब्दों को ध्यान में रखें तो पश्चिमी विद्वानों के विचार हम यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकेंगे।

हैं जिनकी एक भाषा, एक साहित्य, एक इतिहास, एक समान आचार और परम्पराएँ तथा समान अधिकारों की भावना होती है तो उसे हम "एक लोग" कहते हैं।" गमप्लोविज़ ने भी संस्कृति और सभ्यता के एक समान स्तर को 'एक लोगों' की विशेषता बतलाया है। ब्लुंशली ने एक लोगों की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह लोगों का एक ऐसा समूह होता है। उनके पेशे तथा सामाजिक स्तर तो भिन्न होते हैं, लेकिन वे अपने को एक ही वंश के वंशज समझते हैं। उनकी भावनाएँ एक समान होती हैं; उनमें एक जातीयता की भावना बड़ी तीव्र होती है; एक भाषा, एक संस्कृति तथा समान आचार-विचार उनमें एकता और पृथकता की ऐसी तीव्र भावना उत्पन्न कर देते हैं कि यदि हम राज्य का विचार छोड़ दें तो भी उनमें विदेशियों के विरुद्ध अपने पृथक् अस्तित्व की एक प्रबल भावना होती है।[१] यदि हम राष्ट्र की परिभाषा पर विचार करें तो देखेंगे कि उसमें भी लोगों का एक ऐसा समूह होता है जिसमें एक रक्त होता है और एक निश्चित भूभाग पर वे रहते हैं। ब्लुंशली का मत है कि 'एक लोग' और एक राष्ट्र में यह अन्तर है कि राष्ट्र में समान अधिकारों की चेतना अधिक रहती है और वे राज्य में एक जागरूकता के साथ भाग लेते हैं। राष्ट्र में राज्य की भावना रहती है, 'लोगों' में नहीं रहती। लेकिन प्रत्येक राष्ट्र एक राज्य नहीं होता। एक राज्य में कई राष्ट्र और कई राष्ट्रीयताएँ हो सकती हैं। एक राज्य में 'कई लोग' हो सकते हैं। एक राष्ट्र में भी 'कई लोग' हो सकते हैं। जब एक राष्ट्रीयता में राज्य के लक्षण प्रकट होते हैं, तब वह राष्ट्र का रूप धारण कर लेती है। यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता है।

गिलक्राइस्ट का मत है कि राज्य तथा राष्ट्रीयता मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं (The nation is the state **plus** nationality)। राष्ट्रीयता या जातीयता को उसने एक आध्यात्मिक भावना (Spiritual sentiments) माना है। जब कुछ लोगों का एक समाज एक भूखंड पर रहता है, तो वे अपने को एक ही वंश का वंशज मानते हैं, एक भाषा बोलते हैं, उनका एक धर्म होता है, उनका इतिहास और परम्पराएँ भी एक ही होती हैं,

---

१ A people is "a union of masses of men of different occupations and social strata and hereditary society of common spirit, feeling and race bound together, specially by language and customs, in a common civilization which gives them a sense of unity and distinction from all foreigners, quite apart from the bonds of the state."—(**Bluntschli**)

उनके स्वार्थ एक समान होते हैं, उनकी राजनीतिक संस्थाएँ एक होती हैं और उनकी राजनीतिक एकता के आदर्श एक से होते हैं तो उन लोगों की राष्ट्रीयता एक मानी जाती है। इस प्रकार--भूमि, वंश, इतिहास, धर्म, परम्पराएँ, समान स्वार्थ, समान राजनीतिक संस्थाएँ और उनके समान आदर्श राष्ट्रीयता के निर्णायक तत्त्व या आधार हैं। ध्यान रहे स्वयं राष्ट्रीयता एक भावना मात्र है, लेकिन इन तत्त्वों से यह भावना बनती है। इस भावना के लिये ये सब तत्त्व आवश्यक नहीं हैं। इसी प्रकार कोई एक तत्त्वविशेष भी आवश्यक नहीं है। लेकिन प्रत्येक राष्ट्रीयता में उनमें से कुछ तत्त्व अवश्य होना चाहिये। एक बात आवश्यक यह है कि कुछ आध्यात्मिक तत्त्वों (जैसे कि धर्म) के साथ कुछ भौतिक (जैसे भूमि) तत्त्व अवश्य होना चाहिये क्योंकि प्राण और देह दोनों मिलकर मनुष्य बनता है। प्रत्येक राष्ट्रीयता में या तो राज्य होता है अथवा राज्य होने की या प्राप्त करने की वह अभिलाषा रखती है। उदाहरण के लिये यहूदियों में एक राष्ट्रीयता थी, पर उनमें राज्य नहीं था। प्रथम महा-युद्ध के बाद उन्हें इसरायल नाम का राज्य मिला और उनका एक राष्ट्र बन गया।

मैकआइवर, बार्न्स, ज़िमर्न इत्यादि के विचार में भी गिलक्राइस्ट के समान राष्ट्रीयता प्रधानतया एक मनोभावना होती है। लेकिन इस मनोभावना का आधार दलगत होता है। मनुष्यों के एक समूह में जब कुछ तत्त्वों का समावेश होता रहता है, तब कुछ काल के उपरान्त राष्ट्रीयता प्रकट होती है। अतएव उन तत्त्वों पर हमें ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिये।

एक साथ निवास (Common residence):--एक भूमिखण्ड पर एक साथ निवास राष्ट्रीयता या जातीयता का एक प्रमुख अंग है, लेकिन आवश्यक अंग नहीं है। प्रमुख अंग इसलिये है कि राष्ट्रीयताओं का नाम प्रायः भूमि के ही साथ जुड़ा रहता है, जैसे जर्मन, जापानी, चीनी इत्यादि। आज संसार में ऐसी बहुत कम जातियाँ हैं जो एक भूमिखंड पर नहीं रहतीं। इसमें सन्देह नहीं कि जब लोग एक भूमिखण्ड में एक साथ रहते हैं तो उनमें एकता की भावनाएँ बढ़ती हैं और एकरूपता उत्पन्न भी होती है। लेकिन आवश्यक इसलिये नहीं है कि कई ऐसी राष्ट्रीयताएँ भी पाई जाती हैं, जिनका अपना कोई देश नहीं होता। योरोप में प्रथम महायुद्ध के पहले ऐसी कई जातियाँ थीं। प्रथम महायुद्ध तक यहूदियों का कोई एक देश नहीं था, लेकिन उनकी अपनी राष्ट्रीयता थी। यहूदी संसारभर में फैले हुए थे। इसी प्रकार और जातियाँ भी कई देशों में फैली रहती हैं, पर वे अपनी जातीयता नष्ट नहीं होने देतीं। दक्षिण अफ्रिका और पूर्वी अफ्रिका में लाखों भारतीय कई पीढ़ियों से बसे हैं, पर उन्होंने

अपनी भारतीयता या अपनी राष्ट्रीयता नहीं खोने दी, उसे बनाये रखा है। एक महत्त्वपूर्ण बात देखने में यह आती है कि जब दो या दो से अधिक राष्ट्रीयताओं का संगम या संघर्ष होता है तो सबल राष्ट्रीयता निर्बल राष्ट्रीयताओं को आत्म-सात कर लेती है, ठीक उसी तरह जो जब अन्य दर्जनों नदियाँ गंगा में आकर मिलती हैं तो उनका पानी भी गंगाजल ही कहलाता है। यहाँ सबल का अर्थ प्राचीन और दृढ़ परम्पराओं तथा अधिक उन्नत सभ्यता से है। भारत में देखिये——शक, हूण, सिथियन इत्यादि कितनी जातियाँ आईं और यहाँ आकर आर्यों की राष्ट्रीयता में समा गईं। आज हम अमेरिका में भी जातियों का संगम देख रहे हैं, जिसके फलस्वरूप एक नई अर्थात् अमेरिकन जातीयता का उदय हो रहा है। अमेरिका में जर्मन, फ्रेंच, ब्रिटिश, पोल, इटालियन इत्यादि सभी जातियों के लोग जाकर बसे और बस रहे हैं, लेकिन कुछ पीढ़ी बाद वे अमेरिकन हो जाते हैं। उनके सब संस्कार अमेरिकन जातीयता में लुप्त हो जाते हैं।

एक वंश या एक रक्त (Common race):——एक वंश से उत्पन्न होने की भावना या अपने शरीर में एक ही पुरुष का रक्त होने की भावना (जैसे सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी इत्यादि) राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्राचीन काल में एकवंशीयता को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। लेकिन आधुनिक काल में जातियाँ एक दूसरे में इतनी अधिक घुलमिल गई हैं कि इनकी शुद्धता निश्चय करना सम्भव नहीं है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि एकवंशीयता भी राष्ट्रीयता का आवश्यक अंग नहीं है। लेकिन एक बात अवश्य है। वह यह कि चाहे वास्तविक एकवंशीयता नहीं हो, पर यदि लोगों में इस पर विश्वास है तो उससे भी राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल मिलता है। प्रत्येक जाति का एक या कुछ महापुरुष होते हैं, उनकी गाथाएँ प्रचलित होती हैं, उनके लौकिक और अलौकिक चमत्कारों पर लोग विश्वास करते हैं, उनका गुणगान करते हैं और इन सब बातों से राष्ट्रीयता पनपती है। राम, कृष्ण, बुद्ध और अशोक हमारी राष्ट्रीयता की संस्कृति के दृढ़ स्तम्भ हैं। प्रायः प्रत्येक राष्ट्रीयता में कुछ महापुरुष होते हैं और उनके चरित्र उसे प्रभावित करते हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि आधुनिक काल में केवल एकवंशीयता से राष्ट्रीयता को बल नहीं मिलता। जब एकवंशीयता के साथ-साथ एक भाषा, एक संस्कृति और समान परम्पराएँ होती हैं, तभी वह राष्ट्रीयता को बल देती है।

धर्म (Religion):——धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण में एक बहुत बड़ा सहायक तत्त्व होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण सन् १९४७ में धर्म के आधार पर भारत का विभाजन है। पाकिस्तान की राष्ट्रीयता केवल धर्म

पर आधारित है। पाकिस्तान की संविधान सभा ने यह निश्चय किया है कि पाकिस्तान का राज्य एक धर्म-प्रधान इस्लामिक राज्य होगा। इतिहास में इसके बहुत से प्रमाण हैं कि समय-समय पर धर्म ने राष्ट्रीयता के निर्माण पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला है। पश्चिमी योरोप में कई सदियों तक धर्म और राज्य प्रायः एक रूप थे। राज्य का आधार ही धर्म माना जाता था। धर्म के आधार पर विभिन्न राज्यों में युद्ध होते थे। प्रायः यह देखा गया है कि एक देश में यदि कई धर्मों की माननेवाली राष्ट्रीयताएँ या जातियाँ होती हैं तो वहाँ की राष्ट्रीय एकता उतनी बलवान नहीं होती जितनी उस देश में होती है जहाँ केवल एक धर्म मानने वाले लोग होते हैं। लेकिन आधुनिक काल में राज्य में तथा राष्ट्रीयता में धर्म को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। वैज्ञानिक प्रगति ने मनुष्य की विचारधारा और मनोवृत्ति में परिवर्तन कर दिया है। धर्म किसी व्यक्ति की निजी भावना मानी जाती है। राज्य से या सार्वजनिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। इसीलिये आज-कल अधिकांश राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य (Secular state) होते हैं। आज-कल राजनीति में धर्म का प्रभाव लाना उपयुक्त नहीं माना जाता। कम्युनिस्ट विचारधारा तो निश्चित रूप से धर्म को स्वस्थ राजनीति का विरोधी मानती है।

भाषा, संस्कृति और प्रथाएँ (Language, Culture and Traditions):—जातीयता के निर्माण में एक भाषा, एक समान प्रथाएँ और एक संस्कृति सबसे अधिक सहायक होती हैं। शायद भाषा जातीयता के निर्माण में जितनी सहायक होती है उतनी और कोई बात में नहीं होती। अधिकतर लेखकों ने एक भाषा को एक जातीयता का सबसे दृढ़ स्तम्भ माना है। जर्मन लेखक फिक्टे ने लिखा है कि जातीयता तो एक आध्यात्मिक भावना है और भाषा उसका बाहरी लक्षण है। समान अनुभवों, आदर्शों और स्वार्थों से एक भाषा का निर्माण होता है। वास्तव में एक भाषा से ही जातीयता के अन्य अंग बनते हैं। भाषा से ही लोग एक-दूसरे के मनोभाव समझते हैं और उनमें एकता की भावना दृढ़ होती है। योरोप में अधिकतर राष्ट्रीय आन्दोलनों का आधार एक भाषा ही थी। एक भाषा से एक संस्कृति और एक समान प्रथाओं का जन्म होता है। विभिन्न राष्ट्रीयताओं के मिलाप में भाषा ही सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करती है। कुछ लोगों ने इसी विचार से प्रेरित होकर एक विश्व भाषा का समर्थन किया है। यह बात निकट भविष्य में तो सम्भव नहीं दिखती, पर कुछ देशों ने इस समस्या को दूसरे तरीक़े से हल करने का प्रयत्न किया है। रूस ने एक भाषा को राष्ट्रीय भाषा मानकर प्रादेशिक भाषाओं

को पूर्ण मान्यता दी है, उन्हें विकास करने और जीवित रहने का पूर्ण अवसर दिया है। भारत में भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानकर अन्य प्रादेशिक भाषाओं को विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। यह बात मानते हुए भी कि भाषा राष्ट्रीयता का बहुत बड़ा आधार है यह नहीं कहा जा सकता कि केवल उसी के आधार पर राष्ट्रीयता बनती है। स्विटजरलैण्ड में एक राष्ट्रीयता है, पर भाषाएँ तीन हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की भाषा अँगरेजी है, पर उसकी राष्ट्रीयता इंगलैण्ड से बिलकुल अलग है। भारत में कई भाषाएँ हैं, पर उसकी राष्ट्रीयता एक है।

राजनीतिक एकता (Political Union) :—राजनीतिक एकता को आधुनिक काल में राष्ट्रीयता का सबसे महत्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि जहाँ एक राष्ट्रीयता अर्थात् एक जाति रहती है वह एक राज्य-शक्ति प्राप्त करके एक राष्ट्र बनना चाहती है। यदि किसी देश में अर्थात् किसी राज्य में कई राष्ट्रीयताएँ पाई जाती हैं तो यह देखा जाता है कि वे किसी समय एक राष्ट्र थीं। संस्कृति की दृष्टि से भारत सदियों से एक देश रहा है, पर उसमें कई राष्ट्रीयताएँ अपने-अपने राज्यों के आधार पर जीवित रही हैं। आधुनिक काल में "एक राष्ट्रीयता एक राज्य" की मांग इसी भावना पर आधारित है। आधुनिक काल में यह भावना उचित नहीं कही जा सकती। राष्ट्रीयता और राज्य मिलकर राष्ट्र बनता है। इसी से राजनीतिक एकता का महत्त्व समझ में आ सकता है। प्रायः यह देखा जाता है यदि शासक वर्ग और प्रजा वर्ग में सुखपूर्ण सम्बन्ध नहीं होता तो राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ती है। और वह अलग राज्य बनाना चाहती है। योरोप के इतिहास में इसके कई उदाहरण पाये जाते हैं। आत्म-निर्णय (Self-determination) का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। इसके विपरीत यदि किसी राज्य-शासन में कई राष्ट्रीयताएँ एक राजनीतिक शक्ति के अन्तर्गत सद्भावना पूर्वक रहती हैं तो कालान्तर में वे घुल-मिलकर एक हो जाती हैं। संयुक्त-राज्य अमेरिका इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहाँ विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोग जाकर बसे। लेकिन राज्य ने सबके साथ समान व्यवहार किया। इससे कालान्तर में एक अमेरिकन राष्ट्रीयता तैयार हो गई। राष्ट्रीयताओं के आपस में घुलने-मिलने में एक राजनीतिक शक्ति या एक शासन बहुत सहायक होता है। आधुनिक काल में एक राज्य का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि एक राज्य ही एक राष्ट्रीयता का सबसे बड़ा पोषक होता है।

समान स्वार्थ (Common Interests) :—एक समान स्वार्थ भी एक राष्ट्रीयता के विकास में बल प्रदान करते हैं। यदि कुछ लोगों का एक

समूह ऐसा है जिसके व्यावसायिक, औद्योगिक, कृषिक तथा राजनीतिक इत्यादि स्वार्थ एक समान होते हैं तथा वे स्वार्थ अन्य समूहों से भिन्न होते हैं तो ऐसे समूह में एक अलग राष्ट्रीयता के विकसित होने की प्रवृत्ति होती है। समान स्वार्थ एकता की भावना को दृढ़ करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन विभिन्न 'एकताओं' (unities) से मिलकर राष्ट्रीयता बनती है। जैसा कि हम कह चुके हैं, इन एकताओं में से कोई भी एक "एकता" राष्ट्रीयता के लिये परमावश्यक नहीं है। प्रायः एक या एक से अधिक "एकताओं" से मिलकर एक राष्ट्रीयता बनती है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता एक भावना मात्र है। यह भावना हमेशा भौतिक रूप धारण करने का प्रयत्न करती रहती है और जब इसे स्वशासन या राज्य की सहायता से भौतिक रूप प्राप्त हो जाता है तब राष्ट्रीयता राष्ट्र (nation) का रूप धारण कर लेती है। राष्ट्रीयता से धीरे-धीरे राष्ट्र का विकास होता है। अर्थात् राष्ट्रीयता में राष्ट्र के बीज छिपे रहते हैं। एक या एक से अधिक राष्ट्रीयता मिलकर एक राष्ट्र बनता है। राष्ट्रीयता के भावनात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रोफेसर लॉस्की ने लिखा है कि इसमें एकता की एक विशिष्ट भावना निहित होती है और जो इस भावना को स्वीकार करते हैं वे शेष मनुष्य जाति से अपना अस्तित्त्व पृथक् रखते हैं। एकता की यह भावना एक समान इतिहास, सामूहिक हार-जीत, एक सामूहिक जीवन से उत्पन्न होती है। मनुष्यों में एकता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[१]

राष्ट्र (Nation):—अब हमें यह देखना है कि राष्ट्र का निर्माण किस प्रकार होता है। लार्ड ब्राइस का मत है कि जब कोई राष्ट्रीयता एक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज का रूप धारण कर लेती है या स्वतन्त्र राजनीतिक समाज का रूप धारण करने का प्रयत्न करती है तो वह राष्ट्र हो जाती है।[२] इसका

१ "It implies the sense of a special unity which marks off those who share in it from the rest of mankind. That unity is the outcome of common history, of victories won and traditions created by a corporate effort. There grows up a sense of kinship which binds men into oneness. They recognise their likeness, and emphasize their difference from other men". —(**Laski**)

२ "A nation is a nationality which has organised itself into a political body either independent or desiring to be independent".—(**Bryce**)

स्पष्ट अर्थ यह है कि जब कोई राष्ट्रीयता राज्यत्व प्राप्त कर लेती है तो वह राष्ट्र बन जाती है। टी० एच० ग्रीन का भी मत है कि राज्य राष्ट्र में निहित होता है। जब राज्य को एक विशेष तरीके से निर्मित किया जाता है तो वह राष्ट्र बन जाता है। इससे राज्य और राष्ट्र में अन्तर स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। कठिनाई यह है कि यह सूक्ष्म अन्तर अभी हाल में ही निरूपित किया गया है। निकट भूत में भी विभिन्न लेखकों ने राष्ट्रीयता, राज्य और राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं माना। इससे बहुधा इन शब्दों के स्पष्ट अर्थ समझने में भ्रम हो जाता है। यह बात जरूर है कि राज्य और राष्ट्र एक अर्थ में भी मोटे तौर से प्रयुक्त हो सकते हैं। जैसे यदि हम भारत राज्य और भारत राष्ट्र शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में प्रयोग करें तो वह गलत न होगा। परन्तु राज्य शब्द राजनीतिक है और राष्ट्र से जातीयता का बोध होता है। यदि हम इतिहास की दृष्टि से देखें तो राष्ट्रवाद (Nationalism) अपेक्षाकृत नया शब्द है। पन्द्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवादी भावनाएं जागृत हुईं। जब इंगलैंड ने फ्रान्स का एक भाग अपने अधीन करना चाहा तो फ्रान्स में राष्ट्रवादी भावना जागृत हुई। सोलहवीं शताब्दी में मैकियावेली ने इटली में राष्ट्रवादी भावनाएँ जागृत कीं। अठारहवीं शताब्दी में जब पोलैण्ड का विभाजन हुआ तो पोलैण्ड ने एक राष्ट्र बनने का प्रयत्न किया। नेपोलियन ने जब योरोप के कई देशों पर अपना आधिपत्य करना चाहा तो उन देशों में प्रबल राष्ट्रीयता जागृत हुई। एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह है कि अन्य कई राजनीतिक जागृतियों और भावनाओं की तरह राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद भी एक पश्चिमी उपज है। योरोप में प्रजातन्त्र के जो आन्दोलन चले उनकी तह में भी राष्ट्रीय भावनाएँ थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में योरोप में कई क्रान्तियां हुईं इन सबका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता थी। इन्हीं के फलस्वरूप योरोप के बालकन प्रदेश के कई देश तुर्की पराधीनता से मुक्त हो गये। बेलजियम और हॉलैण्ड दो अलग-अलग देश बन गये। इटली और जर्मनी राष्ट्र बन गये। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों ने भी राष्ट्रीय भावनाओं को बल प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीयता की चर्चा बहुत होती है। लोग 'एक विश्व' की कल्पना करते हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार भी राष्ट्रीयता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि एक राज्य में केवल एक राष्ट्रीयता होनी चाहिये। उनका विचार है कि इससे सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना है कि एक राज्य में केवल एक ही राष्ट्रीयता होनी चाहिये। इसके बिना राज्य की जनता में एकता की वह भावना नहीं होती, वहाँ स्वतन्त्र संस्थाएँ पनप नहीं पातीं। जिस देश में कई भाषाएँ होती हैं, वहाँ वास्तविक

प्रतिनिधि सरकार की स्थापना कठिन होती है। प्रथम महायुद्ध में एक राष्ट्र-राज्य (nation-state) की भावना को बड़ा समर्थन मिला। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति एक राष्ट्र राज्य के बड़े भारी समर्थक थे। इसी के आधार पर उन्होंने आत्म-निर्णय (Self-determination) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनका कहना था कि प्रत्येक जाति को यह अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी इच्छानुसार अपना राजनीतिक और सामाजिक जीवन व्यतीत करे। वे प्रत्येक राष्ट्रीयता के लिये एक स्वतन्त्र राज्य के समर्थक थे। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्रथम महायुद्ध के बाद योरोप का नया नक्शा राष्ट्रीय राज्यों के आधार पर बनाने का प्रयत्न किया गया था। अर्थात् प्रत्येक राष्ट्रीयता को एक स्वतन्त्र राज्य देने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन यदि हम इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से ग्रहण करने का प्रयत्न करें तो इंगलैण्ड जैसे छोटा राज्य भी इंगलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्स नाम के तीन राज्यों में बँट जायगा क्योंकि वास्तव में ब्रिटिश राष्ट्र में तीन राष्ट्रीयताओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि द्वितीय महायुद्ध के कई कारणों में से एक यह भी था कि प्रथम महायुद्ध के बाद 'एक राष्ट्रीयता के लिये एक राज्य' के सिद्धान्त का नतिहीन प्रयोग किया गया।

मिल का जो मत था कि एक राज्य की सीमा में केवल एक राष्ट्रीयता होनी चाहिये, उस पर अमल करना बहुत कठिन है। लॉर्ड एक्टन ने इस मत की बड़ी कड़ी आलोचना की है। उसका मत था कि एक राज्य में कई राष्ट्रीयताएँ होनी चाहिये। उससे राज्य कमजोर नहीं होता। बल्कि उसकी उन्नति होती है। उन्नतिशील जातियों के संसर्ग से कमजोर और पिछड़ी हुई जातियाँ उन्नति के पथ पर आगे बढ़ती हैं। एक्टन का मत था कि जिस राज्य में केवल एक जाति या एक राष्ट्रीयता होती है वह एक समय बाद प्रगतिहीन हो जाता है। इतिहास इस बात की साक्षी नहीं देता कि जहां एक से अधिक संस्थाएँ होती हैं, वहां स्वतन्त्र संस्थाएं नहीं पनप सकतीं। स्विटज़रलैण्ड में कई राष्ट्रीयताएं पाई जाती हैं, पर कई सदियों से वहां स्वतन्त्र संस्थाएँ पनप रही हैं। यदि हम संसार को राष्ट्रीयताओं के आधार पर राज्यों में बाँट दें तो संसार में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना असम्भव हो जाय। शायद सभ्यता और संस्कृति की प्रगति भी असम्भव हो जाय। होना यह चाहिये कि किसी राष्ट्रीयता को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी राज्य में नहीं रखना चाहिये। गिलक्राइस्ट का मत है कि जब तक कोई राज्य किसी राष्ट्रीयता के अस्तित्व को खतरे में न डाल दे तब तक उस राष्ट्रीयता को उस राज्य को खंडित करने का अधिकार नहीं है। आधुनिक समकालीन इतिहास को देखते हुए यह कहा जा सकता

है कि कई राष्ट्रीयताएँ किसी राज्य को कमज़ोर नहीं करतीं। संयुक्त राज्य अमेरिका में कई राष्ट्रीयताओं का सम्मिश्रण है। परन्तु उनसे अमेरिका कमज़ोर नहीं हुआ। उन सब राष्ट्रीयताओं के घोल-मेल से एक नई अमेरिकन राष्ट्रीयता का निर्माण हो रहा है। सोवियत रूस में एक दर्जन से अधिक राष्ट्रीयताएँ हैं, पर इससे सोवियत राज्य कमज़ोर नहीं हुआ है। रूस में प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपनी सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा सब प्रकार की उन्नति करने की पूर्ण सुविधा प्राप्त है।

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि क्या भारत एक राष्ट्र है और यदि है तो किस आधार पर? यह बात निर्विवाद है कि भारत एक राष्ट्र है। ठीक सही तरह जिस तरह स्विटज़रलैण्ड या रूस। शंका केवल इस कारण की जाती है कि भारत में कई राष्ट्रीयताएँ हैं। बंगाली, मराठी, तेलगू, पंजाबी गुजराती इत्यादि हमारे देश की राष्ट्रीयताएँ हैं। इनकी अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपना साहित्य, अपनी प्रथाएँ इत्यादि राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। लेकिन यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि इन विभिन्न राष्ट्रीयताओं में हिन्दू या भारतीय नाम की एक मौलिक संस्कृति भी है, जहाँ से इन सबने जन्म और अभिव्यक्ति प्राप्त की है। वेदों, रामायण और महाभारत की कथाएँ, संस्कृति, आदर्श और दर्शन इन सबके मूल में हैं। हमारे राष्ट्र के जीवन की विभिन्नता में एक मौलिक एकता पाई जाती है। दूसरी बात ध्यान में यह रखनी चाहिये कि हमारे देश में द्रविड़, मराठी इत्यादि राष्ट्रीयताएँ हैं, पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि राष्ट्रीयताएँ नहीं हैं। ये केवल सम्प्रदाय हैं। एक बंगाली मुसलमान की राष्ट्रीयता एक पंजाबी मुसलमान की राष्ट्रीयता से भिन्न है, यद्यपि दोनों का धर्म एक है। तीसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि यद्यपि हमारे देश में कई राष्ट्रीयताएँ हैं, पर उन सबकी राजसत्ता एक है, उनका एक संविधान है, उनके राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ एक समान हैं। आधुनिक राज्य और राष्ट्र में ये बातें अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं।

इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारा देश कई राष्ट्रीयताओं से बना हुआ एक राष्ट्र है। इन राष्ट्रीयताओं ने राज्य को सुदृढ़ बनाने में योग दिया है। राज्य ने इन राष्ट्रीयताओं को अपनी उन्नति करने की पूर्ण सुविधाएँ दी हैं। भाषाधार प्रान्तों की माँग वास्तव में हमारी जाग्रत राष्ट्रीयताओं की ही माँग है और राज्य ने अंश रूप में इसे स्वीकार भी कर लिया है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि पाकिस्तान का निर्माण और भारत का विभाजन राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं हुआ है।

राज्य और समाज (State and Society) :—अंगरेज़ी भाषा में समाज के लिये दो शब्द प्रयोग में आते हैं, यथा—कम्यूनिटी (Community)

तथा सोसाइटी (Society) परन्तु वास्तव में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। कम्यूनिटी को हम सम्प्रदाय कह सकते हैं और सोसाइटी को समाज। यदि इस अन्तर को हम स्वीकार करें तो यह कह सकते हैं कि सम्प्रदाय ही विकसित होकर समाज हो जाता है। सुसंगठित-समाज में कई प्रकार के संघटन, संस्थाएँ और संघ पाये जाते हैं। राज्य एक विशेष प्रकार का संघ है। लेकिन समाज में सबसे अधिक शक्तिशाली और आवश्यक संघटन होता है। यह कहना भी अनुचित नहीं है कि राज्य एक स्वाभाविक संघटन भी है, क्योंकि जहाँ समाज होता है, वहाँ एक सत्ताधारी संघटन अवश्य होता है।

सम्प्रदाय (Community) :—इसकी परिभाषा करते हुए जी० डी० एच० कोल ने लिखा है कि सम्प्रदाय सामाजिक जीवन का एक ऐसा रूप है जिसमें बहुत से मनुष्य एक साथ रहते हैं और उनमें सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। अर्थात् उनमें एक से रीति-रिवाज, आचार-विचार और प्रथाएँ होती हैं। साथ ही इन लोगों के उद्देश्य और स्वार्थ भी एक से होते हैं।[1] सम्प्रदाय का अर्थ मेकआइवर ने समान सामूहिक जीवन से किया है। अर्थात् एक सम्प्रदाय के लोगों के आचार-विचार धर्म प्रायः एक से हो सकते हैं। एक सम्प्रदाय एक कुटुम्ब और ग्राम के रूप में भी हो सकता है और सारे संसार में भी फैला हो सकता है। ईसाई और मुसलमान सम्प्रदाय सारे संसार में फैले हुए हैं। सम्प्रदाय के अन्तर्गत सम्प्रदाय हो सकते हैं। जैसे कि हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि सम्प्रदाय होते हैं। फिर ब्राह्मणों में भी कई सम्प्रदाय होते हैं। इसी प्रकार मुसलमानों में शिया और सुन्नी सम्प्रदाय होते हैं। ईसाइयों में भी कई सम्प्रदाय होते हैं। कोई सम्प्रदाय एक संस्था अथवा संघ नहीं होता। वह केवल भावना की एकता का द्योतक होता है। इस भावना की एकता के कारण लोग कई कारणों से एक हो जाते हैं। कई कार्यों के लिये एक हो जाते हैं।

सम्प्रदाय से भिन्न समाज की व्याख्या इस प्रकार की गई है। "समाज किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत कई संस्थाओं और संघों का एक संगठन होता है।" लेकिन मेकआइवर ने समाज शब्द की व्याख्या बहुत व्यापक अर्थ में की है। उसका मत है कि किसी समाज में मनुष्य जान-बूझकर कुछ उद्देश्यों से प्रेरित होकर

---

1 "A community is a complex of social life, a complex including a number of human beings living together under conditions of social relationship, bound together by a common, however constantly changing, stock of conventions, customs and traditions, and conscious to some extent of common social objects and interests."—(**G. D. H. Cole**)

एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार सम्प्रदाय और संघ सामाजिक जीवन में कुछ विशिष्ट पहलू मात्र होते हैं। समाज का प्रधान तत्त्व यह है कि उसका प्रत्येक काम जान-बूझकर एक उद्देश्य से किया जाता है। यदि एक सड़क पर बहुत से लोग आते-जाते हैं, यदि एक रेलगाड़ी में बहुत से लोग आते-जाते हैं तो वे एक समाज नहीं बनते। क्योंकि उनका एक उद्देश्य नहीं होता। लेकिन यदि कुछ विद्यार्थी मिलकर एक वाद-विवाद सभा बना लेते हैं तो वह एक समाज हो जाता है, क्योंकि उसका एक उद्देश्य होता है। सम्प्रदाय के समान एक समाज भी छोटा अथवा बड़ा हो सकता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि राज्य और समाज एक से नहीं हैं। राज्य के लिये एक निश्चित भूमिखंड आवश्यक है। पर समाज के लिये आवश्यक नहीं है। समाज शब्द मनुष्यों के केवल राजनीतिक सम्बन्धों का ही द्योतक नहीं है, बल्कि उनके मानवीय सम्बन्धों का भी द्योतक है। एक समाज संगठित अथवा व्यवस्थित भी हो सकता है और अव्यवस्थित भी। लेकिन राज्य में सरकार नाम की व्यवस्था आवश्यक है। अब भी संसार के कुछ भागों में ऐसे सामाजिक समूह वर्तमान हैं, जिनमें राज्य अथवा सरकार अज्ञात है। लेकिन प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज के लिये राज्य आवश्यक है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि राज्य सामाजिक जीवन के प्रत्येक कार्य को नियंत्रित नहीं कर सकता। कुटुम्ब, धार्मिक सम्प्रदाय, आमोद-प्रमोद अथवा विद्याभ्यास के क्लब न तो राज्य से उत्पन्न हुए हैं, न उनसे प्रेरणा पाते हैं। ईर्ष्या, दया, मित्रता राज्य न तो उत्पन्न करता है और न नियंत्रित कर सकता है। प्रथाएँ कुछ हद तक राज्य नियंत्रित और परिवर्तित कर सकता है, पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्राचीन ग्रीस में राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं माना जाता था। इसका कारण वहाँ की परिस्थितियाँ थीं। प्राचीन ग्रीस के नगर राज्य बहुत छोटे होते थे। उनकी जनसंख्या बहुत कम होती थी। राज्य के नागरिक एक दूसरे को जानते थे। सभाओं में सबके सब मिलकर अपने प्रशासन चलाते थे। सबके स्वार्थ प्रायः एक समान होते थे। एक साथ बैठकर वे क़ानून बनाते थे। नगर राज्य में नागरिकों का समस्त जीवन सीमित रहता था। राज्य और समाज के जीवन में कोई अन्तर नहीं होता था। लेकिन आधुनिक काल में यह एकता स्वीकार नहीं की जा सकती। राज्य समाज का एक अंग होता है, उसका एक रूप नहीं। समाज की सत्ता अधिकतर प्रथाओं के बल पर चलती है और राज्य की सत्ता उन क़ानूनों के बल पर चलती है, जिन्हें सरकार बनाती है और पालन कराती है। केवल राज्य ही बल-प्रयोग कर सकता है।

समाज के नैतिक प्रभाव डाल सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी सामाजिक प्रथा का पालन न करे अथवा उसका उल्लंघन करे तो समाज उसे जेल नहीं भेज सकता। अरनेस्ट बारकर ने लिखा है कि समाज का कार्य केवल ऐच्छिक सहयोग से चलता है, उसकी शक्ति सद्भावना में होती है और उसके कार्य का तरीका निर्वाह करना या समयानुसार परिवर्तन करना होता है। इसके विपरीत राज्य की प्रक्रिया में मशीन की तरह कार्य-प्रणाली होती है। उसकी शक्ति बल-प्रयोग में होती है और उसके कार्यों के तरीके सुनिश्चित होते हैं।

राज्य और संघ (State and Associations) :—किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिये कोई संघ बनाया जाता है। जब कुछ व्यक्ति मिलकर किसी उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वेच्छा से एक संगठन बनाते हैं तथा उसके कार्य-संचालन के लिये कुछ नियम निर्धारित करते हैं और पारस्परिक सहयोग द्वारा उन नियमों का पालन करके अपने उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं तो ऐसे संगठन को हम एक संघ (Associations) कहते हैं। इस प्रकार एक विश्वविद्यालय, एक मजदूर संघ तथा खेल-कूद का एक संघ इत्यादि संघ होते हैं। राज्य भी एक प्रकार का संघ है। लेकिन राज्य तथा अन्य प्रकार के संघों में कुछ मौलिक भेद पाये जाते हैं। राज्य में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो अन्य संघों में नहीं होतीं। कोई भी व्यक्ति एक राज्य विशेष में पैदा होता है। वह एक ही राज्य का नागरिक हो सकता है। अपने राज्य की नागरिकता वह तब तक छोड़ नहीं सकता जब तक कि वह किसी दूसरे राज्य में जाकर वहाँ की नागरिकता ग्रहण न करे। लेकिन अन्य संघों की सदस्यता उसकी इच्छा पर निर्भर होती है। वह चाहे तो किसी विश्वविद्यालय का, किसी मजदूर संघ का तथा किसी क्लब का सदस्य एक साथ हो सकता है और चाहे जब उनकी सदस्यता त्याग सकता है। लेकिन एक समय वह एक ही राज्य का सदस्य या नागरिक हो सकता है। राज्य की सीमा या सत्ता एक क्षेत्र विशेष तक होती है। लेकिन किसी संघ का कार्यक्षेत्र कई राज्यों में हो सकता है, इसलिये उसकी सदस्यता भी कई राज्यों में फैल सकती है। जैसे कि रोटरी क्लब एक विश्वव्यापी संघ है। उसके सदस्य सभी राज्यों में पाये जाते हैं। राज्य एक स्थायी संघ होता है और अन्य संघ राज्य की तरह स्थायी नहीं होते। अन्य संघ अधिक से अधिक दण्ड यह दे सकते हैं कि किसी सदस्य को अपनी सदस्यता से वंचित कर सकते हैं। लेकिन राज्य अपने किसी सदस्य को प्राणदण्ड भी दे सकता है। इस प्रकार अन्य संघ बल-प्रयोग नहीं कर सकते। अर्थात् उनके पास संप्रभुता नहीं होती। राज्य तथा अन्य संघों में यही सबसे बड़ा अन्तर होता है। अन्य संघों का एक या थोड़े से उद्देश्य होते हैं। लेकिन

राज्य को कई प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है। राज्य अपने सदस्यों का सर्वोदय साधन करता है। विश्वविद्यालय के समान एक संघ राज्य द्वारा स्थापित किया जाता है। मजदूर संघ बिना राज्य की सहायता के स्थापित हो सकता है, परन्तु राज्य उसे मान्यता देता है और उसे विघटित भी कर सकता है। किसी धार्मिक संघ को भी राज्य विघटित कर सकता है। इस प्रकार राज्य एक सर्वव्यापी, अनिवार्य स्थायी और सर्वशक्तिमान संघ होता है। इसके विपरीत अन्य संघ अपने उद्देश्यों, कार्यशक्ति और कार्य-प्रणाली की दृष्टि से सीमित होते हैं। अपनी सीमा के भीतर अन्य संघों को जीवित रखने में राज्य सहायक होता है।

क़ानूनशास्त्र की दृष्टि में राज्य एक ऐसा संप्रभुतापूर्ण संघ माना गया है, जो एक निश्चित सीमा के भीतर सर्वशक्तिमान है और विभिन्न प्रकार के कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। लेकिन क़ानूनशास्त्र का विचार स्पष्ट और ठोस नहीं है। संप्रभुता सरकार में निहित होती है और जो विभिन्न सामाजिक शक्तियाँ और व्यक्ति सरकार को प्रभावित करने और उसे हथियाने की कोशिशें करते रहते हैं, उन पर क़ानूनशास्त्र गौर नहीं करता। आधुनिक राजनीति विशारद राज्य को केवल ऐसी व्यवस्था मानते हैं जिसमें व्यक्ति और समूह एक दूसरे के मातहत होते हैं और एक सामाजिक शक्ति के आधार पर उस व्यवस्था को चालू रखते हैं। इस सामाजिक शक्ति को ही संप्रभुता कहते हैं। इस प्रकार राज्य को हम केवल क़ानूनों का एक बंडल मात्र नहीं मान सकते।

राज्य और संस्थाएँ (State and Institutions) :—संस्था की परिभाषा करते हुए एक विद्वान ने कहा है कि संस्था एक ऐसा सामाजिक विचार या सामाजिक प्रथा है जिसे समाज ने मान्यता दे दी और जो मनुष्यों के व्यक्तिगत आचरण या आपसी सम्बन्धों या संगठित संघों द्वारा व्यक्त होता है। विवाह, एक विवाह, राज्यवंश (Monarchy) जाति-प्रथा इत्यादि संस्थाओं के उदाहरण हैं। इन सबने पुरानी सामाजिक प्रथाओं के रूप धारण कर लिये हैं। इन संस्थाओं की उपयोगिता इस बात में है कि ये समाज में व्यवस्था और स्थायित्व क़ायम रखती हैं और सामाजिक विचारों और आदर्शों की एक परम्परा जारी रखती हैं। कुछ परिस्थितियों को छोड़कर इनके कारण प्रायः सामाजिक जीवन की धारा शान्तिपूर्वक बहती रहती है। समाज-व्यवस्था में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे युगों के साथ होते हैं और उन परिवर्तनों के साथ नयी-नयी संस्थाएँ भी जन्म लेती हैं। यद्यपि संस्थाएँ परिवर्तनशील होती हैं, लेकिन उनमें परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून और राज्य (State and International Law) :—हम यह देख चुके हैं कि चार मूल तत्वों द्वारा राज्य का निर्माण होता है।

इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संप्रभुता होती है। आज संसार में कई राज्य हैं। इन राज्यों के आपस के सम्बन्धों को निबाहने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून (International Law) भी है। सभी राज्य इस क़ानून को मान्यता देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून किसी राज्य को तभी मान्यता देता है जब उसके पास संप्रभुता तो हो ही, साथ ही उसमें अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून और संस्थाओं द्वारा सौंपी गई जिम्मेदारियों का निर्वाह या पूरा करने की क्षमता भी हो।

गिलक्राइस्ट का मत है कि आज-कल विश्व में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। राष्ट्र-राज्यों के साथ-साथ एक प्रबल अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति देख पड़ती है। जिसमें एक विश्व राज्य की कल्पना की गई है। कुछ विद्वानों का मत है कि विज्ञान की सहायता से मानव सभ्यता ने इतनी प्रगति कर ली है कि अब राष्ट्र-राज्य का महत्त्व कम होकर एक विश्व-राज्य की स्थापना होना चाहिये। कम से कम एक ऐसी विश्व संस्था की स्थापना होनी चाहिये जिसका प्रभाव किसी एक या कुछ राष्ट्र-राज्यों से अधिक हो और जिसका उद्देश्य समस्त मानव जाति का कल्याण हो। इस एक विश्व राज्य के समर्थन में यह कहा जाता है कि संसार में बहुत से ऐसे लोग हैं, प्रवृत्तियाँ हैं, जो एक राष्ट्र-राज्य के प्रति श्रद्धा न रखकर किसी विचारधारा के प्रति श्रद्धा रखती हैं (Loyalty to ideologies rather than to nationalism) इसका उदाहरण कम्यूनिस्ट विचारधारा है। लेकिन यह बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी कि कम से कम इस समय अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार राष्ट्र-राज्य (Nation-state) या राज्य ही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तथा संस्थाएँ सप्रभुता पूर्ण राज्यों के आधार पर ही चलते हैं। आज जिन देशों में कम्यूनिस्ट सामाजिक और शासन व्यवस्था प्रचलित है, वे भी पहले शक्तिशाली राज्य बनने का प्रयत्न करते हैं।

अध्याय ४

राज्य का आधार

(The Basis of the State)

यह अध्याय वास्तव में पिछले अध्याय के विषय का अर्थात् राज्य के स्वरूप का अध्ययन जारी रखता है। केवल विवेचना के महत्त्व की दृष्टि से इसकी अलग अध्याय पर्यालोचना स्वतन्त्र अध्याय में की गई है। हम देख चुके हैं कि राज्य चार मूल तत्त्वों के संयोग से बनता है। लेकिन वह कौन-सा तत्त्व है जो राज्य का अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ होता है? राज्य बनते हैं, बिगड़ते हैं, और समाप्त होते हैं। कोई राज्य थोड़े ही समय तक जीवित रहता है और कोई सैकड़ों वर्षों तक। तात्पर्य यह है कि राज्य का आधार क्या है? वह नींव क्या है, जिस पर राज्य रूपी इमारत खड़ी रहती है और जिसके कमजोर पड़ने से वह ढह जाती है?

इस सम्बन्ध में दो प्रधान विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा कहती है कि राज्य का अस्तित्व शक्ति या बल (Force) के आधार पर कायम रहता है और दूसरी विचारधारा कहती है कि राज्य प्रजा या जनता की इच्छा या स्वीकृति (Will or Consent) के आधार पर क़ायम रहता है। पहली विचारधारा के समर्थक हॉब्स, बेन्थम और ऑगस्ट कॉम्पटे जैसे विद्वान हैं और दूसरी विचारधारा के प्रधान प्रवर्त्तक और समर्थक इंगलैण्ड के आदर्शवादी दार्शनिक टी० एच० ग्रीन हैं। इन दो प्रधान विचारधाराओं के अतिरिक्त कुछ अन्य मत भी हैं, जो राज्य को क़ानूनों की केवल एक संहिता के आधार पर चलता हुआ देखते हैं; कुछ राज्य को केवल वर्ग संघर्ष के रूप में देखते हैं। यहाँ हम इन विचारों का अध्ययन करेंगे।

कुछ लेखकों का मत है कि राज्य विभिन्न वर्गों का एक ऐसा संगठन होता है, जिसमें एक वर्ग अन्य वर्गों पर अपनी प्रधानता या नियंत्रण रखता है। ओपनहीमर का मत यही है।[१] एक दूसरे लेखक का मत है कि राज्य उस वर्ग की नौकरशाही है, जिसके हाथ में आर्थिक शक्ति होती है। कार्ल मार्क्स का मत भी इसी तरह का है। वह सोचता है कि राज्य ऐसी व्यवस्था है, जिसके द्वारा

---

१ "An organisation of one class dominating over the other classes"—(**Oppenheimer**)

धनी वर्ग ग़रीब वर्गों का शोषण करते हैं। यह बात ज़रूर है कि इतिहास के किसी युग में कुछ राज्यों में यह परिभाषा लागू हो सकती है। परन्तु राज्य के स्वरूप और आधार का हम जो वैज्ञानिक अध्ययन कर रहे हैं, उसके लिये यह परिभाषा उपयुक्त नहीं है। इस परिभाषा के उपयुक्त यदि हमें कोई राज्य मिले तो उसे हम विकृत राज्य ही कहेंगे। सुव्यवस्थित कल्याणकारी राज्य नहीं। इसके विपरीत ग्रोशियस (Grotius) और आलथूसियस (Althusius) राज्य को एक कल्याणकारी व्यवस्था समझते हैं। वे राज्य को एक ऐसी कम्पनी के रूप में देखते हैं, जिसका संगठन सार्वजनिक हित में हुआ है। लेकिन यह दृष्टि भी बहुत संकुचित है। राज्य की तुलना एक कम्पनी से नहीं की जानी चाहिये। कम्पनी की सदस्यता तो व्यक्ति की स्वेच्छा पर रहती है, लेकिन राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है। राज्य की अपनी इच्छा, अपना व्यक्तित्त्व और अपना जीवन होता है, जो कि व्यक्तियों की इच्छा, जीवन और व्यक्तित्त्व से भिन्न तथा अधिक महान और अधिक स्थायी होता है। हरबर्ट स्पेन्सर ने भी राज्य की कल्पना एक बीमा कम्पनी के रूप में की है। उसका मत था कि राज्य का संगठन पारस्परिक कल्याण और संरक्षण के लिये किया जाता है।[1] राज्य का यह स्वरूप हम स्वीकार नहीं कर सकते। राज्य में समाज के व्यापक स्वार्थों या कल्याण का व्यक्ति अथवा किसी वर्ग के स्वार्थों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व होता है। वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में निकट सम्बन्ध है। लेकिन इसमें वृहद या सामाजिक कल्याण की प्रधानता रहती है। यदि सिर्फ आपसी संरक्षण का सवाल हो तो चोरों का एक गिरोह भी अपने को राज्य कह सकता है। ग्रामों के सुरक्षा दल भी अपने को राज्य कह सकता है।

इसके विपरीत न्यायशास्त्र या क़ानूनशास्त्र के पंडित राज्य को एक क़ानूनी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनका मत है कि राज्य एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक काम क़ानून द्वारा स्थापित नियमों के आधार पर होता है। लेकिन ये शास्त्री इस बात को भूल जाते हैं कि ये क़ानून और नियम किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाये जाते हैं, राज्य-व्यवस्था में क़ानून का बहुत बड़ा महत्त्व है। लेकिन क़ानून राज्य क स्वरूप का केवल एक पहलू है। सम्पूर्ण स्वरूप नहीं। उसकी नींव का केवल एक महत्त्वपूर्ण आधार है, सम्पूर्ण आधार नहीं। क़ानून की सहायता से राज्य नागरिकों को कुछ अधिकार देता है और उनसे कुछ

---

१ The State "is a joint stock protection company for mutual assurance"—(**Herbert Spencer**)

कर्त्तव्यों का पालन कराता है। लेकिन इससे राज्य के सब उद्देश्य पूरे नहीं हो जाते। हीगल (Hegel) ने कहा है कि राज्य वह जगत है, जिसका सृजन मेरी आत्मा ने अपने लिये किया है। फॉलेट ने लिखा है कि मेरी आत्मा राज्य में निवास करती है।[१] इन विचारकों की दृष्टि में राज्य क़ानून-जाल से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है; उसका एक आध्यात्मिक महत्त्व भी है।

व्यक्तिवादी विचारक (Individualists) राज्य को एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) समझते हैं। इनका मत है कि राज्य जो काम करता है वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करता है। राज्य जितना अधिक काम करता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उतना ही अधिक हरण होता है। लेकिन लाचारी इस बात की है कि मनुष्य की स्वार्थ-परायणता ने राज्य को आवश्यक संस्था बना दिया है। यदि राज्य न हो तो अपने स्वार्थ-साधन के लिये लोग आपस में लड़ने कटने लगेंगे और सामाजिक शान्ति और सुरक्षा का कहीं नाम न रह जायगा। इस प्रकार मनुष्य की मौलिक कमजोरियों के कारण राज्य आवश्यक होता है। यही उसके अस्तित्व का कारण है। स्पेन्सर और बेन्थम इसी विचार का समर्थन करते थे। इस अनुदार मत के विरुद्ध आदर्शवादी विचारक राज्य को एक कल्याणकारी व्यवस्था मानते हैं। इनके मत का अध्ययन हम आगे करेंगे। व्यक्तिवादियों के समान अराजकतावादी या अव्यवस्थावादी विचारक (Anarchist) भी राज्य को एक बुराई मूलक संस्था समझते हैं, लेकिन साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि किसी दिन मनुष्य की प्रकृति में परिवर्तन होगा, उसकी प्रकृति में नैतिकता और उदारता का विकास होगा और तब राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। एक समय ऐसा आयगा जब राज्य समाप्त हो जायगा। जो राज्य अराजकतावादी कम्युनिस्ट हैं, वे तो यहाँ तक कहते हैं कि हमें प्रयत्न करके (अर्थात् क्रान्ति द्वारा) राज्य को समाप्त करना चाहिये। तब मनुष्य की उदार प्रकृति को विकास करने का अधिक जल्दी अवसर मिलेगा। कुछ विचारक ऐसे हैं, जो राज्य के सम्बन्ध में इतनी अनुदार दृष्टि तो नहीं रखते। लेकिन साथ ही राज्य को वे अधिक महत्त्व भी नहीं देना चाहते। वे राज्य को एक ऐसा ही कारपोरेशन समझते हैं जैसा कि एक कुटुम्ब होता है, एक धार्मिक सम्प्रदाय होता है, एक मजदूर संघ होता है इत्यादि।

कुछ विचारक इस मत के हैं कि बल या शक्ति ही राज्य का आधार है। इस विचार का प्रवर्त्तक मेकियावेली माना जाता है। हॉब्स, कॉम्पटे और बेन्थम

---

१ "The home of my soul is in the State."
—(**The New State by Miss Follett**)

ने भी लिखा है कि राज्य की उत्पत्ति बल के आधार पर हुई और बल के ही द्वारा उसका अस्तित्व क़ायम रहता है। ऑगस्ट कॉम्पटे ने लिखा है कि "प्रत्येक मानव समाज का आधार बल होता है। यदि हम इस सत्य को स्वीकार करने में हिचकते हैं तो समाज विज्ञान का वास्तविक स्वरूप हमेशा अध्यात्मवाद के बादलों में छिपा रहेगा।" इतिहास से प्रमाण देकर कॉम्पटे ने इस कथन को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उसका मत है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में, सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में सामाजिक सम्बन्ध बल के आधार पर निर्धारित होते थे। किसी जाति में एक साहसी वीर अपनी जाति का मुखिया हो जाता था और फिर वह अन्य जातियों को जीतता था। समाज का एकमात्र उद्देश्य दूसरों पर विजय प्राप्त करना और प्रभुत्व स्थापित करना रह जाता है। समाज के आन्तरिक संगठन में भी यह बात देखने में आती है। समाज में जो लोग उत्पादन करते हैं, उनका दर्जा या स्थिति गुलामों से अधिक नहीं रहती। जब उद्योगों का विकास होता है तो उसका उद्देश्य भी सेना या युद्ध सम्बन्धी अधिक आवश्यकताएँ पूरा करना होता है। इस स्थिति में यद्यपि उत्पादक गुलाम नहीं रहते, लेकिन उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। विज्ञान की प्रगति होने पर उत्पादक वर्ग कारखानों में मजदूर हो जाते हैं और वे एक प्रकार से धनी वर्ग की गुलामी करते हैं। दंड का डर ही मनुष्य को राज्य की सत्ता स्वीकार करने को बाध्य करता है। प्रोफेसर टी० एन० कारवर ने लिखा है कि राज्य का आधार केवल बल है और बल के सिवाय कुछ भी नहीं है। ट्रीस्के नाम के जर्मन ने भी प्रथम महायुद्ध के समय इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मन और इटली के फॉसिस्टवादी विचारकों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था। वे केवल बल के आधार पर अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का प्रचार करना चाहते थे।

इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त में सत्य की मात्रा काफ़ी है। इतिहास साक्षी है कि बल के आधार पर राज्य स्थापित हुए हैं और उनका विस्तार भी हुआ है। विजेता वर्ग ने केवल बल के द्वारा ही विजित जनसमूह पर अपनी इच्छा का आरोपण किया है। आज भी प्रत्येक देश को सेना और पुलीस रखनी पड़ती है। उसके बिना बाहरी आक्रमण से सुरक्षा और आन्तरिक शान्ति में खतरा रहता है। प्रत्येक देश आज सेना पर जितना अधिक खर्च कर रहा है उतना अधिक शायद इतिहास में कभी भी किसी देश के द्वारा नहीं हुआ। यदि पुलीस न हो तो समाज में अपराध की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाय। बल सिद्धान्त के सबसे बड़े प्रतिवादी टी० एच० ग्रीन ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वह स्वीकार करता है कि किसी समाज में एक साहसी वीर का नेतृत्व

प्राप्त करना, एक जाति का दूसरी जाति पर युद्ध या बल द्वारा प्रभुत्व प्राप्त करना, सामन्तयुग में राजा द्वारा सामन्तों की सत्ता का सीमित होना इन सबमें बल-प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं और इसी के आधार पर आधुनिक राज्य का प्रादुर्भाव हुआ है। आज भी राज्य की सत्ता का आधार बाह्य या प्रकट रूप में बल ही दिखता है।

लेकिन इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों और समर्थकों ने अतिरंजना से भी काम लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य-निर्माण में बल का हाथ अवश्य रहा है। लेकिन केवल बल के आधार पर अधिक समय तक राज्य टिक नहीं सकता। किसी राज्य के एक बड़े क्षेत्र पर अर्थात् बड़े पैमाने पर बल-प्रयोग सम्भव नहीं है। जब तक किसी राज्य में थोड़े-बहुत लोग उसके समर्थक न हों, उसमें कुछ-न-कुछ श्रद्धा न रखते हों, तब तक केवल शक्ति प्रयोग से कोई राज्य स्थायी नहीं रह सकता। हम जानते हैं कि महात्मा गान्धी इस बात को हमेशा मानते थे। उनका पूर्ण विश्वास था कि केवल बल-प्रयोग राज्य का आधार नहीं रह सकता। उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रेम और हृदय का परिवर्तन ही राज्य का आधार है। वे कहते थे कि जनता की श्रद्धा ही राज्य की दृढ़ नींव है।

बल के सिद्धान्त का सबसे बड़ा विरोधी इंगलैण्ड का आदर्शवादी दार्शनिक टी०एच० ग्रीन हुआ है। उसका मत था कि इसमें सन्देह नहीं कि राज्य बल-प्रयोग करता है; लेकिन वह नैतिक बल (Moral force) होता है। जब राज्य शारीरिक बल का प्रयोग करता है तो उसका उद्देश्य अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता की वृद्धि करना ही होता है। राज्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता के मार्ग से रोड़े हटाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह विद्रोहियों पर बल का प्रयोग करता है। वह अराजकतावादियों पर बल-प्रयोग करता है। वह ऐसे माता-पिता पर बल-प्रयोग कर सकता है, जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते। वह ऐसे उद्योगपतियों पर बल-प्रयोग कर सकता है, जो अपने मजदूरों से शक्ति से अधिक काम लेता है। इस प्रकार राज्य बल का प्रयोग उन लोगों की सुरक्षा और स्वतन्त्रता के लिये करता है, जो अनुचित बल-प्रयोग के शिकार हुए हैं। क्योंकि राज्य का अस्तित्व ही अपने सब नागरिकों के हित-साधन के लिये है। व्यक्ति राज्य में श्रद्धा इसलिये रखता है, उसकी आज्ञा या अनुशासन का पालन इसलिये करता है कि बिना उसके नागरिकों के हाथ में कोई अधिकार नहीं रह जायेंगे। राज्य की संस्थाओं में जो सत्ता निहित है, यदि हम उसे न मानें तो हमारे हाथ में कोई अधिकार भी न रहेंगे। जो अधिकार कुटुम्बों और जातियों में पाये जाते हैं, राज्य केवल उन्हें सुनिश्चित रूप देकर उनका पालन कराता है और उनकी

रक्षा करता है। इसलिये राज्य का आधार बल या शक्ति न होकर श्रद्धा और स्वीकृति है।[1]

सभ्य नागरिक होने के नाते हम राज्य का अनुशासन क्यों मानते हैं? इसलिये कि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य का अनुशासन पालन करने में हम अपनी ही उत्कृष्ट भावनाओं और विचारों का पालन कर रहे हैं। हम अपनी उस निजी इच्छा का पालन करते हैं, जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थपरता नहीं रहती। जब हम इस बात को महसूस करते हैं कि राज्य की आज्ञा-पालन करने में हम 'सर्वे भवन्तु सुखनः' या "सर्व जन हिताय" का साधन कर रहे हैं तो वह आज्ञा-पालन हमें सर्वथा उचित जान पड़ता है। हमारा वैयक्तिक कल्याण लोक-कल्याण में निहित होता है। केवल शक्ति-प्रयोग से कोई चीज़ उचित नहीं हो जाती; लेकिन जब उचित को शक्ति का समर्थन प्राप्त हो जाता है तो उसे नैतिकता का रूप मिल जाता है और उसे स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है। उसे हम स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। इसलिये ग्रीन ने कहा है कि राज्य का आधार बल नहीं, स्वेच्छा है।

इस प्रकार अन्त में हम यह कह सकते हैं कि राज्य का उद्भव भले ही बल के आधार पर हुआ हो, आज भी उसके अस्तित्व के लिये बल का समर्थन आवश्यक है। लेकिन जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि बल का प्रयोग हमारे अर्थात् सारे समाज के अधिकारों की रक्षा के लिये होता है तो उस बल का स्वरूप बदल जाता है। पाशविकता की जगह उसमें नैतिकता आ जाती है। आदर्शवादी विचारधारा ने इसी नैतिक बल को राज्य का आधार माना है। ग्रीन ने इसका स्पष्टीकरण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उसने लिखा है कि "जब हम एक राज्य की कल्पना करते हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसके पहले कुछ जातियाँ या वर्ग ऐसे थे, जिनमें कुछ अधिकार प्रचलित थे। यह राज्य केवल उन अधिकारों की रक्षा करने तथा उनके पालन कराने के लिये जीवित रहता है। राज्य बनने के पूर्व कुछ कुटुम्ब अवश्य रहे होंगे और उन कुटुम्बों ने एक दूसरे के अधिकारों को अवश्य स्वीकार किया होगा। यह भी स्वीकार या अनुभव किया होगा कि उनके अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है, जिससे सबका कल्याण हो सकता है। कुटुम्बों में और कुटुम्बों से जो जातियाँ बनीं उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध अवश्य रहे होंगे। अर्थात् उन्होंने एक दूसरे के अधिकारों को स्वीकार किया होगा।...तब यह आवश्यक हो जाता है कि उन

१ "Will, not force, is the basis of the State."
—(**T. H. Green**)

अधिकारों की परिभाषा की जाय और एक व्यापक क़ानून अथवा नियम के रूप में उनकी परिभाषा की जाय। जब इस प्रकार का व्यापक क़ानून बन जाता है जिसके द्वारा कुटुम्बों के और जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियंत्रण होता है। जब कुटुम्बों या जातियों का एक समाज उस क़ानून को स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार करता है, और जब उस क़ानून की रक्षा करने और उसका पालन कराने के लिये समाज में एक शक्ति सम्पन्न संस्था देखते हैं। यह संस्था ऐसी भी होती है कि बाहरी आक्रमण से यह समाज की रक्षा कर सकती है। तब यहीं और इस संस्था में राज्य का प्रारम्भिक स्वरूप देखते हैं।

राज्य के आधारों के सम्बन्ध में बल के सिद्धान्त की समीक्षा हमने कुछ विस्तार-पूर्वक इसलिये की है कि इस विज्ञान के पंडित इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। अब हम एक दो और मतों की ओर भी ध्यान देंगे जिनका प्रचलन अपेक्षाकृत थोड़े ही समय पहले हुआ है। पीछे हम कह चुके हैं कि कुछ लोग राज्य को एक कारपोरेशन की स्थिति से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते। बहुलतावादी (Pluralists) विचारक विशेष रूप से इस पर ज़ोर देते हैं। उनका मत है कि समाज में कुटुम्ब, चर्च या धार्मिक सम्प्रदाय, मजदूर संघ या रोटरी या समाज सुधार सम्बन्धी कई ऐसी संस्थाएँ होती हैं, जो समाज की कुछ विशिष्ट रूप से सेवाएँ करती हैं, वे विभिन्न तरीकों से समाज की कुछ खास जरूरतों को पूरा करती हैं, उनका संपादन करती हैं। राज्य भी इसी प्रकार की एक संस्था है। लेकिन हम इस मत को इस आधार पर स्वीकार नहीं कर सकते कि राज्य उन सब संस्थाओं से भिन्न है। उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो अन्य किसी संस्था या संघ में नहीं होतीं। राज्य इन सब संस्थाओं से ऊपर होता है। हम यह कह सकते हैं कि राज्य ऐसी संस्था है, जो अन्य सब संस्थाओं में सानिध्य या सम्बन्ध स्थापित करती है। राज्य इन विभिन्न संस्थाओं का जीवनदाता होता है। प्रथम महा-युद्ध के बाद फॉसिस्टवादी विचाराधारा ने राज्य को एक अजीब प्रकार की निरंकुशता प्रदान की। उसने कहा कि राज्य के सामने व्यक्ति का कुछ भी महत्त्व नहीं है, राज्य के बिना व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं रह सकता, वह राज्य के लिये जीता है, राज्य के लिये मरता है। राज्य में उसे अटूट विश्वास होना चाहिये। राज्य का आज्ञापालन उसे आँख बन्द कर बिना सोचे-विचारे करना चाहिये। इस मत के अनुसार व्यक्ति राज्य की मशीन का केवल एक पुर्जामात्र रह जाता है।

विभिन्न लेखकों ने राज्य के ये जो विभिन्न रूप देखे हैं, जो विभिन्न आधार बतलाये हैं, वे सब एकांगी हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार उन्होंने राज्य को अलग-अलग रूपों में देखा है। यदि हम जरा गहराई में जावें तो देखेंगे कि राज्य में कई विशेषताएँ होती हैं—बल, क़ानून, वर्ग-व्यवस्था इत्यादि सभी बातें

राज्य में पाई जाती हैं। लेकिन राज्य किसी एक बात के आधार पर नहीं चलता, उसमें ये सब बातें न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती हैं। इसलिये हमें राज्य का आधार समष्टि के रूप में देखना चाहिये, विशिष्ट रूप में नहीं, जैसे कि यदि हम राज्य को एक संघ या संस्था (Association) के रूप में देखें तो हमें ज्ञात होगा कि राज्य एक ऐसा संघ है, जो अन्य सब संघों से ऊँचा है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्य के बिना मनुष्य अपने जीवन की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। व्यक्ति और कुटुम्ब तो राज्य के पहले भी थे। लेकिन मनुष्य ने जब किसी न्यूनता का अनुभव किया तो उसे दूर करने के लिये राज्य का संगठन किया। कुटुम्ब में मनुष्य की शारीरिक या भौतिक ज़रूरतें तो पूरी हो सकती हैं, लेकिन उसकी बौद्धिक और नैतिक ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं। इसीलिये उसे राज्य की आवश्यकता हुई। क़ानून और न्याय-शासन की सहायता से ही मनुष्य समाज आज इतना सुखी, सुरक्षित और समृद्ध है। उसकी शक्तियों का विकास राज्य में ही होता है। राज्य के बिना मनुष्य वास्तव में एक जंगली जानवर के समान होता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य का महत्त्व व्यक्ति से भी अधिक है, क्योंकि राज्य के बिना मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास करना चाहता है और यह विकास राज्य के बाहर सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य या कोई भी कुटुम्ब एक इकाई के रूप में पूर्ण नहीं है। राज्य मनुष्य की इच्छा का ही एक अंश है, एक रूप है। वह मानव के नैतिक और बौद्धिक विकास का प्रतीक है। वह व्यक्ति के स्वार्थों और उद्देश्यों का एक तर्कपूर्ण या उचित संगठन है।

इस प्रकार राज्य मनुष्य के बौद्धिक स्वरूप का परिचायक है। लेकिन हम देख चुके हैं कि कुछ विद्वानों ने राज्य का आधार बल-प्रयोग माना है। इस मत में भी सत्यता है। इस दृष्टि से राज्य मनुष्य के शरीर और बल का परिचायक है। राज्य में बल से तो काम लेना ही पड़ता है। यदि दण्ड-व्यवस्था न हो तो सामाजिक जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता। बिना सेना के आन्तरिक विद्रोह या बाहरी आक्रमण का डर रहता है। इसका सिद्धान्त यह है कि राज्य के पास समाज के प्रतिकूल जानेवाली प्रवृत्तियों के दमन करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिये। राज्य मनुष्य की नीच प्रवृत्तियों का दमन करके उसकी उच्च प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देता है। वह मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है। मनुष्य कभी-कभी उच्छृंखल हो उठता है, उसकी इन्द्रियाँ या नीच भावनाएँ उसे कभी-कभी ऐसे खोटे काम करने के लिये प्रेरित करती हैं जिससे सामाजिक जीवन को ठेस पहुँचने की सम्भावना रहती ह। ऐसे गाढ़े समय में राज्य की शक्ति ही उसको सन्मार्ग पर लाती है और सामाजिक

जीवन को सुरक्षित रखती है। बहुधा दण्ड के भय से मनुष्य अनैतिक या क़ानून विरोधी काम करने से रुक जाते हैं। हीगेल ने जो कहा है कि मनुष्य को दण्ड पाने का अधिकार है, इस दार्शनिक वाक्य में बहुत कुछ सत्यता है।

इसी प्रकार राज्य किसी एक वर्ग का प्रतिपालक नहीं होता। वह सब वर्गों के ऊपर उठकर सम्पूर्ण समाज का सामूहिक कल्याण-साधन करता है। समाज में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक इत्यादि कई प्रकार के संघ होते हैं। कोई व्यक्ति संगीत समिति का सदस्य है, कोई व्यापारमंडल का, कोई कांग्रेस कमेटी का, कोई गीता प्रचार समिति का, कोई हरिजन सहायक समिति का तो कोई नगरपालिका का। इसी प्रकार के कई संघ होते हैं। एक व्यक्ति एक साथ कई समितियों या संघों का सदस्य हो सकता है। लेकिन सब का एक साथ नहीं। ये सब संघ किसी कार्य विशेष के संपादन के लिये बनाये जाते हैं। केवल राज्य ही एक ऐसा संघ है, जो इन सब संघों को एक सूत्र में बाँध कर मनुष्य और समाज की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सामाजिक जीवन के सब पहलुओं का समन्वय केवल राज्य में ही होता है। हमारी राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य सब धाराएं अन्त में राज्य रूपी समुद्र में समाती हैं और एकरूपता पाती हैं। हमारे बहुमुखी स्वार्थों की एकरूपता राज्य में ही दिखती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य हमारे सामाजिक जीवन के सूत्रों का सूत्रधार है। समाज में ऐसे संघ होते हैं, जिनके स्वार्थ बहुधा परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। जैसे एक मजदूरों का संघ होता है तो दूसरा उद्योगपतियों का। विभिन्न राजनीतिक दल होते हैं और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय या संगठन। इनके स्वार्थ एकांगी होते हैं। राज्य इन सब स्वार्थों में एकरूपता स्थापित करता है। वह सब स्वार्थों को और उनके साधक संघों को यथा स्थान रखकर उनसे कहता है है कि उनका उद्देश्य एक ऐसे जीवन को प्राप्त करना है, जिसमें सब स्वार्थों का साधन हो और एक स्वार्थ या एक वर्ग दूसरे पर अनुचित प्राधान्य प्राप्त न कर सके। समाज का सर्वोत्कृष्ट कल्याण भंग न होने पावे। राज्य व्यक्तियों के या संघों के केवल उन्हीं स्वार्थों का संरक्षण करता है, केवल उन्हीं प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देता है, जो सार्वजनिक हित में हों। वह किसी वर्ग विशेष को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। ऐसा करने से वह पथ-भ्रष्ट हो जायगा। उसकी दृष्टि समष्टिवादी है, विशिष्टवादी नहीं। विशिष्ट कार्यों के लिये तो समाज में अलग-अलग संघ होते हैं। ये संघ विशिष्ट या कुछ कार्यों का संपादन करते हैं, लेकिन राज्य व्यापक स्वार्थों का संपादन करता है। राज्य संकुचित स्वार्थों के ऊपर उठकर अपनी शक्ति का प्रयोग ऐसे कार्यों के करने में करता है, जिनका सम्बन्ध समाज के स्थायी

स्वार्थों के लिये हो। इसी उद्देश्य से मनुष्य समाज में रहता है और राज्य के प्रति श्रद्धा रखता है।[1]

अन्त में हमें राज्य के नैतिक और आध्यात्मिक आधारों पर भी विचार करना है, क्योंकि राज्य के विभिन्न आधारों में ये भी शामिल हैं। इस सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। राज्य केवल उन कार्यों पर ध्यान देता है, जो मनुष्य करते हैं। अधिक से अधिक वह यह विचार कर सकता है कि किन उद्देश्यों (Intentions) से प्रेरित होकर मनुष्य ने कोई कार्य किया है। लेकिन कार्यों के मूल में मनुष्य के जो आन्तरिक विचार (Motives) होते हैं, वे राज्य की क्रिया-शक्ति के परे हो जाते हैं। समाज के नैतिक स्वास्थ्य के लिये राज्य क़ानून बनाता है। वह कहता है कि यह काम करना ग़लत है। इसके करने से दण्ड मिलेगा। वह यह भी कह सकता है कि अमुक उद्देश्य से प्रेरित होकर अमुक काम नहीं करना चाहिये। लेकिन मनुष्यों के मन में जो-जो विचार तरंगित होते रहते हैं, अच्छी और बुरी जो इच्छाएँ और भावनाएँ उठती हैं और डूबती हैं, उन पर राज्य का नियन्त्रण न हो सकता है और न होता है। इस बात को हम स्वीकार करते हैं कि राज्य एक नैतिक और आध्यात्मिक संस्था है। वह इसलिये कि आख़िर राज्य मनुष्य के विकसित व्यक्तित्व का ही तो एक रूप है। लेकिन साथ ही राज्य का प्रधान अस्त्र बाहरी बल का प्रयोग ही होता है। वह दण्ड तभी दे सकता है, जब कोई व्यक्ति समाज के या क़ानून के प्रतिकूल कोई कार्य करता है। अथवा राज्य दण्ड तब देता है, जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि एक व्यक्ति का उद्देश्य यह अनैतिक या समाज-विरोधी काम करने का है। जैसे क़ानून को यदि यह मालूम हो जाय की यद्यपि एक व्यक्ति ने चोरी नहीं की, पर उसका उद्देश्य चोरी करना था तो वह उसे दण्ड दे सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति चोरी करने का केवल विचार करता है, उसके मन में यह इच्छा उठती है, पर उसका उद्देश्य प्रकट नहीं होता तो राज्य उसे दण्ड देने में असमर्थ होता है। दूसरी बात यह है कि सतत प्रयत्न द्वारा राज्य समाज में ऐसा स्वस्थ नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण तैयार कर सकता है कि उसके नागरिकों में उच्चादर्शों की अधिक मान्यता होगी। अपराधों की संख्या कम होगी। लोगों की प्रवृत्ति परोपकार अर्थात् समाज-सेवा की ओर अधिक होगी, उनमें आत्म-त्याग या स्वार्थ-त्याग की भावनाओं की वृद्धि होगी इत्यादि।

---

१ "The State stands above all narrow interests in the society and uses its coercive power on behalf of the permanent and abiding interests for which men live together."

—(**Laski in " the State in Theory and Practice."**)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य एक ऐसी संस्था है, जो अन्य सब संस्थाओं से ऊपर होती है। इसका उद्देश्य पूरे समाज का सर्वांगपूर्ण कल्याण-साधन होता है। इसके निमित्त उसे कभी बल-प्रयोग करना पड़ता है, कभी नैतिकता का तो कभी अपनी प्रभुता का। प्रत्येक व्यक्ति का हित-साधन वह सामूहिक हित-साधन द्वारा करता है। इसके बिना राज्य का अस्तित्व ही व्यर्थ है। आगे चलकर हम राज्य के उद्देश्यों और कार्यों पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

प्राचीन भारत में राज्य के जो आधार माने जाते हैं, उनकी चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। हमारे प्राचीन राजनीतिशास्त्र में साम, दाम, दण्ड और भेद राज्य के ये चार आधार माने गये हैं। इन चारों की सहायता से राज्य समाज का सर्वांगीण कल्याण-साधन करता था। इन चारों सिद्धान्तों में बल, नैतिकता, प्रभुता, उपदेश आदि तत्त्व निहित हैं। इन्हें हम एक साधारण उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं। पिता पुत्र से कहता है 'बेटा पढ़ो।' यह साम हुआ। अर्थात् वह पुत्र के लिये एक कर्त्तव्य निर्धारित करता है। वह कहता है कि यदि पढ़ोगे तो हम तुम्हें एक रुपया देंगे। यह दाम हुआ। फिर वह कहता है कि यदि न पढ़ोगे तो मैं तुम्हें पीटूँगा। यह दण्ड है। फिर वह कहता है कि यदि तुम न पढ़ोगे और तुम्हारा भाई पढ़ेगा तो मैं उसे एक रुपया दूँगा, तुम्हें नहीं। यह भेद है। राज्य भी इन सिद्धान्तों का प्रयोग एक बड़े पैमाने पर करता है। वह नागरिकों के लिये कर्त्तव्य निर्धारित करता है, कर्त्तव्य-परायण व्यक्तियों को सुख-सुविधाएँ और मान देता है, कर्त्तव्य विमुख व्यक्तियों को दण्ड देता है। और जो सुख तथा मान कर्त्तव्य-परायण व्यक्तियों को देता है, वह कर्त्तव्य-विमुख व्यक्तियों को नहीं। आज भी इस सिद्धान्त में हम बहुत कुछ सत्यता देखते हैं, यद्यपि उस समय और इस समय की राजनीति के अध्ययन के आधार और पद्धति में बहुत अन्तर है।

अध्याय ५

राज्य की उत्पत्ति (क)

(The origin of the State)

राज्य के तत्त्व हम जान गये हैं। उसके स्वरूप से भी हम परिचित हो गये हैं। इसलिये अब हमें यह जानना चाहिये कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई। इस सम्बन्ध में हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इतिहास हमें कोई ऐसा निश्चित काल नहीं बतलाता जिसमें राज्य की उत्पत्ति हुई हो। राज्य का अस्तित्त्व तभी माना जा सकता है, जब मनुष्यों में एक तो राजनीतिक चेतना हो और दूसरे उनमें राजनीतिक संगठन के कुछ लक्षण हों। लेकिन हमें उस समय का ज्ञान नहीं है, जब मनुष्य समाज में इन दोनों बातों ने अर्थात् राज्य ने पहले-पहल स्पष्टरूप से प्रवेश किया हो। यद्यपि आधुनिक प्राणि विज्ञान, समाज विज्ञान, वंश विज्ञान, जाति विज्ञान इत्यादि विज्ञानों ने अपनी-अपनी गवेषणाओं के सम्बन्ध में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला है। लेकिन स्पष्ट ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिलते। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि जहाँ कहीं भी मनुष्य एक बड़ी संख्या में एक साथ रहे हैं, वहाँ राज्य किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में समय-समय पर लोगों ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्य दैवी इच्छा (Divine will) से उत्पन्न हुआ। कुछ लोगों का मत है कि एक समझौते (Contract) के आधार पर राज्य की उत्पत्ति हुई। कुछ लोगों ने राज्य की उत्पत्ति बल-प्रयोग के कारण बतलाई और कुछ लोगों ने मातृ-प्रधान (Matriarchal) अथवा पितृ-प्रधान (Patriarchal) कुटुम्बों द्वारा। यद्यपि अब इनमें से किसी भी सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी हमारे अध्ययन के लिये ये महत्वपूर्ण हैं। एक तो इन सिद्धान्तों द्वारा हमें तत्कालीन परिस्थितियों और विचारधाराओं तथा प्रवृत्तियों का पता चलता है। अपने समय में इन सिद्धान्तों ने राजनीतिक घटनाओं पर बहुत प्रभाव डाला। उदाहरण के लिये रूसो के सामाजिक समझौता (Social contract) सिद्धान्त ने प्रजातान्त्रिक आन्दोलन को बड़ा बल दिया। इसलिये इनका अध्ययन आवश्यक है। तीसरे इनके अध्ययन से हमें यह समझने का मौक़ा मिलता है कि राजनीति विज्ञान की समस्याएँ, प्रवृत्तियाँ और धाराएँ क्या थीं, क्या हैं और क्या हो सकती हैं। राज्य की उत्पत्ति के इस प्रकार के

प्रारम्भिक या प्रागैतिहासिक (Primary or pre-historical) सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (The Divine Origin Theory) ।

(२) सामाजिक समझौता सिद्धान्त (The Social Contract Theory)

(३) बल-प्रयोग का सिद्धान्त (The Force Theory) ।

(४) पितृ-प्रधान और मातृ-प्रधान कुटुम्ब का सिद्धान्त (Patriarchal and matriarchal theories) ।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त सबसे अधिक प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर अथवा किसी दैवी शक्ति के द्वारा हुई। उसी की इच्छा से राज्य स्थापित हुआ और उसी की इच्छा से वह चालित होता है। ईश्वर या तो स्वयं राज्य चलाता है या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा। ऐसे राज्य को दैवी राज्य (Theocratic State) कहते हैं। इतिहास के प्रारम्भिक काल में राज्य का प्रायः यही रूप पाया जाता है। राजसत्ता में कुछ दैवी गुणों का सम्मिश्रण माना जाता था। राजा में दैवी गुण विद्यमान माने जाते थे। महाभारत में भी राज्य की दैवी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ प्रसंग पाये जाते हैं। शान्ति पर्व में लिखा है, जब अराजकता लोगों के लिये असहनीय हो गई तो उन्होंने ईश्वर की शरण ग्रहण की और ईश्वर ने मनु को उनका राजा नियुक्त किया। राजा में दैवी गुण पाये जाते हैं। अतएव लोगों को उसकी आज्ञापालन करना चाहिये। लेकिन साथ ही शान्ति पर्व में यह भी कहा गया है कि जो राजा धर्म का पालन न करे वह वध योग्य है। अतएव यह कहा जा सकता है कि सब लोग राजा की दैवी शक्ति में विश्वास नहीं करते थे। लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिये। राज्य की दैवी उत्पत्ति एक बात है और राजा का राज्य करने का दैवी अधिकार दूसरी बात। प्राचीन मिस्र, फारस, चीन और जापान में लोग राज्य की दैवी उत्पत्ति और राजा के दैवी अधिकार में विश्वास करते थे। प्राचीन ग्रीस और रोम के विचारक राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक मानते थे। वे अप्रत्यक्ष रूप से उसकी दैवी उत्पत्ति मानते थे। यहूदी लोग राज्य की दैवी उत्पत्ति में विश्वास करते थे। पुराने टेस्टामेन्ट (Old Testament) में कहा गया है कि राजा की नियुक्ति ईश्वर करता है और वही उसे पदच्युत भी करता है। राजा अपने कार्यों के लिये केवल ईश्वर के प्रति जिम्मेदार होता है।

ईसाई मत ने राज्य की दैवी उत्पत्ति तथा राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया। संतपाल ने लिखा है कि प्रत्येक प्राणी दैवी शक्तियों के अधीन है। क्योंकि सर्वत्र केवल ईश्वर की सत्ता व्याप्त है। जो शक्तियाँ

हम पृथ्वी पर देखते हैं, वे ईश्वर द्वारा ही स्थापित की गयी हैं। मध्ययुग में पोप और सम्राट् में बड़ा वाद-विवाद चला। पोप कहते थे कि धर्म के प्रधान होने के कारण सम्राट् उसके अधीन था और सम्राट् कहते थे कि दोनों का क्षेत्र अलग-अलग था। सांसारिक या प्रशासकीय मामलों में सम्राट् सर्वश्रेष्ठ था। सांसारिक बातों में सम्राट् और धार्मिक बातों में पोप ईश्वर का प्रतिनिधि था। योरोप में जब धार्मिक सुधार का आन्दोलन चला तो प्रोटेस्टेन्ट सुधारवादियों ने सम्राट् या राजा की श्रेष्ठता का समर्थन किया और कहा कि सांसारिक बातों में राजा को ही उच्चत्तम अधिकार प्राप्त हैं और प्रजा को राजा की आज्ञा-पालन करना चाहिये। लूथर, ज्विगली और कालविन इत्यादि विद्वान् इसी विचारधारा के समर्थक थे।

कालान्तर में राज्य की दैवी उत्पत्ति से राजा के दैवी अधिकारों (Divine right of kings) के सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इंगलैण्ड में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त ने बहुत ज़ोर पकड़ा। इंगलैण्ड में राजा जेम्स प्रथम तथा सर रॉबर्ट फिल्मर इसके प्रबल समर्थक थे। फ्रान्स में बूसेट (Bousset) नामक विद्वान् ने राजा चौदहवें लुई के निरंकुश शासन के समर्थन करने में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त का सार यह है कि चूँकि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर ने की है और राजा के पद के लिये वह किसी व्यक्ति को चुनता है, इसलिये जो व्यक्ति राजा के पद पर बैठेगा वह दैवी इच्छा और दैवी अधिकार से इच्छानुसार शासन कर सकता है, चाहे वह ग़लत हो या सही। जैसा कि हम कह चुके हैं इंगलैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने इस सिद्धान्त का ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया। उसने "स्वतन्त्र राज्यपद का सच्चा नियम" (True law of free Monarchy) नामक पुस्तक लिखी। उसमें उसने लिखा कि ईश्वर के कार्यों की टीका-टिप्पणी करना, उनमें अविश्वास करना घोर नास्तिकता और अधर्म है। इसलिये राजा के कार्यों की टीका-टिप्पणी करना भी जनता के लिये अधर्म का कार्य है। जनता को यह कहने का अधिकार नहीं है कि "राजा को क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये।" फिल्मर ने सन् १६८१ में पेट्रियार्का (Patriarcha) नामक पुस्तक लिखी और उसमें इसी प्रकार के विचार प्रकट किये। बूसेट का मत है कि राजा ईश्वर की प्रतिभा का प्रतीक है। इस सिद्धान्त में चार बातें प्रधान हैं—पहला यह कि राजा का पद ईश्वर द्वारा स्थापित किया गया है और दूसरा यह कि इस पद में उत्तराधिकार (hereditary right) निहित है। तीसरा, राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और चौथे राजा की सत्ता पर आक्षेप करना पाप है। जी० पी० गूथ का मत है कि मध्ययुग में इस मत का प्रतिपादन वास्तव में पोप की सत्ता

को चुनौती देने के लिये किया गया था। इसके प्रतिपादकों ने इस बात पर विचार नहीं किया कि यदि राजा निरंकुश हो जाय तो क्या होगा। वास्तव में जब जनता में जागृति हुई तो इस सिद्धान्त का उपयोग जनतान्त्रिक विचारों के विरोध में किया गया। वास्तव में फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय में इस सिद्धान्त का जोर खतम हो गया। नेपोलियन-कालीन युद्धों के बाद जब पवित्र गठबन्धन (Holy Alliance) नाम की सन्धि हुई तब आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस के सम्राटों ने एक बार फिर अपने दैवी प्रतिनिधित्व पर जोर दिया। लेकिन उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

आज राजनीतिक विचार इस सिद्धान्त को कोई मान्यता नहीं देते। यह बात सच है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में लोगों में यह विश्वास था कि राजा में दैवी गुण होते हैं। राजा ही प्रायः उनका धार्मिक प्रधान होता था। लेकिन आजकल सर्वत्र यही माना जाता है कि राज्य का वास्तव में ऐतिहासिक विकास हुआ है। आज यह विश्वास करना कठिन है कि ईश्वर किसी एक व्यक्ति को अथवा एक वंश को शासन करने के लिये नियुक्त करता है। आज सभी विचारकों का यह विश्वास है कि राज्य की उत्पत्ति वास्तव में मनुष्य की राजनीतिक प्रवृत्तियों से हुई है।

जब चर्च और राज्य अलग-अलग संस्थाएँ हो गईं तो इस सिद्धान्त का भी ह्रास होने लगा। राज्य एक भौतिक संस्था माना जाने लगा। जनतान्त्रिक विचारों के साथ-साथ जब सामाजिक समझौता का सिद्धान्त प्रचलित हुआ तो यह सिद्धान्त एक प्रकार से गिर गया। इस सिद्धान्त ने इस बात पर जोर दिया कि लोगों की सहमति से ही राज्य की स्थापना हुई। अर्थात् राज्य ईश्वर का बनाया हुआ नहीं है, बल्कि मनुष्य निर्मित है। इस सिद्धान्त के ह्रास के तीन कारण बतलाये जाते हैं। पहला तो सामाजिक समझौता के सिद्धान्त का प्रतिपादन जिसने राज्य की उत्पत्ति लोगों की सहमति पर आधारित की। दूसरा राज्य का चर्च अथवा धार्मिक सम्प्रदाय पर श्रेष्ठता प्राप्त करना और तीसरा प्रजातन्त्र द्वारा निरंकुश शासन को चुनौती मिला। इस सिद्धान्त को ग्रोशियस, हॉब्स और लॉक ने प्रायः खतम कर दिया। यद्यपि आज यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक माना जाता है, लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन में इसका एक ऐतिहासिक महत्त्व है। यह बात तो सत्य है कि समाज में बहुत समय तक राज्य की दैवी उत्पत्ति और राजा के दैवी अधिकारों में लोगों का विश्वास रहा आया। जब समाज सभ्यता के प्रथम चरण में प्रवेश कर रहा था, उस समय उसमें दैवी शक्तियों का भय बहुत था, धर्म का प्रभाव उस पर बहुत था। केवल एक मुखिया या राजा की सत्ता और क़ानूनों में श्रद्धा न रखता यदि उन पर धर्म का आवरण न होता। लेकिन जब राजा की

सत्ता को ईश्वर की इच्छा का सहारा मिल गया तो लोगों ने उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास प्रकट किया। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने अराजकता को रोककर सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने में सहायता दी। इस सिद्धान्त से हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि राज्य का एक नैतिक आधार होता है। एक निरंकुश राजा भी ईश्वर के प्रति इस बात का ज़िम्मेदार होता है कि वह अपनी प्रजा का प्रतिपालन और हित-साधन करेगा।

अन्त में हमें यह नहीं भूलना चाहिये की आज भी बहुत से राज्यों के शासन के स्वरूपों में ईश्वर या दैवी शक्ति को मान्यता प्राप्त है। राष्ट्रपति, मंत्री इत्यादि जो शपथ ग्रहण करते हैं, उनमें ईश्वर का नाम रहता है। इसी से हम इस सिद्धान्त के प्रभाव को समझ सकते हैं।

समझौता-सिद्धान्त

(The contract theory)

राज्य की दैवी उत्पत्ति के बाद समझौता सिद्धान्त का महत्त्व है। राजनीति विज्ञान में समझौता का उपयोग दो अर्थों में किया गया है। इसमें कहा गया है कि राज्य की उत्पत्ति एक समझौता के आधार पर हुई। इस कथित समझौते के दो रूप बताये गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह समझौता शासकों और शासितों के बीच हुआ, जिसके अनुसार शासन-शक्ति कुछ लोगों को सौंप दी गई। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार को जो शासनाधिकार प्राप्त हैं, वे उसे एक समझौता के आधार पर प्राप्त हुए। कुछ विद्वानों ने समझौता का अर्थ यह लगाया है कि किसी समाज के व्यक्तियों ने आपस में मिलकर एक समझौता किया और उसके आधार पर उनका राजनीतिक संगठन हुआ। इस समझौता में यह नहीं बताया जाता है कि शासन-शक्ति किसी एक व्यक्ति को दी गई अथवा जिसको दी गई वह उसका प्रयोग किस प्रकार करेगा। इसको सामाजिक समझौता या राजनीतिक समझौता कहते हैं। इस समझौते के आधार पर राज्य की उत्पत्ति अथवा राजनीतिक शक्ति की उत्पत्ति समझाई जाती है। यदि हम इन दोनों प्रकार के समझौतों पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह बात आसानी से समझ में आ जायगी कि जब तक किसी समाज का राजनीतिक संगठन न हो, तबतक उसके शासन या सरकार का रूप निर्धारित नहीं हो सकता। लेकिन राजनीतिक विचारधारा के इतिहास में सरकार सम्बन्धी समझौते की चर्चा पहले आती है और सामाजिक समझौते की बाद में।

संक्षेप में इस सिद्धान्त का सार यह है कि मानव-समाज में एक समय ऐसा था जब न राज्य था और न सरकार। उस समय मनुष्य के बनाये हुए न कोई

क़ानून थे और न नियम। उस स्थिति को 'प्राकृतिक अवस्था' या 'प्रकृति की स्थिति' (State of Nature) कहा गया है। कुछ लेखकों का मत है कि

सिद्धान्त का सार

इस दशा में समाज नाम की भी कोई संस्था नहीं थी। मानव जीवन केवल प्रकृति के बनाये हुए नियमों द्वारा नियंत्रित होता था। ये नियम लिखित या स्पष्टरूप से निर्धारित नहीं थे। प्रकृति की इस स्थिति का वर्णन विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ का मत है कि इस स्थिति में जीवन बड़ा सुखी था और कुछ का विचार है कि इसमें जीवन असहनीय था। कुछ समय बाद मनुष्यों ने इस प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर एक राजनीतिक संस्था बनाई, जो पारस्परिक स्वार्थपरायणता से उनकी रक्षा कर सके। इस सुरक्षा को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना पड़ा। अब प्रकृति के नियमों के बदले उसका जीवन मनुष्य के बनाये हुए नियमों से नियंत्रित होने लगा। प्राकृतिक नियमों की किसी लेखक ने स्पष्ट रूप-रेखा नहीं दी है। परन्तु मनुष्य के बनाये हुए नियम स्पष्ट थे। तात्पर्य यह है कि मनुष्यों ने जान-बूझकर स्वेच्छा से एक समझौता के द्वारा राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

जैसा कि हम कह चुके हैं कि समझौता के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि समझौता द्वारा केवल एक सभ्य या नागरिक समाज (Civil society) की स्थापना हुई। कुछ अन्य लोगों का मत है कि इस समझौते का एक अंग और था जिसके द्वारा शासकों और शासितों में एक समझौता हुआ और एक सरकार विशेष की स्थापना हुई। पहले समझौते को सामाजिक समझौता कहते हैं और दूसरे को राजनीतिक या शासन सम्बन्धी समझौता। इस सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि कुछ विद्वान इस समझौते को एक ऐतिहासिक तथ्य या सत्य मानते हैं और कुछ इसे इतिहास की एक कल्पना-मात्र मानते हैं, जिसमें एक दार्शनिक सत्य निहित है। उदाहरण के लिये लॉक इसे एक ऐतिहासिक सत्य मानता है। लेकिन कॉन्ट इसे ऐतिहासिक सत्य नहीं मानता, पर उसमें वह एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचार पाता है। इस सिद्धान्त के विषय में चौथी विशेषता यह है कि विभिन्न विद्वानों ने इस सिद्धान्त का उपयोग विभिन्न प्रकार के निष्कर्ष निकालने में किया है। उदाहरण के लिये हॉब्स ने इसके आधार पर राजा की निरंकुशता को उचित ठहराया है। लॉक ने इसके आधार पर सीमित संप्रभुता या वैधानिक शासन का समर्थन किया है और रूसो ने इसी के आधार पर जनतान्त्रिक संप्रभुता का समर्थन किया है। लेकिन इसका उपयोग अधिकतर जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करने तथा शासकों की निरंकुशता कम करने के लिये ही किया गया है।

इस सिद्धान्त का इतिहास :—राजनीति विज्ञान में सामाजिक समझौता का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन ग्रीक विचारकों ने भी इस पर विचार किया है। प्राचीन ग्रीस के सोफिस्ट विचारकों का मत था कि राज्य मनुष्यों द्वारा बनाई गई एक संस्था है और मनुष्यों ने अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये उसे बनाया। उनका विचार था कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये ही मनुष्य ने राज्य का नियंत्रण तैयार किया। राज्य प्रकृति का विरोधी है। उसमें मनुष्य अपनी वास्तविक पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। राज्य की उत्पत्ति एक समझौता के आधार पर हुई।

प्राचीन ग्रीस के प्रमुख दार्शनिक प्लेटो और अरिस्टॉटल ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उनका मत था कि राज्य एक प्राकृतिक और आवश्यक संस्था है। लेकिन इन दोनों के बाद एपीक्यूरियन विचारकों ने समझौता सिद्धान्त का समर्थन किया। उनका विचार था कि राज्य मनुष्य की स्वार्थ-परायणता पर आधारित था। मनुष्य के वैयक्तिक स्वार्थ पर उसके सामाजिक और क़ानूनी सम्बन्ध स्थिर होते हैं। मनुष्य क़ानून का पालन इसलिये करता है जिससे अन्य लोगों की हिंसात्मक प्रवृत्तियों से उसकी रक्षा हो सके। एपीक्यूरियन विचारकों के समकालीन स्टोयिक (Stoics) विचारक थे। पर वे एपीक्यूरियन विचारधारा के विरोधी थे। उन्होंने प्राकृतिक नियमों का प्रतिपादन और समर्थन किया।

ग्रीस दर्शन के बाद हम रोम देश की विचारधारा में भी इस सिद्धान्त की चर्चा पाते हैं। रोमन क़ानूनशास्त्र (Roman Law) में सामाजिक समझौता की चर्चा नहीं है। यह स्वीकार किया गया है कि राजनीतिक सत्ता जनता में निवास करती है और उसके बाद जनता और सरकार में एक समझौता हुआ। एक बार जब जनता ने सरकारी कर्मचारियों को शासन-शक्ति दे दी तो फिर उन्हें उस शक्ति को वापिस लेने का अधिकार न रहा। इसका अर्थ यह हुआ कि जनता को क्रान्ति करने का कोई अधिकार न था। इसी के आधार पर रोम के सम्राटों की निरंकुशता उचित ठहराई गई और इसी आधार पर मध्ययुग की सामन्तशाही भी उचित ठहराई गई। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रोमन क़ानून कुछ नहीं कहता। वह केवल राजनीतिक समझौता की चर्चा करता है।

वास्तव में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का महत्त्व मध्ययुग के बाद ही बढ़ा। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक यह सर्वमान्य था कि मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के कारण ही समाज की रचना हुई। इसलिये सामाजिक समझौता की ओर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आलथूसियस

पहला लेखक था जिसने इस बात पर ज़ोर दिया कि सरकार सम्बन्धी समझौता होने के पहले एक सामाजिक समझौता हुआ। इसके बाद ग्रोशियस और प्यूफेन्डार्फ ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इंगलैण्ड में सोलहवीं शताब्दी के अन्त में रिचार्ड हुकर ने सामाजिक समझौता का समर्थन किया। इस सिद्धांत का सबसे अधिक प्रचार तथा समर्थन हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा हुआ।[1] रूसो के बाद इस सिद्धान्त का प्रभाव गिरने लगा और धीरे-धीरे लोप हो गया। रूसो के बाद कॉन्ट तथा उसके मतानुयायी फिश्टे ने इस सिद्धान्त का उपयोग किया है। रूसो के हाथ में पड़कर ही यह सिद्धान्त सबसे अधिक प्रभावशाली हुआ। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति तथा अमेरिका के स्वातन्त्र्य संघर्ष में इस सिद्धान्त के प्रभाव स्पष्ट थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में समझौता सिद्धान्त का प्रभाव नष्ट हो गया। यह वैज्ञानिक उदय का युग था। प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक अध्ययन ज़ोर पकड़ रहा था, अतएव अब राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में भी ऐतिहासिक सिद्धान्त ने ज़ोर पकड़ा। अब यह माना जाने लगा कि राज्य का ऐतिहासिक विकास हुआ है। फ्रान्स के विचारक मॉन्टेसक्यू ने ऐतिहासिक सिद्धान्त पर बहुत ज़ोर दिया। इसी समय डारविन तथा उसके अनुयायी विकासवाद के सिद्धान्त का बड़ा ज़ोरदार प्रतिपादन कर रहे थे, अतएव विकासवाद ने भी राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त को महत्त्व दिया।

समझौता सिद्धान्त की आलोचना :—सामाजिक समझौता की आलोचना तीन दृष्टियों से की गई है—ऐतिहासिक, क़ानूनी और तार्किक या दार्शनिक।

यदि इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो हमें इस सिद्धान्त में कोई तत्त्व नहीं दिखाई देता। इतिहास में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जिन लोगों को राजनीतिक संगठन का कोई अनुभव नहीं था, उन लोगों ने एक साथ बैठकर एक समझौता किस प्रकार किया। आदि मानव के दिमाग़ में इस प्रकार के समझौते के विचार आना असम्भव है। प्रारम्भिक काल में या प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य समूह या झुंडों के रूप में रहता था। उसमें किसी प्रकार की राजनीतिक चेतना नहीं थी। हमें इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि उस समय और उस अवस्था में लोगों ने एक साथ बैठकर एक सामाजिक समझौता किया हो। इस प्रकार का समझौता उन्हीं लोगों में सम्भव है, जिन्हें राजनीति का कुछ पूर्व ज्ञान हो। सन् १६२० में मेफ्लावर समझौता (Mayflower Compact of 1620) और सन् १६३६ के दैवी समझौता (Providence

१ इस सम्बन्ध में इन तीनों लेखकों के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव उनका अध्ययन अगले अध्याय में अलग से किया गया है।

Agreement of 1636) इस प्रकार के सामाजिक या राजनीतिक समझौता के उदाहरण हैं। लेकिन हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इन समझौतों को करनेवालों को राजनीति का पूर्व ज्ञान था। ये लोग किसी 'प्राकृतिक अवस्था' को छोड़ने के लिये ये समझौता नहीं कर रहे थे। उन्हें राजनीतिक संस्थाओं और संगठनों का ज्ञान था। वे केवल एक देश की संस्थाएँ दूसरे देश में स्थापित कर रहे थे। राजनीतिक समझौतों के इतिहास में हमें जो उदाहरण मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि वे सभ्य लोगों द्वारा किये गये थे। असभ्य लोगों द्वारा किये गये राजनीतिक या सामाजिक समझौता के उदाहरण हमें कहीं नहीं मिलते। जिसमें सामाजिक समझौता तो कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि जिस प्रकार के समझौते का वर्णन किया गया है, वह केवल उन लोगों में हो सकता है, जो व्यक्तिगत रूप में बराबर हों और स्वेच्छापूर्वक निर्णय कर सकें। परन्तु इतिहास का अध्ययन हमें यह बतलाता है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य समाज कई समूहों में बँटा था। एक समूह में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता था। व्यक्तिगत अधिकारों का मूल्य नहीं था। अधिकारों और कर्त्तव्यों का रूप सामूहिक था। सम्पत्ति भी सामूहिक थी। समूह या समाज की इकाई कुटुम्ब था और क़ानून प्रथाओं के रूप में थे। ऐसी परिस्थितियों में सब व्यक्ति बराबरी से बैठकर स्वेच्छापूर्वक कोई समझौता एक दूसरे से नहीं कर सकते थे।

यदि तर्क के लिये हम यह मान भी लें कि आदि मानव में इतनी सामाजिक और राजनीतिक चेतना थी कि उसने इस प्रकार का समझौता किया तो प्रश्न यह उठता था कि उस समझौता का पालन कराने के लिये शक्ति क्या थी। इस प्रकार के किसी समझौते का पालन कराने के लिये उसके पीछे कोई राजनीतिक शक्ति अवश्य होनी चाहिये। लेकिन समझौता सिद्धान्त में हम देखते हैं कि समझौता सिद्धान्त के फलस्वरूप राज्य की स्थापना हुई है। इस सिद्धान्त का पालन करानेवाली कोई शक्ति नहीं है। टी० एच० ग्रीन का मत है कि इस प्रकार का समझौता मान्य नहीं हो सकता। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि बुनियादी समझौता ही नाजायज है तो उसके आधार पर और उसके बाद किये गये अन्य सब समझौते नाजायज या अमान्य हैं। इसलिये इन समझौतों से जिन अधिकारों का निर्णय हुआ है उन्हें कोई भी क़ानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ लोगों का मत यह भी है कि यदि कुछ लोगों ने मिलकर समझौता किया तो उन्हीं के साथ वह समाप्त भी हो जाना चाहिये। उनकी सन्तान और आगे की पीढ़ियाँ उसे मानने के लिये बाध्य नहीं हैं। नयी पीढ़ियों को नया समझौता करना चाहिये। तब तो प्रत्येक पीढ़ी में राज्य की समाप्ति

होगी और नया राज्य बनाना पड़ेगा। लॉक ने इस आपत्ति का उत्तर इस प्रकार दिया है कि राज्य में रहने के कारण भावी पीढ़ियाँ भी प्रारम्भिक समझौते को मानने के लिये बाध्य हैं। लेकिन इसके जवाब में आलोचकों का कहना है कि यह उत्तर तो वास्तविक प्रश्न से बचने का एक उपाय मात्र है।

तार्किक या दार्शनिक दृष्टि से भी इस सिद्धान्त में कई दोष दिखाकर इसे अमान्य ठहराया गया है। इन आलोचनाओं पर भी हमें विचार करना चाहिये। इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि व्यक्ति और राज्य में जो सम्बन्ध है, वह स्वेच्छापूर्वक किया गया है। यह बात सिद्ध करने में आसान नहीं है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक कुटुम्ब का सदस्य होता है, उसी प्रकार वह एक राज्य का भी सदस्य होता है। जब कोई बच्चा किसी कुटुम्ब में पैदा होता है और अपने माता-पिता की आज्ञा-पालन करता है तो वह स्वेच्छापूर्वक ऐसा नहीं करता। न वह अपने माता-पिता के साथ किसी प्रकार का समझौता करता है। इसी प्रकार जब हम किसी राज्य में पैदा होते हैं तो स्वेच्छापूर्वक यह निर्णय नहीं करते कि हम किस राज्य में पैदा होंगे। यदि हम अपनी नागरिकता बदलकर किसी दूसरे राज्य में रहने लगते हैं तो भी राज्य तो हमसे नहीं छूटता। तात्पर्य यह है कि राज्य मनुष्य का बनाया हुआ कोई खिलौना नहीं है। उसकी सदस्यता भी मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है, राज्य कोई कम्पनी या क्लब नहीं है कि जब चाहे तब उसका कोई सदस्य उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले। मनुष्य के राज्य के प्रति जो कर्त्तव्य हैं वे किसी समझौते पर आधारित नहीं हैं। यदि राज्य के लिये प्रत्येक व्यक्ति की स्वेच्छापूर्ण सहमति या अनुमति की आवश्यकता पड़े तो राज्य का अस्तित्व ही असम्भव हो जाय। ऐसी शायद ही कोई बात हो जिस पर किसी समाज या राज्य के लोग एकमत हों। इस आलोचना से बचने के लिये समझौता सिद्धान्त के समर्थकों का तर्क यह है कि केवल प्रारम्भिक समझौता के लिये सर्वसम्मति आवश्यक है। उसके बाद राज्य का काम साधारण बहुमत से चल जायगा। यह दलील तर्कसंगत नहीं है। जैसा कि एडमण्ड बर्क ने लिखा है कि राज्य की सदस्यता किसी व्यापार में लाभ कमाने के लिये नहीं है। वह इच्छापूर्वक नहीं त्यागी जा सकती। वह सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ सदस्यता है, जिसके द्वारा मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। इसके उद्देश्य कई पीढ़ियों में प्राप्त होते हैं। यह सदस्यता वर्तमान और भावी पीढ़ियों में सम्बन्ध स्थापित करती है। गारनर का भी मत है कि राज्य के प्रति मनुष्य के कर्त्तव्य किसी समझौता या सम्मति पर निर्भर नहीं करते, बल्कि समाज के व्यापक स्वार्थ और आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं। राज्य के प्रति मनुष्य की श्रद्धा का आधार राज्य की उपयोगिता होती है।

इस सिद्धान्त की एक आलोचना यह है कि इस सम्बन्ध में प्राकृतिक अवस्था और प्रकृति के नियमों का जो चित्रण किया गया है, वह बिलकुल तर्कसंगत नहीं है। प्रकृति की स्थिति और प्रकृति के नियम एक कल्पना मात्र हैं। इसमें यह मान लिया गया है कि राज्य की स्थापना के पहले जो कुछ था वह सब प्राकृतिक था। और राज्य की स्थापना के बाद में जो कुछ हुआ वह सब अप्राकृतिक है। यहाँ तक कि राज्य की स्थापना भी अप्राकृतिक है। इस प्रकार इतिहास को दो खण्डों में विभक्त कर देना उचित नहीं है। मनुष्य और राज्य का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। मनुष्य प्रकृति का एक अंग है और उसके विकास की पराकाष्ठा राज्य में प्रकट हुई है। राज्य का निर्माण किसी स्थूल क्रिया द्वारा एकबारगी नहीं हुआ है। वह तो क्रमशः मनुष्य की बुद्धि द्वारा विकसित हुआ है। जैसा कि गिलक्राइस्ट ने लिखा है, मनुष्यों ने बैठकर सौदा करके कोई समझौता नहीं किया है। इस प्रकार का समझौता तो उनकी बुद्धि और प्रकृति में निहित है।

टी० एच० ग्रीन का मत है कि इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि समाज की अवहेलना करके मनुष्य के अधिकार और कर्त्तव्यों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। असल में अधिकारों और कर्त्तव्यों का महत्त्व उतना ही है जितना कि समाज ने उन्हें दिया है। सामाजिक अवस्था के पहले जो अधिकार थे, वे वास्तव में अधिकार नहीं थे, बल्कि डंडा का बल था। अधिकार वास्तव में वही हैं, जिन्हें समाज माने। जब समाज ही नहीं तो अधिकार कहाँ ?

ब्लुंशली का कथन है कि सामाजिक समझौता का सिद्धान्त बहुत ही खतरनाक सिद्धान्त है, क्योंकि वह राज्य तथा उसकी संस्थाओं का निर्माण कुछ व्यक्तियों की इच्छा पर छोड़ देता है। इसलिये यह सिद्धान्त अराजकता की ओर ले जा सकता है। यह बात बिलकुल तर्कसंगत नहीं है कि थोड़े से लोगों ने मिलकर राज्य की स्थापना अपनी इच्छानुसार कर ली। यह कहना ग़लत है कि एक कल्पित प्रकृति की अवस्था ही स्वाभाविक थी और हमारा आधुनिक समाज अस्वाभाविक है।

आज सामाजिक समझौता सिद्धान्त को न कोई मान्यता प्राप्त है और न महत्त्व। लेकिन अपने समय में इसने मानव-समाज का बड़ा कल्याण किया। इस सिद्धान्त ने इस बात पर ज़ोर दिया कि शासन का आधार केवल मनुष्यों की स्वीकृति ही है। इससे प्रजातन्त्र की स्थापना में बड़ी सहायता मिली। इसने मनुष्यों को यह सोचने की शक्ति दी कि अपनी इच्छानुसार वे शासन का निर्माण करने को स्वतन्त्र हैं। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यही है कि इसने इस बात

पर जोर दिया कि राजनीतिक कर्त्तव्यों का आधार बल-प्रयोग नहीं बल्कि स्वेच्छा है।

उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की मान्यता समाप्त हो गयी। क्योंकि धीरे-धीरे लोगों को यह विश्वास हो गया कि इतिहास और तर्क के आधार पर इसे किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब राजनीति विज्ञान में ऐतिहासिक विचारधारा की प्रगति हुई तो यह सिद्धान्त समाप्त हो गया। मॉनटेसक्यू ने इस सिद्धान्त की बड़ी कड़ी आलोचना करके उसे एकदम त्याज्य बतलाया और उसने अपने अध्ययन का आधार ऐतिहासिक सामग्री बनाई। सन् १७४८ में उसका 'क़ानूनों की आत्मा' (Spirit of the Laws) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ और उसने राजनीतिक विचारधारा की दिशा ही बदल दी। इंगलैण्ड में बर्क और ऑस्टिन ने भी अपने विचार ऐतिहासिक आधारों पर प्रकट किये। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जीव विज्ञान (Biology) ने राजनीति विज्ञान पर अपना प्रभाव डाला। इस समय डारविन का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राणियों की उत्पत्ति' (Origin of species) प्रकाशित हुआ। इसमें उसने विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके बाद राजनीति विज्ञान ही नहीं बल्कि सब विषय विकासवाद के आधार पर अध्ययन किये जाने लगे।

लेकिन जैसा कि हम कह चुके हैं, इस सिद्धान्त ने कुछ उपयोगी कार्य किये। एक तो इसने प्रजातन्त्र की स्थापना में सहायता की और दूसरे इसने दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को खतम कर दिया। समझौता सिद्धान्त ने इस बात पर जोर दिया कि यह शासक और शासितों के अधिक पारस्परिक अधिकारों और कर्त्तव्यों पर ही आधारित हैं। शासक जब प्रजा को कुछ अधिकार देता है तो प्रजा भी अपने कुछ कर्त्तव्य स्वीकार करती है। जब शासक संरक्षण देता है तो प्रजा आज्ञा-पालन करती है। इस आधार पर यह मान्यता प्रचलित हुई कि जो राजा प्रजा से अपनी सत्ता प्राप्त करता है, वह प्रजा के प्रति जिम्मेदार भी है। राज्याभिषेक के समय एक प्रकार से राजा और प्रजा में एक समझौता होता है और यदि राजा उस समझौते को भंग करता है, तो प्रजा उसे पदच्युत भी कर सकती है।

व्यावहारिक राजनीति में भी समझौता सिद्धान्त ने बड़ा प्रभाव डाला। निरंकुश राजाओं के अधिकारों को सीमित करने में इस सिद्धान्त ने बड़ी सहायता की। इसके आधार पर इस बात पर जोर दिया गया कि प्रजा के प्रति राजाओं के भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं। प्रजा के जान और माल की रक्षा करना राजा का धर्म है। इसी के आधार पर सन् १६८९ में इंगलैण्ड की जनता ने राजा जेम्स द्वितीय को गद्दी से उतार दिया। रूसो के 'सामाजिक समझौता'

(Social Contract) नामक ग्रन्थ ने व्यावहारिक राजनीति पर बहुत अधिक प्रभाव डाला। फ्रान्स और अमेरिका की राज्यक्रान्तियों का एक कारण इस ग्रन्थ का प्रभाव भी था। अमेरिका के लोगों ने सन् १७७६ में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा इसी के आधार पर की।[1] सन् १७८९ में फ्रान्स की राष्ट्रीय सभा (French National Assembly) ने मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों का एक घोषणापत्र (Declaration of the Rights of Man and of Citizen) तैयार किया। उस घोषणापत्र में सामाजिक समझौता सिद्धान्त कूट-कूट कर भरा था। व्यक्ति के अधिकारों और जनतन्त्रात्मक संप्रभुता पर बहुत अधिक ज़ोर दिया गया था। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की मशाल इसी सिद्धान्त ने जलायी। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का प्रभाव नीदरलेण्ड, इटली, स्पेन आदि देशों पर भी पड़ा और वहाँ भी निरंकुश राजसत्ता समाप्त हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त ने कई देशों में राज्य-क्रान्तियाँ कराईं! संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ शासन के निर्माण में भी इस सिद्धान्त ने कुछ प्रभाव डाला। स्वतन्त्र इकाइयों ने अपने अधिकार संघ शासन को सौंप दिये, जिससे अधिकाधिक मात्रा में सुरक्षा और सुख संवर्द्धन प्राप्त हो सके।

[२]

हॉब्स, लॉक और रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी विचार

(The Social Contract Theory of Hobbes, Locke and Rousseau)

राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि समझौता सिद्धान्त के सम्बन्ध में हॉब्स, लॉक और रूसो के सिद्धान्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। इसलिये हम इन विद्वानों के विचारों का अध्ययन पृथक् रूप से करेंगे।

टॉमस हॉब्स—(१५८८-१६७९)—इनका जन्म इंगलैण्ड में सन् १५८८ में ब्रिटेन के मेलमेसबरी नामक एक साधारण नगर में हुआ था। कहा जाता

---

१ "That all men are created equal; that they are endowed by their Creator with certain unalienable rights......that to secure these rights, governments are instituted among men, deriving their just powers from the consent of the governed; that whenever any form of government becomes destructive of these ends, it is the right of the people to alter or abolish it, and to institute a new government."

है उसका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब इङ्गलैण्ड युद्ध के भय से त्रस्त था और उसकी माता ने भी इसी भय से आतंकित होकर अवधि से पहले ही इस बालक को जन्म दिया था। कहा जाता है कि भय हॉब्स की प्रकृति में जन्म भर समाया रहा और उसके विचारों पर भय की छाप स्पष्ट है। उसी के जीवन काल में ब्रिटेन का गृहयुद्ध (१६४२-४६) भी हुआ। अपनी शिक्षा पूरी करके हॉब्स एक अमीर घराने में अध्यापक हो गया। उसने योरोप का भ्रमण करके काफ़ी अनुभव प्राप्त किया। वह जीवनभर गणित और दर्शन का विद्यार्थी रहा। उसने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें से राजनीति सम्बन्धी तीन प्रसिद्ध हैं—यथा एलीमेंट्स ऑफ़ लॉ (Elements of Law—१६४०) डी सिवे (De/Cive १६४३) लेवायथन (Leviathan १६५१)।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त का हॉब्स सर्वप्रथम दार्शनिक है। उसने प्रकृति की अवस्था का जो चित्रण किया है, उसे असहनीय बतलाया है। उसका मत है कि उस अवस्था में मनुष्य का जीवन निरन्तर संघर्षपूर्ण और असहनीय था। मनुष्य एक दूसरे के दुश्मन थे, जिससे निरन्तर कलह और संघर्ष होते रहते थे। मनुष्यों में स्वार्थपरायणता इतनी अधिक थी कि उससे जीवन एकाकी, निस्सार, असह्य, पाशविक और अल्प ("Solitary, poor, nasty, brutish and short") होता था। मनुष्य आराम और भोग चाहता है और इसके लिये वह दूसरों पर अपना आधिपत्य चाहता है। लेकिन ऐसा होने नहीं पाता, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों की बौद्धिक और शारीरिक शक्तियाँ समान हैं। इसलिये मनुष्यों को हमेशा एक दूसरे का डर लगा रहता है। इसी कारण हमेशा मनुष्यों में संघर्ष होता रहता है। संघर्ष का अर्थ यहाँ युद्ध से नहीं है, बल्कि निरंतर विरोध से है। हमेशा एक कलह का वातावरण बना रहता है। ऐसे कामों को रोकने के लिये कोई क़ानून नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई उद्योग नहीं हो सकता। हॉब्स का मत है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' प्राकृतिक अवस्था का एक मात्र क़ानून है। न किसी प्रकार की नैतिकता है और न किसी प्रकार के कर्त्तव्यों का ज्ञान है। ये बातें तभी सम्भव हो सकती हैं, जब शासन और क़ानून की सत्ता स्थापित हो। जब तक ये दोनों बातें न हों, तब तक सब काम समान-रूप से अच्छे और बुरे हैं। प्राकृतिक अवस्था में एकमात्र अधिकार यही है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन सुरक्षित बनाये रखने की स्वतन्त्रता है।

इस परिस्थिति से ऊब कर लोगों ने एक समझौता किया और एक अनुबन्ध मानने को तैयार हुए। इसे सामाजिक समझौता या अनुबन्ध (Social Contract) कहते हैं। हॉब्स के मतानुसार केवल एक सामाजिक समझौता

हुआ है। प्रकृति की स्थिति को खतम करने के लिये लोगों ने आपस में एक समझौता किया। यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह समझौता प्रजा और राजा के बीच में नहीं था, बल्कि आपस में केवल प्रजा के बीच में था, जिसके अनुसार उसने एक शासक बनाने का निश्चय किया। इस समझौते का रुख बहुत कुछ इस प्रकार था कि प्रत्येक मनुष्य अपने अन्य साथियों से कहता है कि यदि तुममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने शासन के अधिकार अमुक व्यक्ति या अमुक सभा को सौंपने को तैयार हो तो मैं भी ऐसा करने को तैयार हूँ। इस प्रकार लोगों ने आपस में एक समझौता करके अपने शासन के सब अधिकार एक शासक को सौंप दिये। शासक ने किसी प्रकार की शर्त न मानी। अर्थात् उसे किसी प्रकार की शर्त मानने को बाध्य नहीं किया गया। क्योंकि समझौता के फलस्वरूप शासक का पद बना। शासक निरंकुश है। एक बार जब प्रजाजनों ने शासक को अपने अधिकार सौंप दिये तो फिर वे उन्हें वापिस नहीं ले सकते। इसलिये लोगों को क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि जिस समझौता द्वारा समाज की स्थापना हुई, उसी के द्वारा सरकार की भी स्थापना हुई। हॉब्स राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं मानता। इस सिद्धान्त में एक त्रुटि यह है कि यदि सरकार समाप्त हो जाय तो राज्य भी समाप्त हो जायगा और समाज फिर से उसी प्रकृति की अवस्था में पहुँच जायगा। इस त्रुटि को लॉक ने पहिचाना, इसीलिये उसने अपने सिद्धान्त में दो समझौतों को स्थान दिया है।

इस समझौता द्वारा जो शासक नियुक्त होगा, उसकी संप्रभुता या सत्ता (Sovereignty) भी असीमित और निरंकुश होगी। उसमें सब व्यक्तियों की इच्छा सम्मिलित है। एक उसकी इच्छा ही सब व्यक्तियों की इच्छा है। उस एक इच्छा के अनुसार वह समाज का शासन करेगा। समझौता की शर्तों के अनुसार अनेक व्यक्तियों की अनेक इच्छाओं के स्थान पर उस एक व्यक्ति की इच्छा स्थापित हो जाती है। उसकी इच्छा ही सब व्यक्तियों की इच्छा हो जाती है। उसकी इच्छा सबकी इच्छा की प्रतिनिधि हो जाती है। इसलिये राजसत्ताधारी जो कुछ भी करता है, वह एक प्रतिनिधि के रूप में करता है। इसी एक उपाय द्वारा समाज एक साथ रह सकता है। अन्यथा वह तितर-बितर हो जायगा। इसका तात्पर्य यह है कि जिसके हाथ में भी संप्रभुता या राजसत्ता रहे वह पूर्ण या निरंकुश, अविभाज्य और सन्निहित (absolute, indivisible and inalienable) होती है। जब ऐसा सत्ताधारी प्राप्त हो जाता है, तब समाज की उत्पत्ति होती है। संसार में यह राजसत्ता या संप्रभुता ही सर्वोपरि

शक्ति होती है। सत्ताधारी में ही समाज का मत होता है। सत्ताधारी एक भी हो सकता है और अनेक भी। पर हॉब्स एक सत्ताधारी ही पसन्द करता है। इसलिये हॉब्स ने राज्यवंश के पक्ष में अपना मत दिया है। इसके उसने तीन लाभ बतलाये हैं। एक तो इस बात की बड़ी भारी सम्भावना है कि जो राजा के अपने निजी स्वार्थ होंगे वे उसकी प्रजा के व्यापक स्वार्थों के समान होंगे। अर्थात् दोनों के स्वार्थों में समानता होगी। दूसरे, अन्य शासन की प्रणालियों की अपेक्षा एक राजतन्त्र अधिक अच्छी तरह काम करता है। तीसरे, एक राजा के आचार-विचार प्रायः हमेशा वही रहेंगे। उनमें जल्दी-जल्दी परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है। इन तर्कों में सत्य की कुछ मात्रा तो अवश्य है, पर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हॉब्स का वास्तविक उद्देश्य राजा की निरंकुशता का समर्थन करना था। हॉब्स का मत है कि राजा सबसे बड़ा क़ानून निर्माता है। उसके इस अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता। वह अपनी प्रजा के प्रति अन्याय कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह उसका प्रतिनिधि है। सम्भव है कि कोई नैतिक ग़लती करे लेकिन वह कोई क़ानूनी अन्याय नहीं कर सकता। अपने कार्यों के लिये वह केवल ईश्वर के प्रति जिम्मेदार है। दूसरी महत्त्व की बात हॉब्स यह कहता है कि चूँकि राजा स्वयं क़ानून बनाता है, इसलिये वह क़ानून से परे है, वह किसी प्रकार के क़ानूनी बन्धन में नहीं पड़ सकता। वह सबसे बड़ा न्यायकर्त्ता है। वह सेनाधिपति है।

एक बात ध्यान में रखने की यह है कि हॉब्स ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है। उसके लिये जो वास्तविक सरकार (de facto) है, वही क़ानूनी (de jure) सरकार भी है। लेकिन लॉक और रूसो ने इन दोनों प्रकार की सरकारों में भेद माना है। हॉब्स का मत है कि सरकार का विघटन होने से राज्य का भी विघटन हो जाता है और हम प्राकृतिक अवस्था की अराजकता में पहुँच जाते हैं। हॉब्स सरकार को शासन की पूर्ण शक्तियाँ दे देता है, क्योंकि वही तो वास्तविक सत्ताधारी और शासक है। जहाँ तक व्यक्तियों और उनके अधिकारों का प्रश्न है, हॉब्स व्यक्तियों के लिये केवल वही अधिकार स्वीकार करता है, जो उन्हें क़ानून देता है। अर्थात् प्रजा को केवल उतनी ही स्वतन्त्रता मिलेगी, जितनी शासक उन्हें देता है। हॉब्स हर तरह से शासक की निरंकुशता का समर्थन करने का प्रयत्न करता है।

लॉक (Locke):—हॉब्स के बाद जॉन लॉक (१६३२-१७०४) समझौता सिद्धान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। उसके और हॉब्स के विचारों में बहुत अन्तर है। मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करता था, वहाँ लॉक केवल सीमित राजतन्त्र का समर्थन करता था।

जान लॉक का जन्म इंगलैण्ड में एक मध्यम वर्ग के कुटुम्ब में हुआ था। उसका पिता प्युरिटन सम्प्रदाय का अनुयायी थी। सन् १६४२-४९ के गृह-युद्ध में पार्लियामेंट की सेना का एक पदाधिकारी हो गया था। जॉन लॉक का पालन-पोषण एक उदार वातावरण में हुआ। प्रसिद्ध ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से उसने एम०ए०पास किया और वहीं वह अध्यापक भी हो गया। कुछ समय बाद वह लॉर्ड शेफ्टस्बरी के सम्पर्क में आया, जो ह्विग या उदार दल के नेता थे। इस सम्पर्क से उसे राजनीति का अच्छा ज्ञान हो गया। क्षय रोग से पीड़ित होने के कारण कुछ समय तक उसे फ्रान्स में भी रहना पड़ा, जहाँ उसने फ्रान्स की तत्कालीन राजनीति का अध्ययन किया। जब वह इंगलैण्ड लौटा तो लार्ड शेफ्ट्सबरी के सम्पर्क के कारण अपने लिये भी राजनीतिक वातावरण विपरीत और संकटपूर्ण पाया। इसलिये वह हॉलैण्ड चला गया। यहाँ उसने राजनीति सम्बन्धी कुछ पुस्तकें लिखीं। सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के बाद वह फिर इंगलैण्ड लौटा और अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "शासन पर निबन्ध" (Two Treatises on Government) प्रकाशित की। वह रक्तहीन क्रान्ति का दार्शनिक कहा जाता है। रक्तहीन क्रान्ति के बाद जब चार्ल्स द्वितीय सन् १६६० में गद्दी पर बैठा तो उसे पार्लियामेण्ट का यह आदेश मानना पड़ा कि पार्लियामेण्ट की अनुमति के बिना वह कोई क़ानून नहीं बनावेगा। उसके बाद उसका छोटा भाई जेम्स द्वितीय सन् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसकी धार्मिक नीति के कारण संसद के उदार और अनुदार दोनों दल अप्रसन्न हो गये और दोनों ने मिलकर उसे गद्दी से उतार दिया और विलियम तथा मेरी को गद्दी पर बैठाया। इन्हें संसद की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इस प्रकार इंगलैण्ड में वैधानिक शासन और प्रजातन्त्र का प्रारम्भ हुआ और निरंकुश राजतन्त्र का अन्त। स्वाभाविक था कि इन सब घटनाओं का प्रभाव लॉक के राजनीतिक विचारों पर पड़ता।

लॉक का विचार है कि प्राकृतिक अवस्था एक निरन्तर संघर्ष की अवस्था नहीं थी। इस सम्बन्ध में उसके विचारों में हॉब्स से बहुत भिन्नता है। लॉक का मत है कि प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्भावना और पारस्परिक सहायता की अवस्था है। ("A state of peace, good will, mutual assistance and preservation")। एक बात नहीं भूलनी चाहिये कि यह स्थिति स्वतन्त्रता की स्थिति अवश्य है, पर उच्छृंखलता की नहीं। इस स्थिति में अधिकतर लोग प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं। ये नियम आन्तरिक नैतिकता के नियम हैं। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इन नियमों का उल्लंघन करते हैं और बाक़ी सब लोगों को कष्ट देते हैं। नतीजा यह होता है कि शान्तिप्रिय लोगों को भी इनके साथ संघर्ष करना पड़ता है। अर्थात् शान्तिभंग करनेवालों को ये दण्ड

देते हैं। लेकिन चूंकि कोई क़ानून नहीं है, कोई न्याय-पद्धति नहीं है, इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ये लोग हमेशा उचित दंड ही देंगे, इस त्रुटि को दूर करने के लिये लोग प्रकृति की अवस्था त्याग कर एक समझौता करके एक नागरिक या व्यावहारिक समाज (civil society) की स्थापना करते हैं।

आलोचकों का मत है कि लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र खींचा है, वह हॉब्स के चित्र की अपेक्षा अधिक मिथ्या है।

समझौता

हम देख चुके हैं कि हॉब्स ने केवल एक समझौता की कल्पना की है, जिसके फलस्वरूप उसने समाज, सरकार और राज्य में कोई अन्तर नहीं माना है। फल यह होता है कि यदि सरकार या शासन समाप्त होती है तो राज्य और समाज भी ख़तम हो जाते हैं। इस त्रुटि को ध्यान में रखकर लॉक ने एक के बदले दो समझौतों की कल्पना की है। एक के द्वारा समाज की स्थापना होती है और दूसरे के द्वारा सरकार की। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस समझौता द्वारा समाज की स्थापना होती है वह लोगों ने आपस में किया है और जिसके द्वारा सरकार की स्थापना होती है वह लोगों और शासक या शासकों के बीच में होता है। हॉब्स का विचार है कि केवल सरकार की स्थापना के बाद ही समाज प्रारम्भ होता है। लेकिन लॉक समाज की स्थापना पहले करता है और सरकार या शासन की बाद में। इसका एक फल यह होता है कि यदि सरकार का विघटन हो जाता है तो समाज का विघटन नहीं होता। एक सरकार के समाप्त होने पर समाज उसकी जगह दूसरी सरकार स्थापित कर लेता है। समझौता के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब लोग शासक के साथ समझौता करते हैं तो अपने सब प्राकृतिक अधिकार नहीं सौंप देते। वे अपने थोड़े से अधिकार एक शासन सत्ता को इसलिये सौंप देते हैं, जिससे उनके शेष प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रह सकें। जब शासक इन अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता तो लोग उसकी सत्ता समाप्त करके उसकी जगह दूसरा शासक नियुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लॉक केवल सीमित संप्रभुता का समर्थन करता है। उसका वास्तविक उद्देश्य सन् १६८८ की रक्तहीन-क्रान्ति का समर्थन करता है। वह इस बात को कभी नहीं भूलता। एक स्थान पर उसने लिखा है कि कर के रूप में सरकार को केवल उतना द्रव्य लेना चाहिये, जितना उसके कार्यों के लिये आवश्यक हो। जनता की सम्मति की बिना उसे एक पैसा लेने का अधिकार नहीं है।

संप्रभुता के सम्बन्ध में लॉक के विचार उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने हॉब्स के हैं। इसका कारण यह है कि लॉक को सीमित संप्रभुता का समर्थन करना था।

लॉक के समय तक संप्रभुता के सम्बन्ध में ये विचार थे कि वह सम्पूर्ण एवं निरंकुश तथा अविभाज्य थी। हॉब्स, ऑस्टिन आदि के भी यही विचार थे। लेकिन लॉक का विचार है कि संप्रभुता न तो निरंकुश है, और न अविभाज्य। वह जनता तथा लोगों के बीच में विभाजित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, लॉक ने दो समझौते माने हैं। एक जनता ने आपस में किया, जिसके द्वारा समाज की स्थापना हुई और दूसरा समाज तथा शासक के बीच में हुआ। जनता की शक्ति या संप्रभुता गुप्त रहती है। वास्तव में शासन-शक्ति का प्रयोग सरकार करती है। इंगलैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट शासन-शक्ति का प्रयोग करते हैं। जब सरकार उस शक्ति का प्रयोग जनता के हित में नहीं करती तो जनता उसे वापिस ले लेती है और उसके स्थान में दूसरी शासन-शक्ति या सरकार स्थापित करती है। अर्थात् जनता के हाथ में राजा या सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार लॉक देता है। कुछ लोगों का विचार है कि लॉक ने संप्रभुता पर क़ानूनी बन्धन तो लगा दिये हैं, पर उन्हें स्पष्ट नहीं किया है, क्योंकि उसने पार्लियामेण्ट के अधिकारों पर भी कुछ बन्धन लगाये हैं, पर वे स्पष्ट नहीं है।

सरकार के रूप के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि लॉक ने राज्य और सरकार के बीच में स्पष्ट भेद माना है। उसने क़ानूनी और वास्तविक (de jure and de facto) सत्ता में भेद माना है। उसका मत है कि सत्ताधारी लोगों को अपने मन की सरकार निर्मित करने का अधिकार है। शासन-कार्य एक नैतिक ज़िम्मेदारी है, जिसे जनता कुछ लोगों को सौंप देती है। उसका विचार है कि जनता सरकार को केवल उतने अधिकार सौंपती है, जितने वह समाज के हित में आवश्यक समझती है। लॉक ने सरकार के व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्यों में भी भेद माना है। वह कहता है कि सरकार का कार्य केवल सुरक्षा बनाये रखना नहीं है, बल्कि उसे अच्छा शासन करना चाहिये। शासकों को प्रजा के हित में शासन करना चाहिये। इस सम्बन्ध में लॉक के विचार हॉब्स से निश्चित रूप में अधिक बढ़े हुए हैं। वह सरकार को केवल जनता की स्वीकृति पर निर्भर कर देता है। लोगों ने जो अधिकार राज्य को नहीं सौंपे हैं, वे सब उनके हाथ में हैं। राज्य का मुख्य काम लोगों के जीवन, उनकी सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। लेकिन साथ ही वह लोगों के अधिकारों पर इतनी शर्तें लगा देता है कि उनमें कोई सार नहीं रह जाता।

रूसो :—हॉब्स और लॉक के बाद हम रूसो के समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करेंगे। रूसो (१७१२-१७७८) का जन्म जेनेवा नगर में एक ग़रीब घड़ीसाज़ के घर में हुआ था। उसे किसी विद्यालय में नियमित रूप से शिक्षा नहीं मिली। प्रारम्भ में कुछ प्राथमिक शिक्षा ही वह

नियमित रूप से पा सका। केवल स्वाध्याय के बल पर ही उसने विचार-शक्ति की उन्नति की। उसका प्रारम्भिक जीवन एक आवारा का जीवन था। वह कई स्थानों में रहा और तरह-तरह की नौकरियाँ कीं। बाद में वह पेरिस में आकर जम गया और वहीं उसने एक साहित्यिक और राजनीतिक विचार के रूप में ख्याति पाई। अपने जीवन में उसे योरोप के कई देशों और राज्यों में जाने का अवसर आया और उसने राजनीतिक परिस्थितियों का अवलोकन किया। सन् १७६२ में उसके 'सामाजिक समझौता' (Social Contract) नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ, जिससे उसकी राजनीतिक विचार के रूप में ख्याति हुई। रूसो का जन्म जेनेवा के स्वतन्त्र वातावरण में हुआ था। वह एक भावुक विचारक था। सामाजिक जीवन में उसे कटुता का ही अनुभव अधिक हुआ। अतः इन सबका प्रभाव उसके विचारों पर पड़ा है। जे० एम० कोहेन का मत है कि दो शताब्दियों तक योरोपीय विचारधारा पर रूसो का जितना प्रभाव पड़ा उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं।[1]

अपने राजनीतिक विचारों में रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का भरपूर उपयोग किया है। प्राकृतिक अवस्था को वह एक आदर्श स्थिति मानता है, जिसमें सिवाय आनन्द के और कुछ नहीं है। फ्रान्स की एकाडेमी के पुरस्कार के लिये उसने "विषमता पर विचार" (Discourse on Inequality of Men) नामक एक प्रबन्ध लिखा था, जो बाद में पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ। उसमें रूसो ने लिखा है कि मनुष्य असभ्य अवश्य है, पर उसका हृदय बड़ा निर्मल है। प्रकृति की अवस्था में सब मनुष्य बराबर, आत्म-निर्भर और सन्तुष्ट हैं। वे सरलता और सुख का जीवन व्यतीत करते हैं। सभ्यता का प्रारम्भ होते ही मनुष्य की समानता खतम होने लगी और उनमें विषमता का बीजारोपण हुआ। कला और विज्ञान की प्रगति ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को जन्म दिया, इससे नागरिक समाज की आवश्यकता और स्थापना हुई। इस प्रकार मनुष्यों की विषमता के कारण राज्य की स्थापना हुई और उसे हम हितकारी नहीं मान सकते, लेकिन जब उसका दूसरा ग्रन्थ, "सामाजिक समझौता" प्रकाशित हुआ तो उसने अपने विचारों में परिवर्तन किया। इसमें उसने कहा कि प्राकृतिक समाज की अपेक्षा नागरिक या सभ्य समाज में अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

१ "No one had as much influence as he on the two centuries that followed his brief burst of literary activity........ He was entirely a creature of his feelings........he contributed more than any other man to the growth of the Romantic movement" J. M. Cohen in introdrction to Rousseau's "Confessions."

उसका मत है कि सामाजिक समझौता द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता तथा असीमित अधिकार अवश्य खो देता है, लेकिन उसके बदले में नागरिक समाज में उसे नागरिक स्वतन्त्रता और निजी सम्पत्ति का अधिकार मिलता है।

रूसो ने केवल एक समझौता स्वीकार किया है। यह समझौता व्यक्तियों ने अपनी तरफ़ से अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति ने अन्य सब व्यक्तियों से सामूहिक रूप से किया है। अर्थात् क, ख, ग ने अपने व्यक्तिगत अधिकार क, ख, ग के सामहिक स्वरूप को सौंप दिये। एक बात यह है कि रूसो को समझौता की ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं है। वह यह नहीं मानता कि इतिहास के किसी काल में ऐसा समझौता हुआ भी था। वह तो केवल इसे एक सिद्धान्त के रूप में मानता था। उसका मत है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कोई व्यक्ति कुछ नहीं खोता। बल्कि समाज का एक अंग बन जाने के कारण वह लाभ में ही रहता है। क्योंकि एक नागरिक पर संकट आने से सारा समाज उसकी रक्षा करेगा। प्रत्येक व्यक्ति जब अपने को सबको सौंपता है, तो इसका मतलब यह होता है कि वास्तव में वह अपने को किसी को नहीं सौंपता, बल्कि पहले की ही तरह आजाद रहता है।

चूँकि सब व्यक्ति अपने सब प्राकृतिक अधिकार सबकी सामूहिक समन्वयात्मक इच्छा को सौंप देते हैं, इसलिये राज्य की संप्रभुता में भी बराबर और अपरित्यज्य (inalienable) भाग प्राप्त होता है। रूसो के इस सिद्धान्त में हमें जनतान्त्रिक संप्रभुता (popular sovereignty) और जनतान्त्रिक शासन के लक्षण दिखते हैं। बल्कि आधार प्राप्त होते हैं। संप्रभुता में प्रत्येक व्यक्ति को भाग प्राप्त है। इसलिये राज्य में जो भी क़ानून बनता है, उसके बनाने में प्रत्येक नागरिक का योग रहता है। साथ ही वह उस क़ानून का पालन भी करता है। इसलिये वह एक साथ प्रजा और राजा है। शासक और शासित है। हॉब्स के समान रूसो यह विश्वास करता है कि संप्रभुता निरंकुश, सर्वोपरि, सम्पूर्ण, अविभाज्य और अपरित्यज्य होती है। लेकिन जहाँ हॉब्स संप्रभुता केवल एक व्यक्ति राजा को दे देता है, वहाँ रूसो उसे पूरे समाज के विराट रूप या सामूहिक रूप को दे देता है। लॉक के समान रूसो संप्रभुता और सरकार में भेद मानता है। पर लॉक संप्रभुता को सरकार के हाथ में सौंप देता है और रूसो उसे पूरे समाज के हाथ में। रूसो संप्रभुता को पूरे समाज की व्यापक इच्छा (General will) का रूप दे देता है। रूसो कहता है कि सरकार अपनी शासन-शक्ति समाज की संप्रभुता से प्राप्त करती है, इसलिये सरकार हमेशा समाज की संप्रभुता अर्थात् व्यापक इच्छा के अधीन है।

यह व्यापक इच्छा का सिद्धान्त रूसो की राजनीति विज्ञान की सबसे बड़ी देन है। यह व्यापक इच्छा ही संप्रभुता का स्वरूप है, जो पूरे समाज में निहित है। रूसो के राजनीतिक विचारों में यह व्यापक इच्छा का विचार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यापक इच्छा के सम्बन्ध में रूसो के विचार एक दम स्पष्ट नहीं हैं। यह बात स्पष्ट नहीं है कि व्यापक इच्छा के लिये सबका एकमत होना आवश्यक है या नहीं। क्या केवल बहुमत व्यापक इच्छा प्रदर्शित कर सकता है? प्रारम्भिक समझौते के लिये जिसके द्वारा रूसो समाज स्थापित करता है, उसके लिये वह सबकी स्वीकृति आवश्यक बतलाता है। लेकिन समाज की स्थापना के बाद वह केवल व्यापक इच्छा ही आवश्यक मानता है। व्यापक इच्छा के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो मतों की संख्या, दूसरा उन मतों द्वारा प्रदर्शित समाज का व्यापक कल्याण। कभी तो वह कहता है कि व्यापक कल्याण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है; और कभी कहता है कि मतों की संख्या द्वारा ही हम उसे स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। लेकिन अन्त में हम यह निष्कर्ष निकालने के लिये वाध्य होते हैं कि रूसो के मत में व्यापक इच्छा हमेशा बहुमत द्वारा प्रदर्शित नहीं होती। कभी-कभी एक व्यक्ति का मत भी समाज का वास्तविक कल्याण प्रदर्शित कर सकता है। बहुमत कभी-कभी सामूहिक स्वार्थपरायणता का प्रतीक हो सकता है। पर व्यावहारिक राजनीति में बहुधा बहुमत ही व्यापक इच्छा का प्रतीक होगा। इस प्रकार व्यापक इच्छा का सिद्धान्त राजनीति में जनतान्त्रिक शासन को जन्म देता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह व्यापक इच्छा निर्धारित किस प्रकार होती है। रूसो का मत है कि प्रारम्भ में समाज में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक प्रश्न पर केवल अपनी दृष्टि से विचार करता है। अर्थात् वह अपनी इच्छा जाहिर करता है। लेकिन जब समाज सभ्य हो जाता है तो लोग केवल अपने स्वार्थ का विचार न करके पूरे समाज के स्वार्थ का विचार करते हैं। इस प्रकार जब लोग अपनी इच्छा का त्याग कर देते हैं तो एक व्यापक इच्छा निर्धारित हो जाती है। यह व्यापक इच्छा बनती तो सब लोगों की इच्छाओं से है। परन्तु इसमें व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता की बू नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति की उच्चतम भावनाओं की प्रतीक होती है। इसमें सच्ची नागरिकता का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रकट होता है। वाद-विवाद तथा विचार विनिमय द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-शक्ति परिवर्तित, शुद्ध और महान हो जाती है।

रूसो के मत में यही व्यापक इच्छा संप्रभुता का रूप धारण करती है। जब संप्रभुता सबके कल्याण के लिये कार्य करती है, तब वास्तव में व्यापक इच्छा ही कार्यान्वित होती है। जब तक क़ानून सबके हित में कार्य करते हैं, तब तक वे वास्तव में व्यापक इच्छा ही के अनुसार चलते हैं। स्वशासन

उसी के आधार पर, उसी के सहारे चलता है। वह व्यक्ति को स्वतन्त्र करने के लिये उसे बाध्य कर सकती है। इस व्यापक इच्छा की कुछ विशेषताएँ होती हैं। पहली विशेषता यह है कि उसमें एकता या एकरूपता (unity) होती है। वह परस्पर विरोधी नहीं होती। क्योंकि वह मनुष्य की तार्किक बुद्धि की उपज है। यदि उसमें कहीं अनेकता का आभास होता भी है तो उस अनेकता में भी हम एकता पायेंगे। जैसे कि हम किसी राज्य के नागरिकों में बहुत-सी बातें एक समान देखते हैं। जिसे हम राष्ट्रीय एकता कहते हैं, वह वास्तव में इसी व्यापक इच्छा का प्रमाण है। इसमें दूसरी विशेषता यह है कि यह स्थायी (permanent) होती है। राजनीतिज्ञों, राजसत्ताधारियों के विचारों के अनुसार यह बदलती नहीं है। जनता के अस्थायी आवेशों के साथ-साथ यह बदलती नहीं। वह किसी आन्दोलन अथवा परिस्थिति की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी होती है। उसकी जड़ लोगों के चरित्र, उनकी प्रकृति में होती है। इसकी तीसरी विशेषता यह होती है कि यह हमेशा सही होती है। कभी ग़लत नहीं होती। इसका कारण यह है कि यह हमेशा सबका कल्याण ही तो चाहती है। फिर यह ग़लत कैसे हो सकती है। इसको कार्यान्वित करनेवाले ग़लती कर सकते हैं; इससे इसमें त्रुटि दिखाई देती है। पर वास्तव में स्वयं इसमें कोई त्रुटि नहीं होती।

इस प्रकार रूसो ने व्यापक इच्छा का जो निरूपण किया है, उसकी कई विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से आलोचना की है। कुछ लोगों का मत है कि इस प्रकार की व्यापक इच्छा केवल शब्दाडम्बर है। इसमें तत्त्व कुछ नहीं है। हम इसे व्यवहार में ला ही नहीं सकते। यदि यह बहुमत द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती तो किसी भी प्रकार निर्धारित नहीं हो सकती। वास्तव में इस परिभाषा के दोनों शब्द 'व्यापक' और इच्छा' निरर्थक हैं। इस आलोचना के उत्तर में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि व्यापक इच्छा कम-से-कम एक उच्च आदर्श तो स्थापित करती है। यह बात दूसरी है कि यह आदर्श किसी राज्य में पूर्ण रूप से आज तक प्राप्त नहीं हो सका। फिर भी इसमें वास्तविकता का कुछ अंश अवश्य है। दूसरी आलोचना यह है कि इसके आधार पर पूर्ण निरंकुश शासन स्थापित हो सकता है। क्योंकि रूसो ने यह कहा है कि व्यापक इच्छा मनुष्य को स्वतन्त्र होने के लिये बाध्य कर सकती है। लेकिन साथ ही रूसो ने भी यह कहा है कि सत्ताधारी जनता पर अनावश्यक बन्धन नहीं लगा सकता। वह ऐसा करने का विचार भी नहीं कर सकता। रूसो स्वतन्त्रता की वेदी पर व्यक्ति को बलि नहीं देता। वैसे तो प्रत्येक राज्य में नागरिकों पर कुछ-न-कुछ बन्धन अवश्य रहेंगे। कुछ लोगों का मत है कि मान लिया जाय कि व्यापक इच्छा हमेशा सही

होती है। परन्तु कोई भी राज्य सर्वथा दोषमुक्त नहीं होता। वह उसका ग़लत प्रयोग कर सकता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है, कि इस व्यापक इच्छा के पवित्र आदर्श का निकटतम पालन करके ही राज्य अपने दोषों को दूर कर सकता है। यह तो एक आदर्श है और हम यह आशा करते हैं कि राज्य इसका अधिक से अधिक पालन करेगा। कुछ लोगों का मत है कि व्यापक इच्छा का सार समाज का अधिकतम कल्याण है। यह अधिकतम कल्याण क्या है? बोसांके इसका उत्तर देता है कि आत्मत्याग और स्वार्थत्याग ही सामाजिक कल्याण है।

वास्तविकता यह है कि व्यापक इच्छा का सिद्धान्त व्यावहारिक राजनीति में पथ-प्रदर्शक का काम करता है। वह हमें सिखाता है कि समाज के अधिकतम कल्याण में ही हमारा कल्याण है। हमें पहले सबका ध्यान करना चाहिये तब 'स्व' का। यह सिद्धान्त इस बात पर ज़ोर देता है कि समाज में एक आवयविक एकता होती है। वह केवल व्यक्तियों का समूह नहीं होता। राज्य में व्यक्तित्त्व, एक इच्छा-शक्ति होती है और यह व्यक्तियों की अपनी व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति से भिन्न होती है। जैसा कि लॉर्ड ने कहा है कि राज्य बनता तो व्यक्तियों से है, पर वह व्यक्तियों से कहीं अधिक पूर्ण और वृहद होता है। इसी आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि राज्य कोई कृत्रिम संस्था न होकर एक स्वाभाविक संगठन है। वह हमारे ही व्यक्तित्त्व का प्रकाश है। ऐसे राज्य में यदि कोई बात बहुमत द्वारा तय होती है, तो अल्पमत उसे अपने नैतिक बल द्वारा यथोचित प्रभावित कर सकता है। अन्त में यह सिद्धान्त कहता है कि राज्य का आधार बल-प्रयोग नहीं, स्वीकृति नहीं, बल्कि हमारी सक्रिय इच्छा है। यह इच्छा हमारी प्रकृति का एक अंश है। राज्य की व्यापक इच्छा स्वीकार करने में अपनी ही इच्छा पूरी करते हैं।

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना :—राज्य की उत्पत्ति के समझौता सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमने इन तीन प्रमुख विचारकों के मत संक्षेप में देखे हैं। इनमें हम कई समानताएँ और कई विभिन्नताएँ पाते हैं। हॉब्स की विशेषता यह है कि उसके विचार बड़े ही तर्कपूर्ण और सुव्यवस्थित हैं। उसने संप्रभुता के क़ानूनी रूप पर ही ज़ोर दिया है। राजनीतिक संप्रभुता को उसने कोई महत्त्व नहीं दिया जैसा कि आजकल के लेखक और विचारक देते हैं। जनता की इच्छा ही राजनीतिक संप्रभुता है। लेकिन हॉब्स ने यह माना है कि शासक या सत्ताधारी राजा की इच्छा ही राज्य की इच्छा है। इसमें कठिनाई यह होती है कि राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं रह जाता। राजा की मृत्यु के बाद राज्य भी समाप्त हो जाता है। फिर हॉब्स का मत है कि राजा ही जनता

का सच्चा प्रतिनिधि होता है। लेकिन इसका भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, कोई गारंटी नहीं है कि राजा हमेशा जनता के हित में ही क़ानून बनायेगा और काम करेगा। हॉब्स राजा को असीमित अधिकार दे देता है, उस पर कोई बन्धन नहीं लगाता। लेकिन अच्छे शासन के लिये राजा पर कोई बन्धन आवश्यक है। इसमें निरंकुशता रोकने के लिये कोई उपाय नहीं रह जाता। साथ ही समाज के नागरिक भी राजा की दया पर निर्भर हो जाते हैं, उनके कोई अधिकार नहीं रह जाते। लेकिन हॉब्स लोगों को अधिकार देने में डरता है। वह केवल दृढ़ शासन पर ज़ोर देता है। उसकी एकमात्र चिन्ता राज्य में शान्ति और सुरक्षा के लिये है।

लॉक के विचार उतने सुव्यवस्थित नहीं हैं, जितने कि हॉब्स के। हम कह चुके हैं कि लॉक ब्रिटेन की सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति का दार्शनिक था। उसका मुख्य विचार यह है कि सरकार का मुख्य काम लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करना है। हॉब्स केवल शान्ति और सुरक्षा पर ज़ोर देता है। लेकिन लॉक कहता है कि इसके साथ ही शासन भी अच्छा होना चाहिये। राजा को हमेशा जनता के हित में शासन करना चाहिये। राजा को केवल प्रजा के हित में शासन करना चाहिये। इसका मतलब यह है कि लॉक राजनीतिक संप्रभुता को स्वीकार करता है। गिलक्राइस्ट का मत है कि जहाँ हॉब्स केवल क़ानूनी संप्रभुता पर जोर देता है, वहाँ लॉक केवल राजनीतिक संप्रभुता पर ज़ोर देता है। लॉस्की का मत है कि लॉक ने स्वीकृति के सिद्धान्त को रांजनीति में स्थायी स्थान दे दिया।

रूसो ने हॉब्स और लॉक के सिद्धान्त की बुनियाद पर अपनी विचारधारा स्थापित की। उसने दोनों लेखकों के श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण किया है। रूसो समझौता सिद्धान्त को भी मान्यता देता है, परन्तु अपने विचारों के समर्थन में वह उसे अधिक महत्त्व नहीं देता। हॉब्स से सहमत होकर रूसो संप्रभुता को सम्पूर्ण, निरंकुश, अपरित्यज्य और अविभाज्य मानता है। लेकिन साथ ही लॉक से सहमत होकर वह यह भी स्वीकार करता है कि अच्छा शासन वही है, जो जनता का कल्याण साधन करे। इन्हीं दोनों विचारों के सामंजस्य से व्यापक इच्छा का सिद्धान्त रूसो ने प्रतिपादित किया। वह शासन पर सारी जनता का बौद्धिक नियंत्रण चाहता है। इस आधार पर रूसो ने प्रजातन्त्र के सिद्धान्त को जीवन प्रदान किया। इसी कारण राजनीति विज्ञान में रूसो की कीर्त्ति अमर है।

अध्याय ६

राज्य की उत्पत्ति (ख)

(The Origin of the State--Contd)

पिछले अध्याय में हमने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त और समझौता सिद्धान्त का अध्ययन किया है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि राज्य की उत्पत्ति बल-प्रयोग के द्वारा अर्थात् "जिसकी लाठी उसकी भैंस" के सिद्धान्त के आधार पर हुई है। कुछ विचारकों ने इसे ऐतिहासिकता का आवरण देने का भी प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि प्रारम्भ में एक शक्तिशाली व्यक्ति कई कमजोर व्यक्तियों को अपने वश में करके एक जाति का मुखिया बन जाता है। फिर वह उस जाति की सहायता से अन्य जातियों को अपने वश में करता है। इसी क्रम से राज्य और साम्राज्य की स्थापना होती है। जातियों, राज्यों और साम्राज्यों में युद्ध होते रहते हैं और इस संघर्ष में केवल शक्तिशाली राज्य और साम्राज्य ही बच पाते हैं।

बल-प्रयोग का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का उपयोग मध्ययुग के धार्मिक विचारकों ने बहुत अधिक किया। वे राज्य को धार्मिक सत्ता के अधीन करना चाहते थे। इसलिये वे राज्य को पाशविक बल की उपज बतलाते थे। उनका उद्देश्य राज्य को एक अन्यायपूर्ण संस्था बतलाना था। व्यक्तिवादी विचारकों (Individualists) ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। वे पूर्ण प्रतियोगिता का समर्थन करना चाहते थे, क्योंकि उन दिनों औद्योगिक प्रगति जोरों पर थी। उनका कहना था कि समाज में हम व्यक्तियों के बीच में प्रतियोगिता देखते हैं। जो व्यक्ति सबल होता है, वही बच रहता है, कमजोर नष्ट हो जाते हैं। साम्यवादी विचारकों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग इसके विपरीत निष्कर्षों के लिये किया है। मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन इत्यादि का मत है कि राज्य वर्ग-संघर्ष के आधार पर बना है, जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है। उनका मत है कि प्रत्येक राज्य वर्ग-संघर्ष और बल-प्रयोग द्वारा बनता है। सबल वर्ग निर्बल वर्गों का शोषण किया करते हैं, इसलिये कार्ल मार्क्स ने कहा है कि जब वर्ग-संघर्ष मिट जायगा, जब वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायगी तब राज्य की भी आवश्यकता न रहेगी। वह समाप्त हो जायगा ('The state will wither away) ।

बल के सिद्धान्त को जर्मनी में काफ़ी मान्यता प्राप्त हुई। ट्रीस्के ने लिखा है कि राज्य में आक्रमण करने और आत्मरक्षा करने की शक्ति होनी चाहिये। राज्य का पहला काम युद्ध करना और न्याय-शासन करना है। बर्नहार्डी ने लिखा है कि संघर्ष तो प्रकृति का नियम है। प्राणियों के लिये युद्ध जीवन की एक आवश्यकता है।[1] जर्मनी में युद्ध को श्रेय देने के लिये इस विचारधारा का काफ़ी प्रचार किया गया।

बल-प्रयोग के सिद्धान्त में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जाता है कि अन्त में सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति ही उन्नति और सत्ता की चोटी पर पहुँचता है। (अँगरेजी में उसे Survival of the fittest कहते हैं।) बर्नहार्डी का भी मत है कि प्रकृति में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है और समाज में भी संघर्ष के फलस्वरूप केवल सबसे उपयुक्त और शक्तिशाली व्यक्ति ही ऊपर उठते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर स्वतन्त्र प्रतियोगिता का समर्थक था। वह भी इस नियम का समर्थक था। सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ संघर्ष का भी अर्थ बदल गया है। हक्सले और मार्शल जैसे विचारकों का मत है कि संघर्ष का अर्थ परिस्थितियों पर विजय पाना है। वही व्यक्ति उपयुक्त और सबल है, जो परिस्थितियों पर विजय पाता है। परन्तु इसमें केवल शारीरिक बल की ही आवश्यकता नहीं है। बुद्धि और कौशल से भी मनुष्य परिस्थितियों पर विजय पा सकता है।

ब्लुंशली का मत है कि बल के सिद्धान्त में सत्य की मात्रा काफ़ी है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिये तथा आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिये राज्य में बल या शक्ति का होना आवश्यक है। यदि राज्य में शक्ति न हो तो उसकी आज्ञा-पालन करने की कोई भी व्यक्ति परवाह न करेगा। यह बात सत्य है कि बल के आधार पर राज्य चलता है। लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि राज्य की उत्पत्ति बल-प्रयोग के आधार पर हुई। फिर टी० एच० ग्रीन ने भी कहा है कि राज्य जब बल-प्रयोग करता है, तो क़ानून के अनुसार करता है, अर्थात् नागरिकों की स्वीकृति के बाद करता है।

एक बात विचारणीय यह है कि राज्य का आधार पाशविक बल है या नैतिक

---

१ "Might is the supreme right, and the dispute as to what is right is decided by the arbitrament of war. War gives a biological just decision, since its decisions rest on the very nature of things.—(**Gen. Von Bernhardi**)

बल। किसी-न-किसी रूप में दैवी सिद्धान्त और समझौता सिद्धान्त में भी पाशविक बल को मान्यता दी गई है। इस बात को स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि राज्य की उत्पत्ति में पाशविक बल-प्रयोग का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य रहा होगा। ओपेनहीमर और जेंक्स बल-प्रयोग के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। उनका मत है कि यह सिद्ध करना बिलकुल आसान है कि संघर्ष और युद्ध के परिणाम स्वरूप ही राज्य का जन्म होता है। मार्क्स के सहयोगी एंगिल्स ने लिखा है कि इतिहास साक्षी है कि पाशविक बल-प्रयोग हृदयहीनता के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इसलिये जहाँ यह बात स्वीकार की जा सकती है कि पाशविक बल राज्य को जन्म देता है, वहाँ यह बात भी माननी पड़ेगी कि केवल पाशविक बल के आधार पर ही राज्य स्थायी नहीं हो सकता। केवल नैतिक बल ही राज्य को स्थायी बनाता है। नैतिक बल ही अधिकारों को जन्म देता है। अकेला पाशविक बल राज्य में निरंकुशता, हिंसा और क्रान्ति कराता है। लेकिन जिस पाशविक बल के साथ नैतिक बल भी होता है, वह राज्य को मनुष्यों की श्रद्धा का पात्र बनाता है। प्रकृति की अन्य बातों और मनुष्य में यह अन्तर है कि मनुष्य एक विचारवान प्राणी है। उसको बुद्धि प्राप्त है, जो प्रकृति के अन्य अंगों को प्राप्त नहीं है। उस बुद्धि के द्वारा वह प्रकृति की निम्नस्तर की बातें छोड़कर ऊँचा उठना चाहता है। किसी हद तक पशुबल, युद्ध इत्यादि बातें मान्य हो सकती हैं। वे मनुष्य को साहस इत्यादि गुण देते हैं। लेकिन मनुष्य हमेशा उन्हें नैतिकता द्वारा सीमित और नियंत्रित करना चाहता है। नैतिक मनुष्य में यह विचार करने की शक्ति होती है कि किस परिस्थिति में बल-प्रयोग करना उचित होगा और किसमें नहीं।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

(**Historical or Evolutionary theory**)

आजकल राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त को सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है। इस सम्बन्ध में रक्त सम्बन्ध या कुटुम्ब (kinship), धर्म और राजनीतिक जागृति को सबसे अधिक मान्यता दी जाती है। अर्थात् मानव जाति के प्रारम्भ में इन बातों ने ही सामाजिक संगठन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। प्रारम्भ में रक्त सम्बन्ध या कुटुम्ब ने ही समाज संगठन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। साधारणत: एक कुटुम्ब में माता-पिता तथा उनकी सन्तान ही होती है। जब इस सन्तान की भी सन्तान होने लगती है और उनके कुटुम्ब बढ़ने लगते हैं तो रक्त-सम्बन्ध में वृद्धि और विस्तार होने लगता है। इन्हीं वंशा-

रक्त-सिद्धान्त

वलियों के आधार पर जातियाँ और राजनीतिक समाज बनते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में हमें इसके काफ़ी प्रमाण मिलते हैं। जब हम कुटुम्ब विस्तार पर ध्यान देते हैं तो इतिहास में दो प्रकार के कुटुम्ब होने का प्रमाण मिलता है—एक पैतृक कुटुम्ब (Patriarchal Family) और दूसरा मातृक कुटुम्ब (Matriarchal Family)। इन्हीं के आधार पर प्रारम्भिक समाज और राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ। इसलिये इन दोनों प्रकार के कुटुम्बों का अध्ययन भी आवश्यक है।

पैतृक कुटुम्ब का सिद्धान्त (Patriarchal Theory) :—इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक सर हेनरी मेन हुए हैं। वे कुछ वर्षों तक भारत में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी सभा के भी सदस्य थे। वे भारत-सरकार के क़ानून सचिव थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी दो पुस्तकों में किया है—"प्राचीन क़ानून" (Ancient Law) और "संस्थाओं का प्रारम्भिक इतिहास" (Early History of Institutions)। मेन का कथन है कि एक कुटुम्ब में माता-पिता और उनके बच्चे होते हैं। उस कुटुम्ब में पिता ही सत्ताधारी होता है। इन सन्तानों के जब कुटुम्ब बढ़ते हैं, तो उनमें भी पिता ही कुटुम्ब का प्रधान होता है और जो आदि कुटुम्ब का प्रधान था, वह पूरे वंश का प्रधान या रक्षक माना जाता है। जैसे कि बहुत से कुटुम्ब अपने को सूर्यवंशी कहते हैं और सूर्य को अपना आदि देवता या कुलदेवता मानते हैं। एक कुटुम्ब के जब बहुत से कुटुम्ब बन जाते हैं, तब भी प्रथम या प्रधान कुटुम्ब का मुखिया पूरी जाति का प्रधान माना जाता है। और सारी जाति में एक ही रक्त संचारित होता है। यदि इस जाति के कुछ कुटुम्ब मिलकर एक अलग जाति बना लेते हैं, तो भी प्रथम जाति की प्रधानता बनी रहती है। इस प्रकार एक जाति के आधार पर एक राज्य की स्थापना होती है। राज्य वास्तव में कुटुम्ब और जाति का ही विस्तृत रूप है। इसमें पुरुष की ही प्रधानता होती है। वंश या जाति का नाम पुरुष के नाम पर चलता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में हमें तीन प्रधान बातों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) पैतृक कुटुम्ब का आधार स्थायी विवाह और रक्त सम्बन्ध था।

(२) एक कुटुम्ब से जो बहुत से कुटुम्ब बने उनसे एक वंश या जाति बनी और उसने राज्य का रूप धारण किया।

(३) जाति में प्रधान कुटुम्ब का प्रधान ही राजसत्ताधारी होता था और मृत्यु के समय वह अपने सब अधिकार अपने उत्तराधिकारी को दे जाता था।

अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में मेन ने प्राचीन हिब्रू, ग्रीक, रोमन और भारत की आर्य जातियों के इतिहास से उदाहरण इकट्ठे किये हैं। इन जातियों में कुटुम्ब का वयोवृद्ध पुरुष ही कुटुम्ब का प्रधान होता था। भारत में भी

सम्मिलित कुटुम्ब में यही बात देखने में आती है। इन जातियों में कुटुम्ब या जाति का प्रधान ही आसानी से राजा हो जाता था।

इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त में हमें राज्य के विकास के मूल तत्त्व मिलते हैं। अरिस्टॉटल ने भी कहा है कि समाज के विकास में पिता और सन्तान के सम्बन्ध ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ लोगों का मत है कि इस सिद्धान्त ने एक जटिल समस्या को अत्यन्त सरल रूप दे दिया है। वास्तव में प्राचीन काल में भी सामाजिक संगठन इतना सरल नहीं था। इन वंशों और जातियों में भी अनेक प्रकार की गुत्थियाँ होती थीं। किसी-किसी समाज में बहु-विवाह के कारण कुटुम्ब के कई रूप हो जाते थे। फिर सब समाजों में पैतृक कुटुम्ब नहीं होते थे। कहीं-कहीं मातृक कुटुम्ब भी होते थे। इनमें माता कुटुम्ब की प्रधान होती थी और उसी के नाम से वंश और कुटुम्ब चला करते थे। मैकलीनान का मत है कि मातृ-प्रधान कुटुम्ब पितृ-प्रधान कुटुम्ब से भी अधिक पुराने थे। जेंक्स ने भी आस्ट्रेलिया, मलाया इत्यादि की प्राचीन जातियों के उदाहरण से मातृ-प्रधान कुटुम्ब की प्राचीनता का ही समर्थन किया है। दूसरी आलोचना यह है कि प्राचीन समाज में बहु-विवाह बहुत प्रचलित थे और विवाह स्थायी नहीं होते थे। अतएव पैतृक कुटुम्ब स्थायी नहीं होते थे। अन्त में यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का निरूपण नहीं करता। यह केवल कुटुम्ब और जाति का प्रारम्भिक विकास बतलाते हैं।

मातृ-प्रधान कुटुम्ब (Matriarchal Family) :—इसी सम्बन्ध में हमें मातृ-प्रधान कुटुम्ब की ओर भी ध्यान देना चाहिये। कुछ विद्वानों का मत है कि पैतृक कुटुम्ब बनने के पहले मातृक कुटुम्ब प्रचलित था। इस सिद्धान्त के समर्थक मेकलीनान, जेंक्स और मारगन हैं। इनका मत है कि प्राचीन समाज में एक पत्नीव्रत या एक विवाह प्रथा नहीं थी। बल्कि एक स्त्री के कई पति होते थे। अतः कुटुम्ब स्त्री के नाम से ही चलते थे। सर हेनरी मेन ने भी बतलाया है कि मलाबार में स्त्रियाँ ही राजगद्दी पर बैठती थीं। मातृक कुटुम्ब में चार विशेषताएँ होती थीं। एक तो विवाह सम्बन्ध स्थायी नहीं होता था। दूसरे कौटुम्बिक सम्बन्ध स्त्रियों के नाम पर चलते थे, तीसरे कुटुम्ब में स्त्री का अधिकार होता था। वही कुटुम्ब की प्रधान होती थी। इसी कारण चौथी विशेषता यह थी कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को ही प्राप्त था, यह बात स्पष्ट है कि समाज के प्रारम्भ में वैवाहिक सम्बन्ध स्थायी नहीं होते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी गन्धर्व विवाह की चर्चा है। यह विवाह सम्बन्ध अस्थायी होता था और सन्तान का नाम माता द्वारा चलता था। संसार के प्राचीन साहित्य में माता की प्रशंसा भरी पड़ी है। इससे माता का महत्त्व प्रकट

होता है। मेकआइवर का मत है कि सम्बन्ध सूत्र भले ही माता से चलता हो, परन्तु वास्तव में माता सत्ता धारण नहीं करती थी। लीकॉक का मत है कि मातृक कुटुम्ब पैतृक कुटुम्ब की अपेक्षा अधिक पुरातन है।

मातृक सिद्धान्त के आलोचकों का मत है कि जिस प्रकार पैतृक कुटुम्ब सर्वव्यापी नहीं था, उसी प्रकार मातृक कुटुम्ब भी सर्वव्यापी नहीं था। किसी जाति में एक प्रकार का कुटुम्ब प्रचलित था और किसी में दूसरे प्रकार का। जहाँ तक राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध है, हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि केवल कुटुम्ब के स्वरूप से राज्य की उत्पत्ति स्थापित नहीं हो जाती। वास्तव में इन दोनों प्रकार के कुटुम्बों के स्वरूप का सम्बन्ध समाजशास्त्र से है। इनसे हम कुटुम्ब की उत्पत्ति अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। सच बात तो यह है मानव इतिहास का प्रारम्भिक काल इतना अन्धकारमय है कि निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। सम्भव है, कहीं एक प्रकार का कुटुम्ब रहा हो, कहीं दूसरे प्रकार का। सम्भव हो, एक प्रकार के कुटुम्ब का स्थान दूसरे प्रकार के कुटुम्ब ने लिया हो। सम्भव है, एक ही मानव समूह में मातृक और पैतृक दोनों प्रकार के कुटुम्ब साथ-साथ चलते रहे हों।

विकास का सिद्धान्त :—जब हम इतिहास में कुटुम्ब की स्थिति से आगे बढ़ते हैं, तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि राज्य का विकास कालान्तर में क्रमशः हुआ है। उसका विकास, उसकी स्थापना किसी एक कारण से नहीं हुआ, किसी एक समय नहीं हुई। यह एक बड़ा ही लम्बा क्रम रहा है। किसी एक स्थान में किसी एक कारण से राज्य की नींव पड़ी, किसी दूसरे स्थान में किसी दूसरे कारण से उसकी नींव पड़ी। जिस प्रकार भाषा एकबारगी गढ़ी नहीं गई, उसका विकास क्रमशः हुआ; उसी प्रकार राज्य का विकास भी कालान्तर में क्रमशः हुआ। मनुष्य की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ बहुत धीरे-धीरे जागृत हुई होंगी और संस्थाओं का रूप उन्होंने क्रमशः लिया होगा। राज्य की उत्पत्ति के लिये किसी एक कारण को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। यही राज्य का विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त है और आज केवल इसे ही सत्य माना जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन प्रधान कारण माने जाते हैं—पहला रक्त-सम्बन्ध; दूसरा धर्म और तीसरा राजनीतिक जागृति। इन तीनों बातों पर हम एक-एक करके विचार करेंगे।

रक्त-सम्बन्ध (Kinship) :—किसी भी प्रकार के राजनीतिक संगठन के पहले सामाजिक संगठन अवश्य होता है। इस समाज में रक्त-सम्बन्ध एकता का सबसे अधिक प्रबल आधार रहा होगा। मेकआइवर कहता है कि

रक्त-सम्बन्ध से समाज बनता है और समाज से राज्य बनता है। इसलिये प्राचीन समाज में रक्त-सम्बन्ध बहुत महत्त्वपूर्ण होता था। उसके आधार पर कुटुम्बों और जातियों की एकता होती थी। भारत में प्रचलित गोत्र उसी का एक रूप है। एक बात यह भी है कि यह रक्त-सम्बन्ध हमेशा वास्तविक न रहता होगा। चार-छः पीढ़ियों के बाद इसका वास्तविक निर्धारण कठिन हो जाता होगा। लेकिन फिर भी प्रत्येक कुटुम्ब या परिवार अपने को किसी आदि कुटुम्ब या गोत्र से सम्बन्धित बतलाता होगा। इस रक्त-सम्बन्ध की एकता के बाद समाज में प्रथा, भाषा, स्वार्थों इत्यादि की एकता हुई और उनका महत्त्व बढ़ा। बाद में इसने रक्त-सम्बन्ध का महत्त्व कम भी कर दिया।

यह मानना अस्वाभाविक न होगा कि प्रारम्भ में समाज में पितृ-प्रधान कुटुम्ब ही रहे होंगे। कारण यह है कि उस समय जीवन काफ़ी संघर्षमय था। जातियाँ किसी एक स्थान में स्थायी रूप से नहीं रहती थीं। वे प्रायः भ्रमण-शील थीं। उनमें युद्ध, लड़ाई इत्यादि होती थीं। उनका आहार शिकार द्वारा मारे गये जानवर होते थे। ये सब काम पुरुष ही अधिक कर सकते थे। इससे उनका ही अधिकार चलता होगा। बाद में मनुष्यों ने जानवर पाल लिये, चमड़े, बर्तनों इत्यादि का उद्योग करने लगे तथा शिकार के हथियार इत्यादि बनाने लगे और उनमें सम्पत्ति की भावना बढ़ी। उस सम्पत्ति की रक्षा का भी प्रश्न था। इन सब बातों में पुरुष की शक्ति और सत्ता बढ़ने का ही सुयोग अधिक था। इस समाज में स्त्रियाँ पुरुषों की निजी सम्पत्ति की एक अंग के समान थीं। अर्थात् कालान्तर में विवाह सम्बन्ध शिथिल न होकर अधिक स्थायी होने लगे। इस पितृ-प्रधान समाज में पुरुष की सत्ता अधिक थी। वृक्ष की शाखाओं के समान एक जाति में से कई जातियाँ उत्पन्न हो गईं। यदि इन जातियों के अलग-अलग मुखिया थे भी तो भी वे अपनी मूल जाति के प्रधान मुखिया को ही अपना प्रभु मानते थे। यह सम्भव है कि वे उस प्रभु को सलाह और सहायता देने के लिये एक प्रकार की कमेटी या सभा भी बना लेते थे। इस समाज में प्रथा ही क़ानून का काम करती थी। प्रथा इतनी अधिक मान्य थी कि उसका उल्लंघन करने का साहस नहीं होता था। उसका उल्लंघन करने पर समाज का प्रभु अपराधी को दण्ड देता था। इस प्रकार इस समाज में हम राज्य के लक्षण देखते हैं। परन्तु आधुनिक अर्थ में यह राज्य नहीं कहा जा सकता था। यह कहना बड़ा कठिन है कि इस प्रकार की पैतृक सत्ता के स्थान में राज्य कब प्रकट हुआ। इस सत्ता में अभी तक भूमि का कोई महत्त्व ही नहीं था। राजा या प्रभु लोगों का राजा होता था, भूमि का नहीं। एक वास्तविक या कल्पित वंश से सम्बन्धित होने के कारण समाज के लोगों अर्थात्

राजा की प्रजा की संख्या भी सीमित थी। बाहरी लोग इसमें आसानी से प्रवेश नहीं कर सकते थे। यदि वे स्वीकृत किये भी जाते थे तो दस्युओं या गुलामों की तरह। इसी पितृ-प्रधान समाज ने कालान्तर में सामन्तवादी समाज का रूप धारण किया।

धर्म का महत्त्व (Importance of Religion) :—इस प्रारम्भ समाज में धर्म एक बड़ी भारी शक्ति थी। धर्म ने राज्य की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उन दिनों धर्म सामाजिक एकता का ही एक चिह्न था। एक जाति का एक कुलदेवता होता था। केवल उस जाति या समाज के लोग ही उसकी पूजा में भाग ले सकते थे। बाहरी लोग नहीं। इस प्रकार रक्त-सम्बन्ध और धर्म प्रायः एक ही वस्तु के दो रूप थे। जिन देवताओं की पूजा होती थी, वे प्रायः उस जाति के पूर्व पुरुष ही होते थे। इन देवताओं को बलि इत्यादि दी जाती थी। प्राचीन समाज में व्यक्तियों के जीवन पर धर्म का बहुत अधिक प्रभाव था। लोगों के सब काम धर्म के अनुसार होते थे। युद्ध, कृषि, जन्म, मृत्यु प्रत्येक कार्य के लिये एक देवता होता था। लोग अत्यधिक धर्मभीरु होते थे। प्रकृति की विभिन्न क्रियाएँ विभिन्न देवताओं द्वारा संचरित मानी जाती थीं। आज जिन बातों को हम महज़ अन्धविश्वास कहते हैं, वे उस काल में मनुष्यों के लिये महान धार्मिक कृत्य थे। जिन प्रथाओं को क़ानून का रूप प्राप्त था, वे भी केवल धर्म पर आधारित थीं। धर्म का पालन बड़ी दृढ़ता के साथ होता था। इस सामूहिक जीवन में व्यक्ति के अधिकारों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

जो व्यक्ति समाज का प्रभु होता था अर्थात् जो व्यक्ति राजा होता था वही धर्म का प्रधान या गुरु भी होता था। राजा प्रधान धर्म पुरुष होता था। हमारे प्राचीन साहित्य में भी राजा को ईश्वर का अंश माना गया है। प्रजा से धर्म-पालन कराने का भार इसी राजा पर होता था और धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवालों को वह दण्ड देता था। इन चीजों ने मिलकर राजा की सत्ता बहुत दृढ़ और निरंकुश बना दी थी। उन दिनों समाज में जादू-टोना जैसी अन्धविश्वास की चीज़ें बहुत प्रचलित थीं। समाज में इन झाड़-फूँक करने वाले ओझाओं की बड़ी इज्ज़त थी। कभी-कभी कोई चालाक ओझा शासन-शक्ति भी हथिया लेता था। फ्रेज़र का मत है कि समाज में पहले 'जादूगर या ओझा राजा' होते थे और उसके बाद धर्म-गुरु राजा हुए। क्योंकि प्रारम्भ में धर्म सिवाय जादू-टोना और झाड़-फूँक के और कुछ नहीं था। बाद में झाड़-फूँक का स्थान प्रार्थना ने ले लिया। जादू का स्थान धर्म ने ले लिया। उन दिनों राजसत्ता धार्मिक आचार-विचारों से ओत-प्रोत थी और धर्म उसे सुरक्षित रखने

में सहायक होता था। इस प्रकार धर्म और राजनीति में कोई अन्तर नहीं होता था। जाति या समाज का प्रधान आचार, नीति और धर्म सबके नियम निर्धारित करता था। उसका राज्य पूर्णतया निरंकुश होता था। उन दिनों धर्म एक प्रकार का अन्धविश्वास होता था। ऐसी ही परिस्थितियों में राजा शब्द प्रचलित हुआ, जो पूर्ण सत्ता का द्योतक था।

राजनीतिक जागृति :—जब एक व्यक्ति की सत्ता स्थापित हो गई और समाज में कुछ स्थिरता आई तो लोगों ने सम्पत्ति जोड़ना शुरू किया। सम्पत्ति हुई तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न उठा। अर्थात् लोगों का ध्यान राजनीतिक संगठन की ओर गया। समाज में एक प्रकार की सुव्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार राजनीतिक संस्थाओं का जन्म हुआ। कहना नहीं होगा कि ये सब बातें बड़े लम्बे अरसे में हुईं। जिन लोगों के हाथ में सम्पत्ति और सत्ता आई उनका प्रभाव बढ़ा और समाज में वर्ग बनने लगे। समाज में सुव्यवस्था का अर्थ यह था कि किसी-न-किसी प्रकार का क़ानून होना चाहिये। हम आगे कह चुके हैं कि पहले धार्मिक आदेश ही क़ानून होते थे। और सामाजिक प्रथाएँ प्रायः धर्म के आदेशों का रूप ग्रहण कर लेती थीं। इन्हीं के आधार पर राजा न्याय करता था। सुरक्षा का प्रश्न भी बड़ा महत्त्व-पूर्ण था। समाज में आन्तरिक विद्रोह या क्रान्तियाँ नहीं होते थे। केवल बाहरी जातियों या राज्यों से युद्ध होते थे। इसलिये प्रत्येक राजा मजबूत से मजबूत सेना रखता था। वास्तव में कुशल सेनापति ही राजा होता था।

इसलिये निष्कर्ष के रूप में केवल यही कह सकते हैं कि राज्य का सम्बन्ध मानव जाति के इतिहास से है और उसका विकास क्रमशः हुआ है। इस विकास में रक्त-सम्बन्ध, धर्म और राजनीतिक जागृति महत्त्वपूर्ण तथ्य रहे हैं। ये तीन तत्त्व कभी-कभी एक साथ और कभी-कभी एक-एक करके क्रियाशील रहे हैं। इनमें कुटुम्ब को प्रथम स्थान देना ही पड़ेगा, रक्त-सम्बन्ध के कारण जब कुटुम्ब का विस्तार बढ़ा तो धर्म भी क्रियाशील हुआ, जिससे समाज में व्यवस्था हुई। प्रथा ही प्रारम्भिक क़ानून था। यह प्रथा रूपी क़ानून धर्म का आवरण लिये था। कालान्तर में धर्म और राजनीति पृथक् हो गये जैसे कि आज है। वास्तव में राज्य की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में इतिहास के आधार पर हम केवल इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऊपर कही हुई बातों के आधार पर ही राज्य का विकास हुआ।

अध्याय ७

संप्रभुता[1]

(Sovereignty)

राज्य के स्वरूप की समीक्षा करते समय हम यह देख चुके हैं कि संप्रभुता राज्य का एक आवश्यक अंग है। पिछले अध्यायों में हम यह भी देख चुके हैं कि हॉब्स, लॉक, रूसो प्रभृति विद्वानों ने संप्रभुता को काफ़ी महत्त्व दिया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उन्होंने संप्रभुता को राज्य का प्राण माना है। इसलिये इस अध्याय में संप्रभुता की विशद विवेचना करेंगे। वास्तव में राजनीति विज्ञान के अध्ययन में संप्रभुता को फ्रान्स के बोदाँ नामक विद्वान ने सोलहवीं शताब्दी में महत्त्व दिया। सन् १५७६ में उसकी 'रिपब्लिक' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें उसकी गंभीर समीक्षा की गई थी। बोदाँ ने सबसे पहले संप्रभुता की महत्ता को प्रदर्शित किया। वैसे तो विचारकों ने प्राचीन काल से ही इस विषय के महत्त्व को स्वीकार किया है। अरिस्टॉटल ने इसे 'सर्वोपरि शक्ति' के नाम से वर्णन किया है। रोम के विचारकों ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में उसका विशेष रूप से अध्ययन प्रारम्भ हुआ, सरल भाषा में संप्रभुता की परिभाषा हम यही कहकर कर सकते हैं कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसी शक्ति होती है, जिसके बराबर या जिससे बड़ी और कोई शक्ति नहीं होती। वह सर्वोपरि (Supreme) होती है। यह शक्ति जो कुछ निर्णय करती है, उसके विरुद्ध कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह आचरण नहीं कर सकता। जहाँ तक अन्य राज्यों का सम्बन्ध है, उनके साथ भी यह शक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवहार करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है।

प्रचलित भाषा में संप्रभुता का अर्थ संप्रभु राजा को कहते हैं। परन्तु राजनीति विज्ञान की दृष्टि से यह अर्थ आजकल सही नहीं है। एक समय था, जब राजा की आज्ञा अटल और अकाट्य होती थी। उस समय वह वास्तव में संप्रभुता का प्रतीक था। परन्तु आजकल राजा राज्य और सरकार का

१ 'सावरेन्टी' शब्द के लिये विभिन्न लेखकों ने राजसत्ता, प्रभुत्त्व, राजशक्ति इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। हमारे संविधान में कहा गया है कि भारत 'सम्पूर्ण प्रभुत्त्व' प्राप्त गणराज्य है। इसलिये हमने इन दो शब्दों के स्थान पर एक 'संप्रभुत्व' शब्द का ही प्रयोग पसन्द किया है।

एक अंग मात्र होता है। उसकी शक्ति पर रोक लगाने वाली संसद, मंत्रि-मंडल इत्यादि कई संस्थाएँ होती हैं। इसलिये हम आज यह नहीं कह सकते कि संप्रभुता राजा में निवास करती है। अतएव प्रचलित मत यह है कि संप्रभुता राज्य में ही निवास करती है। इसमें भी विद्वान राज्य की संप्रभुता में भेद बतलाते हैं—एक क़ानूनी संप्रभुता और दूसरी राजनीतिक संप्रभुता। जब हम गंभीर व्याख्या करते हैं तो जिस प्रकार राज्य के सम्बन्ध में यह कहना पड़ता है कि राज्य अन्त में केवल एक भावनामूलक आदर्श या कथन है, उसी प्रकार संप्रभुता के सम्बन्ध में भी यह कहना पड़ता है कि संप्रभुता राज्य के एक तत्त्व विशेष की एक संज्ञा है, जो सम्पूर्ण राज्य में व्याप्त है। इस तत्त्व को भली-भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न विद्वानों ने उसकी जो परिभाषा की है, उन्हें हम जानें। नीचे कुछ विद्वानों की संप्रभुता की परिभाषाएँ दी जाती हैं—

(१) **विलोबी**—संप्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा है। (Sovereignty is the supreme will of the State—**Willoughby**).

(२) **वुडरो विल्सन**—वह शक्ति जो हमेशा क्रियाशील रहकर क़ानून बनाती है और उनका पालन कराती है। (The daily operative power of framing and giving efficacy to the laws—**Woodrow Wilson**).

(३) **बरगैस**—संप्रभुता प्रत्येक प्रजाजन पर तथा प्रजाजनों के सब संघों आदि पर, निरंकुश तथा असीमित शक्ति होती है। ("Original, absolute, unlimited power over the individual subject and over all associations of subjects"—**Burgess**).

(४) **डुग्वी**—संप्रभुता राज्य की शासन-शक्ति या आज्ञा देने की शक्ति है। वह राष्ट्र की इच्छा है, जिसका संगठन राज्य के रूप में हुआ है। वह राज्य की सीमा के भीतर सब व्यक्तियों को आदेश देने का अधिकार है। ("Sovereignty is the commanding power of the state; it is the will of the nation organised in the state; it is the right to give unconditional orders to all individuals in the territory of the state."—**Duguit**).

(५) **पोलक**—संप्रभुता वह शक्ति है, जो न तो अस्थायी होती है और न किसी के द्वारा दी जाती है। वह किसी ऐसे नियमों के अन्तर्गत नहीं आती, जिन्हें वह स्वयं बदल न सके। ("Sovereignty is that power which is neither temporary nor delegated, nor subject to particular rules which it cannot alter."—**Pollock**).

(६) क्रेननबर्ग---राज्य का यह एक प्राकृतिक गुण है कि वह अपनी इच्छा दूसरों पर बिना किसी शर्त के लागू कर सकता है। शासन की परिभाषा यही है। राज्य का तत्त्व यही है कि उसमें शासन करने की शक्ति होनी चाहिये। (It is the nature of the state "to impose its own will unconditionally on others; for such is the definition of ruling and it is of the essence of the state that it should rule." ---**Kranenburg**).

(७) बोदाँ---नागरिकों और प्रजाजनों पर वह सर्वोपरि शक्ति जिस पर क़ानून का कोई बन्धन नहीं है। ("The supreme power over citizens and subjects, unrestrained by law."---**Bodin**).

(८) ग्रोशियस---उस व्यक्ति की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति जिसके कार्य अन्य किसी के अधीन नहीं होते और जिसकी इच्छा कोई टाल नहीं सकता ...वह शासन करने की नैतिक शक्ति होती है। ("The supreme political power vested in him whose acts are not subject to any other and whose will cannot be overridden ··· It is the moral faculty of governing a state.---**Grotius.**)

इन विद्वानों तथा अन्य कई विद्वानों की परिभाषाओं का यदि हम विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि इन्होंने संप्रभुता के पाँच आवश्यक तत्त्व बतलाये हैं, जो

संप्रभुता के तत्त्व

इस प्रकार हैं---(१) निरंकुशता (absoluteness), (२) सर्वव्यापकता (universality), (३) अपरित्यज्यता या लिप्तता (inalienability), (४) स्थायित्व (permanence) और (५) अविभाज्यता (indivisibility)।

इन तत्त्वों या गुणों का हम एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

संप्रभुता को निरंकुश या असीमित कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि संप्रभुता क़ानून द्वारा सीमित नहीं की जा सकती। उससे बड़ी कोई शक्ति

निरंकुशता

नहीं होती, जो उसे सीमित कर सके। यदि कोई है तो वही संप्रभु भी है। वैधानिक या अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून उसे सीमित नहीं कर सकते। संप्रभुता की निरंकुशता के दो रूप होते हैं। एक आन्तरिक (internal) और दूसरा बाह्य (external)। आन्तरिक रूप में राज्य के अन्दर जितने व्यक्ति और संस्थाएँ होती हैं, उन पर संप्रभुता का पूर्ण आधिपत्य रहता है। उससे परे कोई भी व्यक्ति या संस्था नहीं होती। सब उसकी इच्छा के अधीन होते हैं। राज्य के भीतर उससे बड़ी अन्य कोई शक्ति नहीं होती। राज्य के बाहर भी वह अपने से बड़ी कोई शक्ति स्वीकार

नहीं करती। अर्थात् दूसरे राज्य उसे कोई बात मानने या न मानने के लिये बाध्य नहीं कर सकते। एक राज्य जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौता करता है तो वह स्वेच्छा से करता है। वह जब चाहे उन्हें अमान्य कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय केवल अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की व्याख्या या परिभाषा करता है। वह उस क़ानून को लागू नहीं कर सकता। इस विशेषता को हम संप्रभुता की सबसे बड़ी विशेषता कह सकते हैं। वास्तव में अन्य सब विशेषताएँ इसी पर आधारित हैं।

संप्रभुता की सर्वव्यापकता (universality) का अर्थ यह है कि राज्य की सीमा के भीतर उसका आधिपत्य सब व्यक्तियों, सब संघों और संस्थाओं तथा सब प्रकार की सब बातों पर होता है। राज्य के बनाये हुए किसी क़ानून से कोई व्यक्ति परे नहीं होता। यदि राज्य में संप्रभुता किसी को कोई मुक्ति देती है, तो उसे वह वापिस भी ले सकती है। यदि वह कोई बन्धन स्वीकार करती है तो स्वेच्छा से करती है, क्योंकि वह चाहे जब उसे तोड़ सकती है। यदि कोई विश्वव्यापी संगठन है तो उस संगठन को प्रत्येक राज्य में उस राज्य के क़ानूनों का पालन करना होगा।

सर्वव्यापकता

गिलक्राइस्ट ने इस विशेषता के सम्बन्ध में एक अपवाद बतलाया है। यह अपवाद राजदूतावासों के सम्बन्ध में लागू होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। दिल्ली में रूस का दूतावास है। जितनी भूमि पर वह दूतावास है, उतनी भूमि रूस के राज्य का अंग समझी जाती है और उसमें रहनेवाले सभी रूसियों पर केवल रूसी क़ानून ही लागू होता है। इस प्रकार भारत में उतने भूभाग पर तथा उतने व्यक्तियों पर केवल रूसी संप्रभुता लागू होती है, भारतीय संप्रभुता नहीं। लेकिन वास्तव में इस अपवाद में कोई तत्त्व नहीं है। भारत चाहे जब उस राजदूतावास को बन्द कर सकता है। अर्थात् उस दूतावास का अस्तित्व भारत की इच्छा पर निर्भर है। इस प्रकार संप्रभुता के इस गुण पर कोई सीमा लागू नहीं होती।

संप्रभुता का तीसरा गुण अपरित्यज्यता (inalienability) है। एक तो वह निरंकुश या पूर्ण होती है। दूसरे असीमित होती है; और तीसरे अपरित्यज्य होती है। इसका तात्पर्य यह है कि संप्रभुता के जितने आवश्यक गुण माने गये हैं, राज्य में वे सबके सब होने चाहिये, तभी वह राज्य संप्रभुत्त्वपूर्ण राज्य माना जायगा। यदि एक भी गुण की कमी आई तो पूरा संप्रभुत्त्व ही समाप्त हो जायगा। जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपना व्यक्तित्त्व नहीं दे सकता, उसी प्रकार संप्रभुता के गुण भी राज्य से अलग नहीं किये जा सकते। राज्य तभी राज्य

अपरित्यज्यता

कहलायेगा जब उसमें संप्रभुता के सब गुण होंगे। संप्रभुता राज्य का व्यक्तित्त्व प्रदर्शित करती है। यदि वह व्यक्तित्त्व न रहे तो राज्य समाप्त हो जायगा। रूसो ने भी अपरित्यज्यता को संप्रभुता के सम्बन्ध में स्वीकार किया है। उसका कहना था कि शक्ति हस्तान्तरित हो सकती है, पर इच्छा (will) का हस्तान्तर नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में एक दो सन्देहों का निवारण करना आवश्यक है। यदि एक राज्य अपनी भूमि का कुछ भाग किसी दूसरे राज्य को देता है तो क्या उस राज्य की संप्रभुता में कुछ कमी आ जाती है? नहीं, बिलकुल नहीं। केवल उतनी भूमि दूसरी संप्रभुता के अन्तर्गत चली जाती है। भारत ने अपनी कुछ भूमि त्याग दी, जिससे पाकिस्तान नाम का सम्पूर्ण प्रभुत्त्व पूर्ण एक नया राज्य बना। परन्तु इससे भारत राज्य की संप्रभुता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। अर्थात् अब दो सत्ताएँ ऐसी हो गईं जिन्हें सम्पूर्ण प्रभुत्त्व प्राप्त हैं। प्रत्येक संप्रभुता में उसके आवश्यक गुण मौजूद हैं; और प्रत्येक राज्य के लिये यह संप्रभुता आवश्यक है। इसी प्रकार जब किसी देश का राजा या राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री अर्थात् संप्रभुता का प्रतीक या धारण करनेवाला मरता है, तो उससे राज्य की संप्रभुता अलग नहीं होती है। उसे हमें केवल सरकार या शासन के रूप में परिवर्तन मात्र मानना चाहिये। उससे राज्य अपनी संप्रभुता का त्याग नहीं करता।

स्थायित्त्व

संप्रभुता का चौथा गुण स्थायित्त्व होता है। संप्रभुता राज्य के समान ही स्थायी (permanent) होती है। यदि कोई राजा या राष्ट्रपति मरता है या पदत्याग करता है तो उससे राज्य या संप्रभुता का अन्त नहीं होता। संप्रभुता तुरन्त दूसरे व्यक्ति के हाथों में चली जाती है। संप्रभुता और राज्य का एक साथ अन्त होता है। हम पीछे देख चुके हैं कि हॉब्स ने यह ग़लती की कि उसने मान लिया कि राजा के साथ ही राज्य भी समाप्त हो जाता है। वास्तव में ऐसा नहीं होता। केवल सत्ताधारी में परिवर्तन होता है, सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

अविभाज्यता

संप्रभुता अविभाज्य (indivisible) होती है। वास्तव में यह गुण निरंकुशता का ही दूसरा रूप है। जहाँ संप्रभुता का विभाजन हुआ कि उसकी निरंकुशता या पूर्ण स्वेच्छाचारिता पर एक बन्धन लग गया। गेटल ने लिखा है कि यदि संप्रभुता का विभाजन हुआ तो उसका अर्थ राज्य का विभाजन है। हम भारत के उदाहरण में देख चुके हैं कि भारत की संप्रभुता विभाजित होने से ही पाकिस्तान का जन्म हुआ और वह एक स्वतन्त्र राज्य बना। इस सम्बन्ध में बहुलतावादियों (Pluralists) का मत देना आवश्यक है। उनका मत है कि राज्य के

भीतर शासन-सत्ता को या संप्रभुता को विभिन्न समूहों में विभाजित कर देना चाहिये और ये समूह अपने-अपने वर्गों के स्वार्थों का साधन करेंगे। इन विचारकों के विचारों की समीक्षा आगे की जायगी। यहाँ इतना कहना काफ़ी है कि ऐसा करना संभव नहीं है। इससे राज्य और संप्रभुता दोनों का ही अन्त हो जायगा। कुछ ऐसे भी विद्वान हैं, जो बहुलतावादी तो नहीं हैं, पर उनका विचार है, संघ-शासन के राज्यों में संप्रभुता का विभाजन शासन अधिकारों के रूप में हो सकता है। ए० एल० लॉवेल और ब्राइस जैसे विचारक इस मत के समर्थक हैं। म्भवत: इन विद्वानों के मत में संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण है। वहाँ उच्चतम न्यायालय का मत है कि संघ सरकार को अपने क्षेत्र में संप्रभुता प्राप्त है और राज्यों को अपने क्षेत्र में। लेकिन इसके उत्तर में अन्य विचारकों ने कहा है कि उक्त धारणा ग़लत है। वास्तव में संप्रभुता एक और अविभाजित है। लेकिन वह कुछ बातों में संघ शासन द्वारा प्रकट होती है और कुछ बातों में राज्य शासनों द्वारा। वास्तव में इन दोनों शासनों के ऊपर संप्रभुता रूपी शक्ति है और वह इनके अधिकारों में परिवर्तन भी कर सकती है। तात्पर्य यह है कि संघ-शासन में भी संप्रभुता अविभाजित होती है।

जिस प्रकार हम पृथ्वी पर पड़ते हुए सूर्य के प्रकाश को विभाजित नहीं कर सकते, शरीर में व्याप्त प्राण-वायु को विभाजित नहीं कर सकते, पानी में व्याप्त उसकी तरलता को विभाजित नहीं कर सकते, उसी प्रकार राज्य के प्रमुख गुण संप्रभुता को भी विभाजित नहीं किया जा सकता।

संप्रभुता की हमने जो विशेषताएँ बतलायी हैं, उनमें यह भी मान लिया जाता है कि इस प्रकार की संप्रभुता केवल राज्य में ही निहित होती है।

राज्य की संप्रभुता

इसलिये इसे राज्य की संप्रभुता कहा जाता है। बरगैस ने संप्रभुता की जो परिभाषा की है, वह राज्य की संप्रभुता की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है। इसका तत्त्व यह है कि संप्रभुता किसी एक व्यक्ति में या सरकार में अर्थात् राज्य के किसी एक अंग में निहित नहीं होती; वह सम्पूर्ण राज्य में निहित होती है। राज्य की संप्रभुता के दो रूप माने गये हैं—एक, क़ानूनी संप्रभुता (Legal Sovereignty) और दूसरी राजनीतिक संप्रभुता (Political Sovereignty)। इन दोनों का हम एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

क़ानूनी संप्रभुता को नैयायिक अथवा अद्वैतवादी संप्रभुता (Juristic or Monistic Sovereignty) भी कहा जाता है। नैयायिक संप्रभुता इसलिये कहा जाता है कि संप्रभुता का यह सिद्धान्त शुद्ध क़ानून अर्थात् क़ानूनशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है और अद्वैतवादी संप्रभुता इसलिये कहा जाता है

कि यह केवल राज्य में ही निहित मानी जाती है, अन्य किसी व्यक्ति अथवा संस्था में नहीं। क़ानूनी संप्रभु वह है, जो क़ानून के आधार पर राज्य के सर्वोच्च आदेश अन्तिम रूप से जारी कर सकता है। राज्य में सब क़ानून उसी के नाम में लागू और प्रचलित किये जाते हैं। प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे क़ानून होते हैं, जिनका पालन प्रत्येक नागरिक को करना पड़ता है; और इन क़ानूनों को बतानेवाली भी एक सत्ता होती है। यही सत्ता क़ानूनी संप्रभु कहलाती है। इस क़ानूनी सत्ता का प्रतीक न्यायालय होते हैं। न्यायालय केवल उन्हीं क़ानूनों के आधार पर न्याय विचार करते हैं, जिन्हें यह क़ानूनी सत्ता बनाती है। सिद्धान्त की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि क़ानूनी संप्रभुता दैवी नियम, नैतिकता के सिद्धान्त, जनमत इत्यादि सबको ठुकरा सकती है। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि क़ानूनी संप्रभु से भी प्रबल एक और संप्रभु होता है, जिसे राजनीतिक संप्रभु (Political Sovereign) कहते हैं। डाइसी का मत है कि राजनीतिक संप्रभुता क़ानूनी संप्रभुता से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।[1] राजनीतिक संप्रभुता कानूनी संप्रभुता को सीमित कर देती है।

क़ानूनी संप्रभुता

राजनीतिक संप्रभुता (Political Sovereignty) में वे सब राजनीतिक शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं, जिन्हें हम क़ानून में निहित पाते हैं। दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि क़ानूनी संप्रभुता सुस्पष्ट और सुनिश्चित होती है, परन्तु राजनीतिक संप्रभुता की रूप-रेखा उतनी स्पष्ट नहीं होती, यद्यपि वह अधिक प्रभावशाली होती है। संक्षेप में हम उसे जनता की शक्ति कह सकते हैं। यह शक्ति अपने को मतदान में, आम सभाओं में, समाचार-पत्रों इत्यादि विभिन्न स्रोतों द्वारा प्रकट करती है। यह उन सब सूत्रों को प्रभावित और नियन्त्रित करती है, जिनके आधार पर राज्य की सर्वोच्च इच्छा क़ानून का निर्माण करती है। क़ानूनी और राजनीतिक संप्रभुता के भेद को गिलक्राइस्ट ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाया है। मान लीजिये, एक छोटा-सा नगर राज्य है। उस नगर राज्य का प्रत्येक नागरिक एक आम सभा में मत प्रकट करने के लिये आया है और किसी बात पर सबने एक मत भी प्रकट किया है। यह भी मान लीजिये कि उस राज्य में जनता की एक प्रतिनिधि सभा भी है, जिसे क़ानून बनाने का अधिकार है। तो जब तक यह प्रतिनिधि सभा उस जनमत को क़ानून का

राजनीतिक संप्रभुता

---

१ "Behind the Sovereign which the lawyer recognises, there is another sovereign to whom the legal sovereign must bow"—(**Dicey**)

रूप नहीं देती, तब तक उस जनमत का मूल्य नहीं है। यदि न्यायालय में उस बात से सम्बन्धित कोई मुक़दमा आता है तो न्यायाधीश उस पर जनमत के आधार पर विचार नहीं करेगा; बल्कि क़ानून के आधार पर ही उस पर विचार करेगा। यहाँ जनमत या जनता राजनीतिक संप्रभुता बतलाती है और प्रतिनिधि सभा क़ानूनी संप्रभुता। यह जनता अपने प्रभाव से प्रतिनिधि सभा द्वारा अपनी इच्छानुसार क़ानून बनवा सकती है। मेकेनी (Mckechnic) ने लिखा है कि क़ानूनी संप्रभु की इच्छा राजनीतिक संप्रभु की इच्छा का प्रतीक होना चाहिये। यदि क़ानूनी संप्रभु जनमत का प्रतिनिधित्त्व करता है, तो जनता की शक्ति कार्यान्वित और क्रियाशील होती है, अन्यथा नहीं।

आधुनिक काल में इन दोनों प्रकार की संप्रभुताओं की क्रिया और प्रतिक्रिया साथ-साथ देखते हैं। प्राचीन ग्रीस में और उससे भी पहले भारत में नगर राज्य या गणराज्य होते थे। ये प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र थे, लोग एक स्थान में एकत्रित होकर किसी भी बात पर अपना मत प्रकट कर देते थे। इसलिये ऐसे राज्यों में क़ानूनी और राजनीतिक संप्रभु एक ही होते थे। लेकिन आजकल प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के स्थान में सर्वत्र ही अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र ही देखने में आता है। संसद के रूप में जनता के प्रतिनिधि ही क़ानून बनाते हैं। ब्रिटेन में राजा, हाउस ऑफ कॉमन्स और हाउस ऑफ लॉर्ड्स (King-in-Parliament) में क़ानूनी संप्रभुता निहित है। क़ानून की दृष्टि से इस संप्रभुता पर कोई बन्धन नहीं है। संसद सब कुछ कर सकती है, केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती। लेकिन संसद की इस क़ानूनी संप्रभुता पर भी राजनीतिक संप्रभुता का बंधन है। जहाँ तक क़ानून बनाने का अधिकार है, संसद ऐसा क़ानून बना सकती है, जिसके आधार पर लोगों को एक दूसरे का प्राणघात करने का अधिकार मिल सकता है। लेकिन वास्तव में वह ऐसा कभी नहीं करेगी। इंगलैण्ड का जनमत उसे ऐसा नहीं करने देगा। यही राजनीतिक संप्रभुता है और यह क़ानूनी संप्रभुता पर हमेशा अपना प्रभाव डालती रहती है। जैसा कि हम कह चुके हैं, यह राजनीतिक संप्रभुता समाचार पत्र, आम सभाओं इत्यादि द्वारा प्रकट होती है। लेकिन यह क्रियाशील तभी होती है, जब यह सुसंगठित होती है। आजकल यह देखने में आता है कि इसके अनुसार ही सरकारों का संगठन होता है। अर्थात् जिस राजनीतिक दल को जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है, वही दल शासन की सत्ता भी प्राप्त करता है; और फिर वह उस बहुमत की इच्छा के अनुसार क़ानून बनाता है।

राजनीतिक संप्रभुता जब विस्तृत रूप धारण करती है, तो उसे जन-संप्रभुता (Popular Sovereignty) कहा जाता है। जन-संप्रभुता का सिद्धान्त

यही है कि अन्तिम रूप में राजनीतिक सत्ता जनता के हाथों में रहती है। यदि इसे हम और निश्चित रूप से कहना चाहें तो इसका अर्थ यह होगा कि समाज में प्रत्येक वयस्क पुरुष को मत देने का अधिकार होना चाहिये और संसद अर्थात् क़ानून बनानेवाली संस्थाओं में जनता के ही निर्वाचित प्रतिनिधि होना चाहिये। वास्तव में जन-संप्रभुता की आवाज़ मध्य युग में उन विचारकों ने उठाई थी, जो राजा की शक्ति के विरोधी थे। इनमें ओकहाम के विलियम, मारसिगलियो और ऑलथूसियस के विचार विशेष उल्लेखनीय हैं। अठारहवीं सदी में रूसो के विचारों ने इस सिद्धान्त की बिगुल बजा दी। उसने राज्य और शासन का आधार ही जनता की इच्छा को बनाया। उसने कहा कि सरकार और उसकी सत्ता एकमात्र जनता की इच्छा पर ही क़ायम रहती है। रूसो के इन विचारों ने फ्रान्स और अमेरिका की राज्य-क्रान्तियों की आग भड़काने में हवा का काम किया। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रोफेसर रीशी (Ritchie) ने भी जन-संप्रभुता का प्रबल समर्थन किया। रीशी का मत है कि प्रत्यक्ष रूप से जनता मतदान के द्वारा संप्रभुता का प्रयोग करती है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव, दबाव, भय दिखाकर तथा क्रान्ति द्वारा संप्रभुता का प्रयोग करती है। जनता के हाथ में पशु-बल या शारीरिक बल होता है और अन्त में किसी भी झगड़ा का निर्णय केवल पाशविक बल द्वारा ही तो होता है। यदि जनता क्रोधित हो जाय तो वह सरकार को उलट सकती है। इसलिये जो भी सरकार सत्तारूढ़ होती है, वह जनता की इच्छा रहने पर ही सत्तारूढ़ होती है। जनता केवल स्वेच्छा से उसकी आज्ञा का पालन करती है। आज जनतन्त्र इतना अधिक प्रगति कर गया है कि इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रह गया है।

जन-संप्रभुता

इस सिद्धान्त की सबसे अच्छी आलोचना गेटल ने की है। उसने लिखा है कि यदि हम राज्य की परिभाषा की ओर ध्यान दें तो "जन-संप्रभुता" परस्पर विरोधी शब्द हैं। राज्य की परिभाषा में कहा गया है कि राज्य जनता का ऐसा समूह है, जो सरकार के द्वारा संगठित होकर क़ानून बनाता है और उसका पालन करता है। यदि इस सरकार में राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को हम शामिल करते हैं तो सम्पूर्ण जनता में शक्ति फैली है। और यदि हम केवल जनता के संगठित रूप की ओर ध्यान देते हैं तो भी यही कहना पड़ेगा कि संप्रभुता राज्य का एक आवश्यक अंग है। क्योंकि लोगों की एकता और संगठन का दूसरा क्या प्रयोजन होगा?

आलोचना

इस सिद्धान्त में इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता है कि शारीरिक या भौतिक बल जनता के ही हाथों में रहता है, लेकिन यह भी एक अनुभव की बात है कि

कुछ ही हज़ार सुसंगठित हथियारबन्द सैनिकों के सामने लाखों असंगठित और निहत्थे लोग नहीं ठहर सकते। केवल संख्या ही हमेशा शक्ति की परिचायक नहीं होती। फिर यदि हम यह मान लें कि संप्रभुता थोड़े से सुसंगठित लोगों के हाथ में रहती है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि ये लोग एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की आज्ञा मानते हैं। तब संप्रभुता इन लोगों के हाथ में होगी जिनकी आज्ञा वे थोड़े से सुसंगठित व्यक्ति मानते हैं। मतदान का अधिकार वास्तविक संप्रभुता का प्रतीक नहीं माना जा सकता। मतदाता भी आजकल राजनीतिक दलों में संगठित रहते हैं और अपने दलों के नेताओं की आज्ञा के अनुसार मतदान करते हैं। स्वतन्त्र रूप से बहुत कम लोग मतदान करते हैं। तब तो हम उसी बात पर पहुँच गये कि संप्रभुता राजनीतिक आधार पर संगठित लोगों के हाथ में रहती है।

गंभीरतापूर्वक विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो विद्वान जन-संप्रभुता की दुहाई देते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि जनमत (Public opinion) की संप्रभुता रहनी चाहिये। संप्रभुता एक राजनीतिक शब्द है, जिसमें प्रधान तत्त्व यह है कि वह आज्ञापालन कराती है। संप्रभुता केवल उस समाज में चल सकती है, जो राजनीतिक आधार पर संगठित हो। भौतिक बल संप्रभुता का एक अंग अवश्य है, पर उच्च राजनीति वही है, जहाँ बल-प्रयोग कम-से-कम करना पड़े। और जहाँ संप्रभुता जनमत के अनुसार क्रियाशील होगी, वहाँ बल-प्रयोग की बहुत कम आवश्यकता होगी।

जो भी हो, जन-संप्रभुता के सिद्धान्त के आधार पर हम कुछ बहुत अच्छे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। एक तो यह कि सरकार का अस्तित्व ही जनता के हित के ही लिये है। दूसरे, यदि सरकार अधिक समय तक जनता की इच्छा की अवहेलना करती है, तो क्रान्ति की संभावना रहती है। तीसरे, जनमत प्रकाशन के लिये उपयुक्त वैध तरीक़े सुलभ होना चाहिये। चौथे, निर्वाचन स्वायत्त शासन इत्यादि के द्वारा सरकार को अधिक-से-अधिक जनता का प्रतिनिधित्व करना चाहिये। पाँचवें, सरकार को संप्रभुता का प्रयोग वैध क़ानूनों के आधार पर करना चाहिये ; मनचाहे तरीकों से नहीं।

वैधानिक और वास्तविक संप्रभुता (De Jure and De Facto Sovereignty) :—संप्रभुता राजनीति की एक प्रत्यक्ष वस्तु है, कोरी सिद्धान्त की वस्तु नहीं। इसलिये कुछ विद्वान वैधानिक या क़ानूनी संप्रभुता और वास्तविक संप्रभुता में भेद मानते हैं। क़ानूनी संप्रभुता का रूप हम ऊपर बतला चुके हैं। वास्तविक संप्रभुता वह है, जो चाहे क़ानूनी हो अथवा नहीं, पर वास्तव में लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। कभी-कभी संप्रभु को क़ानूनी

आधार प्राप्त न होते हुए भी केवल भौतिक बल या धार्मिक प्रभाव से वह लोगों से आज्ञा-पालन कराता है। कभी-कभी एक सैनिक सिपाही या धर्मगुरु ही वास्तविक संप्रभुता प्राप्त कर सकता है। क्रान्ति के समय में इस प्रकार की वास्तविक संप्रभुता प्राय: देखने में आती हैं। इन वास्तविक संप्रभुओं को ग़ैर-क़ानूनी या क़ानून-विरोधी समझना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि संप्रभु हमेशा वही होता है, जो लोगों से अपनी आज्ञा का पालन करा सके। वास्तविक संप्रभुता का सबसे अच्छा उदाहरण अभी हाल में मिस्र में देखने में आया। सन् १९५३ में मिस्र के एक सेनापति, जनरल नजीब ने वहाँ के क़ानूनी संप्रभु शाह फ़ारुक़ को निकाल बाहर किया और स्वयं संप्रभु बन बैठा। यह वास्तविक संप्रभुता का उदाहरण है। धीरे-धीरे वास्तविक संप्रभु ही क़ानूनी या वैधानिक संप्रभु की स्थिति ग्रहण कर लेता है। जनरल नजीब ने भी यही किया। किसी भी सभ्य देश में दोनों प्रकार की संप्रभुताएँ एक साथ नहीं चल सकतीं। एक संप्रभुता दूसरी का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् शक्ति और अधिकार एक ही सत्ता में सन्निहित रहते हैं। प्राय: वास्तविक संप्रभुता ही क़ानूनी संप्रभुता हो जाती है। लॉर्ड ब्राइस ने दोनों प्रकार की संप्रभुताओं का सम्बन्ध इस प्रकार बतलाया है—

(१) जब क़ानूनी संप्रभुता की स्थिति दृढ़तम रहती है, तब वास्तविक संप्रभुता भी उसमें निहित होकर दृढ़ होती है।

(२) जब क़ानूनी संप्रभुता अनिश्चित होती है, तब वास्तविक संप्रभुता भी अनिश्चित होती है।

(३) जब वास्तविक संप्रभुता दृढ़ होती है, तब क़ानूनी संप्रभुता कुछ समय के लिये अनिश्चित रहकर अन्त में प्रकट होती है और वास्तविक संप्रभुता के साथ एक रूप होकर चलती है और क़ानूनी संप्रभु के नाम से प्रचलित होती है।

(४) जब वास्तविक संप्रभुता में उथल-पुथल होती है, तो क़ानूनी संप्रभुता भी ख़तरे में पड़ जाती है।

तात्पर्य यह है कि कभी एक संप्रभुता प्रमुखता पाती है, कभी दूसरी और अन्त में दोनों एक हो जाती हैं और एक होने में भी इन्हें अधिक समय नहीं लगता।

संप्रभुता का केन्द्रबिन्दु या उसकी वास्तविक स्थिति (Location of Sovereignty) :—बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि संप्रभुता कहाँ निवास करती है? मोटे तौर से तो यह कहा जा सकता है कि संप्रभुता राज्य में निवास करती है, क्योंकि राज्य के बिना संप्रभुता नहीं और संप्रभुता के बिना राज्य नहीं। परन्तु हम इस अध्याय में अभी तक संप्रभुता के कई रूप देख चुके हैं। अथवा उसे कई दृष्टियों से देख चुके हैं। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि राज्य में

वह कौन-सा तत्त्व है, जिसमें संप्रभुता निवास करती है। विभिन्न लेखकों ने संप्रभुता के विभिन्न केन्द्र बतलाये हैं। गेटल ने इन सबके मतों को तीन वर्गों में रखा है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य की जनता।

(२) वह संगठन जिसे क़ानून द्वारा संविधान बनाने तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) राज्य में सरकार के वे अंग जिन्हें क़ानून बनाने के अधिकार प्राप्त हैं।

जब हम यह कहते हैं कि राज्य की जनता में संप्रभुता निवास करती है, तब राजनीतिक या जन-संप्रभुता की ओर इंगित करते हैं। वास्तव में अन्त में जनता की शक्ति ही राज्य और राष्ट्र की शक्ति होती है। यह शक्ति बड़ी प्रबल और सजग होती है और अन्त में यही राज्य की सत्ता भी प्रदर्शित करती हैं। जिसे हमने वास्तविक संप्रभुता (De facto Sovereignty) कहा है, वह भी अन्त में राजनीतिक संप्रभुता ही होती है। यही संप्रभुता क़ानूनी संप्रभुता का भी रूप निर्धारित करती है। जब राजनीतिक संप्रभुता संगठित होकर क़ानूनी रूप धारण करती है, तो वही वास्तविक संप्रभुता भी हो जाती है। यदि हम संविधान और क़ानूनों के आधार पर संप्रभुता की स्थिति जानना चाहें तो हमें देश विशेष की ओर ध्यान देना पड़ेगा। उदाहरण के लिये यदि हम ब्रिटेन की ओर देखें तो वहाँ एक तो संविधान लिखित नहीं है और दूसरे वहाँ वैधानिक क़ानून (Constitutional law) और साधारण क़ानून (Statutory law) में कोई अन्तर नहीं है। इसलिये ब्रिटेन में पालियामेण्ट सहित राजा (King in Parliament) क़ानूनी संप्रभु है। वहाँ पालियामेण्ट का एक साधारण क़ानून संविधान में परिवर्तन कर सकता है। लेकिन फ्रान्स में ऐसा नहीं है। फ्रान्स में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा ही संविधान में परिवर्तन किया जा सकता है। अकेला राष्ट्रपति संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकता और संसद का एक कोई सदन संविधान में परिवर्तन नहीं कर सकता। अतएव फ्रान्स में संसद के दोनों सदनों के संयुक्त रूप में क़ानूनी संप्रभुता निवास करती है।

संघ-शासन में

जब हम संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे संघ-शासनों में संप्रभुता का केन्द्र-बिन्दु खोजने का प्रयत्न करते हैं, तो हमें और भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कूले, स्टोरी, टाकविले और हुर्ड जैसे लेखकों का मत है कि संघ-शासन में संघ-सरकार तथा राज्य सरकार में संप्रभुता निवास करती है। इसे दोहरी संप्रभुता का सिद्धान्त कह सकते हैं। इन लेखकों का मत है कि संघ-शासन में शासन के

अधिकार बँटे रहते हैं। कुछ क्षेत्रों में संघ-सरकार की सत्ता चलती है और कुछ क्षेत्रों में राज्य-सरकार की। इसलिये ये अपने-अपने क्षेत्र में संप्रभु हैं। लेकिन साथ ही इन लेखकों का यह भी मत है कि संप्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता। वह अविभाज्य है। तब यह कहना पड़ता है कि जब हम संघ-शासन या संघ-राज्य की कल्पना करते हैं, तो इकाइयों अर्थात् राज्यों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस कठिनाई से बचने के लिये यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है कि संघ-शासन में संप्रभुता उस संस्था या संगठन में निवास करती है, जिसे संविधान बनाने तथा उसमें परिवर्तन करने का अधिकार होता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की दृष्टि मेंराज्य में सबसे बड़ी सत्ता वही है, जो संविधान का निर्माण करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में परिवर्तन या संशोधन करने की विधि संविधान की पाँचवीं धारा में दी हुई है।[१] इस धारा के अनुसार संविधान में संशोधन करने अथवा संशोधनों को स्वीकार करने के दो तरीक़े दिये गये हैं। लेकिन व्यवहार में यह देखा गया है कि संशोधन के सब प्रस्ताव वहाँ की संसद अर्थात् कांग्रेस द्वारा रखे गये हैं और राज्यों के विधानमंडलों ने उन्हें स्वीकार कर लिया है। इसलिये हम देखते हैं कि संप्रभुता के प्रयोग में न तो संयुक्त राज्य के लोगों ने भाग लिया और न वहाँ के राज्यों के लोगों ने।

संविधान में संशोधन करने वाली सत्ता में यदि हम संप्रभुता केन्द्रित करें तो उसमें भी कुछ कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं। एक तो जो सत्ता संविधान में संशोधन करती है, वह प्रायः सुषुप्त रहती है। केवल कभी-कभी जागृत होकर क्रियाशील होती है। लेकिन हमें यह स्वीकार नहीं हो सकता कि राज्य में संप्रभुता प्रायः सुषुप्त रहे और केवल कभी-कभी जागृत हो। यह सम्भव भी नहीं है। फिर राज्य के वे अंग जो नित्य प्रति उसकी इच्छा प्रकट

---

[१] "The Congress, whenever two-thirds of both Houses shall deem it necessary shall propose amendments to this constitution, or, on the application of the Legislatures of two-thirds of the several states, shall call a convention for proposing amendments which in either case shall be valid to all intents and purposes, as part of this constitution, when ratified by the Legislatures of three-fourths of the several states, or by conventions in three-fourths there of, as the one or the other mode of ratification may be proposed by the Congress."

—(**Article v of the constitution of the U. S. A.**)

करते हैं, वे केवल संविधान बनानेवाले अथवा उसमें संशोधन करनेवाले अंग ही नहीं होते, बल्कि आजकल वे ही राज्य की इच्छा सब समय प्रकट करते रहते हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि संप्रभुता तो निरंकुश होती है। वह किसी भी प्रकार का बंधन स्वीकार नहीं करती। लेकिन संविधान बनाने या संशोधन करने का काम तो सरकार के इशारे ही पर होता है और वह कार्य उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार क़ानून द्वारा निर्धारित किया जाता है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि संप्रभुता क़ानून बनानेवाली संस्थाओं में निवास करती है। वुडरो विल्सन का भी मत है कि संप्रभुता क़ानून बनाने वाली संस्थाओं में निवास करती है। क़ानूनवाली संस्थाओं में निम्नलिखित गिनायी जाती हैं—

(१) **विधानमंडल** (**Legislature**) :—ये विधानमंडल राष्ट्रीय, प्रान्तीय या स्थानीय हो सकते हैं।

(२) **न्यायालय** (**Courts**) :—न्यायालय न केवल क़ानूनों की व्याख्या करते हैं, बल्कि उसी सिलसिले में क़ानून बनाते भी हैं।

(३) **कार्यपालिका के अधिकारी** (**Executive officials**) :—ये अधिकारी घोषणाओं द्वारा क़ानूनों की स्थापना करते हैं।

(४) **अधिवेशन** (**Conventions**) :—जिनके द्वारा संविधान में संशोधन किया जाता है।

(५) **निर्वाचक** (**Electors**) :—जब वे किसी क़ानूनी प्रश्न पर प्रत्यक्ष मत (by referendum or plebiscite) देते हैं। वुडरो विल्सन का मत है कि संप्रभुता का अर्थ यहाँ यह है कि वह नित्य-प्रति क्रियाशील रहती है। वह क़ानून बनाती है और उन्हें चालू भी रखती है। वह राज्य की जीवन-शक्ति होती है।

लेकिन इसके उत्तर में यह भी कहा जाता है कि संप्रभुता राज्य की शक्ति होती है। राज्य इन संस्थाओं को यह शक्ति देता है। वह चाहे तो यह शक्ति उनसे लेकर किसी अन्य को भी दे सकता है। विभिन्न संस्थाओं में संप्रभुता राज्य की इच्छा से केवल प्रकट होती है। वह केवल राज्य की एकता की सूचक है। विभिन्न संस्थाओं में प्रकट होने से वह विभाजित नहीं होती। इसलिये अन्त में हमें लॉस्की के शब्दों में कहना पड़ता है कि संघ-राज्य में संप्रभुता के केन्द्र-बिन्दु या निश्चित स्थान पाना एक असम्भव-सा कार्य है।[1]

---

[1] To discover sovereignty in a federal state is "an impossible adventure."—(**Laski**)

ऑस्टिन का संप्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त

(Austin's theory of Sovereignty)

संप्रभुता की सबसे अधिक ज़ोरदार व्याख्या ऑस्टिन ने की है। और उसी प्रकार उसने ज़ोरदार निरूपण भी किया है। ऑस्टिन इंगलैण्ड का एक वकील था। वह हॉब्स से प्रभावित था तथा बेन्थम के विचारों का समर्थक था। वह सामाजिक समझौते के विचार को असत्य मानता था। सन् १८३२ में उसकी न्यायशास्त्र पर एक पुस्तक ("The Province of jurisprudence Determined") प्रकाशित हुई। इसमें उसने क़ानून तथा संप्रभुता के सिद्धान्तों का अपने विचारों के अनुसार बहुत ही स्पष्ट रूप से निरूपण किया। वास्तव में उसने केवल हॉब्स और बेन्थम के विचारों की पुष्टि ही की। परन्तु उसके सुलझे हुए विचार ही उसकी नवीनता है।

संप्रभुता के सिद्धान्त का निरूपण ऑस्टिन ने इस प्रकार किया है—"यदि किसी समाज का अधिकांश भाग एक निश्चित प्रधान व्यक्ति की आज्ञा का साधारणतः पालन करता है; और उस निश्चित प्रधान व्यक्ति को साधारणतः किसी अन्य प्रधान की आज्ञा नहीं माननी पड़ती है, तो उस समाज में वह निश्चित व्यक्ति संप्रभु होता है तथा वह समाज उस प्रधान के सहित एक स्वतन्त्र राज्य होता है।"[1] इस परिभाषा को समझाते हुए ऑस्टिन कहता है कि समाज के अन्य व्यक्ति इस प्रधान के अधीन होते हैं; अथवा उस पर निर्भर होते हैं। अर्थात् उस प्रधान और समाज के सदस्यों में शासक और शासितों का सम्बन्ध होता है। अर्थात् प्रत्येक समाज में एक संप्रभु होता है। तभी वह स्वतन्त्र राज्य का रूप ग्रहण करता है। यह संप्रभु एक व्यक्ति भी हो सकता है, अथवा एक समूह (Collegiate)। उसी के अनुसार राज्य राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र होता है। ऑस्टिन सीमित या मर्यादित संप्रभुता में विश्वास नहीं करता था।

यदि ऑस्टिन की परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो संप्रभुता में निम्न-लिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(१) प्रधान या संप्रभु एक निश्चित व्यक्ति या समूह होना चाहिये।

---

[1] "If a determinate human superior, not in the habit of obedience to a like superior, receive habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior in the sovereign in that society and the society, including the superior, is a society political and independent."—(**Austin**)

इसलिये सामान्य या व्यापक इच्छा (General will) अथवा सब लोग मिलकर संप्रभु नहीं हो सकते।

(२) संप्रभु की आज्ञा का पालन समाज का बहुसंख्यक भाग बिना किसी सन्देह या विरोध के आदतन करता है।

(३) क़ानून की दृष्टि से वह निरंकुश होता है। उस पर किसी के द्वारा किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता, वह स्वयं अपने आदेशों का पालन करने के लिये बाध्य नहीं है। अर्थात् वह पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी होता है।

(४) संप्रभुता अविभाज्य होती है। वह कई व्यक्तियों या समूहों में बाँटी नहीं जा सकती। एक व्यक्ति की निरंकुश संप्रभुता तो स्पष्ट है, लेकिन जब संप्रभुता एक समूह में निहित होती है, तब भी वह उस एक समूह के सिवाय अनेक समूहों में नहीं बाँटी जा सकती। अन्यथा संप्रभुता का निरंकुशता का गुण मिट जायगा।

यदि हम इन विचारों की गहराई में जावें तो स्पष्ट करने के लिये हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) राज्य या समाज दो स्पष्ट वर्गों में बँट जाता है। एक वर्ग या व्यक्ति शासक है, जो आज्ञा देता है और दूसरा वर्ग उसका पालन करता है। अर्थात् राज्य में आदेश और उसका पालन ये दो बातें आवश्यक हो जाती हैं। क़ानून और अधिकार संप्रभुता के स्वरूप हो जाते हैं।

(२) संप्रभुता के बिना राज्य नहीं रह सकता। क़ानून संप्रभु की आज्ञा होता है। इसलिये जहाँ संप्रभुता नहीं, वहाँ क़ानून भी नहीं रह सकता। ऑस्टिन के लिये क़ानूनी सत्ता ही संप्रभुता है। हॉब्स की तरह वह क़ानून को संप्रभु की आज्ञा मानता है।

(३) क़ानून का स्रोत संप्रभुता होती है। यह संप्रभुता असीमित और निरंकुश होती है। अर्थात् संप्रभु के लिये कोई क़ानूनी बन्धन नहीं है।

(४) संप्रभुता अविभाज्य होती है। एक राज्य में केवल एक सर्वोच्च संप्रभुता हो सकती है। उसका विभाजन नहीं हो सकता।

(५) संप्रभुता अपरित्यज्य या अदेय (inalienable) होती है। अर्थात् संप्रभु ने जहाँ एक बार अपनी संप्रभुता छोड़ी कि फिर वह संप्रभु नहीं रह जात। अपनी इच्छानुसार उसे वह वापिस भी नहीं ले सकता।

सर हेनरी मेन, क्लार्क तथा सिजविक ने ऑस्टिन की इस बात की बड़ी आलोचना की है कि संप्रभुता एक निश्चित व्यक्ति या समूह (a determinate body) में निवास करती है। एक तो उनका कहना यह है कि यह सिद्धान्त

जन-संप्रभुता के सिद्धान्त से एकदम मेल नहीं रखता। यह सिद्धान्त जनमत (public opinion) की अवहेलना करता है। राजनीतिक संप्रभुता के सिद्धान्त की भी यह अवहेलना करता है। दूसरे ऑस्टिन सब क़ानूनों को संप्रभु के "आदेश" या आज्ञा (Command) के रूप में मानता है। सर हेनरी मेन ऐतिहासिक आधारों पर इसे असत्य मानता है। सर हेनरी मेन को भारतीय समाज और जीवन का काफ़ी अनुभव था। उसका कहना है कि प्रत्येक देश में समाज के जीवन का काफ़ी अंश प्रथाओं के बल पर चला करता है। बल-प्रयोग पर आधारित केवल क़ानून के बल पर नहीं। मेन का कहना था कि इतिहास ऑस्टिन के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता। उसने लिखा है कि पंजाब के राजा रणजीत सिंह ने कभी ऐसा कोई आदेश जारी नहीं किया, जिसे ऑस्टिन के शब्दों में या परिभाषा में क़ानून कहा जा सके। उसकी प्रजा का जीवन प्रचलित सामाजिक प्रथाओं के आधार पर ही चलता था। प्रथाओं के आधार पर बने हुए इन नियमों का पालन भी क़ानून की तरह गैर-सरकारी पंचायतों द्वारा कराया जाता था। यद्यपि अपने ग्रन्थ में ऐसी शंकाओं का समाधान ऑस्टिन ने यह कहकर किया था कि संप्रभु जिस बात अर्थात् जिस प्रथा को स्वीकार कर लेता है, वह भी उसका आदेश हो जाता है, तो भी वास्तव में यह उत्तर पर्याप्त नहीं है; क्योंकि संप्रभु को यह स्वीकृति देने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता।

ऑस्टिन की आलोचना

लीकॉक ने ऑस्टिन की आलोचना करते हुए कहा है कि ऑस्टिन ने वास्तव में आधुनिक जगत में प्रचलित शक्ति का दिग्दर्शन भर कराया है। यदि हम ऑस्टिन की परिभाषा स्वीकार करें तो राज्य का अर्थ केवल वे समाज रह जायँगे जिनमें आदेश तथा उनका पालन स्पष्ट रूप में दिखता है। क़ानून का अर्थ केवल संप्रभु का दिया हुआ आदेश रह जायगा। चाहे वह आदेश प्रत्यक्ष रूप से दिया गया हो या अप्रत्यक्ष रूप से।

संप्रभुता के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralism) के माननेवालों ने भी इस सिद्धान्त की आलोचना की है। चूँकि बहुलवादी सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे, इसलिये उसी समय हम इस सम्बन्ध में दी गई आलोचना का भी अध्ययन करेंगे।

प्रोफ़ेसर गारनर का मत है कि ऑस्टिन ने सबसे बड़ी ग़लती यह की है कि संप्रभुता के क़ानूनी पक्ष पर बहुत अधिक ज़ोर दिया है। उसने अन्य पक्षों और प्रभावों को छोड़ दिया है। एक वकील के लिये ऐसी ग़लती करना स्वाभाविक है। यदि हम केवल क़ानून की दृष्टि से देखें तो ऑस्टिन का सिद्धान्त बिलकुल

9

सही दिखता है, परन्तु यदि अन्य पक्षों का भी विचार करें तो उसमें अनेक त्रुटियाँ नज़र आती हैं।

प्रोफेसर गिलक्राइस्ट का मत है कि जब ऑस्टिन अपने सिद्धान्तों को इंगलैण्ड और अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर लागू करता है, तो उसकी ग़लती या कठिनाइयाँ स्पष्ट हो जाती हैं। इंगलैण्ड के सम्बन्ध में वह कहता है कि संप्रभुता हाउस ऑफ कॉमन्स (वहाँ की लोकसभा) में निवास करती है। यह सभा अपने प्रतिनिधियों के द्वारा संप्रभुता का उपयोग करती है। अर्थात् दूसरे शब्दों में मतदाताओं में संप्रभुता निवास करती है और वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा उसका प्रयोग करते हैं। इसको स्वीकार करते हुए भी ऑस्टिन कहता है कि प्रतिनिधियों को मतदाता अपने अधिकार बिना किसी शर्त के पूर्ण रूप से दे देते हैं। अर्थात् संप्रभुता हाउस ऑफ कॉमन्स, हाउस ऑफ लॉर्ड्स और राजा तीनों में निवास करती है, मतदाताओं में नहीं। जब पार्लियामेण्ट अर्थात् संसद का विघटन हो जाता है, तो वह फिर मतदाताओं में आ जाती है। कभी वह कहता है कि कॉमन्स सभा अपने मतदाताओं की एक ट्रस्टी या संरक्षक मात्र है। स्पष्ट बात यह है कि अपने सिद्धान्त की कठिनाई को देखते हुए ऑस्टिन इंगलैण्ड में संप्रभुता के निवासस्थान के सम्बन्ध में कई परस्पर विरोधी बातें कहता है। एक स्थान पर वह कहता है कि पार्लियामेण्ट संप्रभु है। फिर वह कहता है कि राजा, लार्ड सभा और मतदाता मिलकर संप्रभु हैं। फिर वह कहता है कि जब संसद अर्थात् लोकसभा विघटित हो जाती है, तो मतदाता संप्रभु हो जाते हैं। कभी वह कहता है कि लोकसभा अर्थात् कॉमन्स सभा मतदाताओं की एक ट्रस्टी मात्र है; और कभी कहता है कि वह ट्रस्टी नहीं है।

वास्तव में ऑस्टिन ने ग़लती यह की है कि उसने संप्रभुता के क़ानूनी (Legal) और राजनीतिक पहलुओं या रूपों को मिला दिया है। यदि इन दो रूपों को अलग-अलग कर दिया जाय तो उसकी समस्या हल हो जायगी। जैसा कि हम कह चुके हैं, ऑस्टिन एक वकील था और उसने संप्रभुता के केवल क़ानूनी पक्ष को देखा है। यहाँ तक तो उसका कहना ठीक है कि क़ानूनी दृष्टि से संप्रभुता राजा सहित संसद (King in Parliament) में निवास करती है। लेकिन क़ानूनी संप्रभु पर भी जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, उनकी ओर ऑस्टिन ने ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिये मतदाताओं को किसी भी प्रकार क़ानूनी संप्रभु नहीं कहा जा सकता। पर राजनीतिक संप्रभुता उनमें अवश्य निवास करती है। ऑस्टिन के मतानुसार संसद सहित राजा क़ानूनी दृष्टि से निरंकुश संप्रभु अवश्य है, परन्तु राजनीतिक संप्रभुता उसे कई प्रकार से सीमित करती है।

संप्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त
(The Pluralistic View of Sovereignty)

राजनीति विज्ञान के लेखकों ने संप्रभुता पर क़ानूनी, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों से विचार किया है। ये सब लेखक इस बात पर एकमत हैं कि राज्य में संप्रभु नाम की एक ऐसी सत्ता होनी चाहिये, जिसमें शासन के सब अधिकार अन्तिम रूप में निरंकुश होकर निवास करें। अर्थात् इन लेखकों ने संप्रभुता का एक विराट सर्वग्राही रूप देखा है और उसे एक स्थान में केन्द्रित करने के प्रयत्न किये हैं। इन लोगों में अन्तर या मतभेद केवल इसी बात पर था कि राज्य की यह विराट सत्ता का प्रयोग कैसे किया जाय ; कौन इसका प्रयोग करे। किसी का मत था कि संप्रभुता एक व्यक्ति में निवास करती है, किसी का विचार था कि वह कई व्यक्तियों में निवास करती है। समय-समय पर देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार संप्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। फिर भी संप्रभुता के सम्बन्ध में प्रचलित विचार यही थे कि वह एक, अविभाज्य और असीमित होती है। इसे संप्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic view of Sovereignty) कहते हैं। परन्तु समय की परिस्थितियों ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त पर भी प्रहार आरम्भ किये। जिनका मत था कि संप्रभुता समाज के विभिन्न वर्गों या समूहों में निवास कर सकती है। उसका, एक, अविभाज्य इत्यादि होना आवश्यक नहीं है। इन विचारकों को द्वैतवादी या बहुलवादी (Pluralists) कहते हैं। इस विचार-धारा का प्रमुख प्रवर्त्तक जर्मन न्यायशास्त्री ओटो गियर्क था। इंगलैण्ड में इसके प्रवर्त्तक और समर्थक फिगिस, मेटलेण्ड, बारकर, मैकआइवर और लॉस्की हुए हैं।

संप्रभुता के एकत्व या अद्वैतवादी सिद्धान्त को जो चुनौती दी गई है, उसके तीन प्रधान कारण हैं। एक बात तो यह है कि राज्य के कार्यक्षेत्र में बहुत विस्तार हुआ है। जब तक राज्य का प्रधान उद्देश्य शान्ति बनाये रखना, न्याय करना तथा सुरक्षा का प्रबन्ध करना था तब तक प्रभुत्त्व और आज्ञा देने या आदेश जारी करने पर अधिक जोर दिया जाता था। परन्तु जब से राज्य ने समाज कल्याण और आर्थिक उन्नति सम्बन्धी (Welfare activities) कार्य भी अपने हाथ में ले लिये, तब से राज्य का प्रधान उद्देश्य समाज सेवा माना जाने लगा। अब राज्य के कार्यों में शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य, रेलें, डाक और तार, सार्वजनिक निर्माण कार्य, प्रकाश इत्यादि भी आ गये। इन सब कार्यों के लिये भी क़ानून आवश्यक हैं। लेकिन ये कार्य संप्रभुता के सिद्धान्त पर नहीं बन सकते। इन

कार्यों में आज्ञा देने या आदेश ज़ारी करने की भावना निहित नहीं हो सकती। इस नये वातावरण में एक नयी व्यवस्था उत्पन्न हो गई। इस नयी व्यवस्था में नयी-नयी संस्थाओं का जन्म हुआ। इन संस्थाओं के लिये, इस नयी व्यवस्था के लिये जो क़ानून बने और बनते हैं, उनका आधार संप्रभुता न होकर समाज-सेवा होती है।

दूसरी प्रधान बात यह है कि गत सौ वर्षों में विज्ञान ने संसार की काया पलट दी है। आज की दुनिया में उत्पादन और वितरण अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर होते हैं। आज संसार का कोई भी देश या राज्य एक इकाई के रूप में अन्य देशों से अलग होकर नहीं रह सकता। उसे एक-न-एक स्थिति पर अन्य देशों के साथ सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती ही है। इसलिये किसी भी देश को अन्य देशों के सम्बन्ध में अपनी संप्रभुता पर विचार करते समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर ध्यान देना ही पड़ता है ; और आवश्यकतानुसार उसे सीमित करना ही पड़ता है। आज के स्वतन्त्र और सम्पूर्ण प्रभुत्वपूर्ण देश वैसे नहीं हैं, जैसे वे दो सौ वर्ष पहले थे।

तीसरे, आज प्रत्येक देश के राजनीतिक जीवन में संघ या वर्ग (groups) बहुत महत्त्व रखते हैं। हॉब्स इन संघों को, इन समूहों को शरीर में कीड़ों के समान मानता था। परन्तु आज इनका एक निश्चित सामाजिक महत्त्व है। फिगिस जो संघों का बड़ा भारी समर्थक था। उसका मत था कि कुटुम्ब, धार्मिक सम्प्रदाय, मजदूर संगठन, विश्वविद्यालय इत्यादि जैसे संघ और संगठन मनुष्य की सामूहिक प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए हैं। इन्हें राज्य ने उत्पन्न नहीं किया है। इसलिये राज्य की सर्वोच्च सत्ता को यह बात स्वीकार करनी चाहिये कि इनका अपना जीवन है, अपना प्राण है, और उसका इन्हें अधिकार है। क्रैब का भी मत है कि मज़दूर संघ जैसे आर्थिक संघटनों के रहते सामाजिक जीवन पर केवल राज्य का ही अधिकार नहीं रहता। इसी प्रकार औद्योगिक, धार्मिक और राजनीतिक संघटन हैं, जो विभिन्न प्रकार के स्वार्थों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अब समाज वास्तव में विभिन्न संघों का समूह है। वह केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है। मेटलेण्ड का मत है कि राज्य विभिन्न संघों और उनके कार्य-कलापों को स्वीकार करने के लिये आज बाध्य है।

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विशारद प्रोफेसर लॉस्की ने तो यहाँ तक कहा है कि राज्य की संप्रभुता का सिद्धान्त अब मान्य नहीं है। उनका मत है कि कोई भी आधुनिक राज्य न एक इकाई है, न निरंकुश है और न स्वतन्त्र। आज का राज्य बहुरूपी, वैधानिक और जिम्मेदार है ("It is pluralistic, constitutional responsible")। वह शक्ति का प्रयोग करता है, वह शक्ति-सीमित है। वह

प्रभुत्व का प्रयोग न करके आदेशों द्वारा मार्ग प्रदर्शन करता है। वह स्थायी न होकर मतदाताओं की इच्छानुसार परिवर्तनशील होता है। उसकी शक्ति क्षेत्रीय और व्यावसायिक संघों में बिखरी हुई है। बाह्य और आन्तरिक कार्यों में भी उसकी शक्ति सीमित होती है। उसके कार्यों में परिवर्तन भी होता रहता है। वास्तव में अन्य संघों की तरह राज्य भी एक संघ है। उसकी एक विशेषता यह है कि वह अन्य संघों में सहयोग स्थापित करता है। वह एक सार्वजनिक सेवा संस्था है। लॉस्की ने अपनी "ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स" नामक ग्रन्थ में ये विचार व्यक्त किये हैं। लॉस्की का मत है कि कोई संप्रभु नहीं होता, कोई ऐसा निश्चित प्रधान नहीं है, जो अन्तिम रूप में आज्ञा और आदेश देता हो; और जिनका पालन करना प्रजा का धर्म या कर्त्तव्य हो। लॉस्की ऐसी व्यवस्था के पक्ष में था जिसमें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक संघों को अपने-अपने कार्य-क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता हो और राज्य ऐसा संघ हो, जो इन विभिन्न संघों में केवल सहयोग, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता रहे। लॉस्की ने ऐसे उदाहरण दिये हैं, जब राज्य में समूहों के विरोध करने पर राज्य स्वयं अपने क़ानूनों पर अमल करने का साहस नहीं कर सका। उसका मत है कि अन्य संघों पर राज्य केवल अपने नैतिक बल से ही प्रधानता पा सकता है। वह अन्य संघों पर केवल एक प्रकार का नैतिक नियंत्रण भर कर सकता है।

संप्रभुता पर लॉस्की के विचार

बहुलवादी सिद्धान्त के समर्थकों ने एक ग़लती यह की है कि उन्होंने मान लिया कि राज्य की संप्रभुता की शक्ति सुषुप्त रहती है। वह केवल कभी-कभी जाग्रत होती है। लेकिन सच बात यह है कि यह शक्ति निरन्तर जाग्रत रहती है और राज्य इसका प्रयोग प्रतिदिन हमेशा करता रहता है। उदाहरण के लिये बहुलवादी इस बात को तो मानते ही हैं कि राज्य को कर लगाने का अधिकार है। उसे जन्म और निवास के आधार पर नागरिकता देने का अधिकार है।

राज्य की संप्रभुता की आवश्यकता

दूसरी बात यह है कि बहुलवादी राज्य के भीतर विभिन्न संघों के लिये स्वतन्त्रता माँगते हैं। लेकिन यह बात वे भी स्वीकर करते हैं कि इन संघों के ऊपर एक ऐसा संघ भी आवश्यक है, जो इन विभिन्न संघों में सहयोग स्थापित करे और साथ ही कमज़ोर संघों की मज़बूत संघों से रक्षा करे। उदाहरण के लिये यदि राज्य की देख-रेख न रहे, तो मज़दूर संघ कारखानों के मालिकों के संघों, उनकी संगठित शक्ति का मुक़ाबिला नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि जब राज्य में विभिन्न संघों में संघर्ष उत्पन्न होगा तो राज्य के व्यापक कल्याण,

उसके स्थायी हितों को हानि पहुँच सकती है। इसलिये राज्य नामक एक ऐसे संघ की आवश्यकता होती है, जो इन संघों को यथास्थान रखे और समाज के व्यापक हितों को हानि न पहुँचने दे।

यह भी कहा जा सकता है कि राज्य के बल-प्रयोग के अधिकार से स्वतन्त्रता ख़तरे में पड़ सकती है। लेकिन इसके उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि राज्य के भीतर रहनेवाले संघ अपने सदस्यों पर भी ऐसा बल-प्रयोग कर सकते हैं, जैसा राज्य न करेगा। ज़िमर्न ने लिखा है कि जो लोग राज्य की निरंकुशता की बात करते हैं, उन्हें यह न भूलना चाहिये कि कभी-कभी संघ पड़ोसी राज्य से अधिक अत्याचार कर सकते हैं। जो संघ जितना छोटा है, वह अपने सदस्यों पर उतना ही कड़ा नियन्त्रण रख सकता है।

प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज में एक ऐसी शक्ति होती है, जो उस सुव्यवस्था को स्थापित करती है। सुव्यवस्था के लिये कुछ नियम और क़ानून आवश्यक होते हैं। ये नियम और क़ानून इसी शक्ति से प्रवाहित होते हैं। इसी शक्ति के डर से समाज के वर्ग तथा संस्थाएँ और व्यक्ति उन नियमों तथा क़ानूनों का पालन करते हैं। यदि यह शक्ति न हो जिसका कि आश्रय अन्तिम रूप में लिया जा सकता है, तो प्रत्येक व्यक्ति या संस्था क़ानूनों का मनमाना अर्थ लगा सकती है और तब समाज में संघर्ष पैदा होगा। जब समाज में इस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होंगे तो सुव्यवस्था का लोप हो जायगा। इसलिये समाज में एक ऐसी अन्तिम शक्ति का होना आवश्यक है, जो क़ानून बना सके और उनका पालन भी करा सके। यही शक्ति निर्णय करती है कि क्या कार्य क़ानून के अनुकूल है और क्या क़ानून के प्रतिकूल है। क्या क़ानून है और क्या क़ानून नहीं है। प्रोफ़ेसर मैकआइवर ने नैयायिक या क़ानूनी संप्रभुता और राजनीतिक संप्रभुता में अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि संप्रभु राजनीतिक प्रभावों द्वारा क़ानूनी संप्रभुता की सीमाएँ निर्धारित करता है।

संप्रभुता के बहुलवादी सिद्धान्त के समर्थक प्रायः अमेरिका के संघ-शासन का उदाहरण दिया करते हैं। इसलिये इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

क्या अमेरिका में संप्रभुता विभाजित है ?

संप्रभुता की परिभाषा करते हुए बोदाँ ने लिखा है कि "संप्रभुता नागरिकों और प्रजा पर सर्वोच्च शक्ति होती है। उस पर क़ानून का बन्धन नहीं होता। संप्रभुता का प्रधान गुण यह है कि वह सब नागरिकों के लिये सामूहिक रूप में और व्यक्तिगत रूप में क़ानून निर्धारित करती है।" बोदाँ निरंकुश राजतन्त्र के समय में हुआ है। अतः उसके लिये संप्रभुता का केन्द्र-बिन्दु खोजना कठिन नहीं था। लेकिन अमेरिका में संघ-शासन है। वहाँ संप्रभुता का

केन्द्रबिन्दु खोजना कठिन है। कुछ लेखकों का मत है कि वहाँ संप्रभुता कई समूहों में बिखरी हुई है। राज्य के विधानमण्डलों, राष्ट्रपति तथा संविधान में संशोधन करनेवाली संस्थाओं में संप्रभुता बँटी हुई है। लेकिन डिकिनसन का कहना है कि संयुक्तराज्य अमेरिका में संप्रभु रूपी शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा संप्रभुता कार्य करती है और उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उच्चतम न्यायालय है। वह प्रत्येक अंग का कार्यक्षेत्र निर्धारित करता है और उसे अपनी सीमा के भीतर रखता है। किसी भी क़ानून या वैधानिक विवाद पर उच्चतम न्यायालय ही अन्तिम निर्णय देता है। अतएव वही एक अविभाजित संप्रभुता का प्रतीक है।

ल्यूइस रोको (Lewis Rockow) का मत है कि इधर हाल में बहुलवादी सिद्धान्त राज्य की सामाजिक व्यवस्था की ही आलोचना अधिक करता है, उसकी नियंत्रक शक्ति की कम।

सीमित संप्रभुता का सिद्धान्त
(Theory of Limited Sovereignty)

ऑस्टिन और हीगेल जैसे लेखकों ने जिस निरंकुश संप्रभुता का प्रतिपादन किया है, उसकी आलोचना कई लेखकों ने कई आधारों पर किया है। उदाहरण के लिये ब्लुंशली ने कहा है कि राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं है। बाहर से वह दूसरे राज्यों के अधिकारों द्वारा सीमित है और भीतर से वह अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिकों के अधिकारों द्वारा सीमित है।

कुछ लेखकों ने राज्य की संप्रभुता धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक आधारों पर सीमित करने की कोशिश की है। वे क़ानूनी बन्धनों और सीमाओं पर उतना ज़ोर नहीं देते। जैसे कि मारटेन्स का कहना है कि क़ानूनी दृष्टि से भी ईश्वर राज्य की अपेक्षा कहीं बड़ा है। कुछ विचारकों का मत है कि दैवी क़ानून या नियम (Divine Law) राज्य की संप्रभुता को सीमित करता है और कुछ लेखकों का मत है कि नैतिक नियम और नागरिकों के अधिकार राज्य की संप्रभुता को सीमित करते हैं। राज्य समाज की नैतिकता को नहीं कुचल सकता। यदि कोई सरकार लोगों की भावनाओं को ठुकराती रहेगी तो वह अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकती। लार्ड ब्राइस ने भी कहा है कि सरकारें हमेशा जनता की स्वीकृति पर टिकती हैं, चाहे वह स्वीकृति व्यक्त हो या अव्यक्त हो।[१]

---

१ "Governments have always rested and must rest if not

अब यदि हम क़ानूनी दृष्टि से देखें तो इन नैतिक विचारों का राज्य के लिये कोई महत्त्व नहीं होता। संप्रभुता के संबन्ध में राज्य इन भावनाओं को स्वेच्छा से स्वीकार करता है। गारनर कहता है कि दैवी नियम, तर्क-वितर्क पर आधारित बन्धन, जनमत का भय इत्यादि राज्य की संप्रभुता पर कोई क़ानूनी बन्धन नहीं लगाते। इनका महत्त्व केवल उतना ही होता है, जितना राज्य इन्हें अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करता है।

कुछ लेखकों का मत है कि जिन राज्यों में लिखित और अपरिवर्तनशील संविधान होते हैं, उनमें उस हद तक संप्रभुता सीमित होती है। राज्य संविधान की धाराओं को ठुकरा नहीं सकता। संविधान में संशोधन के तरीक़े भी संविधान में ही निर्धारित कर दिये जाते हैं। जिन राज्यों में लिखित संविधान नहीं होते, उनमें कुछ वैधानिक प्रथाएँ होती हैं। वे संविधान की धाराओं के समान ही महत्त्वपूर्ण होती हैं और क़ानून बनाते समय उनके महत्त्व को पूर्णरूप से ध्यान में रखा जाता है। इंगलैण्ड में संसद वैधानिक प्रथाओं को पूर्ण मान्यता देती है। ये प्रथाएँ भी संप्रभुता पर व्यावहारिक बंधन हैं।

कुछ लोगों का कहना है, प्रत्येक देश में कुछ ऐसे सामाजिक नियम (Positive Laws) होते हैं, जो राज्य के बनाये हुए क़ानूनों के समान ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। जैसे कि भारत में जाति या वर्ण-व्यवस्था। इन नियमों को संप्रभु को स्वीकार करना पड़ता है। लेकिन इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि संप्रभु सब क़ानून बदल सकता है। यही तो संप्रभुता की विशेषता होती है। वास्तव में ये आलोचक सरकार और राज्य के भेद को भूल जाते हैं। संप्रभुता राज्य का गुण है, सरकार का नहीं। सरकार की शक्ति सीमित होती है; परन्तु राज्य की शक्ति की कोई सीमा नहीं होती। राज्य की संप्रभुता जो भी सीमाएँ स्वीकार करती है, वह स्वेच्छा से स्वीकार करती है। वह उन्हें अस्वीकार करने की क्षमता भी रखती है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून द्वारा राज्य की संप्रभुता सीमित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा राज्य की संप्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सीमित हो जाती है। लेकिन इसके उत्तर में यह भी कहा जाता है कि राज्य इन सन्धियों को तोड़ने अर्थात् ख़तम करने की शक्ति भी रखता है, फिर चाहे उसका परिणाम उनके लिये कुछ भी हो। ज़िमर्न जैसे लेखकों का मत है कि सम्मान की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक ही राज्य दूसरे राज्यों के साथ की गई

---

on the reflection, then on the reverence or awe, if not on the active approval, then on the silent acquiescence of the numerical majority."—(**Bryce**)

सन्धियों को मानते हैं। संप्रभुता के क़ानूनी या नैयायिक आधार पर तो यह बात ठीक जँचती है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में कोई भी राज्य अधिक समय तक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के साथ खेलवाड़ नहीं कर सकता। कुछ लेखकों का यह मत अवश्य उचित जँचता है कि आज जब एक विश्व का नारा सुनाई पड़ता है और राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाएँ विद्यमान हैं, तो वह दिन दूर नहीं है, जब किसी राज्य की संप्रभुता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को ही अधिक महत्त्व प्राप्त होगा।

संप्रभुता के सिद्धान्त का इतिहास
(History of the Theory of Sovereignty)

आधुनिक काल में संप्रभुता के सिद्धान्त की स्पष्ट रूपरेखा हम सोलहवीं शताब्दी में पाते हैं। मध्य काल में हम ऐसे राज्य की कल्पना नहीं पाते, जो आन्तरिक मामलों में और बाह्यरूप से पूर्ण स्वतन्त्र हो। इसके तीन प्रधान कारण थे—विश्व साम्राज्य में विश्वास, सामन्तशाही की प्रथा और प्राकृतिक नियम में विश्वास। उन दिनों पवित्र रोम साम्राज्य विश्वव्यापी माना जाता था। इसलिये स्वतन्त्र समान दर्जे के संप्रभुतापूर्ण राज्यों की स्थापना असम्भव थी। फिर छोटे-छोटे समूहों के आधार पर सामन्तशाही स्थापित थी। इन सामन्तों और इनके भक्त या अधीन समूहों के रहते एक संप्रभु राजा का होना कठिन था। फिर प्रकृति का क़ानून या दैवी सिद्धान्त मनुष्य के बनाये हुए सब क़ानूनों से श्रेष्ठ माना जाता था। इसलिए संप्रभु की सर्वोपरि क़ानून बनाने की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती थी। मध्ययुग के अन्त में पोप की सत्ता एक छाया मात्र रह गई और एक विश्वव्यापी साम्राज्य में विश्वास समाप्त हो गया। लगातार संघर्ष के कारण सामन्तों की शक्ति क्षीण हो गई और राजा शक्तिशाली हो गये। फ्रान्स में एक शक्तिशाली राज्यतन्त्र का उदय हुआ। और सबसे पहले संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी फ्रान्स में ही हुआ।

जीन बोदाँ (Jean Bodin) पहला फ्रेञ्च लेखक था, जिसने संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसकी "गणतन्त्र" (Dela Republique) नामक पुस्तक सन् १५७६ में प्रकाशित हुई। संप्रभुता की परिभाषा करते हुए उसने कहा कि संप्रभुता नागरिकों और प्रजा पर वह सर्वोपरि शक्ति है, जिसे क़ानून सीमित नहीं कर सकते। उसके अनुसार संप्रभुता एक व्यक्ति में भी निवास कर सकती है और कई व्यक्तियों में भी। परन्तु वह एक ही व्यक्ति में संप्रभुता शक्ति का केन्द्रित होना पसन्द करता था।

सन् १६२५ हॉलैण्ड के लेखक ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) नामक लेखक ने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून पर अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया। उसने संप्रभुता के बाह्य पक्ष का स्पष्टीकरण किया। उसने कहा कि सब राज्य एक समान दर्जे के और स्वतन्त्र है। आन्तरिक मामलों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। उसका कहना था कि राज्य व्यक्तियों के समान हैं, जो मानो एक पूर्व समझौते के अनुसार एक दूसरे से व्यवहार करते हैं।

आधुनिक राज्य-सिद्धान्त की नींव प्रसिद्ध अँगरेज़ विचारक हॉब्स (Hobbes) ने डाली। उसने निरंकुश और सर्वोपरि संप्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो किसी के प्रति जिम्मेदार नहीं थी। उसका मत था कि एक समझौता के द्वारा प्रजा ने अपने सब अधिकार राजा को सौंप दिये। इस समझौते में राजा ने कोई वचन नहीं दिया। वह एकतरफ़ा समझौता था, जिसे प्रजाजनों ने आपस में किया था। हॉब्स ने देखा कि समय की आवश्यकतानुसार राज्य की धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों का एक राजा के हाथ में केन्द्रित होना आवश्यक था। उसने संप्रभुता राजा के हाथ में स्थापित की। वह अविभाज्य संप्रभुता का समर्थक है, जिसमें प्रजा का कोई हाथ नहीं रहता। राज्य के भीतर राजा की समता करनेवाली अन्य कोई शक्ति नहीं होती। जैसा कि हम देख चुके हैं, हॉब्स, राज्य अथवा राजा और सरकार में कोई अन्तर नहीं मानता। राज्य में सब प्रकार के क़ानून बनाने का एक मात्र अधिकार केवल राजा को रहता है। प्रजा राजा के निजी या सार्वजनिक जीवन में किसी प्रकार का दख़ल नहीं दे सकती। प्रजा की शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी जिम्मेदारी केवल राजा ही की रहती है। वही इस सम्बन्ध में निर्णय ले सकता है। वह जनमत का निर्णायक और नियंत्रक भी होता है। हॉब्स निरंकुश, सर्वव्यापी, स्थायी और अविभाज्य संप्रभुता का समर्थक था। उसने ग़लती यह की कि राज्य की क़ानूनी निरंकुश संप्रभुता को सरकार की निरंकुशता के साथ एकाकार कर दिया। उसने प्रजा को पूर्ण रूप से राजा के हाथ में रख दिया।

हॉब्स के बाद इंगलैण्ड में दूसरा प्रसिद्ध विचारक लॉक हुआ है। वह एक वैधानिक विचारवादी था। वह संप्रभुता शब्द के बदले "सर्वोच्च शक्ति" (Supreme Power) का उपयोग करता है। इस सर्वोच्च शक्ति को वह जनता के हाथ में रखता है, क्योंकि जनता ही सब शक्ति की अन्तिम स्रोत है। जनता विधानमंडल को चुनती है और विधानमंडल राज्य के लिये सब क़ानून बनाता है। कार्यकारिणी विधानमंडल के अधीन होती है। जब विधानमंडल अधिवेशन में नहीं रहता तो कार्यकारिणी सर्वोच्च होती है। फिर

भी अन्तिम रूप में सर्वोच्च शक्ति जनता में निवास करती है, क्योंकि जनता ही इन्हें बनाती और बिगाड़ती है। आधुनिक भाषा में हम लॉक को जनवादी संप्रभुता का समर्थक कह सकते हैं।

संप्रभुता सिद्धान्त का जो आधुनिक रूप है, उसका प्रवर्तक रूसो था। एक तो उसने संप्रभुता को निरंकुश, कभी ग़लती न करनेवाली अर्थात् अचूक, अविभाज्य और अपरित्यज्य बतलाया और दूसरे उसने उसे राजा के बदले जनता में स्थापित किया। जनता के लिये वह "व्यापक इच्छा" शब्दों का प्रयोग करता है। चूँकि संप्रभुता व्यापक इच्छा में निवास करती है, इसलिये उसका परित्याग जनता कभी नहीं कर सकती। जनता शक्ति का परित्याग कर सकती है, पर इच्छा का नहीं। वह उन दर्शनिकों की कटु आलोचना करता है, जो संप्रभुता का विभाजन करना चाहते हैं। वह कहता है कि वे ऐसे संप्रभु की कल्पना कर रहे हैं, जो कई टुकड़ों को मिलाकर एक समूह के रूप में बनाया गया हो। वे एक मनुष्य के ऐसी कई देहों की कल्पना करते हों, जिनमें से एक में केवल पैर हों, दूसरी में केवल हाथ, तीसरी में केवल आँखें। फिर वह कहता है कि व्यापक इच्छा कभी ग़लती नहीं करती, वह हमेशा सही होती है। इसीलिये किसी लेखक ने कहा है कि राजा के पक्ष में हॉब्स ने शक्ति जुटाई, जनता के पक्ष में रूसो ने वही शक्ति जुटा दी। हॉब्स ने राजा के व्यक्तित्त्व में राज्य और सरकार को समा दिया और रूसो ने जनता के व्यक्तित्त्व में राज्य और सरकार को समा दिया। उसने हॉब्स की निरंकुश संप्रभुता और लॉक की जनता की स्वीकृति के सिद्धान्तों को लेकर जनता की संप्रभुता का सिद्धान्त बना डाला।

आधुनिक युग में रूसो के दिये हुए जनसत्तात्मक आधार पर ही संप्रभुता के सिद्धान्त का विकास हुआ है। रूसो के बाद इंगलैण्ड में बेन्थम और ऑस्टिन ने इस सिद्धान्त का विकास क़ानून की दृष्टि से किया: उन्होंने राज्य को सर्वोच्च शक्ति माना। सरकार राज्य द्वारा बनती है, इसलिये उसकी शक्ति असीमित होती है। ग्रीन और बोसांके ने दार्शनिक आधारों पर राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया। उनका मत था कि राज्य मनुष्य की सामाजिक प्रकृति का प्रतीक है। इन सब विचारकों ने राज्य को एक इकाई माना है और संप्रभुता को भी "अद्वैत" माना है। अर्थात् संप्रभुता के समान राज्य में और कोई शक्ति नहीं होती। वह एक है, अविभाज्य है, सर्वव्यापी है। लेकिन आधुनिक युग में इस सिद्धान्त को चुनौती देने वाले विचारक भी हुए हैं। लॉस्की जैसे लोग इनमें प्रमुख हैं। इन विचारकों का मत है कि राज्य तो केवल एक भावनामात्र है। वास्तविकता तो सरकार में होती है। सरकार सम्पूर्ण जनता की एकता का प्रतिनिधित्त्व नहीं करती। वह केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्त्व करती

है, जो किसी एक समय सत्तारूढ़ होता है। प्रत्येक राज्य में नागरिकों के कुछ सामाजिक वर्ग होते हैं। इन वर्गों के अपने-अपने स्वार्थ होते हैं। किसी एक समय जिस वर्ग के हाथ में सरकार होगी, उसी वर्ग का राज्य प्रतिनिधित्व भी करता है। अर्थात् राज्य में किसी एक समय केवल किसी एक वर्ग की संप्रभुता होती है। आजकल ऐसे वर्ग भी होते हैं, जिनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय होता है। अतएव इन विचारकों का कहना है कि अभीतक संप्रभुता के सम्बन्ध में जो विचार प्रचलित हैं, वे अब मान्य नहीं हैं। लेकिन बहुलवादी सिद्धान्त के अध्ययन में हम कह चुके हैं कि इन आलोचनाओं का भी उत्तर दिया जा चुका है।

अध्याय ८

क़ानून

(Law)

संप्रभुता सम्बन्धी अध्याय में हम देख चुके हैं कि राजसत्ता का मूल मन्त्र या सारतत्त्व क़ानून है। इसलिए इस अध्याय में हम क़ानून या विधि की प्रकृति, रूप-रेखा और उसके स्रोतों का अध्ययन करेंगे। अँगरेजी भाषा में 'ला' शब्द जिन बातों का द्योतक है, हिन्दी भाषा में उनके लिए सिद्धान्त, नियम, विधि और क़ानून शब्द प्रचलित हैं। हम इस अध्याय में इन सब बातों के लिए केवल क़ानून शब्द का प्रयोग करेंगे। नियम या क़ानून कई प्रकार के होते हैं। जैसे कि भौतिक और रसायनशास्त्र के कुछ नियम होते हैं। कुछ नियम आचारशास्त्र के होते हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से होता है। ये बतलाते हैं कि मनुष्य के लिए सत्कर्म क्या हैं और दुष्कर्म क्या हैं। नैतिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक जीवन से होता है। जनमत की शक्ति या समाज इन नैतिक और आचार नियमों का पालन कराता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य में कुछ राजनीतिक नियम होते हैं, जो राज्य के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्त्तव्य निर्धारित करते हैं, प्रायः क़ानून शब्द हम अदालतों, वकीलों, और जजों के नामों के साथ जोड़ते हैं, क्योंकि क़ानूनों का काम यहीं पड़ता है। लेकिन हमारे अध्ययन के लिये क़ानून के उन आधारभूत साधारण सिद्धान्तों को जानना काफ़ी है, जिनका सम्बन्ध राज्य की प्रकृति से है। क़ानून के सिद्धान्तों का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन न्यायशास्त्र (Jurisprudence) में किया जाता है।

क़ानून की परिभाषा :—राजनीति और न्यायशास्त्र के विचारकों ने क़ानून की परिभाषा अपने-अपने मतों के अनुसार की है। यहाँ हम उनमें से प्रमुख विचारकों की परिभाषा देते हैं।

१. **विलोबी** :—क़ानून आचरण के वे नियम हैं, जिनके अनुसार न्यायालय कार्य करते हैं। वैसे तो समाज में आचरण के बहुत से नियम होते हैं, परन्तु क़ानून में यह विशेषता होती है कि उसे राज्य की सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त रहती है।[1]

२. **हॉलैण्ड** :—"मनुष्य के प्रकट कार्यों के सामान्य नियम ही क़ानून हैं। राज्य में संप्रभुतापूर्ण सत्ता ही इन नियमों का पालन कराती है।"[2]

३. **ऑस्टिन** :—अन्तिम रूप में क़ानून वे आदेश होते हैं, जिन्हें किसी स्वतन्त्र राजनीतिक समाज में ऐसे एक व्यक्ति या कई व्यक्ति जारी करते हैं, जिनमें संप्रभुता निवास करती है।

४. **वुडरो विलसन** :—क़ानून प्रचलित प्रथाओं के वे रूप हैं, जिन्हें सरकार की सत्ता का समर्थन प्राप्त है।[3]

ऑस्टिन ने क़ानून की जो परिभाषा की थी, वह सर हेनरी मेन के मतानुसार बहुत संकीर्ण थी। वह प्रचलित प्रथाओं को ध्यान में न रखकर सब क़ानूनों को अन्त में संप्रभु का आदेश ही मानती है। इस आलोचना को ध्यान में रखकर ही वुडरो विलसन ने उपरोक्त परिभाषा गढ़ी। सब बातों को ध्यान में रख कर हम कह सकते हैं कि प्रोफ़ेसर हॉलैण्ड की दी हुई परिभाषा सबसे अधिक उपयुक्त है।

---

१ "Those rules of conduct that control courts of justice in the exercise of their jurisdictions. As distinguished from all rules of conduct that obtain more or less general recognition in a community of men, they are such as have for their ultimate enforcement the entire power of the state."

—(**Willoughby.**)

२ "A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is paramount in a political society; a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority."—(**Holland.**)

३ "Law is that portion of the established thought and habit, which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of government."—(**Woodrow Wilson**)

इसी प्रकार बेंथम, कारटर, डाइसी, सामण्ड इत्यादि विद्वानों द्वारा क़ानून की विविध परिभाषाएँ की गईं हैं। इन सब परिभाषाओं के मूल में वही बातें हैं, जो ऊपर दी हुई परिभाषाओं में किसी-न-किसी रूप में कही गई हैं। ये परिभाषाएँ विभिन्न विचारधाराओं के दार्शनिकों द्वारा अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार की गई हैं। इन विचारधाराओं का अध्ययन हम आगे करेंगे। यहाँ हम यह देखेंगे कि प्रत्येक परिभाषा क़ानून के अस्तित्त्व के लिये दो बातें आवश्यक मानती हैं। एक राजनीतिक समाज का होना और दूसरा नियमों का एक समूह। बिना कुछ नियमों के कोई भी समाज अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सकता। एक साधारण से क्लब को चलाने के लिये भी नियमों की एक सूची आवश्यक होती है। इसी प्रकार समाज के लिये भी कुछ नियम आवश्यक होते हैं। कोई ज़रूरी नहीं है कि ये नियम लिखित ही हों। बहुत-सी प्रथाएँ ही नियमों या क़ानूनों का रूप धारण कर लेती हैं। एक आधुनिक समाज में सरकार अवश्य होती है और उस सरकार के क़ानून बनाने वाले अंग होते हैं।

क़ानूनशास्त्र या न्यायशास्त्र की विभिन्न विचारधाराएँ (Schools of Jurisprudence) :—न्यायशास्त्र में कई विचारधाराएँ हैं, जो क़ानून के सब पहलुओं पर अपनी-अपनी दृष्टियों से विचार करती हैं। हम इनमें से प्रमुख विचारधाराओं पर विचार करेंगे। इनमें सबसे पहले विश्लेषणात्मक विचारधारा (Analytical school) है। इस विचारधारा के लेखक प्रचलित क़ानूनों का वर्गीकरण करते हैं। यह वर्गीकरण क़ानूनों की प्रकृति, तुलनात्मक मान्यता तथा पालन के आधार पर किया जाता है। वर्गीकरण के बाद क़ानूनों की प्रकृति का अध्ययन किया जाता है। इस विचारधारा का सबसे बड़ा प्रवर्तक और समर्थक जॉन ऑस्टिन था। बोदाँ, हॉब्स, स्पिनोज़ा तथा बेन्थम के विचारों के आधार पर ऑस्टिन ने अपनी व्याख्या की। हॉलेण्ड ने भी इसी विधि के अनुसार इसी विचारधारा का अनुसरण किया है। इस रीति में दोष यह है कि यह उपस्थित सामग्री का विश्लेषण करके रह जाती है। उसका विकास नहीं करती है। इसके आधार पर नये क़ानून बनाने के प्रयोग नहीं किये जा सकते। इस शैली में खूबी यह है कि इसमें सन्देह के लिये गुंजायश नहीं रह जाती।

इसके विपरीत न्यायशास्त्र की ऐतिहासिक विचारधारा (Historical school) क़ानून या विधि तथा उसके सिद्धान्तों का विकास क्रम बतलाती है। इसकी प्रवृत्ति विधि के मूल तत्त्वों पर विचार करने की है। ऐतिहासिक विचारधारा का प्रवर्तक जर्मन विद्वान सेविगनी (Savigny) था।

सर हेनरी मेन, मेटलेण्ड तथा सर फ्रेडरिक पोलक ने इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। सेविगनी का मत था कि प्रथा के रूप में जो क़ानून प्रचलित होते हैं, वे राज्य की शक्ति का सहारा नहीं चाहते। वे उससे बिलकुल स्वतन्त्र होते हैं। राज्य का कार्य क़ानून बनाना नहीं है। उसका काम क़ानून को नियन्त्रित करके उसका पालन कराना है। राज्य के विधानमंडल प्रचलित क़ानूनों को केवल वर्गीकरण करके जारी कर देते हैं। अथवा प्रचलित सामाजिक नियमों का विशिष्ट रूप में उपयोग भर करते हैं। इसी बात को वुडरो विलसन ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है। "क़ानून बनाने वालों का काम वास्तव में उसकी व्याख्या करना है। वे क़ानून उत्पन्न नहीं करते; बल्कि उसे एक विशिष्ट रूप देते हैं। जिन धाराओं में राष्ट्रीय जीवन प्रवाहित होता है, क़ानून उन्हीं धाराओं के अनुकूल बनाये जाते हैं। व्यक्ति क़ानून नहीं बनाते। समाज की विशिष्ट आवश्यकताएँ, विशिष्ट परिस्थितियाँ, विशिष्ट ख़तरे तथा विशिष्ट विपत्तियाँ क़ानून बनाती हैं। क़ानून बनानेवाली कोई भी सत्ता ऐसा क़ानून नहीं बनाती, जो राष्ट्र की परिस्थितियों या जनमत द्वारा प्रेरित न हो।"

इस विचारधारा में त्रुटि यह है कि यह एक प्रकार से रूढ़िवादी-सी हो जाती है। यह वैधानिक इतिहास पर बहुत अधिक ज़ोर देने लगती है। जो बातें भूतकाल में उपयुक्त थीं, उन्हीं को यह वर्तमान के लिये भी उपयुक्त बतलाती है। लेकिन वास्तव में वैधानिक विश्लेषण केवल ऐतिहासिक विचारधारा द्वारा ही सम्भव है। विशुद्ध विश्लेषण केवल वर्तमान पर विचार करता है। अतः वह अत्यन्त सीमित होता है। जैसा कि लार्ड ब्राइस ने कहा है, सब प्रकार के क़ानून अतीत और वर्तमान के बीच प्रथाओं और वैधानिक परम्पराओं के बीच एक प्रकार का समझौता होता है।

क़ानून के अध्ययन की तीसरी विचारधारा दार्शनिक विचारधारा (Philosophical school) है। यह प्रथम दो विचारधाराओं से इस माने में भिन्न है कि न तो विश्लेषण-विचारधारा के अनुसार यह वर्तमान पर ही ध्यान देती है और न ऐतिहासिक विचार धारा की तरह केवल अतीत पर ही अपना अध्ययन आधारित करती है। इस विचारधारा में कुछ सिद्धान्तों के आधार पर क़ानून का तार्किक तरीके से औचित्य और अनौचित्य पर विचार-विमर्श किया जाता है। वास्तव में इसमें क़ानून पर केवल परोक्ष रूप से विचार होता है; प्रत्यक्ष रूप में या सीधे ढंग से इसमें केवल कुछ मूल सिद्धान्तों पर तर्क-वितर्क होता है। यह क़ानून के नैतिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान देती है। इस विचारधारा के दार्शनिकों ने तीन प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। एक में प्राकृतिक क़ानून (Law of Nature) को सब क़ानूनों का आधार माना है। दूसरे

प्रकार के विचारक उन्नीसवीं शताब्दी के आदर्शवादी कॉन्ट और हीगेल थे। उनका मत था कि क़ानून गढ़े नहीं जाते। कुछ नियम पहले से होते हैं और उनमें कुछ शोध करके, उनके दोष दूर करके उन्हें क़ानून का रूप दिया जाता है। इस प्रणाली या विचारधारा में तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जिन्हें सामाजिक दार्शनिक कहा जाता है। इनमें बीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादी, यथार्थ-वादी, प्रयोगवादी इत्यादि विचारक आते हैं।

आधुनिक काल में क़ानूनशास्त्र के अध्ययन की एक तुलनात्मक विचार-धारा (Comparative school) भी प्रचलित हो गई है। यह प्रणाली बीसवीं शताब्दी में ही प्रचलित हुई है। इसकी विशेषता यह है कि यह संसार में प्रचलित क़ानून की विभिन्न व्यवस्थाओं का अध्ययन करती है। इस तुलना-त्मक अध्ययन के आधार पर क़ानून के सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं। इस दृष्टि से इस विचारधारा में सबसे अधिक वास्तविकता इसी पद्धति में पाई जाती है। इस प्रणाली के समर्थकों का मत है कि क़ानूनशास्त्र की गुत्थियों को सुलझाने में इस पद्धति से सबसे अधिक सहायता मिलती है। क्योंकि संसार की विभिन्न क़ानून व्यवस्थाएँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

वर्तमान काल में समाजशास्त्र का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक विषय का सम्बन्ध समाजशास्त्र से बतलाया जाता है। राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास इत्यादि सब समाजशास्त्र से सम्बन्धित बतलाये जाते हैं। अतएव क़ानूनशास्त्र का अध्ययन भी समाजशास्त्रीय विचारधारा (Sociological school) के आधार पर किया जाता है। इस पद्धति के प्रवर्तक कहते हैं कि क़ानून का सृजन सामाजिक शक्तियाँ करती हैं। अतः क़ानून का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिये। इस पद्धति में प्रचलित क़ानून व्यवस्थाओं के अध्ययन के अलावा इस बात पर भी विचार किया जाता है कि क़ानून का प्रयोग और उसका व्यवहार किस प्रकार किया जाता है। इन विचारकों का मत है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रहना ही पड़ता है। फिर समाज में जितने मनुष्य रहते हैं, वे विभिन्न वर्गों या समूहों में बँटे रहते हैं। इन वर्गों में भिन्नता होती है, अर्थात् उनमें विषमता के कारण संघर्ष होने की संभावना रहती है। अतएव आदर्श क़ानून वही है, जो विभिन्न वर्गों में सामंजस्य स्थापित करे। क़ानून समाज और व्यक्ति के बीच एक सामंजस्य स्थापित करता है। क़ानून समाज में जीवन संचारित करता है।

क़ानून की आवश्यकता :—क़ानूनशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ तो भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु सब विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि सभ्य

समाज के अस्तित्त्व के लिये क़ानून-व्यवस्था आवश्यक है। बिना क़ानून के जीवन चल नहीं सकता। सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिये ही क़ानून का आरम्भ हुआ। सामाजिक जीवन जैसे-जैसे जटिल होता गया, क़ानून की व्यवस्था भी वैसे-वैसे कई रूप धारण करती गई, अर्थात् फैलती गई। समाज में ज्यों-ज्यों वर्ग-संघर्ष बढ़ता गया, त्यों-त्यों क़ानून का उद्देश्य उस संघर्ष को कम करके सामंजस्य और शान्ति स्थापित करना होता गया। किसी भी समाज का क़ानून उसकी व्यवस्था अर्थात् विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्ध का द्योतक होता है। क़ानून समाज का दर्पण होता है। किसी समाज में प्रचलित क़ानूनों से हम उस समाज की प्रकृति जान सकते हैं।

क़ानून का एक पक्ष यह भी है कि वह समाज को चलने के लिये एक निश्चित मार्ग निर्धारित करता है। अर्थात् लोगों के नैतिक जीवन के मार्ग निर्धारित करता है। इस कार्य में भय भी सन्निहित होता है। अर्थात् कुछ लोग उचित-अनुचित के विचार से क़ानून का पालन करते हैं और कुछ लोग दण्ड पाने के भय से क़ानून का पालन करते हैं। आदर्श क़ानून-व्यवस्था वही है, जो लोगों या समाज की अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इसी को दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जाता है कि क़ानून राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। इसी बात को लॉस्की यों कहता है कि क़ानून समाज में वर्ग-व्यवस्था बनाये रखता है।

इसी सम्बन्ध में हमें क़ानून के क्रमिक विकास की ओर भी ध्यान देना चाहिये। जब सामाजिक जीवन प्रारंभ होता है, तो कुछ प्रथाएँ बनने लगती हैं और उन्हीं प्रथाओं के सहारे प्रारम्भिक समाज का जीवन चलता है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक समाज में धार्मिक, आर्थिक और नैतिक विभिन्न प्रकार की प्रथाएँ अवश्य प्रचलित रहती हैं। ये प्रथाएँ एक प्रकार से अलिखित क़ानून होती हैं। हमारे प्राचीन समाज में इस प्रकार की प्रथाओं को स्मृतियाँ कहा जाता था। कालान्तर में यही ऐसे नियम बन जाते हैं, जिन्हें सरकार भी क़ानून के रूप में स्वीकार कर लेती है और उनके उल्लंघन करनेवालों को दंड दिया जाता है।

प्राकृतिक नियम
(The Law of Nature)

प्राकृतिक नियमों या क़ानूनों की परम्परा ग्रीस देश के दार्शनिकों ने चलाई थी। उनका मत था कि इस विश्व का जीवन कुछ सुनिश्चित नियमों के आधार पर चलता है, विश्व के दैनिक जीवन के मूल में एक मौलिक एकता दिखती है। इन्हीं प्राकृतिक नियमों के आधार पर हम मनुष्यों के आचार सम्बन्धी कुछ

नियम भी निर्धारित कर सकते हैं। इन नियमों को उन दार्शनिकों ने प्रकृति के क़ानून और नियमों का नाम दिया। इन क़ानूनों को वे अमर और अटल मानते थे। प्लेटो और अरिस्टॉटल ने भी इन क़ानूनों को मान्यता दी है। वे इन्हें प्रकृति के नियम या प्रकृति का न्याय कहते थे। ग्रीस में दार्शनिकों का एक वर्ग था, जिन्हें स्टोइक (Stoics) कहते थे। इनकी अपनी विचारधारा थी। ये विश्व की इतनी बड़ी मौलिक एकता को एक तर्क पर आधारित मानते थे। प्राकृतिक नियम बड़े ही तर्कपूर्ण और सुस्पष्ट हैं। अतः उनके अनुसार मनुष्यों को अपना जीवन चलाना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि समाज के नियम भी इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार एक तर्क पूर्ण ढंग पर बनाये जायँ।

रोम साम्राज्य में प्राकृतिक नियम

कालान्तर में रोम साम्राज्य ने ग्रीस देश पर विजय प्राप्त की। लेकिन ग्रीस देश की सभ्यता और संस्कृति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसने रोम की दार्शनिक विचारधारा पर अपना प्रभाव डाला। रोम साम्राज्य ने सबसे महत्वपूर्ण काम यह किया कि एक बहुत अच्छी क़ानून-व्यवस्था का विकास किया। रोम में पहले केवल एक क़ानून-व्यवस्था प्रचलित थी, जिसे नागरिक क़ानून-व्यवस्था (Jus Civile or Civil Law) कहा जाता था। लेकिन जब रोमन साम्राज्य का विस्तार हुआ और कई देश उसके आधिपत्य में आ गये तो रोम के दार्शनिकों ने प्राकृतिक विधियों के आधार पर एक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून-व्यवस्था (Jus Gentium) का विकास किया। यह व्यवस्था वास्तव में विदेशियों के लिये थी और इसका विकास स्टोइक विचारधारा के आधार पर हुआ था। चूँकि इस व्यवस्था का विकास प्राकृतिक नियमों (Jus Naturale) के आधार पर हुआ था। इसलिये यह सब देशों में लागू की जा सकती थी। कालान्तर में इस व्यवस्था ने नागरिक क़ानून-व्यवस्था का स्थान ग्रहण कर लिया। लॉर्ड ब्राइस का मत है कि प्राकृतिक क़ानूनों से रोमन लोगों का मत यह है कि वह मनुष्य की प्रकृति से बहुत अधिक मेल खाता है और उसके तर्क की कसौटी पर चोखा सिद्ध होता है। उससे मनुष्य का नैतिक और भौतिक उत्थान होता है। यह सार्वदेशिक और तर्कसंगत होता है।

बाद में हॉब्स, लॉक और रूसो जैसे प्रभावशाली दार्शनिकों ने इस प्राकृतिक क़ानून को या व्यवस्था को स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने इसे अपनी-अपनी विचारधारा के अनुरूप स्वीकार किया। उदाहरण के लिये हॉब्स का मत था कि प्रकृति की व्यवस्था एक निरन्तर संघर्ष की विनाशकारी व्यवस्था थी। इसके विपरीत लॉक का मत था कि वह सुख और स्वतन्त्रता

की व्यवस्था थी। रूसो का मत था कि वह स्वतन्त्रता और समानता की व्यवस्था थी।

इन समझौतावादी दार्शनिकों के बाद आदर्शवादी दार्शनिकों ने प्राकृतिक व्यवस्था की कल्पना भिन्न-भिन्न रूपों में की। परन्तु साथ ही इसकी आलोचना भी काफ़ी हुई, जिसे हम मोटे तौर से तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। एक तो यह कहा जाता है कि प्राकृतिक व्यवस्था का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इतिहास के किसी भी काल में मनुष्य ने प्रत्यक्षरूप से इसका सहारा नहीं लिया। दूसरे प्राकृतिक क़ानून को राज्य द्वारा स्वीकृत क़ानून का सहारा प्राप्त नहीं होता। समाज में राज्य द्वारा प्रचलित क़ानून से उसका अस्तित्व भिन्न नहीं होता। मनुष्य प्रकृति कभी पूर्णता प्राप्त नहीं करती, अतएव उसके द्वारा बनाई हुई संस्थाएँ भी कभी पूर्णता नहीं प्राप्त करतीं। ऐसी अवस्था में उन्हें प्रकृति की काल्पनिक विधि-व्यवस्था कोई सहारा नहीं दे सकती। आधुनिक राजनीतिक विचारकों में विलोबी (Willoughby) को आदरणीय स्थान प्राप्त है। उसका मत है कि प्राकृतिक विधि-व्यवस्था के हम तीन विभिन्न अर्थ लगा सकते हैं, एक तो प्रकृति में कुछ प्रक्रियाएँ होती रहती हैं। उनके कारणों और कार्यों का हम अध्ययन कर सकते हैं। दूसरे जैसा कि हक्सले और स्पिनोज़ा ने कहा है कि तर्क के सिवाय अन्तःप्रेरणा से मनुष्य जो काम करता है, उन्हें हम प्राकृतिक नियमों पर आधारित कह सकते हैं। तीसरे मनुष्य दैवी या ईश्वरीय सत्ता को मानकर जो आचार करता है, उस आचरण को हम प्राकृतिक व्यवस्था पर आधारित मान सकते हैं। लेकिन वास्तव में प्राकृतिक विधि-व्यवस्था जैसी कोई चीज़ नहीं है। इस व्यवस्था के क़ानून केवल नैतिक आचार सम्बन्धी कुछ आदर्श हैं, जिन्हें व्यक्तिगत जीवन में तथा समाज की क़ानून-व्यवस्था में उचित स्थान मिलना चाहिये।

इस आलोचना के बावजूद हमें आधुनिक राज्य-व्यवस्था में प्राकृतिक विधि-व्यवस्था को किसी-न-किसी रूप में किसी-न-किसी अंश तक मान्यता पाई जाती है। जूरी की सहायता से न्याय-विचार की जो प्रथा ज़ारी की गई है, उसके मूल में यही सिद्धान्त है कि जब कई व्यक्ति बैठकर न्याय-विचार करेंगे तो वे प्रकृति या दैवी इच्छा का आधार ग्रहण करेंगे। दूसरे न्यायालयों में न्यायाधीश निर्णय करते हैं तो वे क़ानून के अलावा नैतिक सिद्धान्तों तथा अपनी आत्मा की आवाज़ पर भी ध्यान देते हैं। अर्थात् वे दैवी इच्छा या अन्तःप्रेरणा का सहारा लेते हैं। स्टोइक विचारधारा इस तथ्य को मान्यता देती है। तीसरे प्रत्येक सरकार नागरिकों की जान और माल की सुरक्षा सम्बन्धी अधिकार को मान्यता देती है। यह मूल अधिकार माना जाता है। अर्थात् इसका समर्थन प्राकृतिक

क़ानून के द्वारा माना जाता है। चौथी और सबसे बड़ी बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून में भी प्राकृतिक क़ानून को मान्यता प्राप्त है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को ह्यूगो ग्रोशियस ने सर्वप्रथम एक सुनिश्चित रूप दिया ; और उसने अपने अध्ययन में प्राकृतिक क़ानून को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। यह महत्त्व आज भी मान्यता रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के प्रायः सभी लेखक यह कहते हैं कि सब राज्य संप्रभुता की दृष्टि से बराबर स्थिति रखते हैं। उनके कुछ अधिकार होते हैं। प्रत्येक राज्य को अन्य सब राज्यों के सम्बन्ध में इन अधिकारों को मानना चाहिए और प्राकृतिक क़ानून के सिद्धान्त की अवहेलना नहीं करनी चाहिये।

क़ानून की उत्पत्ति के स्रोत
(The Sources of Law)

क़ानून की उत्पत्ति और विकास कई स्रोतों से होती है। राजनीति विज्ञान के पंडितों ने अपने-अपने मत के अनुसार क़ानून की उत्पत्ति के विभिन्न ज़रिये बतलाये हैं। ऑस्टिन तीन प्रधान स्रोत या ज़रिये बतलाये हैं। पहला स्रोत वह व्यक्ति या व्यक्ति समूह होता है, जो क़ानून को लिखित रूप दे। यह कार्य संप्रभुता सम्पन्न विधानमंडल भी कर सकता है और राजा भी कर सकता है। दूसरा स्रोत वे प्रलेख माने जाते हैं, जो प्राचीन काल में विभिन्न राज्यों में प्रचलित रहे हों। जैसे कि रोम साम्राज्य में प्रचलित क़ानून-व्यवस्था सम्बन्धी प्रलेख। ब्रेकटन, कोक, लिटिनटन इत्यादि के प्रलेख। भारत में प्राचीन काल से प्रचलित मनुसंहिता हिन्दू विधि विधान का स्रोत मानी जाती है। तीसरे वे स्रोत जिनके द्वारा प्रथा या परम्परा, न्याय, धर्म इत्यादि बातों को ध्यान में रख कर क़ानून बनाये जाते हैं।

प्रसिद्ध लेखक सामण्ड ने क़ानून की उत्पत्ति के ज़रियों को दो प्रधान भागों में बाँटा है—एक, औपचारिक (Formal) और दूसरा, भौतिक (Material or Substantative) । औपचारिक का अर्थ वे सब स्रोत या कारण हैं, जिनसे क़ानून मान्यता प्राप्त करता है। जैसे कि न्यायालय में राज्य की जो इच्छा प्रकट होती है और उसके पीछे जो शक्ति होती है, वही औपचारिक स्रोत है। भौतिक स्रोत वे हैं, जिनसे क़ानून को नैतिक मान्यता के सिवाय स्वयं विकसित होने की शक्ति प्राप्त होती है। ये भौतिक स्रोत दो प्रकार के होते हैं—एक ऐतिहासिक और दूसरे क़ानूनी। क़ानूनी स्रोतों की चार शाखाएँ मानी गई हैं—विधायन (Legislation) ; दृष्टान्त (Precedent), परम्परा (Custom) तथा समझौता (Agreement) ।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने-अपने मतानुसार विधि के अलग-अलग स्रोत बतलाये हैं। इनमें सबसे अधिक प्रचलित और स्पष्ट सूची हॉलैण्ड की है। उसने क़ानून के निम्नलिखित छः स्रोत बतलाये हैं—(१) प्रथा या प्रयोग (Custom or usage), (२) धर्म (Religion), (३) न्यायालयों के निर्णय (Judicial decisions), (४) वैज्ञानिक या तार्किक आधार पर वाद-विवाद (Scientific discussions), (५) औचित्य (Equity), और (६) विधायन (Legislation)। यह सबसे अधिक स्पष्ट सूची है। अब हम इन स्रोतों पर एक-एक करके विचार करेंगे।

(१) **प्रथा या प्रयोग (Costom or usase)**:—प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक जीवन का नियंत्रण कुछ परम्पराओं या प्रथाओं के आधार पर होता आया है। ये परम्पराएँ किसी ने बैठकर या एक सभा करके नहीं बनाई हैं, बल्कि इनका विकास धीरे-धीरे सामाजिक जीवन की गति के अनुसार हुआ है। कुटुम्बों और जातियों की परम्पराओं के अनुसार ये प्रथाएँ बनीं। लेकिन कालान्तर में सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक जीवन की गति तीव्र होती गई और परम्परा रूपी नियम या क़ानून समाज की ज़रूरतों को पूरा करने में पीछे रहने लगे। अतएव नये-नये निर्णयों और विधानों के आधार पर क़ानून बनने लगे। फिर भी इन पर प्राचीन परम्पराओं के प्रभाव की छाप स्पष्ट थी।

(२) **धर्म (Religion)** :—प्रारम्भिक समाजों में प्रथाओं और धर्म में विशेष अन्तर नहीं होता था। प्रथाएँ धार्मिक रूढ़ियों के रूप में प्रचलित थीं। समाज का जीवन अन्तिम रूप में धर्म के आधार पर ही चलता था। कुटुम्ब के प्रधान तथा जाति के मुखिया के अधिकार और कर्त्तव्य कुछ धार्मिक मान्यताओं पर आधारित थे। इस प्रकार प्रथा रूपी क़ानूनों को धर्म का समर्थन प्राप्त था और वे बहुत प्रभावशाली होते थे। उनका उल्लंघन करने पर कड़े से कड़ा दण्ड दिया जा सकता था। यद्यपि प्रारम्भिक धर्म का स्वरूप भी बहुत कुछ अन्धविश्वासों के समान था, पर था वह बहुलशाली। प्राचीन काल में सारे विश्व में यह प्रवृत्ति देखने में आती है। प्राचीन रोम साम्राज्य में क़ानून केवल कुछ धार्मिक रूढ़ियाँ थीं। पूर्वी देशों में भी यही हाल था। गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि कालान्तर में पश्चिमी देशों में क़ानून का स्वरूप राजनीतिक हो गया और पूर्व में धार्मिक। प्राचीन काल में इन प्रथामूलक और धर्म-प्रधान क़ानूनों का पालन एक व्यक्ति, एक सभा या पूरी जाति करती थी। लेकिन सभ्यता के विकास और सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ-साथ ये क़ानून भी अपर्याप्त सिद्ध होने लगे और न्यायालयों तथा न्यायाधीशों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

(३) न्यायाधीशों के निर्णय (Adjudication) :—जब सामाजिक जीवन की प्रगति बढ़ी और शीघ्र न्याय-विचार की आवश्यकता प्रतीत हुई तो न्यायाधीश परम्परागत क़ानूनों के आधार पर न्याय-विचार करने लगे। ये निर्णय भी नयी क़ानून परम्पराओं का रूप धारण करने लगे। विवाह, व्यवसाय तथा युद्धों के द्वारा विभिन्न जातियों और समाजों का आपस में सम्पर्क बढ़ा। इस सम्पर्क ने इनकी प्रथाओं तथा क़ानूनों की भिन्नता प्रदर्शित की और संघर्ष के मौक़े दिये। तब संघर्ष मिटाने के लिये जातियों के पंडितों की शरण ली गई। एक या दो या दो से अधिक जातियों में जो वयोवृद्ध बुद्धिमान पुरुष होते थे, उनके सामने ये विवाद रखे जाते थे और वे जो निर्णय देते थे, उन्हें सब लोग मानते थे। इस प्रकार ये पंडित न्यायाधीश और क़ानून-विधाता हो गये। ये बड़े प्रभावशाली होते थे। इनके निर्णय भी क़ानून के आधार हो गये। प्रारम्भ में ये अलिखित ही होते थे और परम्पराओं तथा प्रयोगों के रूप में चलते थे; परन्तु बाद में सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ इन्होंने लिखित रूप धारण कर लिया।

प्रथाओं की एक विशेषता यह है कि वे समाज में अनजाने में बनती रहती हैं। यद्यपि लिखित क़ानून प्रथाओं को सीमित करने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी प्रथाओं का प्रभाव वकीलों, न्यायाधीशों इत्यादि सब पर पड़ता है। क़ानूनों की व्याख्या करते समय प्रायः वकील और न्यायाधीश पुरानी प्रथाओं की आलोचना ही करते हैं। इसका एक अच्छा परिणाम यह होता है कि क़ानून के विकास का मार्ग साफ़ होता जाता है। नयी आवश्यकताओं के अनुसार क़ानून भी अपना रूप बदलते रहते हैं। परन्तु, यह रूप-परिवर्तन प्रायः प्रथाओं के द्वारा ही होता है। और बाद में ये प्रथाएँ ही क़ानून का रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिये हिन्दू समाज में प्रचलित मनुसंहिता ले लें। इसका रूप अंशतः धार्मिक और अंशतः क़ानूनी है। मनुसंहिता बहुत प्राचीन है। इस संहिता की व्याख्या करनेवाला वर्ग एक साथ आचार्य और वकील बन गया। यह वर्ग ब्राह्मण वर्ग था। विभिन्न समयों में विद्वान् ब्राह्मणों ने इस संहिता की टीका समाज की आवश्यकताओं के अनुसार की। अर्थात् पुराने क़ानूनों की नयी व्याख्या की गई। ब्रिटिश शासन काल में भी हिन्दू क़ानून का आधार मनुसंहिता थी और विधानमण्डल भी उसकी व्याख्या करते रहे। आज भी उस पर वाद-विवाद होते हैं। न्यायालयों में हिन्दू लॉ के सम्बन्ध में जो निर्णय दिये जाते हैं, वह लॉ या क़ानून प्राचीन धर्मशास्त्रों पर आधारित है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि न्यायालयों द्वारा जिन क़ानूनों का विकास होता है, उनका एक स्रोत धर्म भी है।

(४) **वैज्ञानिक वाद-विवाद (Scientific Discussions)** :—न्याय-शास्त्र के विचारक क़ानून और उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में, जो वाद-विवाद करते हैं,उनको न्यायालय और न्यायाधीश बहुत महत्त्व देते हैं। ये तर्क-वितर्क केवल सिद्धान्तों से सम्बन्धित होते हैं; पर क़ानून के विकास में ये महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। भारत में फ़तवा आलमगीरी, मिताक्षरा, दायभाग इसी प्रकार के सैद्धान्तिक वाद-विवाद हैं। इन वाद-विवादों के सम्बन्ध में जब किसी न्याय-शास्त्री का सिक्का जम जाता है,उसका नाम हो जाता है, तो न्यायालय भी उसकी राय को मान्यता देने लगते हैं। कभी-कभी उसके सिद्धान्त न्यायाधीशों के निर्णय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। न्यायालयों के निर्णयों तथा इन वाद-विवादों में यह अन्तर होता है कि निर्णय किसी एक मुकदमें के सम्बन्ध में होता है। परन्तु यह वाद-विवाद सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं। न्याय-शास्त्री प्रथा, धर्म, निर्णयों, क़ानूनों इत्यादि का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं और तब क़ानूनी आवश्यकताओं सम्बन्धी सिद्धान्तों की रचना करते हैं। वे स्वयं क़ानून नहीं बनाते; बल्कि क़ानून के आधार बनाते हैं। अनुभव यह बतलाता है कि इस प्रकार के आदरणीय सर्वमान्य न्यायशास्त्री बहुत कम होते हैं।

(५) **औचित्य (Equity)** :—इस शब्द का अर्थ है, न्याय का समानता के साथ पालन; या न्याय का उचित पालन। कई बातें ऐसी होती हैं, जो क़ानून की दृष्टि से तो ठीक बैठती हैं, लेकिन सत्य न्याय-पालन की दृष्टि से ठीक नहीं बैठतीं। ऐसी परिस्थिति में न्यायाधीश क़ानून की परवाह न करके सत्य न्याय को ध्यान में रखकर उचित निर्णय देते हैं। सम्भव है कि इसमें क़ानून की मर्यादा भंग हो, या उसका पालन न हो। पर उससे न्याय और सत्य की रक्षा होती है। औचित्य की परिभाषा सर हेनरी मेन ने इस प्रकार की है—"नियमों का एक ऐसा संग्रह जो मूल नागरिक क़ानून के समकक्ष रहता है, जिसका निर्माण निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होता है और जो प्रसंगवश अपनी स्थिति नागरिक क़ानून से भी उच्चतर होने का दावा अपने आधारभूत सिद्धान्तों की उच्चता के आधार पर करता है।"[१] जब सत्य न्याय या उचित न्याय के पालन के लिये किसी पुराने क़ानून को बदलना पड़ता है, या नया क़ानून बनाना पड़ता है, तो उसे औचित्य सिद्धान्त के आधार पर बनाया जाता है।

---

१ "Any body of rules existing by the side of the Civil law, founded on distinct principles and claimingi ncidently to superside the civil law in virtue of a superior sanctity inherent in those principles."

(६) विधायन (Legislation) :—क़ानून के अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत विधानमंडल होते हैं। विधानमंडलों की कार्रवाई राज्य की इच्छा स्पष्टरूप से प्रकट करती है। आधुनिक युग में क़ानून का प्रधान स्रोत यही है। इसके सामने अन्य स्रोत फ़ीके पड़ गये हैं। विधानमंडल समय-समय पर आवश्यकतानुसार क़ानून बनाते रहते हैं। वर्तमान समय में जिस तीव्र गति से और जिस ढंग से क़ानून बनाये जाते हैं और क़ानून संहिताएँ तैयार की जाती हैं, उसके सामने पिछले पाँच स्रोत वास्तव में अब स्रोत न रहकर क़ानून निर्माण में प्रभाव डालने वाले तत्त्व भर रह गये हैं। तो भी हमें प्रथाओं के महत्त्व को कम नहीं करना चाहिये। वास्तव में होता यह है कि समाज जिस बात को स्वीकार करता है, उसे ही क़ानून लिखित और स्पष्ट रूप दे देता है; जैसे कि जब देश का जागृत जनमत सती-प्रथा के विरुद्ध हो गया तो क़ानून उसे अपनी सत्ता से समाप्त करने में सफल हुआ। लेकिन बाल-विवाह प्रथा के विरुद्ध जनमत पूर्ण-रूप से संगठित नहीं है, इसलिये शारदा बाल-विवाह निरोधक क़ानून सफल नहीं हो रहा है। क़ानून के स्रोतों के सम्बन्ध में वुडरो विलसन ने लिखा है कि "क़ानून का सर्वप्रथम और आदि स्रोत प्रथा है; धर्म प्रायः उसी के साथ-साथ चलता है और प्रायः उतना ही प्रभावशाली है। राष्ट्रीय विकास के क्रम में ये दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं। न्यायालयों के निर्णय क़ानूनी सत्ता के रूप में ही प्रचलित रहे हैं और प्रारम्भ से ही औचित्य के समवर्ती रहे हैं। इस समय केवल विधायन और औचित्य सिद्धान्त की प्रगति के लिये गुंजाइश है। भविष्य में ये ही क़ानूनी विकास में सहायक होंगे।[१]

क़ानून की क़िस्में (Some types of law) :—विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने मतों के अनुसार क़ानून को कई वर्गों में विभाजित किया है। सबसे सुविधापूर्ण विभाजन उस आधार पर हो सकता है, जिसके अनुसार क़ानून बनता है। अर्थात् निर्माण विधि क़ानून की विभिन्न क़िस्मों की बड़ी अच्छी द्योतक

---

१ "Custom is the earliest fountain of law but religion is a contemporary, an equally prolific, and in same stages of national development an almost identical source. Adjudication comes almost as authority itself and from a very antique time goes hand in hand with Equity. Only legislation, the conscious and deliberate organisation of law, a scientific discussion, the reasoned development of its principles, await an advanced stage of growth in the body politic to assert their influence in law-making."—(**Wilson**)

हो सकती है। इस रीति के अनुसार हम क़ानून को निम्नलिखित मुख्य छः वर्गों में रख सकते हैं :—

(१) संवैधानिक क़ानून (Constitutional Law) :—संवैधानिक क़ानून में उन सब सिद्धान्तों का समावेश रहता है, जिनके अनुसार सरकारों या शासन-तन्त्रों का संगठन किया जाता है, सरकार की शक्तियाँ और कार्य-प्रणाली निर्धारित की जाती हैं और उसके विभिन्न अंगों के अधिकार, कर्त्तव्य और कार्य-क्षेत्र बतलाये जाते हैं। वैधानिक क़ानून लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। कभी-कभी वह एक ऐसी विशिष्ट संस्था द्वारा बनाया जाता है, जो केवल उसी कार्य के लिये निर्मित की गई हो। कभी-कभी उसका विकास समयानुसार राज्य के विधानमंडल द्वारा साधारण तरीक़े से बनाये गये क़ानूनों के आधार पर होता है। उदाहरण के लिये ब्रिटेन की संसद आवश्यकता पड़ने पर कोई भी वैधानिक क़ानून उसी साधारण रीति से बना सकती है, जिस तरह कोई अन्य क़ानून बनाती है। लेकिन अमेरिका में और भारत में संसदों को संवैधानिक क़ानून बनाने के लिये विशिष्ट प्रक्रियाओं के अनुसार कार्य करना पड़ता है। अर्थात् वैधानिक क़ानून यहाँ भी बनाते तो विधानमंडल ही हैं, पर एक विशेष प्रक्रिया द्वारा। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वैधानिक क़ानून में वे सिद्धान्त निहित होते हैं, जिनके आधार पर संविधान बनाये जाते हैं।

(२) अनुविहित क़ानून (Statute Law) :—शासन के रोज़मर्रा कार्य चलाने के लिये सरकारों के विधानमंडल जो क़ानून बनाया करते हैं, उन्हें अनुविहित क़ानून कहा जाता है। प्रत्येक देश में विधानमंडलों की अपनी-अपनी कार्य-प्रणाली होती है। भारत में संसद, ब्रिटेन में पार्लियामेंट तथा अमेरिका में कांग्रेस इस प्रकार के क़ानून बनाती है।

(३) अध्यादेश (Ordinances) :—राज्य की कार्यकारिणी संविधान द्वारा निर्धारित तरीक़े से जब कोई आदेश या आज्ञा जारी करती है तो उसे अध्यादेश कहते हैं। अध्यादेश एक विशेष अवधि के लिये तथा किसी उद्देश्य विशेष की पूर्त्ति के लिये जारी किये जाते हैं। यदि स्थायीरूप से उनकी आवश्यकता हुई तो विधानमंडल द्वारा उन्हें अनुविहित क़ानून का रूप दे दिया जाता है।

(४) प्रथागत क़ानून (Common Law) :—प्रथागत क़ानून का जन्म किसी देश में प्रचलित प्रथाओं से होता है। न्यायालय इस क़ानून को भी अनुविहित क़ानून की तरह ही मान्यता देते हैं।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून (International Law) :—सभ्य राज्य एक दूसरे के साथ व्यवहार करने में जिन नियमों का पालन करते हैं, उन्हें

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून कहते हैं। विज्ञान की प्रगति तथा यातायात की सुविधाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून में बहुत वृद्धि की है। इस क़ानून का पालन कराने के लिये हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी है। इसी अध्याय में आगे हम अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का विस्तार के साथ अध्ययन करेंगे।

(६) प्रशासकीय क़ानून (Administrative Law) :—इंगलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत में सब नागरिकों के लिये एक ही क़ानून लागू होता है, चाहे वे सरकारी कर्मचारी हों, चाहे साधारण नागरिक। इन देशों में सरकारी कर्मचारियों को विशेष सुविधाएँ नहीं मिलतीं। इसे क़ानून का शासन (Rule of Law) कहते हैं। परन्तु योरोप के कई देशों में सरकारी कर्मचारियों के लिये एक प्रकार के क़ानून होते हैं और साधारण नागरिकों के लिये दूसरे प्रकार के। सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध नागरिकों के साथ क़ानून द्वारा निर्धारित होते हैं। क़ानून दोनों के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित कर देता है। न्यायालय इन क़ानूनों पर किस प्रकार अमल करते हैं, यह भी निर्धारित कर दिया जाता है। इसे प्रशासकीय क़ानून (Administrative Law) कहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस देश में प्रशासकीय क़ानून की सत्ता होती है, वहाँ नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। उदाहरण के लिये फ्रान्स में प्रशासकीय क़ानून प्रचलित है। वहाँ प्रशासकीय न्यायालयों में न्याय-विचार सस्ता और शीघ्र हो जाता है। इसका एक अच्छा परिणाम यह होता है सरकारी कर्मचारी यदि नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करके उन पर ज़्यादती करते हैं, तो शीघ्र ही उनके विरुद्ध न्यायालयों में कार्यवाही की जा सकती है।

प्रोफेसर हॉलैण्ड का वर्गीकरण

प्रोफेसर हॉलैण्ड ने क़ानून को दो मुख्य वर्गों में बाँटा है—सार्वजनिक क़ानून (Public Law) और निजी क़ानून (Private Law)। सार्वजनिक क़ानून राज्य के संगठन, सरकार के कार्यक्षेत्र निर्धारण तथा सरकार और नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण से ताल्लुक़ रखता है। निजी क़ानून नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित करता है और राज्य उसका पालन कराता है। हॉलैण्ड ने लिखा है कि निजी क़ानून में राज्य विभिन्न नागरिकों के बीच पंच का काम करता है। सार्वजनिक क़ानून में नागरिकों और राज्य में सम्बन्ध होते हैं और साथ ही राज्य ही पंच का काम करता है।[१]

---

१ In Private Law the parties concerned are private individuals, above and between whom stands the state as an impartial arbiter. In Public Law also the State is present as

फिर हॉलैण्ड ने सार्वजनिक क़ानून को निम्नलिखित उपखण्डों में बाँटा है—(१) संवैधानिक क़ानून (Constitutional Law), (२) प्रशासकीय क़ानून (Administrative Law), (३) दण्ड क़ानून (Criminal Law)। निजी क़ानून को भी उसने निम्नलिखित उपखण्डों में बाँटा है—(१) सम्पत्ति क़ानून (Law of Property), (२) करार का क़ानून (Law of Contract), (३) निगम-क़ानून (Law of Corporations), (४) वैयक्तिक सम्बन्धों का क़ानून (Law of Personal Relations), टार्ट-क़ानून (Law of Torts), व्यवहार-क़ानून (Law of Civil Procedure).

इस प्रकार विद्वानों ने क़ानून का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न तरह से किया है। ऊपर हमने जो वर्गीकरण दिये हैं, उनमें क़ानून की सत्ता (Rule of Law) और प्रशासकीय क़ानून (Administrative Law) का भी एक भेद बतलाया गया है।

राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों को यह भेद अच्छी तरह समझना चाहिये। यहाँ उसका स्पष्टीकरण विस्तारपूर्वक किया जाता है।

क़ानून की सत्ता बनाम प्रशासकीय क़ानून

(Rule of Law Vs. Administrative Law)

डाइसी ने क़ानून की सत्ता के तीन मूल तत्त्व बतलाये हैं। एक तो यह कि जबतक न्यायालय में किसी क़ानून के उल्लंघन का अपराध सिद्ध न हो जाय तब तक किसी व्यक्ति को दंड नहीं दिया जा सकता। दंड दो ही तरह का होता है—एक शरीर सम्बन्धी और दूसरा सम्पत्ति सम्बन्धी। दूसरे, अन्य देशों में जो क़ानून वैधानिक संहिताओं के अंग हैं, वे अँगरेजी भाषा-भाषी देशों में व्यक्ति के अधिकारों के स्रोत नहीं होते; बल्कि उनके अधिकारों के परिणामस्वरूप होते हैं। ये अधिकार न्यायालयों द्वारा घोषित किये जाते हैं, और उन्हीं के द्वारा पालन भी कराये जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायालय कार्यकारिणी से सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं। तीसरा तत्त्व यह है कि प्रधान मंत्री से लेकर छोटे चपरासी तक क़ानून की नज़रों में वही स्थिति रखता है, जो एक साधारण नागरिक रखता है।

क़ानून की सत्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा बड़ी अच्छी तरह से करती है। जबतक क़ानून की दृष्टि में कोई व्यक्ति दोषी नहीं साबित होता, तब

---

arbiter, although it is at the same time one of the parties interested."—(**Holland**)

तक उसको किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि कोई मनुष्य यह सोचता है कि उसे अकारण या अनुचित रूप से गिरफ़्तार किया गया है तो वह स्वयं न्यायालय की शरण ले सकता है। यदि न्यायालय उसकी बात सही मानता है तो गिरफ़्तार करनेवाले व्यक्तियों को दंडित किया जा सकता है और उससे हरजाना वसूल किया जा सकता है। ब्रिटेन में प्रशासकीय क़ानून का प्रचलन नहीं है, इसलिये अन्यायकर्त्ता अफ़सर या कोई भी सरकारी कर्मचारी को क़ानून ज़ुल्म करने पर पनाह नहीं दे सकता। बन्दी प्रत्यक्षीकरण का क़ानून (Habeas Corpus Act) भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बड़ा भारी रक्षक है। प्रायः प्रत्येक जनतान्त्रिक देश में यह क़ानून पाया जाता है। यह बात भी सच है कि आधुनिक काल में इस क़ानून में कुछ धाराएँ जोड़ दी गई हैं, जिससे इसका प्रभाव कम होता जा रहा है। फिर भी इसके मूल तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं और संविधान में उन्हें आदरणीय स्थान प्राप्त रहता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इंगलैण्ड जैसे देशों में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ ऐसे क़ानून बनते जा रहे हैं, जिससे धीरे-धीरे प्रशासकीय क़ानून की स्थापना हो रही है। इंगलैण्ड में सन् १८९३ का सरकारी कर्मचारी संरक्षण क़ानून (The Public Authorities Protection Act of 1893) तथा सन् १९२५ का अपराध-न्याय-विचार क़ानून (Criminal Justice Act of 1925) इत्यादि ऐसे क़ानून बने हैं, जिनके अनुसार कुछ वर्ग के सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इंगलैण्ड में यह भी निर्णय हो चुका है कि यदि किसी सरकारी विभाग को कोई कार्य करने के लिये क़ानून द्वारा निर्धारित कोई रास्ता नहीं मिलता तो वह स्वयं अपनी प्रक्रिया निर्धारित कर सकता है। सन् १९११ में इंगलैण्ड में जो बीमा क़ानून बना उसके अनुसार बीमा कमिश्नरों को कुछ न्याय-विचार सम्बन्धी अधिकार भी दिये गये हैं, जिनके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती। अमेरिका में भी यह प्रक्रिया देखने में आती है। उदाहरण के लिये उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय लिया है कि आवास (Immigration) के मामले में श्रम सचिव का निर्णय अन्तिम होगा। किसी सरकारी विभाग का प्रधान अपने मातहतों के सरकारी कार्यों के लिये ज़िम्मेदार नहीं होता।

प्रशासकीय क़ानून के न्यायालय फ्रान्स, इटली, जर्मनी तथा स्विटज़रलैण्ड में हैं। फ्रान्स में दो प्रकार के न्यायालय होते हैं—साधारण न्यायालय और प्रशासकीय न्यायालय। कई आलोचकों का कहना है कि जिन देशों में प्रशासकीय क़ानून और न्यायालय प्रचलित हैं, वहाँ नागरिकों के अधिकारों की रक्षा नहीं हो पाती। उदाहरण के लिये लॉवेल ने लिखा है कि फ्रान्स में सरकार को साधारण न्यायालयों का कोई भय नहीं रहता। वह आसानी से क़ानून की

अवहेलना कर सकती है। परन्तु वास्तव में यह आलोचना ठीक नहीं है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिये उपयुक्त संरक्षण किये गये हैं। फ्रान्स में ऐसे भी न्यायालय हैं, जिन्हें संघर्ष सम्बन्धी न्यायालय (Court of Conflicts) कहा जाता है। जब साधारण न्यायालय और प्रशासकीय न्यायालय में अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी कोई झगड़ा होता है तो यह न्यायालय निर्णय देता है और उसका निर्णय मान्य होता है। अन्त में यह भी ध्यान रखा जाता है कि किसी सरकारी कर्मचारी ने कोई अपराध अपने सरकारी पद के सम्बन्ध में किया है अथवा व्यक्तिगत या साधारण नागरिक के रूप में। (Whether it is a fault of service or a personal fault.)

क़ानून और नैतिकता
(**Law and Morality**)

क़ानून और नैतिकता में घनिष्ट सम्बन्ध है। यह हम इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में देख चुके हैं। फिर भी दोनों विषयों में कुछ मौलिक अन्तर है। नैतिकता या आचार का सम्बन्ध मनुष्य के पूरे जीवन से है। नैतिकता मनुष्य के कार्यों के सिवाय विचारों, संकल्पों तथा उद्देश्यों पर भी विचार करती है। इसके विपरीत क़ानून केवल मनुष्यों के बाह्य कार्यों पर विचार करता है। बाह्य कार्यों में से भी क़ानून केवल उन कार्यों पर विचार करता है, जो समाज के सदस्यों पर प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिये झूठ, कृतघ्नता, ईर्षा इत्यादि अनैतिक गुण हैं, लेकिन वे ग़ैरक़ानूनी नहीं हैं। क़ानून उन पर तभी विचार करेगा जब उनसे प्रेरित होकर मनुष्य ऐसे कार्य करे जिनसे दूसरों को हानि हो। यदि कोई मनुष्य आदतन झूठ बोलता है तो उसे हम अनैतिक कह सकते हैं, लेकिन वह क़ानून के शिकंजे में नहीं आता। पर यदि वह कोई समझौता भंग करता है, तो उस पर क़ानूनी कार्यवाही हो सकती है।

नैतिक नियमों का पालन समाज के जनमत और व्यक्ति की अन्त:प्रेरणा से होता है। लेकिन क़ानून का पालन राज्य कराता है। क़ानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है। उसका उल्लंघन करने पर दंड मिलता है। लेकिन नैतिक नियमों का पालन राज्य-शक्ति के बल पर नहीं कराया जा सकता।

इस अन्तर के बावजूद भी इन दोनों विषयों में निकट सम्बन्ध है। इन दोनों का प्रारम्भ सामाजिक जीवन से हुआ है। दोनों विषय मनुष्य को एक नैतिक इकाई मानते हैं। सिजविक का मत है कि जहाँ तक मनुष्य के कल्याण का सम्बन्ध समाज के कल्याण से है, वहाँ तक नैतिक या आचारशास्त्र का सम्बन्ध राजनीति विज्ञान से है। किसी समाज में जो नैतिक विचार प्रचलित होते हैं,

क़ानून उन्हीं के अनुरूप होने का प्रयत्न करता है। एक उदाहरण ले लें। हमारे देश में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। देश के शिक्षित जनमत ने इसका विरोध किया, जिसके फलस्वरूप शारदा क़ानून बना। यदि देश में प्रचलित नैतिक विचारों के विरुद्ध कोई क़ानून बने तो उसका काफ़ी विरोध होगा और उसका पालन कराने में बड़ी कठिनाई होगी। इसका उदाहरण प्रस्तावित हिन्दू कोड बिल है। अमेरिका में मद्य-निषेध सम्बन्धी क़ानून इसलिये असफल हुए कि उन्हें केवल थोड़े से व्यक्तियों का नैतिक समर्थन प्राप्त था, बृहत समाज का नहीं। केवल उसी क़ानून का यथार्थ रूप में पालन होता है; अथवा राज्य केवल उन्हीं क़ानूनों को भली-भाँति लागू कर सकता है, जिन्हें समाज का नैतिक समर्थन भी प्राप्त होता है।

राज्य और क़ानून का सम्बन्ध
(The Law and the State)

कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि राज्य और क़ानून में क्या सम्बन्ध है? क्या क़ानून राज्य से भी परे होता है? अथवा, इसके विपरीत क्या क़ानून की सत्ता पूर्णरूप से राज्य की शक्ति पर निर्भर होती है? कुछ लेखकों का मत है कि क़ानून की उत्पत्ति राज्य से ही होती है। अतएव क़ानून राज्य से परे नहीं हो सकता। राज्य के हाथ में आज्ञापालन कराने की शक्ति होती है; अतएव केवल वे नियम क़ानून कहला सकते हैं, जिनको राज्य के बल का समर्थन प्राप्त होता है। इसके विपरीत डिग्वी का मत है कि मनुष्य राजदण्ड के भय से क़ानून का पालन नहीं करता है। राजदण्ड तो केवल एक शारीरिक दण्ड है, जो राज्य के आदेशों का पालन न करने पर मिलता है। लेकिन इससे भी उच्चकोटि की एक बात होती है। प्रत्येक मनुष्य के मन में उचित और अनुचित की एक भावना होती है। वह जानता है कि समाज के कल्याण में उसका कल्याण है। इसलिये उसके लिये कुछ ऐसे नियमों का पालन करना आवश्यक है, जिससे समाज का कल्याण बढ़े। यही वास्तविक क़ानून है। इस दृष्टि से क़ानून राज्य से परे है। यदि राज्य इन सामाजिक नियमों के विरुद्ध कार्य करता है, तो वह भी ग़ैरक़ानूनी काम करता है।

इसमें शंका यह उठती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी उचित-अनुचित की प्रेरणा के अनुसार कार्य करने लगे, तब तो एक खास संघर्ष होगा और समाज का रहना असम्भव हो जायगा। इस कठिनाई को हल करने के लिये क्रैब का मत है कि जिन नियमों को समाज के अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो उन्हीं को क़ानून के अनुरूप मान लेना चाहिये। प्रोफेसर लॉस्की का भी मत है कि

क़ानून राज्य से परे है। इतिहास में ऐसे मौक़े आते हैं, जब लोग राज्य के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और क्रान्ति द्वारा शान्ति और सुरक्षा से कहीं उच्च उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सन् १६४२ में इंगलैण्ड में, सन् १७८९ में फ्रान्स में और सन् १९१७ में रूस में ऐसी क्रान्तियाँ हुईं। ये क्रान्तियाँ राज्य के विरुद्ध विद्रोह अवश्य थीं, परन्तु साथ ही वे उस क़ानून के अनुसार थीं, जो राज्य से भी परे होता है। लॉस्की का मत है कि क़ानून केवल एक आदेश नहीं होता। वह एक अपील भी होता है। इन विभिन्न मतों का सार यह है कि जो लोग राज्य की शक्ति के बल पर ही क़ानून की सत्ता मानते हैं, वे क़ानून को राज्य से परे नहीं मानते। परन्तु जो लोग समाज के अधिकारों को महत्त्व देते हैं, अथवा बहुमत की इच्छा को महत्त्व देते हैं, क़ानून को राज्य से परे मानते हैं। व्यवहार में हम यह देखते हैं कि समाज में जो आचार प्रचलित होते हैं, उन्हीं में से कुछ को राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपना समर्थन देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून
(International Law)

पीछे हम कह चुके हैं कि राज्य के लिये क़ानून आवश्यक होता है। क़ानून राज्य के आधारों में से एक आवश्यक आधार है। क़ानून के लिये राज्य की सत्ता आवश्यक होती है। परन्तु एक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून नाम की व्यवस्था भी प्रचलित है, जिसके पीछे किसी राज्य-विशेष की सत्ता नहीं रहती, परन्तु भलमनसाहत और अपने स्वार्थ के लिये सब राज्य उसे पालन करने का प्रयत्न करते हैं। जैसा कहा जा चुका है, विज्ञान ने आज पूरे विश्व को एक कर दिया है। सम्पूर्ण संसार एक इकाई की तरह है। राज्यों के स्वार्थ प्रायः एक समान होते हैं और उनके नियंत्रण के लिये राष्ट्र संघ नाम की संस्था क़ायम है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का महत्त्व दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता है।

किसी एक राज्य का क़ानून केवल उसके नागरिकों के लिये लागू होता है। तब यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य होना चाहिये। ऐसा राज्य संपूर्ण प्रभुत्त्वपूर्ण हो। परन्तु ऐसा राज्य अभी तक है नहीं। तब प्रश्न यह उठता है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के पीछे कोई ऐसी सत्ता नहीं है, जो उसका पालन करा सके तो क्या अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वास्तव में क़ानून है? क़ानून तो किसी राज्य के नागरिकों की प्रकट इच्छा होती है, जिसे उस राज्य के नागरिक पालन करते हैं। यदि कोई नागरिक किसी क़ानून की अवज्ञा करता है तो राज्य उसे दंड देता है। अर्थात्

क्या अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वास्तव में क़ानून है ?

नागरिक राज्य के क़ानूनों का पालन करने के लिये बाध्य होता है। नियमों के उन समूहों को क़ानून कहते हैं, जिसके पीछे राज्य या सरकार के रूप में संगठित पूरे समाज की शक्ति रहती है। यही शक्ति क़ानून का पालन कराती है। अब यदि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को वास्तव में क़ानून का रूप धारण करना है तो उसके पीछे कोई ऐसी शक्ति रहनी चाहिये जो उसका पालन करा सके। इस समय प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की परिभाषा अपनी इच्छानुसार करता है। गत दो महायुद्धों में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की राष्ट्रों द्वारा काफ़ी अवहेलना की गई। फिर भी अपने स्वार्थों की दृष्टि से विभिन्न राज्य जहाँ तक हो सकता है, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का पालन करते हैं। उसका पालन वे इसलिये करते हैं कि न करने पर युद्ध छिड़ सकता है और युद्ध से किसी भी देश का हित नहीं होता। दूसरे उन्हें अन्य राज्यों द्वारा आलोचना का डर रहता है। यह नैतिक बल भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के पालन कराने में बहुत सहायक होता है। यदि कोई राज्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की अवहेलना करता है तो विश्व का जनमत उसके विरुद्ध हो जायगा। इन दोनों पक्षों का विचार करके गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून अंशत: क़ानून है और अंशत: नैतिकता। कुछ विचारकों का मत है कि क़ानून कोई स्थिर वस्तु नहीं है। उसका विकास होता रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून भी अभी विकास की अवस्था में है।

यह विवाद नया नहीं है। हॉब्स, प्यूफेनडार्क, बेंथम, ऑस्टिन और हॉलैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को क़ानून नहीं मानते। ऑस्टिन के संप्रभुता और राज्य सम्बन्धी विचार हम देख चुके हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वास्तव में क़ानून हो ही नहीं सकता। उसे हम केवल व्यावहारिक नैतिकता की श्रेणी में रख सकते हैं। लेकिन आधुनिक न्यायशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को निश्चित रूप से क़ानून मानते हैं और उनका मत है कि इसका निरन्तर विकास हो रहा है। अपने मत के समर्थन में वे निम्नलिखित तर्क देते हैं——

(१) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के नियम क़ानूनी तर्क-वितर्क के आधार पर बनाये गये हैं और उसी तरह उन पर अमल भी किया जाता है।

(२) विभिन्न राज्यों ने इन नियमों को क़ानून के रूप में स्वीकार कर लिया है और जब कभी दो या दो से अधिक राज्यों में झगड़ा होता है तो इन्हीं नियमों के आधार पर शान्तिपूर्ण समझौता करने की कोशिश की जाती है।

(३) इन दोनों बातों को देखते हुए यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के नियम ऐच्छिक नहीं रहे। वे अनिवार्य रूप से सर्वमान्य हो गये हैं। उनके पीछे पूरे विश्व के जनमत की शक्ति रहती है। इसलिये यदि किसी राज्य की संगठित शक्ति उनके पीछे न भी रहे तो उसे उन्हें कोई क्षति नहीं होती।

वेस्टलेक ने लिखा है कि जिस प्रकार एक राज्य में बहुत से नागरिक मिल-जुलकर रहते हैं, उसी प्रकार एक सभ्य संसार में बहुत से राज्य मिलकर रहते हैं और उनके पारस्परिक व्यवहार के लिये क़ानून का जो समूह है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की प्रकृति का वर्णन करते हुए पोलक ने लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून एक अपूर्ण रूप से संगठित समाज में प्रथाओं और व्यवहारों का ऐसा समूह है, जिसने अभीतक क़ानून की प्रकृति प्राप्त नहीं की है, पर उस ओर प्रगतिशील है।"[१]

हॉल (Hall) ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के सिद्धान्त क़ानूनी तर्क-वितर्कों के आधार पर बनाये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में पूर्व निर्णय और मत ठीक क़ानूनी ढंग से प्रयुक्त किये जाते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय क़ानूनों के सम्बन्ध में लेखकों के मत उद्धरित किये जाते हैं, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों के सम्बन्ध में भी उनका उपयोग होता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के आधार पर राज्यों की नीति पर विचार किया जाता है और उनकी आलोचना तथा समर्थन इत्यादि किये जाते हैं। अन्त में यह भी स्वीकार किया जाता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता जैसी भी कोई चीज़ है, जो अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून से भिन्न होती है। उस नैतिकता की अवहेलना करने पर उसके विरुद्ध कोई अपील नहीं होती।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की परिभाषा विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने शब्दों में की है, पर प्रायः उन सबमें मूल बातों में मतैक्यता है। यहाँ हम एक दो प्रमुख लेखकों की परिभाषा देते हैं।

परिभाषा

टी० जे० लॉरेन्स :—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वे नियम हैं, जिनके द्वारा सभ्य राज्य आपस में व्यवहार करते हैं।[२]

व्हीटन :—पारस्परिक व्यवहार के वे नियम जो स्वतन्त्र राष्ट्रों के समाज में न्यायपूर्ण प्रतीत हों। इन नियमों में आपसी सलाह द्वारा उपयुक्त परिवर्तन किये जा सकते हैं।[3]

---

१ "International Law is a body of customs and observances in an imperfectly organised society, which have not fully acquired the character of law, but which are on the way to become law."—(**Pollock**)

२ "Rules which determine the conduct of the general body of civilized states in their mutual dealings."
—(**Principles of International Law by T. J. Lawrence**)

3 Those rules of conduct which reason deduces as consonant to justice from the nature of the society existing among

गिलक्राइस्ट :—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून नियमों का वह समूह है, जिसे संसार के सभ्य राज्य पारस्परिक व्यवहार के लिये ग्रहण करते हैं। इन नियमों पर प्रत्येक देश अपने नैतिक स्तर अथवा अपनी सुविधा के अनुसार अमल करता है।[1]

इन परिभाषाओं के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की जो स्थिति है, उसका जो स्वरूप है, उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के स्रोत (Sources of International Law) :—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की उत्पत्ति और विकास कई स्रोतों से हुआ है, जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

(१) **रोम की क़ानून-व्यवस्था (Roman Law)** :—जैसा कि हम इस अध्याय में पीछे कह चुके हैं, रोम साम्राज्य ने एक बड़ी सुगठित क़ानून-व्यवस्था का विकास किया था। उस प्रणाली को बाद में योरोप के कई राज्यों ने ग्रहण किया। योरोप के प्राचीन इतिहास काल में रोम की क़ानून-व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विकास में दो प्रकार से योग दिया। एक तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून (Jus Gentium) निर्धारित किया और कहा कि यह क़ानून समान रूप से सब राष्ट्रों को लागू होता है। दूसरे उसने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि क़ानून की दृष्टि में सब व्यक्ति एक समान हैं। बाद में यह सिद्धान्त राष्ट्रों के लिये भी लागू किया जाने लगा। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि में सब राज्य समान माने जाने लगे।

(२) **न्यायशास्त्रियों के मत (Opinions of Great jurists)** :—क़ानूनशास्त्र के बड़े-बड़े विचारकों ने समय-समय पर गहन ऐतिहासिक अध्ययन तथा विश्लेषण के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। युद्धकाल में और शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून किस प्रकार कार्य करता है और करना चाहिये, ये सब सिद्धान्त क़ानून-विद् अपने अध्ययन के आधार पर निर्धारित करते रहते हैं। सन् १६२५ ई० में ग्रोशियस (Grotius) नामक एक डच लेखक ने "युद्ध और शान्ति सम्बन्धी क़ानून" (On the Law of war and Peace) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। उसे

---

independent nations ; with such definitions and modification as may be established by general consent."—(**Wheaton**)

1 "International law is the body of rules which civilised states observe in their dealings with each other, these rules being enforced by each particular state according to its own moral standard or convenience."

—(**R. N. Gilchrist, Principles of Political Science**)

आज अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का उद्गम स्रोत माना जाता है। सन् १७७२ में प्यूफेनडार्फ ने "प्रकृति और राष्ट्रों का क़ानून" ("Law of Nature and Nations") प्रकाशित किया। लीबनिज़ ने अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति क़ानून पर ग्रन्थ लिखा, बिन्करशोक ने पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय जहाज़रानी क़ानून का विश्लेषण किया। वुल्फ और वाटल भी सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के इस विषय के प्रमुख लेखक थे। आधुनिक काल में केन्ट, ह्वीटन, मेनिंग, वूल्से, वेस्टलेक, लॉरेन्स और हॉल के नाम आदर के साथ लिये जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सम्बन्धी विवादों में इन लेखकों के मत प्रामाणिक माने जाते हैं।

(३) सन्धि समझौता इत्यादि (Treaties Alliances Etc) :— विभिन्न देश आपस में युद्धोपरान्त शान्ति सम्बन्धी सन्धि करते हैं, अथवा युद्ध टालने के लिये सन्धि करते हैं, अथवा किसी एक देश के आक्रमण से बचने के लिये भी सन्धि करते हैं। कभी विभिन्न राज्यों के बीच व्यवसाय, यातायात इत्यादि बातों के सम्बन्ध में समझौता होते हैं। इन सन्धि और समझौतों का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण और क़ानून पर प्रभाव पड़ता है। अतएव ये भी इस क़ानून के विकास में सहायक होते हैं। सन् १८५६ की पेरिस की सन्धि और सन् १८६४ का जिनेवा का सम्मेलन इसके उदाहरण हैं।

(४) राज्यों के आन्तरिक क़ानून (Municipal Law) :— प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे क़ानून होते हैं, जिनका प्रभाव दूसरे राज्यों पर तथा उनके नागरिकों पर पड़ता है। उदाहरण के लिये भारत में विभिन्न देशों के राजदूत रहते हैं; उनके दूतावास बने हुए हैं। इनके सम्बन्ध में भारत सरकार ने निश्चित क़ानून बनाये हैं। भारत के साधारण क़ानून इन पर लागू नहीं होते। इसी प्रकार भारत के राजदूत अन्य देशों में रहते हैं। यदि एक देश का नागरिक दूसरे देश में बसकर वहाँ की नागरिकता प्राप्त करना चाहता है, तो उसके सम्बन्ध में भी क़ानून होते हैं। एक देश के नागरिक दूसरे देश में अपराध करते हुए पकड़े जाते हैं, उन्हें देशनिकाला होता है। आयात-निर्यात सम्बन्धी क़ानून होते हैं, नौ सेना सम्बन्धी वारदातें होती हैं, इत्यादि। इन सबके सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में क़ानून होते हैं और इन क़ानूनों का प्रभाव पड़ता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय मुकदमों के निर्णय (Judgments in International Cases) :— कभी-कभी विभिन्न समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ करते हैं। इन सम्मेलनों में बैठकर राज्यों के प्रतिनिधि कुछ निर्णय लेते हैं। इन निर्णयों का प्रभाव भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून पर पड़ता है। यदि राज्य कोई निर्णय पर सहमत न भी हो सकें तो भी इनका प्रभाव पड़ता है। ऐसे सम्मेलनों में जितने अधिक प्रतिनिधि भाग लेते हैं, उनका महत्त्व उतना ही

अधिक होता है। कभी-कभी विवादग्रस्त प्रश्नों पर राज्य एक पंचायत नियुक्त कर देते हैं और उस पंचायत का निर्णय स्वीकार करते हैं। ये निर्णय कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अंग बन जाते हैं।

(६) युद्ध और कूटनीति (War and Diplomacy) :—युद्धों के इतिहास, राजनीतिक वार्ता, घोषणा, राजनीतिज्ञों और राजदूतों के गुप्त और प्रकट पत्र भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की वृद्धि में सहायता देते हैं। प्राय: ये बातें गुप्त रखी जाती हैं, पर आजकल सरकारें बहुत-सी चीजें प्रकाशित कर देती हैं। इंगलैण्ड और अमेरिका में ऐसे बहुत से राजकीय प्रकाशन होते हैं। बहुत से राजनीतिज्ञ और राजदूत अपनी जीवनी और संस्मरण प्रकाशित करते हैं। इनका भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के लिये कभी-कभी महत्त्व होता है।

(७) राष्ट्रसंघ (U. N. O.) :—पहले लीग ऑफ नेशन्स और अब राष्ट्र-संघ की कार्यवाही और उसके द्वारा प्रेरित बहुत से समझौते अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विकास में योगदान कर रहे हैं।

(८) हेग सम्मेलन (The Hague Conferences) :—लीग ऑफ नेशन्स और राष्ट्रसंघ की स्थापना के पहले योरोप के हेग नामक स्थान में बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और समझौते हुआ करते थे। इन्हें राजनीतिज्ञ विश्व संसद कहा करते थे। इन सम्मेलनों में कई राज्यों के प्रतिनिधि कई बातें स्वीकार करते थे। इन्हीं सम्मेलनों के फलस्वरूप हेग में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित हुआ जो बहुत सम्मानपूर्वक काम कर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का इतिहास
(History of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की जिस सुव्यवस्थित प्रणाली से हम परिचित हैं, उसका विकास और निर्माण आधुनिक काल में हुआ है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के बीज प्राचीन काल में भी पाये जाते हैं। महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में इस बात का विशद वर्णन पाया जाता है कि एक राजा को दूसरे राजा के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। कुछ ऐसी बातें थीं जिन्हें सब राजा समान रूप से मानते थे। जो राजा उनका उल्लंघन करता था, उसका विरोध सब राजा मिलकर करते थे।

पश्चिम में जिस अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून-व्यवस्था का विकास हुआ तथा आज जो सम्पूर्ण सभ्य जगत में प्रचलित है, उसका विकास टी० जे० लॉरेन्स के अनुसार तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहला काल वह इतिहास के प्रारम्भ से लेकर रोम साम्राज्य की स्थापना तक मानता है। इस काल में राज्यों के

परस्पर आदान-प्रदान सम्बन्धी कोई नियम नहीं थे। एक राज्य दूसरे की ओर युद्ध और विजय की दृष्टि से ही देखा करता था। यद्यपि उन दिनों ग्रीस के नगर राज्य कुछ सभ्य माने जाते थे, लेकिन उनमें भी आपस के व्यवहार के लिये कोई अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून व्यवस्था नहीं थी। केवल रोड्स द्वीप में जो ग्रीस के समीप ही है, समुद्री व्यापार सम्बन्धी एक प्रकार की नियमावली प्रचलित थी। जब रोम केवल एक प्रजातन्त्र राज्य था तब भी वहाँ किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का विकास नहीं हुआ। यद्यपि युद्ध और सन्धि सम्बन्धी कुछ क़ानून अवश्य प्रचलित थे, पर उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।

रोम साम्राज्य की स्थापना के बाद वहाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून-व्यवस्था का विकास आरम्भ हुआ। इसे जस जेन्शियम (Jus Gentium) या अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून कहा जाता था। यहीं से इस विकास के दूसरे काल का प्रारम्भ होता है, जो योरोप के सुधार काल (Reformation) तक माना जाता है। जब तक रोम का साम्राज्य था, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को अधिक महत्त्व नहीं मिला, क्योंकि सब सभ्य देश उसके अन्तर्गत माने जाते थे; परन्तु जब साम्राज्य का ह्रास हुआ, सम्राटों और पोप में संघर्ष चला, तब मध्य युग के अंतिम चरण में सामन्तशाही और राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विकास को प्रोत्साहन मिला। इस काल में योरोप में छोटे-छोटे राज्यों का जाल फैल गया और युद्धों तथा लड़ाइयों का ताँता-सा लगा रहता था। इसीलिये इस समय विद्वानों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ।

इस क़ानून के विकास का तीसरा काल योरोप के सुधारवादी युग से आज तक माना जाता है। इस काल में राष्ट्र-राज्यों (Nation States) ने स्पष्ट रूप धारण कर लिया और अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सम्बन्धी जो अस्पष्ट विचार प्रचलित थे, वे भी स्पष्टरूप ग्रहण करने लगे। इसी काल में ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिससे आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की नींव पड़ी। ग्रोशियस ने दो प्रधान बातों पर ज़ोर दिया। एक तो यह कि सब राज्य समान रूप से स्वतन्त्र और संप्रभुत्त्वपूर्ण होते हैं और दूसरी यह कि अपनी सीमा के भीतर सब राज्य निरंकुश होते हैं। अर्थात् कोई बाहरी शक्ति उनके आन्तरिक मामलों में दख़ल नहीं दे सकती। ग्रोशियस का यह ग्रन्थ सन् १६२५ में प्रकाशित हुआ था और तब से लगाकर आज तक इस विषय का क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन होता आ रहा है। आज राष्ट्रसंघ एक सर्वमान्य तथा विश्ववन्द्य संगठन है। उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून आयोग की स्थापना की है। यह आयोग अन्तर्राष्ट्रीय

क़ानून के सब पहलुओं का अध्ययन करता है। इसके अध्ययन के कुछ विषय निम्नलिखित हैं—राज्यों के मूल अधिकार तथा कर्त्तव्य; राज्यों को मान्यता मिलना; राज्यों और सरकारों के उत्तराधिकार; अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून में व्यक्ति की स्थिति; व्यक्तियों को शरण देना, देशनिकाला करना इत्यादि; सन्धि सम्बन्धी क़ानून, कूटनीतिक आदान-प्रदान, पंच-निर्णय तथा मनुष्य जाति की शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी बातें।

अध्याय ६

स्वतन्त्रता और अधिकार

(Liberty and Rights)

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि राज्य की सत्ता क़ानून के रूप में प्रकट होती है। क़ानून वास्तव में कुछ कर्त्तव्य हैं, जो राज्य अपने नागरिकों के लिये निर्धारित करता है। लेकिन जहाँ राज्य नागरिकों के लिये कुछ कर्त्तव्य निर्धारित करता है, वहाँ उनके साथ-साथ कुछ अधिकार भी देता है। इस अध्याय में हम राज्य द्वारा दिये गये नागरिकों के अधिकारों का अध्ययन करेंगे। इन अधिकारों में सबसे बड़ा अधिकार स्वतन्त्रता है। अतएव पहले स्वतन्त्रता की प्रकृति और विषय-वस्तु का अध्ययन करना चाहिये।

स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ इतने विभिन्न प्रकार से किया जाता है कि उसकी परिभाषा करनी कठिन है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता, वर्ग की स्वतन्त्रता, प्राकृतिक स्वतन्त्रता, नागरिक स्वतन्त्रता, वैधानिक स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता इत्यादि शब्दों से अपने साधारण जीवन में परिचित होते रहते हैं। देश और काल के अनुसार विभिन्न लोगों ने स्वतन्त्रता के विभिन्न अर्थ किये हैं और करते रहते हैं। प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्रता का जो अर्थ लगाया जाता था, वह आज एक अँगरेज़ को मान्य नहीं है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कवि जॉन मिल्टन का मत था कि स्वतन्त्रता का अर्थ सद्‌गुण, सद्‌बुद्धि तथा ऐसी ही अन्य बातें होती हैं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय जब मनुष्य के अधिकारों की घोषणा की गई, तो उसमें स्वतन्त्रता का अर्थ बतलाते हुए यह कहा गया था, कि स्वतन्त्रता वह गुण है, जिसके अनुसार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को हानि पहुँचाये बिना, कुछ भी कर सकता है। हरबर्ट स्पेन्सर ने भी स्वतन्त्रता की परिभाषा बहुत कुछ इन्हीं शब्दों में की है, उसका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम

करने का अधिकार है। इसमें शर्त यही है कि, वह अन्य किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा न देगा। लीबर का मत है कि स्वतन्त्रता के अन्तर्गत कोई भी मनुष्य बिना किसी बाहरी प्रभाव को स्वीकार किये अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है। यदि इस परिभाषा पर हम विचार करें, तो देखेंगे कि जो व्यक्ति समाज में रहता है, वह इस अर्थ में स्वतन्त्रता का उपयोग कर ही नहीं सकता। सीले का मत है कि किसी प्रकार की बाधा का अभाव ही स्वतन्त्रता है। बोसांके ने कहा है, कि अन्य व्यक्तियों द्वारा बल-प्रयोग का अभाव ही स्वतन्त्रता है। जी० डी० एच० कोल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा है कि बिना किसी बाधा के अपने व्यक्तित्त्व को प्रकट करने के अधिकार को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। डी० बर्न्स का कहना है कि समाज के भीतर अपनी योग्यता का पूर्ण विकास करने का सुअवसर प्राप्त होना-ही स्वतंत्रता है। अन्त में आधुनिक काल के प्रसिद्ध विचारक प्रो० लॉस्की का मत है कि बिना किसी बाहरी बाधा के विकास करने के अधिकार को तथा अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने के अवसर को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। इस प्रकार इन विभिन्न लेखकों ने स्वतन्त्रता की परिभाषाएँ दी हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण से इनमें सत्य की मात्रा पाई जाती है।

स्वतन्त्रता और संप्रभुता (Liberty and Sovereignty) :—कुछ लोगों का मत है कि स्वतन्त्रता और संप्रभुता अथवा सत्ता दो विरोधी वस्तुएँ हैं। जहाँ एक होगी वहाँ दूसरी नहीं रह सकती। यह मत सही नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये राज्य की सत्ता आवश्यक है, यदि प्रत्येक व्यक्ति को मनमाना काम करने की स्वतन्त्रता हो, तो वास्तव में किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता न रह पायेगी और हॉब्स ने प्राकृतिक जीवन का जो वर्णन किया है, वही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। वास्तविक बात यह है कि आजकल के समाज में केवल राज्य द्वारा नियंत्रित स्वतन्त्रता ही सम्भव है। राज्य के अन्तर्गत एक ही समय प्रत्येक व्यक्ति को असीमित स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, क्योंकि अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का ध्यान भी राज्य को रखना पड़ता है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग केवल दूसरे मनुष्यों के सहयोग से ही कर सकता है। यह सहयोग उसे राज्य के द्वारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता और सत्ता एक दूसरे की विरोधी न होकर पूरक तथा सहायक हैं। उदाहरण के लिये ऊपर की कुछ परिभाषाओं में कहा गया है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी कर सकता है, जब उसमें बाहर से किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इस बाधा की रोक केवल राज्य द्वारा हो सकती है। इसलिये नियंत्रित स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वतन्त्रता

है। समाज में जब राज्य द्वारा स्वतन्त्रता का नियंत्रण होता है, तब सब लोगों को स्वतन्त्रता के उपभोग के एक समान अवसर प्राप्त होते हैं। यह नियंत्रण राज्य क़ानून द्वारा करता है।

स्वतन्त्रता का विकास (History of Liberty):—मानव-जाति का इतिहास स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष का इतिहास कहा जा सकता है। यह बात ज़रूर है कि समय-समय पर स्वतन्त्रता के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते रहे हैं। उदाहरण के लिये प्राचीन ग्रीस और रोम में धनी अल्प वर्ग (Oligarchy) के हाथों में राजसत्ता थी। इस वर्ग के प्रभुत्त्व के विरुद्ध जनता ने जो संघर्ष किया, वही स्वतन्त्रता का संघर्ष था। यह प्रयत्न किया जाता था कि यह वर्ग ऐसे क़ानून न बना पाये, जिससे जनता का शोषण हो। मध्य युग में योरोप तथा इंगलैण्ड में स्वतन्त्रता का अर्थ साधारण जनता के स्वार्थों की रक्षा था। इंगलैण्ड में मेगना कार्टा (Magna Carta) अर्थात् जनता का अधिकार-पत्र इसी का एक उदाहरण है। इसके अनुसार इंगलैण्ड के तत्कालीन राजा किंग जॉन को एक घोषणा-पत्र द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता के कुछ अधिकारों की घोषणा करनी पड़ी। सत्रहवीं शताब्दी तक स्वतन्त्रता का अर्थ प्रधानतः नागरिक स्वतन्त्रता या नागरिक अधिकारों की सुरक्षा माना जाता था। लेकिन स्टुअर्ट राजाओं के राज्यकाल में इंगलैण्ड के नागरिकों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के बिना नागरिक स्वतन्त्रता से कोई लाभ नहीं होता। राजनीतिक स्वतन्त्रता से उनका मतलब यह था कि शासन में अर्थात् क़ानून बनाने में जनता का भी हाथ रहना चाहिये। जब इस विचार ने ज़ोर पकड़ा तो इंगलैण्ड में पार्लियामेण्ट और राजा में संघर्ष आरम्भ हुआ और अन्त में पार्लियामेण्ट की विजय हुई। राजा केवल एक वैधानिक प्रधान रह गया। इस प्रकार व्यक्ति के नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को मान्यता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिनिधि-सरकार माना जाने लगा। लेकिन कुछ लोगों का विचार था कि प्रतिनिधि सरकार में बहुमत से शासन होता है। इसलिये उसमें व्यक्तियों के अधिकार हमेशा सुरक्षित नहीं रह पाते। बहुमत, अल्पमत के अधिकारों को कुचल सकता है। इसलिये व्यक्ति के अधिकारों के सिद्धान्त ने भी ज़ोर पकड़ा।

व्यक्ति के अधिकार (Individual Rights):—विद्वानों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पहले जब प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, तब मनुष्य के अधिकार नहीं थे। केवल उसकी शक्तियाँ थीं अर्थात् 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रचलित था। अधिकार केवल वहीं हो सकते हैं, जहाँ समाज हो और समाज उन्हें मान्यता देता हो। यदि समाज एक व्यक्ति

के अधिकारों को स्वीकार करता है, तो उसका अर्थ यह भी होता है कि वह व्यक्ति समाज में रहने वाले अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मानना अपना कर्त्तव्य समझेगा। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्यों का जोड़ा रहता है। **अधिकार जीवन संबन्धी कुछ ऐसी परिस्थितियों और सुविधाओं की माँग है, जिन्हें व्यक्ति अपने जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक समझता है और समाज उन्हें मान्यता देता है।** जब समाज अधिकारों को मान्यता देता है, तो वह नैतिक अधिकार कहलाते हैं। जब राज्य अधिकारों को मान्यता देता है, तो वह क़ानूनी अधिकार कहलाते हैं। क़ानूनी अधिकारों के पीछे राज्य की पूरी शक्ति की सहमति रहती है। सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के अलावा कुछ विद्वान व्यक्ति के स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकारों का भी समर्थन करते हैं। इनका मत है कि राज्य और समाज के पहले भी व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त थे। इन अधिकारों को पूरी मान्यता मिलनी चाहिये।

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Natural Rights) :—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यद्यपि प्राचीन ग्रीस के दार्शनिकों ने किया था, परन्तु इसका सबसे अधिक उपयोग समझौता सिद्धान्त के समर्थकों ने किया। जॉन लॉक ने इन पर काफ़ी ज़ोर दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को कुछ अधिकार प्रकृति से ही मिलते हैं। उनके लिये मनुष्य को समाज अथवा राज्य पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। इसी आधार पर गमप्लाऊ विज़ ने प्राकृतिक अधिकार के वास्तविक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। **गिडिंग्ज ने** प्राकृतिक अधिकार के सापेक्ष सिद्धान्त (Objective Theory) पर किया। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार न तो बनाये जाते हैं और न गढ़े जाते हैं, वे मनुष्य में निहित होते हैं और धीरे-धीरे उनका विकास होता है तथा अन्य लोग उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। ग्राहम वालस ने अधिकार के गत्यात्मक और विशिष्ट (Dynamic and Positive) सिद्धान्त का प्रचार किया। उसका मत है कि मनुष्य में भय, अत्याचार, असहायता इत्यादि की भावनाएँ हमेशा बनी रहती हैं। साथ ही संपत्ति, कौटुम्बिक सुख-दुःख इत्यादि की भावनाएँ रहती हैं। इन्हीं से मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का जन्म होता है। लॉस्की ने दूसरे आधार पर प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन किया है। उसने कहा है कि मनुष्य वास्तविक रूप में स्वतन्त्र तब होता है, जब वह अन्याय से संघर्ष करने की क्षमता रखता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्त्व का विकास करना चाहिये। मनुष्य का व्यक्तित्त्व और उसके अधिकार राज्य की सीमा से परे होते हैं। उनको केवल राज्य तक सीमित कर देने से मनुष्य का व्यक्तित्त्व भी सीमित हो जाता है। राज्य में बहुत से संघ होते हैं। मनुष्य

इन संघों का सदस्य होता है। इनके अधिकार राज्य से भिन्न होते हैं। अधिकारों की एक आदर्श व्यवस्था को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) व्यक्ति के अधिकार, (२) संघों के अधिकार, (३) समाज के अधिकार। भाषण की स्वतन्त्रता, उपयुक्त मजदूरी, उपयुक्त शिक्षा, उपयुक्त आराम, तथा संघ बनाने का अधिकार इत्यादि ऐसे अधिकार हैं, जिनके बिना नागरिकता पूर्ण नहीं हो सकती। इन्हें हम प्राकृतिक अधिकार इसलिये कह सकते हैं कि इनके बिना राज्य के उद्देश्य पूरे नहीं होते। ये इसलिये भी प्राकृतिक हैं कि अपनी पूर्णता के लिये राज्य पर निर्भर नहीं हैं। मनुष्य के व्यक्तित्त्व में इनका समावेश होता है। जब राज्य इनको मान्यता नहीं देता, तब वह अपने प्रति मनुष्य की श्रद्धा नष्ट कर देता है। लॉस्की के ये शब्द काफ़ी तर्कपूर्ण हैं। एल० टी० हावहाउस ने दूसरे शब्दों में लॉस्की का समर्थन किया है। उसका कहना है कि धर्म, देश-भक्ति, शिक्षा इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके लिये उपयुक्त वातावरण पैदा करना समाज का कर्त्तव्य है। प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं, जिनकी रक्षा के लिये राज्य की स्थापना की जाती है। हरबर्ट स्पेंसर का मत था कि सबसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकार वही है, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास हो सके। टी० एच० ग्रीन का भी मत यही था। वह एक आदर्शवादी दार्शनिक था। उसका मत है कि ईश्वर ने मनुष्य को इसलिये जन्म दिया है कि वह अपनी प्रकृति में निहित श्रेष्ठ गुणों का विकास कर सके। राज्य को कुछ ऐसी न्यूनतम परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिये, जिनसे मनुष्य के इस प्रकार के नैतिक जीवन का विकास हो सके। इन्हीं न्यूनतम परिस्थितियों को वह प्राकृतिक अधिकार कहता था।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि प्रारम्भ के अर्थात् सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थकों ने प्राकृतिक अधिकारों का सम्बन्ध समाज की उत्पत्ति से जोड़ा। लेकिन बाद के विचारकों ने उनका सम्बन्ध राज्य के उद्देश्यों से स्थापित किया। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना में जो बातें कहीं जाती हैं, उन्हें हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं। एक तो "प्राकृतिक" शब्द ऐसा व्यापक और बहुअर्थ बोधक है कि स्पष्ट और सुनिश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि वास्तविक अर्थ क्या है। दूसरे प्राकृतिक और सामाजिक अधिकारों में वास्तव में कोई विरोध नहीं है। यदि हम विचार करके देखें तो इस बात को स्वीकार करेंगे कि समाज स्वयं एक प्राकृतिक संस्था है। तीसरे जिन्हें हम प्राकृतिक अधिकार कहते हैं, वे स्वयं परस्पर विरोधी हैं। उदाहरण के लिये प्राकृतिक स्वतन्त्रता और प्राकृतिक समता में परस्पर विरोध है। अन्त में

यह कहा जाता है कि राज्य की शक्ति के समर्थन के बिना अधिकारों का अस्तित्व रह ही नहीं सकता।

अधिकारों का क़ानूनी सिद्धान्त (Legal Theory of Rights) :— इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार राज्य के द्वारा दिये जाते हैं। अधिकार क़ानून से उत्पन्न होते हैं। हॉब्स इस सिद्धान्त को मानता था। इससे वह कहता था कि प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्तों को मानने से राष्ट्र का अहित होता है। लेकिन हॉब्स ने भी व्यक्ति की प्राण-रक्षा के मूल अधिकारों को स्वीकार किया है। अधिकार के इस सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है। जैसे कि लॉक्सी ने कहा है कि व्यक्ति के बहुत से अधिकार राज्य से स्वतन्त्र रहते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर का मत है कि राज्य केवल अधिकारों की रक्षा करता है, वह उन्हें उत्पन्न नहीं करता। एन० वाइल्ड का भी यही मत है। इस विचारधारा के विद्वानों का मत है कि वास्तव में अधिकार तथा क़ानून दोनों प्रथा से उत्पन्न होते हैं; क़ानून अधिकार उत्पन्न नहीं करता। फिर टी० एच० ग्रीन का मत है कि कुछ ऐसे अधिकार होते हैं, जिनके लिये कोई व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है, क्योंकि क़ानूनी दृष्टि से वह अधिकार भले ही उचित हो, परन्तु नैतिक दृष्टि से उचित नहीं होते।

अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त

अधिकारों की उत्पत्ति का एक ऐतिहासिक सिद्धान्त भी है। इसके अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति समाज की प्राचीन परम्पराओं तथा प्रथाओं से होती हैं। समाज में प्रचलित परम्पराएँ कालान्तर में अधिकारों का रूप धारण कर लेती हैं और राज्य उन्हें स्वीकार कर लेता है। इस सिद्धान्त में त्रुटि यह है कि यह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि राज्य भी अधिकारों की उत्पत्ति कर सकता है।

समाज कल्याण का सिद्धान्त

अधिकारों की उत्पत्ति का एक कल्याणकारी सिद्धान्त (Social Welfare Theory of Rights) भी है। इसके अनुसार समाज नागरिकों के कल्याण के लिये अधिकारों की उत्पत्ति करता है। इसके अनुसार समाज के विभिन्न वर्गों के हितों की रक्षा के लिये समाज अधिकारों की उत्पत्ति करता है। इनका आधार सामाजिक एकता होती है। इस सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि समाज कल्याण एक अस्पष्ट और अनिश्चित चीज़ होती है। प्रश्न यह है कि कौन व्यक्ति या संस्था समाज-कल्याण निश्चित करेगा—राज्य अथवा जनमत?

अधिकारों की उत्पत्ति का एक आदर्शवादी अथवा व्यक्तित्ववादी सिद्धान्त (The Idealist or Personality Theory of Rights) भी होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्त्व के विकास के लिये अधिकार आवश्यक होते हैं। अपने व्यक्तित्त्व का विकास करना प्रत्येक व्यक्ति का

आदर्शवादी सिद्धान्त

प्रथम मूल अधिकार होता है। अन्य सब अधिकार इस अधिकार के सहायक होते हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि मनुष्य के व्यक्तित्त्व या आत्म-विकास के लिये कौन से अधिकार आवश्यक हैं। फिर इस सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। इस सिद्धान्त में केवल व्यक्ति के ही कल्याण का ध्यान रखा गया है। समाज के बृहद् कल्याण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

फिर भी कुछ ऐसे अधिकार होते हैं, जो व्यक्ति के लिये मूल रूप से आवश्यक या प्राकृतिक माने जाते हैं। ये मूल सिद्धान्त किसी भी राज्य में व्यक्ति को अवश्य मिलना चाहिए। ये निम्नलिखित हैं—(१) जीवन का अधिकार, (२) स्वतन्त्रता का अधिकार, (३) सम्पत्ति का अधिकार, (४) समझौता या करार का अधिकार, (५) भाषण और सभा करने का अधिकार, (६) धर्माचरण का अधिकार, (७) संघ बनाने का अधिकार और (८) कौटुम्बिक जीवन का अधिकार। इन अधिकारों की विवेचना हम "नागरिक स्वतन्त्रता" नामक अनुच्छेद के अन्तर्गत करेंगे।

स्वतन्त्रता के विभिन्न रूप
(Various forms of Liberty)

विभिन्न लेखकों ने स्वतन्त्रता के निम्नलिखित प्रधान चार रूप बतलाये हैं, यथा—(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता, (२) राजनीतिक स्वतन्त्रता, (३) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और (४) नागरिक स्वतन्त्रता। यहाँ हम इनका अध्ययन एक-एक करके करेंगे।

(१) प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty) :—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक क़ानून की चर्चा कर चुके हैं। राजनीति विज्ञान के लेखकों ने प्राकृतिक अवस्था और क़ानून पर अपने-अपने विचारों के अनुसार इनको चित्रित किया है। प्राचीन ग्रीस के विचारकों ने भी प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार किया है। लेकिन इन्होंने भी प्रकृति का चित्रण भिन्न-भिन्न रूप में किया है। इन विचारों का प्रभाव, विशेषकर स्टोइक विचारधारा का रोम की क़ानून-व्यवस्था पर पड़ा। मध्ययुग में भी हम प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक क़ानून की चर्चा पाते हैं। मध्ययुग के बाद आधुनिक युग में हॉब्स, लॉक और रूसो ने प्राकृतिक अवस्था को तथा प्राकृतिक

क़ानून को अपने-अपने विचारों के अनुसार स्वीकार किया है। सन् १७८९ की फ्रान्स की राज्यक्रान्ति में मनुष्य के अधिकारों की घोषणा स्वतन्त्रता तथा समानता के प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर की गई। रूसो इन विचारों का बड़ा प्रबल समर्थक था। लॉक ने भी प्राकृतिक क़ानून और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध स्वीकार किया है। आधुनिक युग में प्राकृतिक क़ानून का सिद्धान्त औचित्य (Equity) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तथा क़ानून की दार्शनिक पृष्ठभूमि दृष्टिगोचर होता है। साहित्य, धर्मशास्त्र तथा प्राकृतिक विज्ञान में भी प्राकृतिक स्वतन्त्रता और प्राकृतिक नियमों की चर्चा पाई जाती है। यदि हम आलोचनात्मक दृष्टि से देखें तो यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता का आधार केवल क़ानून होता है। जहाँ क़ानूनी बन्धन नहीं रहते, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं रह सकती, न वहाँ किसी प्रकार के अधिकार ही रह सकते। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की शक्ति ही उसके अधिकार निश्चित करती है। अपनी शक्ति के बल पर मनुष्य दूसरों के अधिकार नष्ट करके अपने अधिकार जमाता है। ऐसी अवस्था में वास्तविक स्वतन्त्रता और अधिकार नहीं रह सकते। ये केवल राज्य की छत्र-छाया में पनपते हैं।

(२) **राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)** :—राजनीतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त के दो रूप हैं—अर्थात् व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामूहिक स्वशासन अर्थात् जनतन्त्र। राजनीतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त इस बात को मान लेता है कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, उसके सब कार्य बुद्धि या तर्क द्वारा संचालित होते हैं। वह अपने हित समझता है, वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सचेष्ट रहता है तथा दूसरों के अधिकारों का आदर करता है। वह समाज के अर्थात् देश के शासन में भाग लेने की क्षमता रखता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने पर नियंत्रण रख सकता है और स्वतन्त्रता का उपयोग अपने व्यक्तित्त्व के विकास के लिये करता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता अब प्रायः जनतन्त्र के साथ एक रूप मानी जाती है। देश के शासन में नागरिक जो भाग लेते हैं, वही राजनीतिक स्वतन्त्रता मानी जाती है। इसमें मतदान का अधिकार, क़ानून-निर्माण में भाग लेने का अधिकार, सरकारी या सार्वजनिक पदों पर रहने का अधिकार, सरकार के विरुद्ध मत देने का अधिकार, राज्य में रहने का अधिकार, राज्य के बाहर रहने पर सरकार का संरक्षण प्राप्त रहने का अधिकार इत्यादि शामिल हैं। अल्पवयस्क, पागलों, अपराधियों कहीं-कहीं स्त्रियों को ये अधिकार प्राप्त नहीं रहते। कुछ देशों में इन अधिकारों के लिये सम्पत्ति और शिक्षा सम्बन्धी शर्तें लगी रहती हैं। वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता लोगों की शिक्षा सम्बन्धी उन्नति और सामाजिक जागृति पर निर्भर

रहती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का सबसे अच्छा माप-दण्ड वे अधिकार होते हैं, जो किसी देश में अल्पसंख्यक वर्गों को दिये जाते हैं।

(३) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)** :—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि किसी राष्ट्र पर अर्थात् राज्य पर किसी भी बाहरी राज्य का किसी भी प्रकार का प्रभुत्त्व नहीं है। सन् १९४७ में भारत ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की। तब तक उस पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व था।

(४) **नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)** :—बहुत से लेखक नागरिक स्वतन्त्रता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई भेद नहीं मानते। वे दोनों शब्दों को एक अर्थ में उपयोग करते हैं। नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ वह स्वतन्त्रता है, जो किसी व्यक्ति को समाज में प्राप्त रहती है। इसके भी दो पहलू होते हैं—एक यह कि अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का पूर्ण अधिकार तथा अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है। दूसरा पहलू यह होता है कि राज्य के नागरिकों के कार्यों में कोई बाहरी शक्ति दख़ल नहीं देती। नागरिक स्वतन्त्रता का क़ानून तथा संप्रभुता से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। राज्य, जो क़ानून बनाता है, उन्हीं से नागरिक स्वतन्त्रता का जन्म होता है। क़ानून नागरिक स्वतन्त्रता का नियन्त्रण करता है, यदि प्रत्येक नागरिक अपनी इच्छानुसार काम करने लगे तो अन्य नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ेगी। इसके फलस्वरूप संघर्ष होगा और नागरिक स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज़ नहीं रह जायगी। इसलिये राज्य के क़ानूनों द्वारा नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है। क़ानून की दृष्टि में सब नागरिक एक समान होते हैं। अर्थात् राज्य में क़ानून की सत्ता होती है। इसलिये नागरिक स्वतन्त्रता में वे अधिकार और सुविधाएँ शामिल रहती हैं, जिन्हें राज्य क़ानून के द्वारा उत्पन्न करता है और सरकार उनका संरक्षण करती है। कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध भी कुछ अधिकार प्राप्त रहते हैं या नहीं। सच बात तो यह है कि वास्तव में नागरिकों को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते ; क्योंकि सब अधिकारों का संरक्षक राज्य होता है। आवश्यकता पड़ने पर राज्य किसी भी नागरिक का कोई भी अधिकार छीन सकता है।

जब राज्य नागरिकों को अधिकार देता है तो उनके संरक्षण का भार दो प्रकार से निश्चित कर देता है—एक तो क़ानून की सहायता से सरकार के विरुद्ध और दूसरे वैयक्तिक क़ानून के द्वारा नागरिकों तथा संघों के विरुद्ध संरक्षण। राज्य ऐसे क़ानून बनाता है, जिनके कारण सरकार नागरिकों के अधिकारों पर आघात नहीं कर सकती। यदि करती है, तो नागरिक उन क़ानूनों की दुहाई देकर सरकार के विरुद्ध न्यायालय की शरण लेते हैं। प्रत्येक देश में एक संविधान होता

है और ये अधिकार मूल अधिकारों के रूप में संविधान के अंग बना दिये जाते हैं। साथ ही ऐसे क़ानून भी बना दिये जाते हैं, जिनसे इन मूल अधिकारों की रक्षा हो सके। सरकार का संगठन संविधान के अनुसार होता है और वही संविधान व्यक्ति के मूल अधिकारों के संरक्षण का दायित्त्व भी सरकार पर सौंपता है। भारत के संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है और साधारणतः सरकार इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकती। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस के लिखित संविधानों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है। इङ्गलैण्ड का संविधान प्रधानतः अलिखित है, पर उसमें भी क़ानून की सत्ता तथा संसद की संप्रभुता द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा का उपयुक्त प्रबन्ध है। फिर मेगना कार्टा, अधिकार-घोषणा, बन्दी प्रत्यक्षीकरण इत्यादि ऐसे कई क़ानून हैं, जिनके द्वारा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा क़ानून द्वारा होती है। विद्वानों का मत है कि इंगलैण्ड में जितनी नागरिक स्वतन्त्रता प्रचलित है, उतनी संसार के अन्य किसी देश में नहीं है। दूसरे साधारण या वैयक्तिक क़ानून द्वारा राज्य एक व्यक्ति की नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा दूसरे व्यक्ति से या व्यक्तियों के संघों से करती है। जैसे कि सरकार ने मज़दूरों के हितों में कुछ क़ानून बनाये हैं और मज़दूरों की नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा कारखानों के मालिकों से करती है।

कुछ विशिष्ट अधिकार (Some Particular Rights):—हम देख चुके हैं कि नागरिक स्वतन्त्रता की सार-वस्तु कुछ मूल अधिकार होते हैं। राज्य इन मूल अधिकारों को संरक्षण देता है। इस जनतन्त्र के युग में प्रायः सब राज्यों में मूल अधिकार एक से होते हैं। उनमें परिस्थितियों के अनुसार थोड़ा-सा अन्तर इधर-उधर होता है। एक प्रवृत्ति यह भी देखने में आती है कि आजकल जिन राज्यों में नये संविधान बनते हैं, उनमें नागरिक अधिकार बहुत विस्तारपूर्वक दिये जाते हैं। यहाँ हम नागरिकों के कुछ विशिष्ट अधिकारों का वर्णन करते हैं।

(१) **जीवन का अधिकार (Right to Life)** :—जीवित रहने का अधिकार स्वाभाविक रूप से नागरिकों का मुख्य मूल अधिकार माना जाता है। अन्य सब अधिकारों का उपभोग इस अधिकार पर निर्भर होता है। इसमें सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी जीवन-रक्षा करने का अधिकार होता है। लेकिन साथ ही यह भी है कि अपनी जीवन-रक्षा करने के लिये कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का प्राण नहीं ले सकता। इसी अधिकार के प्रतिपालन के लिए राज्य क़ानून बनाता है, न्यायालय स्थापित करता है तथा पुलीस रखता है। इसीलिये कोई भी व्यक्ति केवल विधिवत् अर्थात् क़ानून

के अनुसार अपनी प्राण-रक्षा कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर राज्य प्राणदण्ड देता है। साथ ही पूरे समाज के हित में राज्य किसी व्यक्ति को प्राणदण्ड दे सकता है। यदि कोई व्यक्ति देश-द्रोह करे तो राज्य उसे प्राण-दण्ड दे सकता है। युद्धकाल में या संकटकाल में सरकारें इस अधिकार को बहुत सीमित कर देती हैं। प्रायः बहुत से नागरिक-अधिकार स्थगित कर दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में भी विद्वानों ने सरकार की आलोचना की है। उदाहरण के लिये टी० एच० ग्रीन का मत है कि केवल उचित युद्ध में सरकार किसी व्यक्ति को प्राणदण्ड दे सकती है।

(२) **स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Liberty)**—जीवन-रक्षा के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार माना जाता है। यह कहा जाता है कि जबतक मनुष्य को स्वतन्त्रता न हो, तबतक उसके जीवित रहने का कोई मूल्य नहीं है। स्वातन्त्र्य का अर्थ यह है कि उसको अपने व्यक्तित्त्व के विकास करने का पूर्ण सुअवसर प्राप्त हो, जिससे मनुष्य जानवर के स्तर से ऊँचा उठकर वास्तव में एक श्रेष्ठ प्राणी बन सके। इसीलिये संसार के सब सभ्य देश गुलामी प्रथा की निन्दा करते हैं। स्वतन्त्रता के अधिकार का अर्थ यह है कि सब लोगों को समाज में उन्नति करने के एक समान मौक़े मिलेंगे, किसी व्यक्ति को या किसी वर्ग को विशेष सुविधाएँ नहीं मिलेंगी, कानून की दृष्टि में सब लोग समान माने जायँगे इत्यादि। परन्तु यह अधिकार भी निरंकुश नहीं है। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कोई व्यक्ति किसी अन्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का हनन नहीं कर सकता। साथ ही राज्य चाहे तो आवश्यकता पड़ने पर नागरिक का यह अधिकार इच्छानुसार सीमित कर सकता है।

(३) **मत प्रकट करने और भाषण का अधिक.र (Freedom of Opinion and Expression)**:—इस अधिकार के अन्तर्गत नागरिकों के सोचने तथा विचार करने और अपने विचारों के अनुसार भाषण करने तथा मत प्रकट करने का अधिकार आता है। समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का प्रश्न भी इसी अधिकार में निहित है। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को सदा से अधिक महत्त्व मिलता आया है। साक्रेटीज़ के समान महापुरुष ने इस अधिकार की रक्षा के लिये अपने प्राण तक दे दिये। लेकिन जहाँ उसने व्यक्ति के इस अधिकार का इतना बड़ा समर्थन किया, वहाँ उसने व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार स्वीकार नहीं किया। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इस अधिकार का ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया है। उसका मत है कि किसी विचार द्वारा कोई सत्य प्रकट हो सकता है, इसलिये उसे प्रकट करने का अधिकार व्यक्ति को अवश्य मिलना चाहिये। दूसरे उसका यह मत है कि जब विचारों

का संघर्ष होता है, वाद-विवाद होता है, तभी हम वास्तविक सत्य पाते हैं और तीसरे विचार तथा भाषण की स्वतन्त्रता द्वारा हम सत्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। सभ्यता की उन्नति और ज्ञानवर्द्धन के लिये विचार और भाषण की स्वतन्त्रता आवश्यक है। जनतन्त्र के लिये तो वह बहुत आवश्यक है, क्योंकि उससे जनमत का निर्माण होता है। स्वस्थ जनमत से शासन की निरंकुशता कम होती है। बिना स्वस्थ जनमत के कोई भी प्रतिनिधि शासन अच्छी प्रकार नहीं चल सकता। जनतन्त्र दलबन्दी के आधार पर चलता है और स्वतन्त्र जनमत से दलबन्दी के आधार मजबूत होते हैं। लेकिन इसमें भी शर्त यह है कि जनमत ऐसी ग़लत दिशा में न जावे कि उससे देश और समाज का अहित हो। इसलिये उस पर उचित नियन्त्रण रखने के लिये राज्य मानहानि, विद्रोह, उत्तेजना इत्यादि सम्बन्धी क़ानून बनाता है। प्रायः प्रत्येक देश में ऐसे क़ानून बने हैं, जिनसे राज्य और समाज के आधारों को क्षति न पहुँचे। सभा करने का अधिकार भाषण की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखता है। जिन देशों में तानाशाही है, वहाँ नागरिकों की यह स्वतन्त्रता बहुत सीमित कर दी जाती है। सरकार के विरुद्ध मत प्रकट करने का लोगों को प्रायः अधिकार ही नहीं रहता। लेकिन जनतन्त्र का सार यही है कि अल्पवर्गों को भी अपना मत प्रकट करने का पूर्ण अवसर मिले।

जनतन्त्र में जनमत का बहुत महत्त्व होता है। अतएव इस विषय पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। समाज विभिन्न वर्गों और दलों में बँटा

जनमत

रहता है और प्रत्येक दल अपने हितों की दृष्टि से मत व्यक्त करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वर्ग सत्य ही प्रकट करता है। सत्य तो विभिन्न मतों के संघर्ष के फलस्वरूप प्रकट होता है। रोनेक नामक अमेरिकन लेखक ने जनमत निर्माण के लिये चार आवश्यक शर्तें रखी हैं। एक तो जनता में ऐक ऐसा वर्ग हो, जो अपने समान हितों पर विचारों का आदान-प्रदान करता है। दूसरे कुछ ऐसे स्वार्थ या हित हों, जिन पर जनता के कुछ लोग वाद-विवाद करें और उनमें उन बातों पर एकमत न हो। तीसरे जनता में कुछ ऐसे नेता हों, जो समय-समय पर विशिष्ट बातों पर जनमत का निर्माण करें, उस पर विचार करें और उसका प्रसार करें। चौथी, विशिष्ट बातों पर जनमत की स्पष्ट धाराएँ देखने को मिलें। साथ ही ये धाराएँ ऐसी हों कि बहुमत जो निर्णय करे उसे अन्त में स्वीकार कर ले।

अब प्रश्न यह उठता है कि जनमत कैसे जाना जाय। समाचार-पत्र जनमत जानने के बड़े अच्छे साधन होते हैं। पर केवल एक-दो समाचार-पत्र पढ़कर हम सही जनमत नहीं जान सकते। आजकल प्रायः प्रत्येक समाचार-पत्र किसी-

न-किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध रखता है। इसलिये जब हम विभिन्न मतों या दलों के कई समाचार-पत्र पढ़ें तो हम सही जनमत जान सकते हैं। इसी प्रकार सार्वजनिक सभाओं में भी हम सही जनमत नहीं जान सकते, क्योंकि सार्वजनिक सभाएँ भी दलबन्दी के आधार पर होती हैं। यदि हम निर्वाचनों को जनमत का निर्देशक मानें तो उसमें कठिनाई यह होती है कि निर्वाचन चार या पाँच वर्ष के अन्तर से होते हैं और इस बीच में विभिन्न बातों पर जनमत कई बार बदल चुकता है। फिर एक निर्वाचन में एक-दो समस्याएँ प्रधानरूप से रख दी जाती हैं और उन्हीं के आधार पर निर्वाचन होते हैं। जनमत एक गतिशील क्रिया है और किसी एक समय उसका सही-सही पता लगाना बड़ा कठिन काम है। लॉर्ड ब्राइस का मत है कि जनमत का सही मूल्यांकन हम तभी कर सकते हैं, जब हम विभिन्न प्रकार के विभिन्न वर्गों के लोगों से निरन्तर मिलते-जुलते रहें और यह जानने का प्रयत्न करें कि उन पर कौन-कौन-सी बातों का किस तरह का प्रभाव पड़ता है। आजकल यह माना जाता है कि जनमत तर्क पर बहुत कम आधारित होता है, उस पर भावुकता का प्रभाव अधिक पड़ता है। इसीलिये ब्राइस का मत है कि जनमत में हमें विश्वासों, कल्पनाओं, आकांक्षाओं तथा कट्टर भावनाओं को शामिल करना चाहिये। ये सब बातें जनमत की छलनी में छनते-छनते एक ठोस रूप धारण कर लेती हैं और यही ठोस रूप समाज की चालक और प्रेरक शक्ति बन जाती है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनमत-निर्माण की क्रिया बड़ी ही जटिल है। राजनीति विचारक, शिक्षक, पत्रकार, विधानमण्डलों के सदस्य तथा अन्य राजनीतिज्ञ विभिन्न समस्याओं पर लेखों, भाषणों इत्यादि द्वारा अपने मत प्रकट करते हैं। पत्रों, रेडियो, विद्यालयों, सिनेमा इत्यादि के द्वारा इन विचारों का प्रसार होता है। नागरिक इन विचारों पर वाद-विवाद करते हैं, उन पर अपने मत प्रकट

---

१ "It is confused, incoherent, amorphons, varying from day to day and week to week. But in the midst of this diversity and confusion every question as it rises into importance is subjected to a process of consolidation and classification until there emerge and take deifinite shape, certain views, each held and advocated in common by bodies of citizens. It is to the power exercised by any such view, or set of views, when held by an apparent majority of citizens, that we refer when we talk of public opinion as approving or disapproving a certain doctrine or proposal, and thereby becoming a guiding or ruling power."—(**Lord Bryce**)

करते हैं। साथ ही यह बात भी है कि इन मतों में वैज्ञानिक संगत या तर्क बहुत कम होता है। अधिकतर लोग नारों और प्रोपेगेण्डा या प्रचार के प्रवाह में बह जाते हैं। आजकल ज़ोरदार प्रचार ही जनमत पर विजय पाता है। विद्वानों का मत ह कि नागरिकों को अधिक से अधिक उच्च शिक्षा का प्रचार ही ठोस जनमत बनाने में सहायक हो सकता है।

(४) धर्माचरण और आत्मचिन्तन की स्वतन्त्रता (Right of Free Worship and Conscience):—आजकल प्रत्येक सभ्य राज्य में नागरिक का यह अधिकार माना जाता है कि वह अपनी इच्छानुसार धर्माचरण कर सके। आधुनिक राज्य धर्म-निरपेक्ष या धर्म से परे होते हैं। अर्थात् वे नागरिकों के धर्माचरण में हस्तक्षेप नहीं करते। न वे नागरिकों के लिये धर्माचरण निर्धारित ही करते हैं। परन्तु ऐसी कुछ शर्तें अवश्य लगा देते हैं, जिससे व्यक्ति अथवा किसी वर्ग के धार्मिक विचारों और कार्यों का प्रभाव समाज और राज्य को हानि न पहुँचावें। उदाहरण के लिये समाज के दो धार्मिक वर्गों में संघर्ष होने से देश में गृह-युद्ध का संकट उपस्थित हो सकता है।

प्राचीन काल में धर्म और राजनीति में प्रायः कोई अन्तर नहीं था। मध्य युग में योरोप में धर्म के नाम पर बड़े-बड़े युद्ध हुए और इनका अन्त सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। तब से धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना हुई और प्रायः प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को धर्माचरण की स्वतन्त्रता देता है। आधुनिक राजनीति में धर्म को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। राज्य प्रायः इतनी ही हद तक सजग रहते हैं कि समाज का धर्म पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पावे। जहाँ तक आत्मचिन्तन का सवाल है, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति या राज्य किसी व्यक्ति पर विशेष प्रकार से चिन्तन करने का दबाब नहीं डाल सकता। लेकिन इतनी सावधानी राज्य अवश्य रखता है कि अपने आत्म-चिन्तन के फलस्वरूप कोई व्यक्ति ऐसा कार्य न करे, जिससे राज्य की व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े और समाज में अशान्ति फैले। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि किसी व्यक्ति या वर्ग को अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार मिलना चाहिये अथवा नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि धार्मिक प्रचार का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है तो यह अधिकार अवश्य मिलना चाहिये। लेकिन यदि इसकी जड़ में कोई राज-नीतिक उद्देश्य है, तो यह अधिकार हानि पहुँचा सकता है। इङ्गलैण्ड में एक सरकारी चर्च अर्थात् धार्मिक विचारधारा है, जिसे राज्य और सरकार का सम-र्थन प्राप्त है। पर साथ ही दूसरे चर्च भी वहाँ हैं और उन्हें अपने धर्माचरण, आत्मचिन्तन और प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता है। आधुनिक काल में राजनीति पर

धर्म का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर रह गया है। अतएव राज्य इस अधिकार को देने में केवल इसी बात का ध्यान रखता है कि उसका राज्य पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पावे।

(५) संघ बनाने का अधिकार (Right of Association):— आधुनिक राज्य में विशेषकर जनतन्त्र में यह भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकार माना जाता है। जैसा कि कहा जा चुका है, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका सामाजिक जीवन विभिन्न प्रकार के संघों द्वारा चालित होता है। एक व्यक्ति एक साथ किसी राजनीतिक दल, किसी परोपकारी तथा सेवा-परायण संस्था, किसी मनोरंजन संस्था, एक नागरिक या व्यावसायिक संघ इत्यादि का सदस्य हो सकता है। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोग आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, मनोरंजक, साहित्यिक तथा धार्मिक इत्यादि विभिन्न प्रकार के संघ बनाते हैं। आखिर राज्य भी तो एक संघ ही है। इसलिये संघ बनाने का अधिकार नागरिकों का एक मूल अधिकार माना जाता है। सभी सभ्य देशों ने इस अधिकार को स्वीकार किया है। परन्तु इसमें भी राज्य यह शर्त रखता है कि वह ऐसे संघ नहीं बनने देगा जिनसे राज्य को हानि पहुँचने की सम्भावना हो। राज्य के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली तथा षड़यन्त्र करनेवाली संस्थाओं को वह गरक़ानूनी घोषित करके उन्हें समाप्त कर सकता है। वह संघों को नागरिक के मूल अधिकारों पर आघात नहीं करने देगा। ऐसे संघों के सदस्यों को दंड देने का अधिकार राज्य अपने हाथ में रखता है।

(६) कौटुम्बिक जीवन का अधिकार (Right of Family Life):— कुटुम्ब मानव जीवन की आदि संस्थाओं में से है। जब से मानव जीवन आरम्भ हुआ तब से लेकर आज तक यह संघ फल-फूल रहा है। इसमें विवाह करने का अधिकार, बच्चों का लालन-पालन तथा उनका संरक्षण का अधिकार, सम्पत्ति उपार्जन करने तथा उसका उत्तराधिकार पाने का अधिकार इत्यादि शामिल हैं। भारत में कौटुम्बिक जीवन बड़ा पवित्र माना गया है। राज्य इन अधिकारों को स्वीकार करता है, पर साथ ही कौटुम्बिक जीवन को भली-भाँति चलाने के लिये वह कुछ क़ानून बनाता है। विभिन्न राज्यों में परम्परा तथा परिस्थितियों के अनुसार विवाह, तलाक, सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी क़ानून प्रचलित हैं। राज्य आवश्यकता के अनुसार इनमें परिवर्तन करता रहता है।

(७) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property):— यद्यपि कम्यूनिस्ट विचारधारा निजी सम्पत्ति को मान्यता नहीं देती, तथापि जनतन्त्रवादी देश व्यक्तित्त्व के पूर्ण विकास के लिये निजी सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करते हैं। अनुभव के आधार पर कम्यूनिस्ट व्यवस्थावाले देशों ने भी काफ़ी

हद तक निजी सम्पत्ति को मान्यता दी है। यह कहा जाता है कि जब तक मनुष्य के पास अपनी सम्पत्ति न हो तब तक वह इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। लेकिन अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार पर भी सरकार ने अपने नियन्त्रण लगा रखे हैं। सरकार तरह-तरह के कर लेती है, जुरमाना करती है, उत्तराधिकार सम्बन्धी क़ानून बनाती है। कहा जाता है कि सरकार नागरिकों को संरक्षण और सुरक्षा देती है। और बदले में कर लेती है। जो व्यक्ति कर देता है, उसकी देश के शासन में दिलचस्पी रहती है और वह राज्य में अपनी आस्था रखता है। कई प्रकार की सम्पत्ति को आधुनिक राज्य आस्था नहीं देता। किसी समय कई देशों में गुलाम लोगों की निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। लेकिन आजकल यह स्वीकार नहीं किया जाता है। कम्यूनिस्ट देशों में उत्पादन के सब साधन पूरे समाज की सम्पत्ति माने जाते हैं।

(८) **क़रार का अधिकार (Right of Contract)**:—क़रार और रोज़गार के अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में काफ़ी मतभेद है। राज्यों में पूँजीवादी व्यवस्था प्रचलित है, वहाँ इस अधिकार को काफ़ी मान्यता दी जाती है और तरह-तरह के कारख़ाना-क़ानून बनाये जाते हैं। न्यूनतम मज़दूरी, छुट्टी, काम की सुविधा, स्त्रियों और बच्चों की मज़दूरी, खदानों में काम इत्यादि सम्बन्धी क़ानून इस अधिकार के अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक व्यवस्था में क़रार का काफ़ी महत्त्व है। इसका मतलब यह है कि विभिन्न व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक जो क़रार या समझौता करें उसे पूरा करना चाहिये। सरकार इस अधिकार का पालन इसलिये कराती है, कि इसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव नहीं है। लेकिन असम्भव, अनैतिक और अवैध कार्यों के लिये, जो क़रार किये जाते हैं, उन्हें राज्य मान्यता नहीं देता। टी० एच० ग्रीन ने कहा है कि जिस क़रार में मनुष्य को भौतिक वस्तुओं के स्तर पर रख दिया जाय, वह क़रार एकदम मान्य नहीं है। क्योंकि उससे वही उद्देश्य समाप्त हो जाते हैं, जिनके लिये क़रार किये जाते हैं।

नागरिक अधिकारों की सीमा (Limit to Civil Rights):—ऊपर हमने नागरिक स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखनेवाले जिन अधिकारों की चर्चा की है, उन्हें प्रत्येक राज्य में किसी-न-किसी रूप में मान्यता दी जाती है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये अधिकार निरंकुश नहीं होते, बल्कि किसी-न-किसी रूप में राज्य द्वारा सीमित रहते हैं। राज्य के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति अधिकारों का दावा नहीं कर सकता। सब अधिकार राज्य की स्वेच्छा पर निर्भर रहते हैं। संकटकाल में राज्य इन अधिकारों को आवश्यकतानुसार सीमित अथवा स्थगित कर सकता है। उदाहरण के लिये युद्धकाल में राज्य

किसी विशेष उम्र के सब नागरिकों को सेना में भरती होने के लिये बाध्य कर सकता है, देश-द्रोह करनेवालों को प्राण-दण्ड दे सकता है। तात्पर्य यह है कि सब अधिकार राज्य के ही अन्तर्गत होते हैं। राज्य से परे कोई अधिकार नहीं होता ; इन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इससे नैतिक अधिकारों और क़ानूनी अधिकारों के बीच अर्थ सम्बन्धी भ्रम पैदा होता है।

राज्य का अस्तित्त्व कुछ उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये होता है। इनमें एक प्रधान उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्त्व को पूर्णरूप से विकास करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। अर्थात् उसे अपने साहित्य, संस्कृति इत्यादि की उन्नति के पूरे मौक़े मिलना चाहिये। इसके लिये स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक है। साथ ही ये उद्देश्य तभी पूरे हो सकते हैं, जब मनुष्य एक सुसंगठित समाज अथवा राज्य में रहे। समाज में कई प्रकार के लोग होते हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अधिकतर लोग क़ानून का पालन करने वाले होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनकी प्रकृति समाज विरोधी होती है। राज्य का काम ऐसे लोगों के कार्यों को नियंत्रित करना है, जिससे संपूर्ण समाज के कल्याण में बाधा न पड़े। यदि कुछ व्यक्तियों के कार्यों से समाज की कल्याणकारी प्रगति में बाधा पड़ती है, तो राज्य का कर्त्तव्य है कि उन थोड़े से लोगों पर उचित नियन्त्रण रखे। जैसे कि राज्य के एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण नहीं होने देना चाहिये।

हम कह चुके हैं कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। लेकिन इस सम्बन्ध में हमें राज्य तथा सत्तारूढ़ शासक वर्ग के बीच में भेद समझ लेना चाहिये। यदि राज्य का एक वर्ग सत्ता का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये तथा अन्य वर्गों के विरुद्ध करते हैं, तो उस वर्ग के विरुद्ध नागरिक विद्रोह कर सकते हैं, लेकिन यदि राज्य में सब वर्गों के हितों की रक्षा होती है, तो विद्रोह करने की न आवश्यकता है, न अधिकार।

स्वतन्त्रता और समानता (Liberty and Equality) :—स्वतन्त्रता और समानता के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं, लेकिन स्वतन्त्रता शब्द को प्रधानतः राजनीतिक अर्थ दिया जाता है और समानता को आर्थिक। वास्तव में ये दोनों शब्द एक दूसरे के पूरक हैं और एक के बिना दूसरे का वास्तविक अस्तित्त्व नहीं रह सकता। उदाहरण के लिये राजनीतिक दृष्टि से समान रूप से स्वतन्त्र होते हुए भी एक ग़रीब आदमी एक धनी आदमी की समानता नहीं कर सकता। जनतन्त्र में समानता का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने के एक अवसर मिलते हैं। राज्य इस सम्बन्ध में विभिन्न वर्ग

के नागरिकों के बीच में भेद नहीं मानता। क़ानून की दृष्टि में सब लोग एक समान माने जाते हैं। सामाजिक, आर्थिक, क़ानूनी तथा राजनीतिक क्षेत्रों में राज्य नागरिकों को समान अधिकार देने की चेष्टा करता है। आज के समाज में कोई पूँजीपति अपने कर्मचारियों के साथ मनमाना व्यवहार नहीं कर सकता। क़ानून द्वारा मालिकों और मज़दूरों के सम्बन्ध नियंत्रित होते हैं। धनी वर्ग पर अधिक कर लगाकर राज्य धनिकों और ग़रीबों के बीच आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। सब नागरिकों को मताधिकार देकर राज्य धनी वर्ग को सत्ता हथियाने से रोकता है। आज इस बात को सब लोग स्वीकार करते हैं कि वास्तविक स्वतन्त्रता के लिये अधिक से अधिक आर्थिक समानता होनी आवश्यक है। आर्थिक विषमता स्वतन्त्रता को पनपने नहीं देती।

आधुनिक राज्य में स्वतन्त्रता (Liberty in the Modern State):— आधुनिक राज्य में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि सरकार के हाथों में अधिकाधिक शक्ति केन्द्रित होती जाती है और व्यक्ति अपने अधिकारों की ओर अधिकाधिक उदासीन होता जाता है। आर्थिक क्षेत्र में सरकार के कार्य दिन-प्रति-दिन बढ़ते जाते हैं। सरकारी शासन की मशीन भी अधिक जटिल हो गई है और उसके कार्य अब ऐसे समस्याग्रस्त हो गये हैं कि जब तक कोई व्यक्ति अपना सारा समय या काफ़ी समय राजनीतिक या शासकीय कार्यों की ओर न लगावे तब तक वह वास्तव में देश की राजनीति में महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे सकता। एक औसत आधुनिक नागरिक के पास इतना समय नहीं रहता। फल यह होता है कि अधिकतर वह नीति और निर्णय निर्धारण के काम सरकार पर ही छोड़ देता है। राजनीति दलों के आधार पर चलती है और प्रत्येक दल में पेशेवर राज-नीतिज्ञों के दल उत्पन्न हो जाते हैं। इससे भी नागरिकों की उदासीनता बढ़ती है। विज्ञान ने समय और क्षेत्र का महत्त्व घटाकर सरकार या शासन-मशीन को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। फिर हम देखते हैं कि विज्ञान की प्रगति ने विश्व के विभिन्न राज्यों को बहुत निकट ला दिया है। गत पचास वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जल्दी-जल्दी नये-नये संकट उत्पन्न होते रहते हैं। एक राजनीतिज्ञ ने लिखा है कि वास्तव में सन् १९१४ के बाद से युद्ध कभी बन्द हुआ ही नहीं। संसार के किसी-न-किसी भाग में युद्ध चलता ही रहा है। यदि कभी लड़ना बन्द हुआ भी तो उसका स्थान शीत-युद्ध या आतंक युद्ध ले लेता है। ऐसी परिस्थितियों में राजनीति के प्रश्नों पर सरकारें ही समयानुकूल निर्णय ले सकती हैं। अतः साधारण नागरिक अपनी उपयोगिता घटती हुई पाता है और वह सक्रिय राजनीति की ओर से उदासीन होता जाता है। ऐसी

परिस्थितियों में सरकार का रूप कुछ तानाशाही का हो जाता है। वे आलोचना नहीं सह सकतीं और ऐसे-ऐसे क़ानून बनाने लगती हैं, जिनसे नागरिकों की स्वतन्त्रता सीमित होती जाती है। द्वितीय महायुद्ध के पहले इटली और जर्मनी जैसे देशों में जो तानाशाही स्थापित हुई थी, उसने वहां नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त कर दी थी। आज भी रूस जैसे देशों में सरकार की आलोचना के लिये कोई स्थान नहीं है। कम्यूनिस्ट शासन विरोधी जनमत वहां पनप ही नहीं सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिक स्वतन्त्रता के पनपने के लिये कुछ परिस्थितियां आवश्यक हैं। नागरिक स्वतन्त्रता के दो पक्ष होते हैं—एक निष्क्रिय (Negative) और दूसरा सक्रिय (Positive)

नागरिक स्वतन्त्रता की गारंटी

निष्क्रिय पक्ष यह है कि सरकार यदि नागरिकों की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं करेगी। यदि करेगी भी तो केवल राज्य द्वारा निर्धारित क़ानून के अनुसार। इसका सक्रिय पक्ष यह है कि राज्य से प्राप्त अधिकारों का नागरिक भरपूर उपयोग करेंगे और सरकार से इस बात की मांग करते रहेंगे कि कोई व्यक्ति या वर्ग उन अधिकारों का अतिक्रमण या दुरुपयोग न करने पावे।

स्वतन्त्रता जनतन्त्र में ही पनपती है। क्योंकि इसमें लोग अपनी इच्छानुकूल सरकार का संगठन कर सकते हैं। जनतन्त्र जनमत पर निर्भर होता है और आलोचना जनमत बनाती है। इसके विपरीत तानाशाही आलोचना करने का मौका ही नहीं देती।

आधुनिक जनतन्त्रीय शासन में नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो अधिकारों की घोषणा द्वारा और दूसरे कार्यकारिणी और न्यायपालिका को अलग-अलग करके। आजकल जितने संविधान बनते हैं, उन सबमें प्रायः नागरिकों के अधिकारों की घोषणा रहती है। पर साथ ही यह शर्त भी लगी रहती है कि संकटकाल में राज्य अर्थात् सरकार इन अधिकारों को सीमित या स्थगित कर सकती है। इसी ने नागरिक स्वतन्त्रता का महत्त्व घटा दिया है, क्योंकि सरकार चाहे जब संकटकाल के नाम पर नागरिकों के अधिकारों को सीमित कर सकती है।

इंगलैण्ड में लोग अधिकारों की घोषणा को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि विशिष्ट अधिकारों की रक्षा के लिये क़ानूनी उपचारों की

हेबियस कॉरपस

उपलब्धि पर देते हैं। इसके लिये इंगलैण्ड में न्यायपालिका को ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वह कार्यपालिका की निरंकुशता को काफ़ी हद तक रोक सकती है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) सम्बन्धी विविध क़ानून इसके प्रमाण हैं।

हमारे देश में भी यह अधिकार प्रचलित है, पर इसके साथ ही निवारक नज़रबन्दी क़ानून (Preventive Detention Act) भी प्रचलित है, जिससे इस क़ानून की शक्ति काफ़ी क्षीण हो जाती है। ब्रिटेन के संविधान में मूल अधिकारों की लिखित घोषणा नहीं है, परन्तु वहाँ मेगना कार्टा, अधिकार घोषणा पत्र, हेबियस कॉरपस कुछ ऐसे ऐतिहासिक और वैधानिक क़ानून प्रचलित हैं, जिनके कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा हो जाती है। इंगलैण्ड में क़ानून की सत्ता प्रचलित है ; अर्थात् व्यक्ति के प्रत्येक अधिकार की रक्षा का उपचार न्यायालयों में उपलब्ध रहता है। इंगलैण्ड तथा अमेरिका में न्यायपालिका कार्यपालिका से सर्वथा स्वतन्त्र रहती है। अतएव वहाँ व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा बड़ी आसानी से हो जाती है।

अध्याय १०

नागरिकता

(Citizenship)

जनसंख्या राज्य का एक आवश्यक अंग होता है। जनसंख्या के बिना राज्य रह ही नहीं सकता। जनसंख्या का मतलब उन सब लोगों से है, जो एक राज्य में रहते हैं, चाहे उनकी क़ानूनी अथवा राजनीतिक स्थिति कुछ भी हो। एक राज्य में ऐसे लोग रह सकते हैं, जिन्हें पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त हों, कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो विदेशी हों। ऐसे लोगों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं रहते। प्राचीनकाल और मध्ययुग में दास या ग़ुलामी प्रथा प्रचलित थी। राज्यों में ग़ुलामों की संख्या काफ़ी होती थी, पर उन्हें नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। लेकिन आधुनिक काल में कहीं भी ग़ुलाम नहीं होते। चाहे जैसा भी राज्य हो, उसमें बसनेवाले सब लोग नागरिक होते है। वैसे तो केवल नगर में रहनेवाले लोगों को नागरिक कहते हैं, पर राजनीतिक भाषा में किसी राज्य में रहनेवाले सब लोगों को नागरिक कहते हैं।

नागरिक की परिभाषा करते हुए अरिस्टॉटल ने लिखा है कि नागरिक वह व्यक्ति है, जो राज्य के शासन में भाग लेता है तथा राज्य से प्राप्त होनेवाले लाभों का उपभोग करता है। अरिस्टॉटल के समय में नगर राज्य होते थे और नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेते थे। आजकल राज्यों का आकार बड़ा होता है और नागरिक अप्रत्यक्ष रूप से मतदान द्वारा शासन में

भाग लेते हैं। नागरिक की परिभाषा करते हुए वाटल (Vattel) ने लिखा है कि "नागरिक किसी समाज के वे सदस्य होते हैं, जो उस समाज के प्रति एक समान कर्तव्यों से बँधे रहते हैं, एक सत्ता के अधीन रहते हैं और उस सत्ता से प्राप्त होने वाले लाभों में समान रूप से भागीदार होते हैं।" एक प्रसिद्ध फैसला में संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने नागरिक की परिभाषा इस प्रकार की है—"नागरिक एक राजनीतिक समाज के सदस्य होते हैं। उन्हीं से राज्य का संगठन होता है और सामूहिक रूप से ये लोग एक राज्य के अधीन होते हैं, जिससे उनके वैयक्तिक तथा सामूहिक अधिकारों की रक्षा हो सके।" स्वर्गीय श्रीनिवास शास्त्री ने नागरिक की परिभाषा इस प्रकार की है—"नागरिक राज्य का एक ऐसा सदस्य होता है, जो राज्य के अन्तर्गत अपना पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। साथ ही उसे इस बात का ध्यान हमेशा बना रहता है कि राज्य का अधिकतम कल्याण कैसे होगा।"

नागरिक की परिभाषा

इन सब परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नागरिक राज्य का निष्क्रिय अंग नहीं होता, बल्कि वह एक सजग सदस्य होता है, जिसे सदा समाज के कल्याण का ध्यान बना रहता है। नागरिक को सदा सतर्क रहना चाहिये, उसकी बुद्धि हमेशा जागृत रहनी चाहिये, जिससे वह राज्य के कार्य-कलापों पर आलोचनात्मक दृष्टि रख सके। साथ ही उसे राज्य के प्रति निर्धारित अपने कर्त्तव्यों का भी भली-भाँति पालन करना चाहिये। सार्वजनिक समस्याओं पर उसे विचार करना चाहिये और अपनी राय प्रकट करनी चाहिये। इससे देश में स्वस्थ नागरिकता और स्वस्थ जनमत स्थापित होते हैं। इन सब बातों के लिये देश में शिक्षा का प्रचार आवश्यक है। अशिक्षित नागरिक न अपने अधिकारों का उपभोग भली-भाँति कर पाते हैं और न अपने कर्त्तव्यों का पालन।

आजकल प्रत्येक देश में दो प्रकार के लोग रहते हैं। एक तो ऐसे लोग होते हैं, जो उस देश के नागरिक होते हैं और दूसरे विदेशी। ये विदेशी किसी दूसरे राज्य के नागरिक होते हैं। ये विदेशी नागरिक किसी दूसरे राज्य में स्थायी रूप से रह सकते हैं और अस्थायी रूप से भी। जब किसी राज्य में विदेशी नागरिक रहते हैं, तब राज्य उन्हें संरक्षण देता है। वे उस राज्य के न्यायालयों में क़ानून की रक्षा प्राप्त कर सकते हैं तथा राज्य के नागरिक भी उन पर मुक़दमा चला सकते हैं। वे राज्य के सब कर इत्यादि देते हैं तथा राज्य उन्हें अपने नागरिकों के समान बराबरी का दर्जा देता है। लेकिन उन्हें राज्य अपने नागरिकों के समान

नागरिक और विदेशी

सब राजनीतिक अधिकार नहीं देता। उदाहरण के लिये उन्हें मतदान करने तथा सरकारी नौकरी पाने का अधिकार नहीं रहता।

नागरिकों और विदेशियों में यही सबसे बड़ा अन्तर होता है। इन विषमताओं के सिवाय कुछ राज्यों में विदेशी नागरिकों पर कुछ अन्य मूल अधिकारों के सम्बन्ध में भी प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं ; जैसे कि दक्षिण अफ्रिका में विदेशी नागरिकों को स्थायी सम्पत्ति प्राप्त करने नहीं दी जाती। इसी प्रकार अन्य प्रतिरोध भी लगाये जा सकते हैं। लेकिन आजकल की सभ्य दुनिया में इस प्रकार के विवाह, सम्पत्ति इत्यादि सम्बन्धी प्रतिबन्ध उचित नहीं समझे जाते। देशी और विदेशी नागरिकों में केवल राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में ही भेद-भाव उचित समझा जाता है। सबसे बड़ा भेद मतदान सम्बन्धी ही माना जाता है। इस सम्बन्ध में विदेशियों को कई प्रकार की उन्मुक्तियाँ मिली रहती हैं। युद्ध के समय विदेशियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध सेना में भरती नहीं किया जा सकता। लेकिन नागरिकों के लिये सैनिक भरती अनिवार्य की जा सकती है। किसी राज्य के नागरिक को देश के बाहर नहीं निकाला जा सकता ; परन्तु राज्य के विरुद्ध अपराध करनेवाले विदेशियों को राज्य के बाहर निकाला जा सकता है। यदि कोई विदेशी नागरिक यह सोचता है कि उसका संरक्षक राज्य उसे उचित संरक्षण नहीं दे रहा है, अथवा उसके प्रति न्याय नहीं कर सकता है, तो वह अपने देश के राजदूत के ज़रिये अपने राज्य से न्याय पाने की अपील कर सकता है। आजकल विभिन्न राज्य दूतों के ज़रिये अपने पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उनका एक उद्देश्य अपने नागरिकों को संरक्षण देना भी होता है। कभी-कभी नागरिकों की समस्या को लेकर दो राज्यों में काफ़ी तनातनी हो जाती है।

नागरिकता प्राप्त करने के तरीक़े (Modes of Acquiring Citizenship):—नागरिकता प्राप्त करने के सम्बन्ध में प्रायः दो सिद्धान्तों का अनुकरण किया जाता है। एक सिद्धान्त यह है कि माता-पिता दो में से किसी एक की जो नागरिकता होती है, सन्तान को भी वही नागरिकता मिलती है। प्राचीन ग्रीस तथा रोम के राज्यों में इसी सिद्धान्त का अनुकरण किया जाता था तथा इसे 'जस सेंगिनिस' (Jus Sanguinis) कहा जाता था। आजकल भी फ्रान्स, इटली तथा आस्ट्रिया में इसी सिद्धान्त का अनुकरण किया जाता है। इन देशों के नागरिक चाहे विदेशों में भी रहें तो भी उनके बच्चों को वे अपने देश का नागरिक मानते हैं और उनके राज्यों में रहनेवाले नागरिकों के जो बच्चे होते हैं, उन्हें विदेशी ही माना जाता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिस राज्य में बच्चे का जन्म हो, उसे उसी राज्य की नागरिकता मिलती है, चाहे उसके

माता-पिता की नागरिकता जो भी हो। इसे 'जस सोली' या 'जस लोकी' कहते हैं। इस सिद्धान्त का महत्त्व मध्ययुग में बढ़ा, जब राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ और राज्यों की सीमागत संप्रभुता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इंगलैण्ड में दोनों प्रकार के सिद्धान्तों को मान्यता प्राप्त है। लेकिन जन्म-भूमि (Jus-Soli) सिद्धान्त अधिक प्रचलित है। संयुक्त राज्य अमेरिका में दोनों सिद्धान्तों को मिश्रित कर दिया गया है। इन दोनों सिद्धान्तों के मिश्रण से अमेरिका और इंगलैण्ड में परिस्थिति यह है कि यदि उनके नागरिकों के बच्चे विदेशों में पैदा हों तो भी वे उन राज्यों के नागरिक माने जायँगे। साथ ही यदि विदेशी नागरिकों के बच्चे इन दोनों राज्यों की सीमा के भीतर पैदा हों तो भी वे बच्चे इन राज्यों के नागरिक माने जायँगे, यद्यपि उनके माता-पिता अन्य राज्यों के नागरिक रहेंगे। विभिन्न राज्यों में नागरिकता सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित होने के कारण कभी-कभी नागरिकता सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो सकता है। मान लो, एक फ्रांसीसी दम्पति अस्थायी रूप से अमेरिका में हैं और वहाँ उनके एक बच्चा पैदा होता है। वह बच्चा फ्रान्स और अमेरिका दोनों देशों का नागरिक माना जायगा। क्योंकि फ्रान्स में माता-पिता की नागरिकता से बच्चे की नागरिकता निर्धारित होती है और अमेरिका में जन्मभूमि के सिद्धान्त से उसे अमेरिका की नागरिकता मिल जायगी। इस प्रकार वह बच्चा दो राज्यों का नागरिक हो जायगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिये दो उपायों से काम लिया जाता है। एक तो यह कि जब तक कोई व्यक्ति किसी राज्य की सीमा से बाहर रहता है, तब तक वह राज्य उसे साधरणतः अपना नागरिक बनाने पर जोर नहीं देता। दूसरे, जब दोहरी नागरिकता वाला कोई व्यक्ति किसी राज्य में रहते हैं, तो वयस्क होने पर वह राज्य ऐसे व्यक्तियों को अपनी नागरिकता इच्छानुसार घोषित करने का अधिकार देता है।

यदि इन दोनों सिद्धान्तों के गुण और दोष देखे जायँ, तो जन्म-भूमि के सिद्धान्त में गुण यह है कि जन्म-भूमि के आधार पर नागरिकता आसानी से निश्चित की जा सकती है। इसमें दोष यह है कि जब केवल जन्म-भूमि के आधार पर नागरिकता निर्धारित की जाती है, तो उस नागरिक के संस्कारों, सांस्कृतिक आचारों तथा राजनीतिक विचारों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इस दृष्टि से पैतृक सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण है। लेकिन इस सिद्धान्त में कठिनाई यह है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति के माता-पिता का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन हो जाता है।

नागरिकता प्रायः निम्नलिखित तीन तरीक़ों से प्राप्त की जाती है:—

(१) किसी राज्य की सीमा के अन्दर जन्म।

(२) राज्य द्वारा नागरिकता प्रदान।

(३) अप्रत्यक्ष रूप से किसी राज्य में नागरिकता प्राप्त करना, जैसे कि विवाह द्वारा, सम्पत्ति प्राप्त करके, लम्बे निवास के कारण, नौकरी के कारण और स्वेच्छापूर्वक घोषणा करके इत्यादि।

जन्म के द्वारा जिस प्रकार नागरिकता प्राप्त की जाती है, उसका वर्णन हम कर चुके हैं। इसलिये यहाँ यह देखेंगे कि राज्य किसी व्यक्ति को किस प्रकार नागरिकता प्रदान करता है। इस तरीक़े को देशीयकरण (Naturalization) कहते हैं। देशीयकरण कई आधारों पर हो सकता है। यदि कोई विदेशी नागरिक किसी दूसरे राज्य में बस जाता है और यह घोषणा करता है कि वह उस राज्य का नागरिक होना चाहता है अथवा वह वहाँ भूमि-सम्पत्ति ख़रीदता है अथवा उस राज्य में नौकरी करता है अथवा वह उस राज्य की किसी स्त्री से शादी करता है, अथवा उसका निवास-क्षेत्र उस राज्य में शामिल कर लिया जाता है, तो वह उस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर सकता है। व्यवहार में यह होता है कि जब कोई विदेशी नागरिक किसी राज्य द्वारा निर्धारित कुछ न्यूनतम शर्तों को पूरा करता है, तो उस राज्य का न्यायालय उसे नागरिकता प्रदान कर देता है। अधिकतर देशों में यह अधिकार न्यायालयों द्वारा दिया जाता है इसके लिये प्रार्थी को न्यायालय में अर्जी देनी पड़ती है।

नागरिकता प्राप्त करने के लिये विभिन्न राज्यों द्वारा अलग-अलग प्रकार की शर्तें निर्धारित की गई हैं। जैसे कि राज्य की सीमा के अन्दर निवास की अवधि अमेरिका, ब्रिटेन, जापान और नीदरलैण्ड में पाँच वर्ष हैं। जापान में यदि प्रार्थी की स्त्री जापानी होती है, तो पाँच वर्ष की अवधि आवश्यक नहीं होती। फ्रान्स में यह अवधि कम से कम दश वर्ष निर्धारित की गई है, और स्विटजरलैण्ड में दो वर्ष। दूसरे, राज्य का नागरिक होने की घोषणा करने की शर्त प्रायः सब राज्यों में निर्धारित की गई है। तीसरे, सब राज्यों में देशीयकरण के लिये राज्य के प्रति श्रद्धा और भक्ति की शपथ लेनी पड़ती है। चौथे प्रार्थी का आचरण अच्छा रहा हो। इस प्रकार की अन्य शर्तें भी रहती हैं। कुछ राज्यों ने ऐसे नियम बनाये हैं कि वे कुछ विशिष्ट जातियों और रंगों के लोगों को अपनी नागरिकता नहीं देते। कहीं-कहीं ऐसे नियम है कि यदि कोई व्यक्ति बहु-विवाह प्रथा में अथवा किसी विशेष राजनीतिक विचारधारा में विश्वास रखता है, तो वह राज्य उसे अपनी नागरिकता नहीं देगा।

किसी राज्य की नागरिकता मिलने पर किसी व्यक्ति को प्रायः वे सब अधिकार मिल जाते हैं, जो उस देश के साधारण नागरिकों को प्राप्त रहते हैं। साथ

ही उसे नागरिकों के सब कर्त्तव्यों को भी पूरा करना पड़ता है। ब्रिटेन में देशीयकरण द्वारा हुए नागरिक तथा साधारण नागरिक में राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता। अमेरिका में इस सम्बन्ध में एक प्रतिबन्ध है। देशीयकरण द्वारा जो व्यक्ति वहाँ का नागरिक होता है, वह अमेरिका का राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति नहीं हो सकता।

संघ राज्य में नागरिकता (Citizenship in a Federal State):— जिन देशों में संघ शासन होता है, वहाँ नागरिकों के लिये प्रायः दोहरी नागरिकता होती है—एक संघ की और दूसरी संघ के राज्यों की। प्रायः प्रत्येक राज्य नागरिकता सम्बन्धी अपनी-अपनी शर्तें रखता है। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जाता है कि संघ शासन में एक राष्ट्रीय नागरिकता होती है और दूसरी स्थानीय। इसमें प्रश्न यह उठता है कि कौन-सी नागरिकता मूल है और कौन-सी गौण।

संयुक्त राज्य अमेरिका में गृह-युद्ध के पहले कुछ लेखकों का मत था कि चूँकि संघ राज्यों से बना है, इसलिये राज्यों की नागरिकता मूल है और संघ की गौण। लेकिन गृह-युद्ध के बाद यह विचार बदल गया। संघ के संविधान के चौदहवें संशोधन के फलस्वरूप संघ की नागरिकता मूल हो गई और राज्यों की गौण। जो व्यक्ति संघ के नागरिक माने जायँगे वे अपने राज्यों के भी नागरिक माने जायँगे। अधिकतर लोग संघ की नागरिकता प्राप्त करके ही किसी राज्य की नागरिकता प्राप्त करते हैं। इसके कुछ अपवाद भी हैं। राज्यों के कुछ ऐसे नागरिक भी हैं, जिन्हें संघ की नागरिकता प्राप्त नहीं है और संघ के कुछ ऐसे नागरिक भी हैं, विशेषकर विदेशों में रहनेवाले, जिन्हें संघ के किसी राज्य की नागरिकता प्राप्त नहीं है। जर्मनी में संघ की नागरिकता ही मूल मानी जाती है। स्विटजरलैण्ड में किसी व्यक्ति को पहले एक कैन्टन (जिला या सूबा) की नागरिकता प्राप्त करनी होती है और तब वह अपने आप संघ का नागरिक हो जाता है। वहाँ देशीयकरण कैन्टन की सरकार करती है और संघ सरकार उसे अपनी स्वीकृति देती है। ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल में प्रत्येक देश की अपनी-अपनी नागरिकता होती है। भारत में केवल एक नागरिकता है। जो व्यक्ति संघ का नागरिक होगा, वह अपने निवास के राज्य का भी होता है। यहाँ राज्यों को नागरिकता सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार नहीं है। यह कार्य केवल संघ सरकार करती है। भारत के संविधान में जो मूल-अधिकार निर्धारित किये गये हैं, वे संघ के सब राज्यों को समान रूप से उपलब्ध हैं।

नागरिकता का लोप (Loss of Citizenship):— कोई व्यक्ति किसी राज्य की नागरिकता भी खो सकता है। नागरिकता का लोप

कई प्रकार से हो सकता है। सबसे आसान और प्रचलित तरीक़ा यह है कि नागरिक अपने जन्म अथवा देशीयकरण के देश को छोड़ देता है। ऐसे मामलों में जब कोई नागरिक अपनी नागरिकता त्यागता है, तो उस देश की सरकार उसमें कोई बाधा नहीं पहुँचाती। कई देशों में यह क़ानून है कि यदि कोई नागरिक सरकार की स्वीकृति के बिना किसी दूसरे राज्य में उसकी सरकार की नौकरी कर ले और अपनी सरकार की स्वीकृति न ले, तो वह अपनी नागरिकता खो देता है। पोर्तगाल और बोलीविया राज्यों में यह क़ानून है कि यदि कोई नगरिक किसी विदेशी ख़िताब या पदवी को स्वीकार करे तो वह अपनी नागरिकता से वंचित कर दिया जायगा। कुछ राज्यों में यह क़ानून है कि यदि कोई नागरिक सैनिक नौकरी छोड़कर भागता है, तो उसकी नागरिकता छिन जाती है। दक्षिण अमेरिका के कुछ राज्यों में यह क़ानून है कि यदि न्यायालय से कुछ विशेष अपराधों के लिये दंड मिले, तो नागरिकता लुप्त हो जाती है। फ्रान्स और जर्मनी तथा कुछ अन्य देशों में यह नियम है कि यदि कोई नागरिक एक निश्चित अवधि से अधिक देश के बाहर रहे, तो उसकी नागरिकता छिन जाती है।

एक बार अपने देश की नागरिकता खोकर उसे पुनः प्राप्त भी किया जा सकता है। जैसे, एक व्यक्ति अपने देश की नागरिकता स्वेच्छतापूर्वक छोड़कर देशीयकरण द्वारा दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करता है। अब यदि पुनः अपने पहले देश में आना चाहता है और उसकी यह प्रार्थना सरकार स्वीकार कर लेती है तो वह फिर से अपने देश में आकर नागरिकता प्राप्त कर सकता है। तब देशीयकरण द्वारा प्राप्त उसकी दूसरे देश की नागरिकता लुप्त हो जायगी। भिन्न-भिन्न देशों में इसके भिन्न-भिन्न नियम होते हैं।

नागरिकता सम्बन्धी कर्त्तव्य (Duties of Citizenship):—राज्य नागरिकों को संरक्षण देता है और संरक्षण के साथ-साथ उन्हें अन्य बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं। इसके बदले में राज्य उनके लिये कुछ सेवाएँ या कर्त्तव्य भी निर्धारित कर देता है। इनके यथोचित रूप से पालन करने में राज्य तथा नागरिकों दोनों को लाभ होता है और उपेक्षा करने में दोनों को हानि होती है। क्योंकि अन्त में राज्य और नागरिकों के जीवन में कोई अन्तर नहीं होता। राज्य के कल्याण में हर प्रकार से नागरिकों का कल्याण निहित होता है। एक उदाहरण ले लें। यदि राज्य पर किसी बाहरी शक्ति का आक्रमण होता है तो प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि सेना में भरती होकर अथवा अन्य प्रकार से राज्य की रक्षा करें। क्योंकि यदि राज्य को कोई विदेशी शक्ति जीत लेती है, तो नागरिकों के समस्त राजनीतिक तथा नागरिक अधिकार छिन जावेंगे। इसी

प्रकार यदि नागरिक अपनी सरकार के कार्यों के प्रति सतर्क न रहेंगे और उसे मनमानी करने देंगे तो सरकार निरंकुश हो जायगी। इस प्रकार देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा राज्य के स्वार्थ को सर्वोपरि समझना नागरिकों का सर्वप्रथम कर्त्तव्य होता है।

नागरिकों का दूसरा कर्त्तव्य क़ानून के प्रति श्रद्धा रखना तथा क़ानून का पालन करना है। राज्य में क़ानून ही स्वतन्त्रता, सुव्यवस्था तथा उन्नति का आधार होता है। यदि कोई नागरिक यह समझता है कि कोई क़ानून उसके हितों के विरुद्ध अथवा समाज के हितों के विरुद्ध है तो भी उसे उस क़ानून की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। बल्कि जनमत को अपने अनुकूल बनाकर सरकार को उसे बदलने के लिये बाध्य करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि राज्य में प्रत्येक नागरिक क़ानून के साथ मनमाने तौर से खेलवाड़ करने लगे तो राज्य में किसी प्रकार की व्यवस्था ही न रह जायगी। राज्य में अधिकतर नागरिक क़ानूनों का पालन करनेवाले होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो क़ानून के विरुद्ध आचरण करने में नहीं हिचकते। ऐसे लोगों को सरकार दण्ड देकर क़ानून का पालन कराती है। और सरकार का यह काम उचित ही होता है।

नागरिकों का तीसरा महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह होता है कि राज्य के प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति रखें। यह श्रद्धा और भक्ति तीन प्रकार से प्रकट की जाती है। एक तो युद्धकाल में सैनिक सेवा द्वारा, दूसरे सरकारी कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्य-पालन में सहायता देना और तीसरे अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करना। युद्धकाल मे राज्य की सहायता करने का महत्त्व हम बतला चुके हैं। नागरिक का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह होता है कि जो लोग शान्ति भंग करें और क़ानून की अवहेलना करें उनका दमन करने में नागरिकों को पुलीस तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों की सहायता करनी चाहिये। यदि जनता सहयोग न करे तो सरकारी कर्मचारी राज्य में शान्ति और सुरक्षा नहीं रख सकते।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह होता है कि सार्वजनिक पदों पर कार्य करना तथा सार्वजनिक कार्य करना। आजकल प्रायः सार्वजनिक पदों के लिये वेतन मिलता है, परन्तु नगरपालिका तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं इत्यादि कई ऐसे पद होते हैं, जिनके लिये वेतन नहीं मिलता। नागरिक चाहे वैतनिक पद पर हो अथवा अवैतनिक पद पर, उसे अपने कर्त्तव्य का निर्वाह सार्वजनिक हितों को ध्यान में रख कर करना चाहिये। जिस राज्य के सार्वजनिक कर्मचारियों में उच्च कोटि की नागरिकता होगी, वहाँ घूसखोरी इत्यादि दुर्गुण न होंगे तथा शासन में किसी प्रकार की ढिलाई न होगी।

नागरिकों को मताधिकार का प्रयोग अवश्य करना चाहिये और बहुत समझ-बूझकर करना चाहिये। आजकल प्रत्येक राज्य में एक निश्चित आयु प्राप्त करने पर प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मतदान का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक पद नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु मताधिकार का प्रयोग प्रत्येक नागरिक कर सकता है। सरकार अन्तिम रूप में जनता की इच्छा पर आधारित रहती है। यदि अधिकतर नागरिक अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं करेंगे तो स्वार्थी गुट अपनी सरकार बनाने में सफल हो सकते हैं और जनता के हित कुचले जा सकते हैं। यदि सरकार निरंकुश हो गई तो मताधिकार का प्रयोग न करनेवाले नागरिकों का भी शिकायत करना उचित न होगा। उत्तम यह होगा कि मताधिकार के प्रयोग द्वारा नागरिक ऐसे प्रतिनिधि चुनें, जो उनकी इच्छानुसार शासन कर सकें। मताधिकार के प्रयोग द्वारा नागरिक अवांछनीय सरकार को पदच्युत भी कर सकते हैं। इसलिये मतदान का प्रयोग न केवल नागरिकों का नैतिक और राजनीतिक कर्त्तव्य है, बल्कि अच्छे शासन की एक आवश्यक शर्त है। मताधिकार न केवल एक अधिकार है, बल्कि एक कर्त्तव्य भी है। मतदान करते समय नागरिकों को केवल जाति, धर्म अथवा अपने स्वार्थों का ध्यान नहीं रखना चाहिये। ऐसी बातों से प्रभावित होना राज्य के लिये अहितकर होगा। उसे सारे राज्य के हितों का ध्यान रखकर केवल उपयुक्त और लायक़ उम्मीदवारों को मत देना चाहिये।

राज्य के करों का चुकाना भी नागरिकों का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होता है। प्रत्येक राज्य-शासन के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती है। और यह द्रव्य सरकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के रूप में जनता से प्राप्त करती है। आधुनिक कर-व्यवस्था ऐसी होती है कि धनी वर्ग से अधिक द्रव्य प्राप्त हो सके और ग़रीबों से कम। नागरिकों को चाहिये कि अपने कर समय पर और पूरी तरह से चुकाते रहें। आधुनिक राज्य नागरिकों के लिये शासन सम्बन्धी कार्यों के अलावा बहुत से सेवा-कार्य अथवा कल्याणकारी कार्य करता है। यदि उसके पास द्रव्य न हो, तो यह सब कार्य नहीं कर सकता। इस बात को ध्यान में रखकर नागरिकों को कर चुकाने में ईमानदारी के साथ बर्तना चाहिये। जो लोग आय-कर चुकाने में चोरी करते हैं अथवा जो कर्मचारी ईमानदारी से कर वसूल नहीं करते, वे राज्य के साथ विश्वासघात करते हैं।

अच्छी नागरिकता की बाधाएँ (Hindrances to good Citizenship):—किसी राज्य के नागरिक जिस हद तक अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे, वह राज्य उस हद तक श्रेष्ठ होगा। जिस राज्य के नागरिक बुद्धिमान, संयमी और कर्त्तव्य-परायण होंगे उस राज्य की शासन-व्यवस्था निश्चय ही उच्च-

कोटि की होगी। लेकिन साधारणतः यह देखा जाता है कि प्रायः नागरिक राज के प्रति कर्त्तव्यों की ओर उदासीन होते हैं। उनके इस कर्त्तव्य-पालन में ती बड़ी बाधाएँ कही गई हैं—पहली आलस्य, दूसरी स्वार्थ-परायणता और तीसः दलबन्दी की भावना। सार्वजनिक कार्यों में प्रायः अपने स्वार्थ-साधन की गुञ्जाइ बहुत कम होती है। इसलिये साधारण नागरिक उनकी ओर उदासीन रह हैं। साथ ही वे यह भी देखते हैं कि सार्वजनिक कार्यों की ओर विमुख होने उनका कोई ख़ास नुक़सान नहीं होता। यह उदासीनता नागरिकों में छूत व बीमारी की तरह फैलती है। जहाँ शिक्षा की कमी होती है। वहाँ साव जनिक कर्त्तव्यों की ओर विशेष जागृति नहीं होती। यद्यपि समाचार-पत्र राज नीतिक जागृति का काफ़ी प्रचार करते हैं, परन्तु शिक्षा के अभाव में उनकी शवि भी बहुत सीमित हो जाती है। फिर आजकल के राज्यों का विस्तार इतन अधिक होता है कि साधारणतः एक औसत नागरिक उसके व्यापक हितों का अनु मान भी नहीं कर सकता। वह प्रायः अपने छोटे-छोटे स्थानीय स्वार्थों में लपट रह जाता है।

प्राचीन ग्रीस में कर्त्तव्य विमुखता के लिये सजा दी जाती थी। इसलि नागरिक अपने कर्त्तव्यों के प्रति बड़े सजग रहते थे। आजकल नागरिकों उतनी कर्त्तव्य-परायणता देखने में नहीं आती। इसके कई कारण हैं। प्राची नगर राज्यों का क्षेत्रफल छोटा होता था और उनकी जनसंख्या भी थोड़ी-सी होत थी। सब नागरिक राज्य की राजनीति में सक्रिय भाग ले सकते थे। लेकि आधुनिक राज्य का क्षेत्रफल बहुत बड़ा होता है और उसकी जनसंख्या भी बड़ होती है। अतएव एक नागरिक का महत्त्व बहुत अधिक नहीं होता एक वोट या मताधिकार वाला समुद्र में एक बूँद पानी के समान होता है वह अपने महत्त्व को बहुत कम समझने लगता है। लेकिन वास्तव में ऐस होना नहीं चाहिये। राज्य के नागरिक अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों व प्रति जितने सजग होंगे, शासन उतना ही अच्छा होगा। जब शासन क आधार ही मतदान हो गया है तो इस अधिकार का उपयोग सबको भरपू और श्रेष्ठ रीति से करना चाहिये। जिन लोगों के पास समय और साधन हों, उन्हें सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेना चाहिये। प्रायः धनी लोग सार्वजनिक जीवन की ओर से उदासीन देखे जाते हैं। आजकल अधिकतर लोग राजनीति की ओर उदासीन इसलिये देखे जाते हैं कि प्रायः उनका सब समय जीविकोपार्जन में ही निकल जाता है। जीवन संघर्ष इतना कठिन हो गय है कि राजनीति चिन्तन के लिये उनके पास समय ही नहीं रहता। दूसरे उचित शिक्षा की कमी के कारण वे राजनीतिक समस्याओं का उचित मूल्यांकन

नहीं कर पाते ; न स्वतन्त्र मत निर्धारण कर पाते हैं। पेशेवर राजनीतिज्ञ, ग़रीबी, अशिक्षा तथा स्वार्थपरायणता का भरपूर लाभ उठाते हैं और घूसखोरी तथा पदों का लालच देकर राजनीति में भ्रष्टाचार फैलाते हैं। निर्वाचनों में राजनीतिक दल तरह-तरह के अनुचित उपायों से काम लेते हैं। जनतन्त्र में राजनीतिक दलों का बड़ा महत्त्व है। निर्वाचन, शासन-संगठन इत्यादि दलों के आधार पर ही होते हैं। दलबन्दी एक उपयोगी संगठन है। परन्तु इसमें भी कई दोष आ गये हैं। निर्वाचन के समय बहुमत प्राप्त करने के लिये दल अनुचित उपाय भी काम में लाते हैं। आजकल के निर्वाचनों में अपार धनराशि खर्च होती है, विभिन्न दल एक दूसरे के विरुद्ध झूठ और अवांछनीय प्रचार करते हैं और मतदाताओं को भ्रम में डाल देते हैं। जो दल विजयी होता है और सरकार बनाता है, वह अपने अयोग्य सदस्यों को भी उच्च सरकारी पदों पर आसीन कर देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशिक्षा, स्वार्थ, आलस्य, उदासीनता तथा दलबन्दी अच्छी नागरिकता के बाधक होते हैं। इन्हें दूर करने के लिये विद्वानों ने कई तरीक़े बतलाये हैं। जैसे कि मत देना प्रत्येक नागरिक के लिये आवश्यक होना चाहिये। यदि निर्वाचन की आनुपातिक प्रणाली को ग्रहण किया जाय तो दलबन्दी के तथा दलीय शासन के बहुत से दोष दूर हो जायँगे। उपक्रम (Initiative) तथा लोकमत संग्रह (Referendum) द्वारा भी मतदाताओं की दिलचस्पी राजनीति में बढ़ाई जा सकती है, लेकिन इस सम्बन्ध में सबसे अच्छा उपाय शिक्षा-प्रचार है। जिस राज्य में जितना अधिक शिक्षा-प्रचार होगा, उसमें उतनी ही अधिक जागृति होगी।

अनुशासन या आज्ञापालन का आधार (Basis of Political Obedience):—नागरिकता के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि नागरिक राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं? इस आज्ञापालन का आधार क्या है? इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत प्रकट किये हैं। हॉब्स और बेन्थम का कहना है कि दंड के भय से लोग राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। हॉब्स का कहना है कि सामाजिक समझौते के आधार पर आज्ञापालन नागरिकों का कर्त्तव्य है। जब लोगों ने शान्तिपूर्वक रहने के लिये सामाजिक समझौता किया, तो उन्होंने एक ऐसी सत्ता स्थापित करना उचित समझा जिससे सब लोग डरते रहें, और समाज की शान्ति के विपरीत कोई कार्य न करें। उसका कहना है कि इसी विचार से प्रभावित होकर लोग विद्रोह भी न करेंगे। जब तक राजा उन्हें सुरक्षा देता रहेगा तब तक लोग उसकी आज्ञापालन करने से इनकार नहीं करेंगे। क्योंकि इससे सुरक्षा नष्ट हो जायगी। इस मत के उत्तर में यह कहा जाता है कि सामाजिक समझौता एक काल्पनिक चीज़ है। नागरिकों

के कर्त्तव्य समझौते पर आधारित नहीं है। राज्य का अस्तित्व नागरिकों को जीवन की अच्छी परिस्थितियाँ देने के लिये होता है। इसके बदले में नागरिकों का यह कर्त्तव्य होता है कि वे क़ानून का पालन करें, जिससे सामाजिक जीवन में शान्ति बनी रहे। जोड का मत है कि राजनीतिक आज्ञापालन इसलिये आवश्यक होता है कि उससे सामाजिक जीवन अच्छी तरह चलता है और व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा शांतिपूर्ण समाज में ही हो सकती है। केवल ऐसे समाज में व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति कर सकता है।

मनुष्य की सहज प्रवृत्ति आज्ञापालन की ओर रहती है, विद्रोह की ओर नहीं। राजसत्ता का विरोध करने में तरह-तरह के कष्ट सहने पड़ते हैं, तथा त्याग करने पड़ते हैं। इसलिये मनुष्य के लिये जीवन जब तक असह्य नहीं हो जाता, तब तक वह शान्तिपूर्वक रहकर राज्य की आज्ञापालन ही उचित समझता है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। उसमें एक सामूहिक प्रवृत्ति होती है। जब वह समाज में रहता है, तो वह दूसरे लोगों की सहानुभूति और सद्-भावना चाहता है और दूसरे लोगों का अनुकरण भी करता है। जब वह देखता है कि समाज के अधिकतर लोग चुपचाप राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं तो उसकी प्रवृत्ति भी इसी तरह की हो जाती है। बचपन से ही लोग माता-पिता तथा गुरुजनों की आज्ञापालन का पाठ सीखते हैं। यही प्रवृत्ति आगे चलकर राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने लगती है।

साधारण जनता में दण्ड का भय भी राज्य की आज्ञापालन का एक बड़ा कारण होता है। राज्य की शक्ति संगठित होती है, उसके पास सेना, पुलीस, इत्यादि होती है। यह भी आज्ञापालन का एक कारण होता है। लेकिन भय आज्ञापालन का एक मात्र कारण नहीं होता। मनुष्य की सहज बुद्धि उसे यह बतलाती है कि राज्य के अन्तर्गत ही सब प्रकार की उन्नति सम्भव है। इसी विचार से प्रेरित होकर लोग राज्य के क़ानूनों का पालन करते हैं, नियमपूर्वक अपने कर चुकाते तथा शासन में अपना सहयोग देते हैं। उनका यह मत होता है कि यदि राज्य में कुछ अवांछनीय संस्थाएँ या क़ानून हैं, तो उन्हें वैधानिक आन्दोलन द्वारा बदला जा सकता है, साथ ही यह बात भी है कि औसत नागरिक राज्य की आज्ञापालन के लिये इतना तर्क नहीं करता। वह प्रकृति से आरामप्रिय होता है। वह देखता है कि राज्य की आज्ञापालन में किसी प्रकार का झंझट नहीं रहता है। इसलिये वह एक उदासीन की तरह आज्ञापालन में ही अपना कल्याण समझता है। लेकिन अनुभव यह बतलाता है कि जब जनता राज्य की ओर से उदासीन हो जाती है, तो शासन निरंकुश होता है और जनता के कष्ट बढ़ते ही जाते हैं।

अध्याय ११

राज्य का संविधान

(The Constitution of the State)

राज्य का कार्य जिन मूल नियमों के आधार पर संचालित होता है, उन्हें राज्य का संविधान कहा जाता है। इन्हीं नियमों के आधार पर शासन के विभिन्न अंगों को शासन सम्बन्धी अधिकार दिये जाते हैं। अरिस्टॉटल ने कहा है कि राज्य का स्वरूप उसके संविधान पर निर्भर करता है। उसका मत था कि जिस प्रणाली के आधार पर देश का शासन चलता है, उसे संविधान कहते हैं। शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध, उन अंगों का संगठन तथा संप्रभुता का निवास संविधान द्वारा निर्धारित होते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख राजनीतिक विचारकों की संविधान सम्बन्धी परिभाषा दी जाती है।

ऑस्टिन––जिस व्यवस्था के द्वारा संप्रभुता सम्बन्धी शक्तियों का वितरण समाज या शासन के विभिन्न अंगों में होता है, उसे संविधान कहते हैं।

डाइसी––वे सब नियम जिनके द्वारा राज्य में संप्रभुता से सम्बन्धित अधिकारों का वितरण तथा प्रयोग होता है, संविधान कहलाते हैं।

वूल्से––जिन नियमों के द्वारा सरकार के शासन सम्बन्धी अधिकार, जनता के अधिकार, तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, उनके समूह को संविधान कहते हैं।

लॉस्की––"राज्य व्यक्तियों का एक ऐसा समाज होता है, जिसमें जीवन का क्रम निर्धारित होता है। सामाजिक जीवन इसी क्रम के अनुसार चलता है और यदि आवश्यकता हुई तो इस क्रम का पालन बल-प्रयोग द्वारा कराया जाता है। यह क्रम राज्य के नियमों द्वारा निर्धारित होता है और ये नियम अन्य सब प्रकार के नियमों से सर्वोपरि होते हैं। समाज में जो लोग ये नियम बनाते हैं और उनका पालन कराते हैं, उन्हें सरकार कहा जाता है। और इन नियमों में से वे नियम जो (१) नियम बनाने की प्रक्रिया निर्धारित करते हैं तथा (२) उनमें परिवर्तन या संशोधन करने की विधि निर्धारित करते हैं और (३) यह निश्चित करते हैं कि उन्हें कौन बनावेगा, राज्य का संविधान कहलाते हैं।"

ब्राइस––राजनीतिक समाज का वह रूप जो क़ानून के द्वारा संस्थापित किया जाता है। इस समाज में कानून स्थायी संस्थाएँ स्थापित करता है और उनके कार्य और अधिकार भी निर्धारित करता है।

दूसरे स्थान पर ब्राइस ने यह भी कहा है कि संविधान क़ानूनों का ऐसा समूह है, जो सरकार की कार्य-प्रणाली निर्धारित करता है।

चार्ल्स बोरगा (Charles Borgeaud) :—संविधान एक ऐसा मौलिक क़ानून होता है, जिसके अनुसार किसी राज्य की सरकार का संगठन होता है। समाज में व्यक्तियों के आपस के सम्बन्ध उसी क़ानून के अनुकूल निर्धारित होते हैं। वह क़ानून एक लिखित विवरण हो सकता है अथवा कई लिखित विवरण हो सकते हैं, जो एक निश्चित समय पर संप्रभुत्वपूर्ण सत्ता द्वारा बनाये गये हों। अथवा यह क़ानून विभिन्न संसदीय क़ानूनों, अध्यादेशों, न्यायालयों के निर्णय, प्रथाओं के आधार पर भी बन सकता है। इन सबके अलग-अलग महत्त्व होते हैं।

इन सब परिभाषाओं से हम देखते हैं कि संविधान से राज्य का रूप निश्चित होता है, चाहे वह संविधान लिखित हो या अलिखित। संविधान सरकार के विभिन्न अंगों के आपस के सम्बन्ध निर्धारित करता है और जनता को उसके अधिकार बताता है। यह आवश्यक नहीं होता कि संविधान एक ही समय लिखा गया हो और उसका तत्त्व एक ही ग्रन्थ में हो। प्रायः संविधान का विकास धीरे-धीरे होता है। प्रोफेसर स्ट्रांग ने लिखा है कि संविधान एक बार में एक ही ग्रन्थ में बनाया जा सकता है। इसमें समय-समय पर संशोधन हो सकते हैं। अथवा वह समय-समय पर विभिन्न क़ानूनों द्वारा बन सकता है, जिन्हें संवैधानिक क़ानून कहते हैं। अथवा संविधान के मूल क़ानून निर्धारित कर दिये जाते हैं और प्रथाओं के आधार पर उसका विकास होता रहता है। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १७८७-८९ में एक लिखित संविधान तैयार किया गया और समय-समय पर उसमें कई संशोधन हुए हैं। भारत में भी सन् १९५० में एक लिखित संविधान लागू किया गया और इसमें भी आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन हुए हैं। इसके विपरीत इंगलैण्ड का संविधान पार्लियामेण्ट के कई क़ानूनों पर आधारित है। इनमें पिछले पाँच-सात सौ वर्षों में बनाये गये क़ानून शामिल हैं, जैसे मेगना कार्टा, बिल ऑफ राइट्स, एक्ट ऑफ सेटलमेण्ट तथा सन् १९११ का पार्लियामेण्ट क़ानून। पर प्रधानतः इंगलैण्ड का संविधान अलिखित है और वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक प्रथाओं पर आधारित है। उदाहरण के लिये इंगलैण्ड में मंत्रिमंडल का लिखित रूप में संविधान में या किसी वैधानिक क़ानून में कहीं भी वर्णन नहीं है।

प्रोफेसर स्ट्रांग ने लिखा है कि संविधान का रूप चाहे जैसा हो, उसमें ये विशेषताएँ अवश्य होती हैं। पहला यह कि सरकार के विभिन्न अंगों का संगठन किस प्रकार हुआ है। दूसरे इन अंगों को शासन सम्बन्धी क्या अधिकार

दिये गये हैं। तीसरे इन अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जायगा। मनुष्य के शरीर का भी एक संविधान रहता है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों के कार्य बँटे रहते हैं और जब तक ये कार्य सुचारुरूप से चलते हैं, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। यही हाल राज्य का है। जब तक उसके विभिन्न अंगों के कार्य वैधानिक ढंग से चलते हैं, तब तक वहाँ कुशासन नहीं होता। संविधान शासकों की सीमाएँ निर्धारित करता है, जिससे तानाशाही न पनपे। वह संप्रभु सत्ता की स्थिति ठीक-ठीक निर्धारित कर देता है। साथ ही जनता को भी कुछ निश्चित अधिकार और उनकी रक्षा का आश्वासन देता है। संविधान को सबसे पहले ब्रिटेन में मान्यता मिली। बड़े लम्बे संघर्ष के बाद वहाँ राजा की शक्ति सीमित हुई और सन् १६८८ में वैधानिक शासन स्थापित हुआ।

वैधानिक शासन (Constitutional Government) का अर्थ क्या है? जब किसी राज्य का शासन किसी व्यक्ति की इच्छा के अनुसार नहीं बल्कि एक निश्चित क़ानून के आधार पर चलता है, तब उसे वैधानिक शासन कहते हैं। वैधानिक शासन सदा सम्पूर्ण समाज के हित में कार्यान्वित होता है। संप्रभुता जनता या उसके प्रतिनिधियों के हाथ में नियोजित होती है। शासक अपने शासन सम्बन्धी कार्यों के लिये जनता या उसके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हो जाते हैं। इंगलैण्ड का राजा पार्लियामेण्ट की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। वहाँ वैधानिक शासन है। भारत में भी वैधानिक शासन है। मंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लेकिन साउदी अरब में वैधानिक शासन नहीं है। वहाँ सब कार्य राजा की इच्छा के अनुसार होते हैं। उसके मंत्री केवल उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

संविधानों का वर्गीकरण

(Classification of Constitutions)

लिखित और अलिखित संविधान (Written and Unwritten Constitution):—आजकल की दुनिया म बिना संविधान के कोई राज्य नहीं होता, चाहे उस संविधान का रूप जो भी हो। संविधानों की विभिन्न प्रकृति तथा विशेषताओं के अनुसार लेखकों ने उनको विभिन्न वर्गों में रखने का प्रयत्न किया है। इनमें सबसे पुराना वर्गीकरण लिखित और अलिखित संविधानों के आधार पर किया गया है। एक वर्गीकरण के अनुसार संविधानों को लिखित और अलिखित दो वर्गों में बाँटा गया है। लिखित संविधान में सरकार के विभिन्न अंगों के अधिकार और पारस्परिक सम्बन्ध एक या एक से अधिक विवरण पत्रों में स्पष्टरूप से लिख दिये जाते

हैं और उन्हीं के अनुसार देश का शासन चलता है। अलिखित संविधान में सरकार के अधिकार अधिकतर अलिखित सामाजिक और राजनीतिक प्रथाओं और रस्मों के आधार पर निश्चित रहते हैं। कुछ लिखित विवरण अवश्य होते हैं, परन्तु वे सम्पूर्ण संविधान नहीं होते। आजकल इंगलैण्ड को छोड़कर और किसी भी देश में अलिखित संविधान नहीं पाया जाता और सच बात तो यह है कि वर्गीकरण आधुनिक युग में ठीक तरह से लागू नहीं होता। प्रायः प्रत्येक लिखित संविधान में कुछ-न-कुछ अलिखित रस्में अवश्य रहती हैं, और प्रत्येक अलिखित संविधान में महत्त्वपूर्ण लिखित अंश भी होते हैं। ब्राइस ने इस वर्गीकरण को उपयुक्त नहीं माना है। उसका भी मत है कि लिखित और अलिखित संविधानों में अब कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। स्ट्रांग भी लिखित और अलिखित के इस भेद को अधिक महत्त्व नहीं देता। उसका मत है कि इस वर्गीकरण को स्वीकार करने से तीन प्रकार के भ्रम पैदा होते हैं। एक तो यह कि अलिखित संविधान केवल प्रथाओं और रस्मों पर आधारित होता है और लिखित संविधान में ये चीजें बिलकुल नहीं होतीं। सच बात तो यह है कि ऐसा एक भी संविधान न मिलेगा जिसमें कुछ-न-कुछ अंश अलिखित न हो। साथ ही ऐसा कोई लिखित संविधान न मिलेगा, जिस पर प्रथाओं और रस्मों का प्रभाव न पड़ा हो। दूसरा भ्रम यह होता है कि संविधान के लिखित विवरण के अतिरिक्त और कोई संवैधानिक क़ानून नहीं होता। तीसरा भ्रम यह होता है कि हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक क़ानून केवल लिखित हो सकता है, अर्थात् हम प्रथा के प्रभाव को कोई महत्त्व ही नहीं देते।

प्रोफेसर गारनर का भी मत यही है। वे सर जेम्स मेकिनटोश की इस उक्ति से सहमत हैं कि संविधान बनाये नहीं जाते, उनका विकास होता है। गारनर का मत है कि अलिखित संविधान के अधिकतर अंश प्रथाओं के रूप में प्रचलित होते हैं। सब अंश विवरण के रूप में लिखित नहीं होते। ये प्रथाएँ कालान्तर में विकसित होती रहती हैं। इसके विपरीत लिखित संविधान की धाराएँ क़ानून के रूप में एक निश्चित संस्था द्वारा बनाई जाती हैं। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। समयान्तर में प्रथाओं तथा न्यायालयों के निर्णयों का प्रभाव लिखित संविधानों पर पड़ता है और उसमें बहुत से अलिखित अंश आ जाते हैं। और इसी प्रकार अलिखित संविधान में भी लिखित अंश आ जाते हैं। इसलिये गारनर के मतानुसार वास्तव में यह भेद भ्रमकारी है।

फाइनर का मत है कि आजकल केवल ब्रिटेन में अलिखित संविधान पाया जाता है। अर्थात् उसकी प्रधान धाराएँ लिखित रूप में मौजूद नहीं हैं, क्योंकि वे सदियों से उसके सामाजिक और राजनीतिक जीवन से प्रवाहित होती आई

हैं। ब्रिटेन के संविधान के प्रधान स्रोत ये हैं—(१) न्यायालयों के निर्णय। ये निर्णय स्वयं वहाँ की प्रथाओं पर आधारित हैं। (२) पार्लियामेण्ट के समय-समय पर बनाये गये क़ानून और कुछ राजनीतिक प्रथाएँ—जैसे कि पार्लियामेण्ट की संप्रभुता, मंत्रिमण्डल की लोक-सभा के प्रति जिम्मेदारी इत्यादि। मुनरो ने ब्रिटेन के संविधान के पाँच स्रोत माने हैं, यथा—(१) घोषणा-पत्र (Great Charters), (२) क़ानून (Statutes), (३) न्यायालयों के निर्णय (Judicial decisions), (४) अलिखित प्रचलित क़ानून (Common Law), और (५) संवैधानिक प्रथाएँ (Customs of the Constitution)। इनके आधार पर मुनरो कहता है कि ब्रिटेन का संविधान कई चीजों का मिश्रण है और इन चीजों के स्रोत भी कई हैं। वास्तव में ब्रिटेन का संविधान विकास का एक क्रम है।[1]

तुलना

लिखित और अलिखित संविधानों की तुलना करते हुए फाइनर ने लिखा है कि जिसे हम लिखित संविधान कहते हैं, वह किसी भी प्रकार अलिखित संविधान से अधिक लाभप्रद नहीं होता। जैसे कि, हम यह नहीं कह सकते कि जिस देश में लिखित संविधान होता है, वहाँ का शासन उस देश से अच्छा होता है, जहाँ अलिखित संविधान होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि लिखित संविधान का अलिखित संविधान की अपेक्षा अधिक आदर होता है। दूसरी बात यह है कि लिखित संविधान पर भी उतना ही विवाद होता है जितना कि अलिखित पर। लिखित संविधान की धाराओं पर भी समय-समय पर न्यायालयों के निर्णय होते रहते हैं। और इनकी संख्या अलिखित संविधान सम्बन्धी निर्णयों से कम नहीं होती। तीसरे, यद्यपि लिखित संविधान के प्रत्येक शब्द को एक निश्चित अर्थ देने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण यह सम्भव नहीं होता। इसलिये इस दृष्टि से भी लिखित संविधान अलिखित संविधान की अपेक्षा कोई विशेष लाभकारी नहीं होता। चौथे, किसी संविधान को केवल लिख देने से कोई स्थायी लाभ नहीं

---

१ "It is an infinitely complex amalgam of institutions, principles and practices ; it is a composite of charters and statutes, of judicial decisions, of common law, of precidents, and usages and traditions. It is not the one document but thousands of them. It is not derived from one source but from several. It is not a completed thing but a process of growth. It is a child of wisdom and of chance whose course has been indifferently guided by accident and by high design."

होता। एक लिखित संविधान को एक युग का दर्पण कहा जा सकता है। लेकिन जब वह युग समाप्त हो जाता है, तब उस संविधान का महत्व भी समाप्त हो जाता है।

परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान (Flexible and Rigid Constitutions):—लॉर्ड ब्राइस को संविधानों का नामकरण लिखित और अलिखित के रूप में पसन्द नहीं था। वे उसे गलत और अनुपयुक्त समझते थे। इसलिये उन्होंने ऊपर कहे गये दो प्रकार के संविधानों को परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधानों के नाम से संबोधित किया। परिवर्तनशील संविधान का अर्थ यह है कि वह विधानमंडल की साधारण प्रक्रिया द्वारा आसानी से बदला जा सकता है। लेकिन अपरिवर्तनशील संविधान में संशोधन या परिवर्तन करने के लिये संविधानमंडल की एक विशेष प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। सम्भवतः ब्राइस ने ये नाम प्लेटो के विचारों से ग्रहण किये हैं।[1] बारकर ने लिखा है कि जब किसी संविधान या सरकार का रूप जनता या उसके प्रतिनिधियों की इच्छा के अनुसार आसानी से बदला जा सकता है, तो उसे परिवर्तनशील संविधान कहते हैं और जब उसके विपरीत होता है, तो उसे अपरिवर्तनशील संविधान कहते हैं। सेट[2] ने लिखा है कि परिवर्तनशील संविधान में संवैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून को एक समान समझा जाता है। ये दोनों प्रकार के क़ानून एक ही संस्था द्वारा एक-सी प्रक्रिया द्वारा बनाये जाते हैं। लेकिन अपरिवर्तनशील संविधान में संवैधानिक क़ानून को साधारण क़ानून की अपेक्षा अधिक उच्च स्थिति प्राप्त रहती है। उसमें संशोधन या परिवर्तन करने की प्रक्रिया भी एक विशेष प्रकार की होती है। डाइसी ने लिखा है कि परिवर्तनशील संविधान में हर प्रकार का प्रत्येक क़ानून एक ही संस्था द्वारा एक समान विधि से आसानी से बदला जा सकता है। लेकिन अपरिवर्तनशील संविधान में कुछ क़ानून जिन्हें संवैधानिक या मूल क़ानून कहते हैं, उस विधि से नहीं बदले जा सकते, जिस विधि से साधारण क़ानून बदले जा सकते हैं।[3]

इन विवरणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटेन का संविधान

---

१ देखिये Barker—'Plato and Aristotle' पृष्ठ १७०

२ देखिये E. M. Sait—'Political Institutions'

३ "A flexible constitution is one under which every law of every description can legally be changed with the same ease and in the same manner by one and the same body... A rigid constitution is one under which certain laws known

परिवर्तनशील है और अमेरिका का संविधान अपरिवर्तनशील है। ब्रिटेन के संविधान में पार्लियामेण्ट के एक साधारण अधिवेशन में साधारण विधि से कोई भी परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है। लेकिन अमेरिका के संविधान में संशोधन करने के लिये चार विशेष प्रक्रियाएँ निर्धारित हैं। संक्षेप में उन्हें हम इस प्रकार कह सकते हैं—(१) दोनों सदनों के दो-तिहाई सदस्य संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित करें। (२) अमरीकी संघ में जितने राज्य हैं, उनमें से कम से कम दो तिहाई राज्य कांग्रेस अर्थात् संघ के विधानमंडल के पास संशोधन का प्रस्ताव भेजें। इस प्रस्ताव के अनुसार जब कांग्रेस में वह संशोधन का प्रस्ताव पास हो जाय तो (३) कम-से-कम तीन-चौथाई राज्यों के विधानमंडल उसको अपनी स्वीकृति देंगे अथवा (४) कम-से-कम तीन-चौथाई राज्यों के विधानमंडलों के एक संयुक्त अधिवेशन में उसे स्वीकार किया जाय। तात्पर्य यह है कि संशोधन की यह जटिल प्रक्रिया ही उसे अपरिवर्तनशील बना देती है।

संविधानों के ऊपर हमने जो दो वर्गीकरण दिये हैं, उनके आधार पर कुछ लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि परिवर्तनशील संविधान अलिखित होता है और अपरिवर्तनशील संविधान लिखित होता है। यह तो माना जा सकता है कि अलिखित संविधान हमेशा परिवर्तनशील होता है; लेकिन यह मानना ठीक नहीं है कि सब लिखित संविधान अपरिवर्तनशील होते हैं। प्रत्येक लिखित संविधान में अपरिवर्तनशीलता का कुछ अंश तो अवश्य होगा; लेकिन आजकल राज्यों की प्रवृत्ति यह होती है कि संविधान **लिखित और परिवर्तनशील** हो। भारत का संविधान लिखित है। उसमें परिवर्तन करने की भी एक विशेष प्रक्रिया है। पर यह प्रक्रिया सरल है। इसे आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। अर्थात् भारत का संविधान लिखित होते हुए भी परिवर्तनशीलता की ओर झुका हुआ है।

दो वर्गों में समानता या भिन्नता

इस सम्बन्ध में प्रोफेसर स्ट्रांग का मत ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि अलिखित संविधान तो केवल परिवर्तनशील हो सकता है, अन्य किसी प्रकार का नहीं। लेकिन लिखित संविधान भी परिवर्तनशील हो सकता है। तब फिर वह कौन-सा गुण है, जो किसी संविधान को परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील बनाता है। ऐसा गुण केवल एक है और वह यह है कि संवैधानिक क़ानून बनाने की और साधारण क़ानून बनाने की प्रक्रिया एक-सी है अथवा नहीं। जो

---

as constitutional or fundamental laws cannot be changed in the same manner as ordinary laws"

—(**Dicey, "Law of the Constitution" p. 122-123**)

संविधान किसी विशेष प्रक्रिया के बिना परिवर्तित किया जा सकता है, वह परिवर्तनशील है। लेकिन जिस संविधान में संशोधन या परिवर्तन करने के लिये किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है, वह अपरिवर्तनशील संविधान कहलाता है। इस दृष्टि से ब्रिटेन का संविधान परिवर्तनशील है और संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान अपरिवर्तनशील है। अब हम अपने अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) अलिखित संविधान हमेशा परिवर्तनशील होते हैं।

(२) लिखित संविधान भी परिवर्तनशील हो सकते हैं।

(३) परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान का भेद संशोधन की प्रक्रिया पर विशेषरूप से निर्भर करता है। यदि संशोधन क़ानून बनाने की साधारण प्रक्रिया से हो सकता है, तो वह संविधान परिवर्तनशील होता है। लेकिन यदि संशोधन के लिये विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, तो वह परिवर्तनशील होता है।

लिखित और अलिखित संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन :— (१) परिवर्तनशील संविधान में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार उसे शीघ्रतापूर्वक बदला जा सकता है। ऐसा संविधान हमेशा विकास करता रहता है। ब्रिटेन के संविधान का सबसे बड़ा गुण यही है। इस गुण के कारण वह प्रगतिशील भी होता है। इसीलिये ब्रिटेन के संविधान की ब्राइस प्रभृति विद्वानों ने प्रशंसा की है।

(२) चूँकि परिवर्तनशील संविधान को आसानी से बदला जा सकता है, इसलिये वह कभी-कभी देश को संकट या क्रान्ति से बचा लेता है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का एक कारण यह भी था कि वहाँ का संविधान आवश्यकता के अनुसार समय पर संशोधित नहीं हो सका। इसके विपरीत ब्रिटिश संविधान में यह सुविधा है।

(३) अलिखित और परिवर्तनशील संविधान देश की राजनीतिक प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का बड़ा अच्छा सूचक होता है। इस दृष्टि से उसका एक ऐतिहासिक महत्त्व होता है। लिखित अपरिवर्तनशील संविधान उतना अच्छा सूचक नहीं होता।

अपरिवर्तनशील संविधान के गुण और परिवर्तनशील संविधान के दोष :—

(१) लिखित संविधान सुस्पष्ट, सुनिश्चित और ठोस होता है। उसके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वह स्थायी हो सकता है। इसके विपरीत परिवर्तनशील संविधान हमेशा अनिश्चित और परिवर्तन की अवस्था में रहता है। उसमें चाहे जब परिवर्तन हो सकते हैं। पर लिखित संविधान बहुत

सोच-विचार कर तैयार किया जाता है, उसका विवरण एक ही पत्र या ग्रन्थ में रहता है। इससे वह अधिक निश्चित होता है।

(२) चूँकि लिखित और अपरिवर्तनशील संविधान आसानी से नहीं बदला जा सकता है, इसलिये वह दलबन्दी के संघर्षों से सुरक्षित रहता है। कोई भी दल सत्तारूढ़ होने पर मनमाने ढंग से नहीं बदल सकता। इसके विपरीत परिवर्तनशील संविधान के साथ ये दल खेलवाड़ कर सकते हैं।

(३) लिखित अपरिवर्तनशील संविधान सब प्रकार के लोगों के लिये उपयुक्त होता है। उसके लिये विशेष राजनीतिक योग्यता, अनुभव या बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत, ब्राइस का मत है कि परिवर्तनशील संविधान केवल तीन शर्तों के अन्तर्गत कार्यगत हो सकता है। एक तो यह कि शासन सत्ता केवल उसी अल्प वर्ग के हाथ में रहेगी, जो सुशिक्षित, राजनीतिक दृष्टि से जागृत और ईमानदार होता है। दूसरे, अधिकतर लोगों को लगातार, निरन्तर राजनीतिक जीवन में लगा रहना पड़ता है। तीसरे, यद्यपि क़ानूनी दृष्टि से संप्रभुता जनता के हाथ में रहती है, लेकिन जनता केवल कुछ साधारण व्यापक सिद्धान्त निर्धारित करती है। लेकिन शासन का वास्तविक कार्य एक सुशिक्षित अल्पवर्ग करता है। ब्राइस ने यह भी लिखा है कि परिवर्तनशील संविधान उन्हीं देशों में फलते-फूलते हैं, जहाँ के लोग अपरिवर्तनशील प्रकृति के होते हैं और प्राचीन परम्पराओं का आदर करते हैं।

ऊपर संविधानों के जो भेद बतलाये गये हैं, उनके अलावा कुछ विद्वान एक अन्य आधार पर भी संविधानों के भेद बतलाते हैं। वह यह कि किसी संविधान को क़ानूनी सर्वोच्चता (Legal or Judicial Supremacy) प्राप्त है अथवा नहीं। यह सर्वोच्चता तब प्राप्त होती है, जब संविधान के द्वारा यह घोषित कर दिया जाता है कि उसकी धाराएँ शासन के सब अंगों अर्थात् विधानमंडल, कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका पर अनिवार्य रूप से लागू होंगे। इस शर्त के अनुसार संविधान दो वर्गों में बाँटे जाते हैं—एक वे संविधान जिनमें संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution) रहती है और दूसरे वे संविधान जिनमें संसद् अथवा विधानमंडल की सर्वोच्चता (Supremacy of the Legislature) रहती है। इस शर्त के अनुसार पहले प्रकार के संविधान की रक्षा अर्थात् संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा एक स्वतन्त्र न्यायपालिका या न्याय-व्यवस्था के द्वारा की जाती है। देश की न्यायपालिका संविधान की संरक्षक बन जाती है। दूसरे वर्ग के संविधान में क़ानूनी संप्रभुता या सर्वोच्चता विधानमंडल में निवास करती है। अर्थात् अन्तिम रूप में विधान-

क़ानूनी सर्वोच्चता

मंडल यह तय करता है कि शासन के विभिन्न अंगों के कार्य संविधान की धाराओं के अनुसार हो रहे हैं अथवा नहीं। इस भेद के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान की सर्वोच्चता प्रचलित है। वहाँ का उच्चतम न्यायालय संविधान का संरक्षक है। इसके विपरीत ब्रिटेन में विधानमंडल की सर्वोच्चता प्रचलित है। वहाँ पार्लियामेण्ट अन्तिम रूप से संवैधानिक निर्णय देती है।

सारांश के रूप में हम यह कह सकते हैं कि अभी तक हमने संविधानों का जो वर्गीकरण किया है, वह इन तीन बातों पर आधारित है—(१) लिखित, (२) संशोधन की विधि और (३) न्यायालयों के निर्णय। विभिन्न संविधानों के भेद और उनके अलग-अलग रूप इन्हीं तीन बातों के आधार पर निश्चित किये जाते हैं।

लिखित संविधान की विशेषताएँ (Chief qualities of a written Constitution):—इंगलैण्ड को छोड़कर प्राय: सब देशों में अब केवल लिखित संविधान ही प्रचलित हैं। इसलिये हमें यह जानना आवश्यक है कि वे कौन से गुण हैं, जिनके कारण आधुनिक काल में लिखित संविधान पसन्द किये जाते हैं। गेटेल ने लिखित संविधान में निम्नलिखित बातें आवश्यक बतलाई हैं—

(१) लिखित संविधान स्पष्ट और निश्चित होना चाहिये। उसके शब्द और वाक्य ऐसे हों कि उनका अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो। इसलिये यह आवश्यक है कि संविधान बड़ी सावधानी के साथ लिखा जाना चाहिये।

(२) लिखित संविधान काफ़ी विस्तृत और सर्वांगपूर्ण हो, अर्थात् शासन के विभिन्न अंगों के कार्य स्पष्टरूप से निर्धारित होना चाहिये, जिससे उनमें संघर्ष की संभावना न रहे। उनके आपस के सम्बन्ध भी स्पष्ट रूप से निर्धारित होना चाहिये।

(३) संविधान न बहुत संक्षिप्त हो और न बहुत लम्बा। यदि वह बहुत संक्षिप्त होगा, तो उसमें सब बातें स्पष्टरूप से नहीं लिखी जा सकतीं। जिससे बाद में कठिनाइयाँ हो सकतीं हैं। यदि वह बहुत लम्बा होगा तो उसमें प्रत्येक बात बहुत बारीक़ी के साथ लिखी जायँगी। नतीजा यह होगा कि कुछ समय बाद परिस्थितियाँ बदलने पर वह शासनकर्त्ताओं के लिये तरह-तरह की बाधाएँ उपस्थित करेगा। ऐसा संविधान अनावश्यक रूप से अपरिवर्तनशील हो जायगा।

ऊपर जो बातें बतलाई गई हैं, वे वास्तव में लिखित संविधान के प्रकृति या उसके गुण बतलाती हैं। इनके सिवाय किसी भी लिखित संविधान में निम्नलिखित तीन बातों का समावेश आवश्यक है। एक तो प्रत्येक लिखित संविधान में अधिकारों की घोषणा अवश्य होनी चाहिये। दूसरे, उसमें राज्य

के शासन के विभिन्न अंगों के संगठन की रूप-रेखा अवश्य होनी चाहिये। तीसरे, उसमें संविधान में संशोधन करने की विधि अवश्य रहनी चाहिये। ये तीनों बातें क्रमशः राज्य की स्वतन्त्रता, शासन या सरकार और संप्रभुता की द्योतक होती हैं।

यदि हम विभिन्न देशों के लिखित संविधानों का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि प्रारम्भ में उनका उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना तथा जनता द्वारा शासन-सत्ता ग्रहण करना था। इस दृष्टि से हम लिखित संविधान के निम्नलिखित आधार कह सकते हैं। (१) राजनीतिक सत्ता का प्रश्न, (२) धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा, (३) सम्पत्ति की रक्षा। इस सम्बन्ध में हमें यह माँग याद रखनी चाहिये कि प्रतिनिधित्त्व के बिना कर नहीं लगाया जा सकता। (४) स्वतन्त्रता, जिसके कि तीन पहलू होते हैं—(क) मनमाने ढंग से किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी और नज़रबन्दी न हो, (ख) भाषण, मत प्रकट करने, सभा करने तथा संघ बनाने की स्वतन्त्रता हो और (ग) क़ानून की दृष्टि में सबको समानता प्राप्त हो।

जैसा कि हम देख चुके हैं, आजकल सर्वत्र लिखित संविधान के पक्ष में ही जनमत पाया जाता है। इसके कई कारण बतलाये जाते हैं, यथा—(१) आजकल जनतान्त्रिक राज्य में नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा की गारन्टी चाहते हैं। इसके लिये वे सरकार के अधिकार सीमित रखना चाहते हैं। इसलिये उनकी यह इच्छा रहती है कि सरकार तथा जनता के अधिकार स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिये जायँ। (२) जनतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ स्थानीय स्वशासन की भी प्रगति हुई; नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों को शासन सम्बन्धी अधिकारों में वृद्धि हुई और इनकी उपयोगिता भी सिद्ध हुई। अतएव यह महसूस किया गया कि इनके अधिकार यदि स्पष्ट रूप से निर्धारित हो जायँ अर्थात् लिखित हो जायँ तो किसी प्रकार के संघर्ष का डर न रहेगा। (३) जब कोई देश अपनी सरकार अर्थात् शासन का रूप बदलता है, तो वह नयी सरकार को एक निश्चित रूप देना चाहता है। इसका सबसे अच्छा तरीक़ा यही होता है कि शासन जिस संविधान के आधार पर चलेगा, उसे लिखित रूप दिया जाय। (४) आधुनिक युग में संघ शासन (Federalism) ने बड़ी तेजी के साथ प्रगति की है। संघ-शासन में सिवाय लिखित संविधान के अन्य कोई संविधान सम्भव नहीं है। इसमें संघ तथा राज्य शासनों के अधिकार स्पष्ट रूप से निर्धारित किये जाते हैं। साथ ही शासन के विभिन्न अंगों के अधिकार और कार्यक्षेत्र भी निर्धारित किये जाते हैं।

संविधान स्थापित करने की विधियाँ (Methods of Establishing Constitutions):—आजकल सब जगह मत लिखित संविधान के पक्ष

में होता है। अब हमें यह देखना है कि संविधान किस प्रकार स्थापित या प्रारम्भ किये जाते हैं। इतिहास के आधार पर विद्वानों का मत है कि संविधान स्थापित करने की सबसे अधिक व्यवहृत रीति क्रान्ति (Revolution) रही है। जब कोई शासन जनता के लिये असहनीय हो जाता है, तब जनता उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे समाप्त कर देती है और एक नये किस्म का शासन स्थापित करती है। इंगलैण्ड की 'भव्य क्रान्ति' (Glorious Revolution) के फलस्वरूप अधिकारों के घोषणा पत्र (Bill of Rights) को मान्यता प्राप्त हुई। संयुक्तराज्य अमेरिका का वर्तमान संविधान एक क्रान्ति के फलस्वरूप स्थापित हुआ। फ्रान्स में सन् १७८९ में जो राज्यक्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप उस देश में कई संविधान बने। सन् १९१७ में रूस में बोलशेविक क्रान्ति हुई, जिसके बाद सन् १९१८ में वहाँ का वर्तमान संविधान बना। सन् १९३६ में इसमें बहुत से परिवर्तन किये गये। दूसरे, संविधान राज्य या राजसत्ता की स्वीकृति या स्वेच्छा (Grant) से भी स्थापित होते हैं। जैसे कि जापान का वर्तमान संविधान वहाँ के राजा की स्वीकृति से स्थापित किया गया था। कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रिका के संविधान ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट की स्वीकृति और स्वेच्छा की देन हैं। तीसरे, संविधान स्वयं देशवासियों द्वारा वाद-विवाद तथा सलाह-मशाविरा के द्वारा (Deliberate Creation) तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के लिये जब अमेरिकी उपनिवेशों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया और स्वतन्त्रता की घोषणा की तो साथ ही वहाँ की जनता के प्रतिनिधियों ने एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने नये राज्य का एक संविधान भी तैयार किया। इसी प्रकार सन् १९४७ में भारत ने जब स्वतन्त्रता प्राप्त की तो साथ ही उसने एक संविधान सभा भी बनाई, जिसने दो वर्ष में एक संविधान तैयार किया और सन् १९५० से यह संविधान देश में लागू किया गया। चौथे संविधानों का क्रमशः विकास होता है। ब्रिटेन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। वहाँ के संविधान का विकास सदियों से होता आ रहा है। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के कई राज्यों के संविधानों का विकास भी इसी प्रकार क्रमशः हुआ है। रेगूलेटिंग एक्ट से लेकर सन् १९३५ तक भारत के संविधान का विकास भी क्रमशः होता रहा।

संविधान स्थापित करने की ब्राइस ने निम्नलिखित चार विधियाँ बतलाई हैं :—

(१) राजा अपनी प्रजा को संविधान दे सकता है। इंगलैण्ड और जापान इसके उदाहरण हैं।

(२) किसी देश में क्रान्ति के द्वारा नया संविधान स्थापित हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस इसके उदाहरण हैं।

(३) जब किसी नये देश का जन्म होता है, तब वहाँ के लोग एक नया संविधान स्थापित कर सकते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में ऐसा ही हुआ।

(४) कई अर्द्ध विकसित राजनीतिक समूह मिलकर एक राज्य बना सकते हैं और उसका एक संविधान तैयार कर सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका उदाहरण है।

संविधान में संशोधन की विधियाँ (Methods of Amending the Constitution):—प्रत्येक संविधान में, चाहे वह लिखित हो या अलिखित, समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार संशोधन द्वारा परिवर्त्तन करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके बिना कोई भी संविधान कार्य नहीं कर सकता। इसलिये अब हम संविधान में संशोधन करने की विधियों पर विचार करेंगे। **अलिखित या परिवर्तनशील संविधान** में संशोधन करने के लिये किसी विशेष विधि या रीति की आवश्यकता नहीं होती। क़ानून बनाने के साधारण तरीक़ों के द्वारा ही संविधान में संशोधन और परिवर्तन हो सकता है। इंगलैण्ड का संविधान इसका उदाहरण है। वहाँ हाउस ऑफ कॉमन्स साधारण बहुमत द्वारा ऐसा क़ानून बना सकता है, जिससे किसी भी राजनीतिक संस्था में परिवर्तन हो सकता है; यहाँ तक कि उसे समाप्त भी किया जा सकता है। इससे अधिक परिवर्तनशील संविधान और कहीं नहीं पाया जाता। न्यूज़ीलैण्ड का संविधान लिखित है, पर उसमें भी संशोधन विधानमंडल की क़ानून बनाने की साधारण प्रक्रिया द्वारा हो सकता है। ऐसे अन्य देश भी हैं, जिनके संविधान लिखित होने पर भी परिवर्तनशील हैं। अर्थात् उनमें संशोधन क़ानून बनाने की साधारण प्रक्रिया द्वारा हो सकता है।

इसके बाद **लिखित या अपरिवर्तनशील संविधानों** में संशोधन की प्रक्रिया का प्रश्न उठता है। इस प्रकार के संविधान में संशोधन करने के लिये साधारणतः चार प्रकार की विधियाँ प्रचलित हैं। पहली विधि यह है कि कुछ शर्त्तों का पालन करते हुए क़ानून बनाने की साधारण प्रक्रिया द्वारा संविधान में संशोधन किया जा सकता है। ये शर्तें इस प्रकार की होती हैं कि जब संशोधन विधेयक पर विचार हो, तब सदन के सदस्यों की एक निश्चित संख्या उपस्थित हो। इसी प्रकार उसके स्वीकृत होने के लिये भी एक निश्चित बहुमत की आवश्यकता होती है। दूसरी विधि यह होती है कि संशोधन के लिये एक विशेष परिषद्

का आयोजन किया जाता है। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में संशोधन के लिये एक राष्ट्रीय अधिवेशन (Convention) किया जाता है। इसके साथ ही विशेष बहुमत की शर्त भी जोड़ दी गई है। वह यह है कि प्रस्तावित संशोधन कांग्रेस के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा और संघ के तीन-चौथाई राज्यों द्वारा स्वीकृत हो। अमेरिका में संविधान में संशोधन का प्रस्ताव कांग्रेस के दो सदनों में से किसी भी सदन के दो-तिहाई सदस्यों द्वारा किया जा सकता है अथवा सब राज्यों के दो-तिहाई विधानमंडलों द्वारा किया जा सकता है। संशोधन की तीसरी विधि जनमत गणना (Referendum or Plebiscite) है। आस्ट्रेलिया, स्विटज़रलैण्ड और आयर में यह विधि प्रचलित है। दोनों देशों के संविधानों में यह विधि स्पष्टरूप से दी गई है। चौथी विधि यह है कि संघ की सब इकाइयों के साधारण बहुमत के द्वारा संविधान में संशोधन हो सकता है। यह विधि केवल संघ शासन में सम्भव हो सकती है और आस्ट्रेलिया, स्विटज़रलैण्ड तथा अमेरिका के संघ शासनों में प्रचलित है।[1]

न्यायालयों की टिप्पणी

लिखित संविधान न्यायालयों की टीका-टिप्पणी द्वारा भी संशोधित हो सकते हैं। न्यायालयों के निर्णयों द्वारा संवैधानिक व्यवस्था में नये-नये सामाजिक और आर्थिक विचार प्रवेश कर जाते हैं। इसके लिये संविधान में निर्धारित तरीक़े से संशोधन करने की आवश्यकता नहीं होती। समय-समय पर न्यायालयों को यह निर्णय करना पड़ता है कि किसी मुक़दमें पर संविधान का क्या प्रभाव पड़ता है। इस निर्णय के सम्बन्ध में न्यायालय संविधान की किसी धारा का अर्थात् किसी क़ानून का एक

---

१ स्विटज़रलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद १२३ में दिया हुआ है कि "The revised Federal Constitution, or the revised part thereof, shall come into force when it has been accepted by a majority of the Swiss citizens taking part in the voting thereon **and by a majority of States.**"

इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के संविधान के अनुच्छेद १२८ में लिखा है कि "No alteration diminishing the proportionate representation of any State in either House of the Parliament, or the minimum number of representatives of a State in the House of Representatives, or increasing, diminishing or otherwise, altering the limits of the State, or in any matter affecting the provisions of the Constitution in relation thereto, shall become law **unless the majority** of electors voting in that State approve the proposed law."

नया अर्थ लगा सकते हैं। अथवा किसी ऐसी बात की ओर इंगित कर सकते हैं, जिस पर संविधान चुप हों। इस प्रकार न्यायालय संविधान की व्याख्या कर-करके उसमें संशोधन करते रहते हैं। यह प्रक्रिया संयुक्त राज्य अमेरिका में विशेष रूप से देखने में आती है, क्योंकि वहाँ संविधान में संशोधन करने की प्रक्रिया बड़ी जटिल और कठिन है।

ऊपर संशोधन की जो विधियाँ बतलाई गई हैं, उनके विविध अंश मिश्रित करके भी किसी संविधान की संशोधन प्रणाली निर्धारित की जा सकती है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है, कि एक संविधान में एक ही विधि से संशोधन होगा। आजकल संशोधन के लिये राज्य प्रायः अमेरिका की अति जटिल और ब्रिटेन की अति परिवर्तनशील और सरल के बीच की एक मध्यम संशोधन विधि को पसन्द करते हैं। उदाहरण के लिये सोवियत रूस का संविधान में संशोधन की विधि इस प्रकार है। संशोधन के प्रस्ताव को सर्वोच्च सोवियत के प्रत्येक सदन के दो-तिहाई सदस्यों के मत प्राप्त होना चाहिये। एक सदन में संघ के प्रतिनिधि होते हैं और दूसरे सदन में सब राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं। राज्यों का प्रतिनिधित्व बराबर होता है। इस प्रकार समान राज्यों को प्रस्तावित संशोधन पर अपना मत प्रकट करने का अवसर मिल जाता है। फ्रान्स के चौथे जनतन्त्र के संविधान में संशोधन का अधिकार विधान सभा के निम्न सदन को सौंपा गया है। सन् १९४६ के संविधान के अनुसार संशोधन का प्रस्ताव निम्न सदन अर्थात् नेशनल असेम्बली द्वारा पेश होना चाहिये और उसी के द्वारा साधारण बहुमत से पास होना चाहिये। उसके बाद उच्च सदन में भेजा जाता है। यदि उच्च सदन कोई परिवर्तन का सुझाव देता है, तो वह फिर निम्न सदन में आता है, तब साधारण तरीक़े से विशेष या निर्धारित बहुमत द्वारा पास होता है। यदि ये शर्तें पूरी नहीं होतीं तब उस पर जनमत (Referendum) लिया जाता है।

भारतीय संविधान में संशोधन की विधि इस प्रकार है। संशोधन का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में पेश हो सकता है। तब उसे प्रत्येक सदन में, सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा, तथा उपस्थित और मत देने वाले कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा पास होना चाहिये। कुछ विशेष अनुच्छेदों (जैसे कि राष्ट्रपति का निर्वाचन, संघ की कार्यकारिणी की शक्तियाँ, उच्च न्यायालय की स्थापना इत्यादि सम्बन्धी) में संशोधन के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि संशोधन को कम-से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति प्राप्त हो।

ब्रिटेन में प्रचलित संवैधानिक परम्पराओं पर टिप्पणी (A note on the Conventions of British Constitution):—ब्रिटेन में प्रचलित

संवैधानिक परम्पराओं का अध्ययन डाइसी ने अपने "संवैधानिक क़ानून" (Law of the Constitution) में विस्तारपूर्वक किया है। उसने इस बात का विशेष रूप से अध्ययन किया कि ब्रिटेन का हाउस ऑफ कॉमन्स किन अलिखित परम्पराओं के अनुसार काम करता है। उसके मतानुसार ब्रिटेन के संविधान में निम्नलिखित परम्पराएँ पाई जाती हैं—

(१) पार्लियामेण्ट का अधिवेशन एक वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य होना चाहिये।

(२) यदि हाउस ऑफ कॉमन्स मंत्रिमंडल में अविश्वास प्रकट करता है तो उसे पदत्याग अवश्य करना चाहिये। अथवा स्वयं कॉमन्स सभा का विघटन होकर नये निर्वाचन होना चाहिये।

(३) यदि पार्लियामेण्ट के दोनों सदन किसी बिल या प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे देते हैं, तो राजा की स्वीकृति उसे अवश्य मिलनी चाहिये।

(४) मंत्रिमंडल पार्लियामेण्ट के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है।

(५) कॉमन्स सभा में जिस दल का बहुमत है, उस दल का नेता प्रधान मंत्री होगा और उसे अपने सहयोगी अन्य मन्त्रियों को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(६) मन्त्रिमंडल की विदेशी नीति कॉमन्स सभा की इच्छा के विपरीत नहीं होनी चाहिये।

ब्रिटिश संविधान की ये प्रधान परम्पराएँ हैं। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि ये क़ानून नहीं है। क़ानून और परम्परा में भेद यह है कि न्यायालय क़ानून का पालन करा सकते हैं, परन्तु वे परम्परा का पालन नहीं करा सकते। जेनिंग्स का मत है कि परम्पराओं का वृत्त या कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और वे प्रायः क़ानून के साथ एक रूप हो गई है। इतना तो अवश्य है कि अब ऐसी स्थिति हो गई है कि किसी परम्परा का उल्लंघन करनेवाला मंत्रिमंडल तुरन्त क़ानून के संघर्ष में आ जायगा। लेकिन लॉस्की का मत है कि कुछ परिस्थितियों में परम्परा का उल्लंघन करने से क़ानून से उनका संघर्ष नहीं होगा और मंत्रि-मंडल मजे से अपना काम चला सकता है। परम्पराओं के पालन का वास्तविक कारण यह है कि कालान्तर में उन्हें एक प्रकार की दिव्यता प्राप्त हो गई है और मंत्रिमंडल उनका पालन करना अपना धर्म समझने लगे हैं। साथ ही शासन कार्य की दृष्टि से उनका पालन करना बड़ा सुविधाजनक होता है। एक बात यह भी है कि प्रत्येक पीढ़ी अपने युग के जनमत के अनुसार उनका सीमित या विस्तृत अर्थ लगाती आई है। आजकल विद्वानों का मत यही है कि इन वैधानिक परम्पराओं का पालन इसलिये नहीं होता कि उन्हें न मानने से क़ानून का उल्लंघन होगा, बल्कि इसलिये होता है कि उन्हें मानने से शासन कार्य में बड़ी सुविधा होती है और जनमत उन्हें स्वीकार करता है।

अध्याय १२

शासन के स्वरूप

(Forms of Government)

प्रत्येक राज्य में शासन का एक ढाँचा या व्यवस्था होना आवश्यक है। बहुधा इसी शासन के स्वरूप के अनुसार अर्थात् सरकार के रूप के अनुसार उस राज्य का नाम भी होता है जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका को हम राष्ट्रपति प्रधान जनतन्त्र कहते हैं और इंगलैण्ड की सरकार को संसद प्रधान जनतन्त्र। सरकारों अथवा शासन के स्वरूपों को कई आधारों पर भिन्न श्रेणियों या वर्गों में बाँटा जाता है जैसे कि जनता की वह संख्या जिनमें संप्रभुता निवास करती है तथा सरकार के संगठन का स्वरूप।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, आधुनिक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का प्रारम्भ प्राचीन ग्रीस में हुआ था। अतएव शासन के स्वरूपों के लिये भी हमें ग्रीस के इतिहास की ओर देखना पड़ता है। प्राचीन ग्रीस में बहुत से छोटे-छोटे नगर राज्य थे। उनमें कई प्रकार के शासन तन्त्र प्रचलित थे। उन सबकी तुलना करके हेरोडोटस (Herodotus) ने शासनतन्त्रों को एकतन्त्र या राजतन्त्र (Monarchy) कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा प्रजातन्त्र या जनतन्त्र (Democracy) में विभाजित किया है। ये तीन प्रकार के शासन जब स्वार्थी, अत्याचारी और भ्रष्ट हो जाते हैं, तब उन्हें हेरोडोटस ने दूसरी संज्ञा दी है। जब राजा पथ-भ्रष्ट होकर अत्याचारी हो जाता है और प्रजा का पालन नहीं कर सकता तब एकतन्त्र या राजतन्त्र उत्पीड़क राजतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार जब शासक वर्ग के कुलीन लोग आपस में लड़ते हैं और प्रजा के हितों का ध्यान नहीं रखते तब वह उत्पीड़क कुलीनतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार प्रजातन्त्र भी भ्रष्ट होकर उत्पीड़क प्रजातन्त्र हो जाता है। एक शक्तिशाली व्यक्ति प्रजा का नेता बनकर शासन-शक्ति अपने हाथ में ले लेता है और स्वेच्छापूर्वक उसका प्रयोग करता है।

हेरोडोटस

हेरोडोटस के बाद सात्रेटीज़ ने भी शासनतन्त्रों के वर्गीकरण पर ध्यान दिया। उसने भी राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र को मान्यता दी। उसका मत था कि प्रजातन्त्र कभी अच्छा नहीं होता, क्योंकि उसका आधार हमेशा अज्ञान होता है। उसका मत था कि राजतन्त्र में राजा प्रजा की

सम्मति से क़ानून के आधार पर राज्य करता है। जब वह ऐसा नहीं करता तब वह स्वेच्छाचारी उत्पीड़क हो जाता है। इसी प्रकार कुलीनतन्त्र में जब उच्चवर्ग के लोग प्रजा-हित ध्यान में रखकर शासन करते हैं, तब वह तन्त्र श्रेष्ठ होता है। लेकिन जब वे लोग अपने सुख और ऐश्वर्य के लिये शासन करने लगते हैं तब वह तन्त्र भ्रष्ट और अवांछनीय हो जाता है। प्रजातन्त्र तो कभी अच्छा नहीं होता, इस प्रकार साक्रेटीज़ पाँच प्रकार के शासनतन्त्रों को स्वीकार करता है जिनमें से दो अर्थात् राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र अच्छे होते हैं और तीन अर्थात् उत्पीड़क राजतन्त्र, उत्पीड़क कुलीन-तन्त्र और प्रजातन्त्र अहितकारी और अवांछनीय होते हैं।

साक्रेटीज़

प्लेटो ग्रीस का एक महान विचारक और दार्शनिक हुआ है। उसने भी शासनतन्त्रों के वर्गीकरण की ओर ध्यान दिया है। राजनीति दर्शन के सम्बन्ध में प्लेटो के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'जनतन्त्र' (Republic) 'राजनीति' (Politicus) और 'क़ानून' (Laws) 'जनतन्त्र' नाम की प्रथम पुस्तक में उसने कहा है कि शासन का आधार ज्ञान और बुद्धि होना चाहिये। इससे कुछ लोगों ने यह अन्दाज लगाया है कि वह शासन-तन्त्र कुलीन वर्ग के हाथ में रखना चाहता था। लेकिन उसी ग्रन्थ में वह कहता है कि राजसत्ता, एक दार्शनिक राजा के हाथ में रहनी चाहिये। इसी में मनुष्य जाति का कल्याण है। इससे हम यह तात्पर्य निकालते हैं कि वह आदर्श राज-तन्त्र के पक्ष में था। 'पोलीटिकस' में भी उसने निरंकुश, पर ज्ञानी राजा के पक्ष में अपना मत दिया है। उसने कहा है कि राजा ज्ञानी होना चाहिये और ज्ञानी राजा पर जनमत या क़ानून का बन्धन नहीं होना चाहिये।

प्लेटो

लेकिन यह उसका आदर्श था। अर्थात् उसने यह बतलाया कि एक आदर्श राज्य कैसा होना चाहिये। पर वास्तव में उस समय के सब राज्य वैसे नहीं थे। इसलिये 'पोलीटिकस' में उसने राज्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है—वे राज्य जो उस आदर्श के निकटतम थे और वे राज्य जो उस आदर्श से बहुत दूर थे। अर्थात् राज्यों का शासन या तो ज्ञान के आधार पर होता है या अज्ञान के आधार पर। इस दृष्टि से देखने पर तीन प्रकार के राज्य पाये जाते हैं।[१]

(१) वे राज्य जिनका शासन पूर्ण ज्ञान के आधार पर होता है। ये आदर्श राज्य हैं।

---

१ देखिये बारकर कृत Plato and Aristotle पृष्ठ १७५ और Plato and his Predecessors पृष्ठ २९० ।

(२) वे राज्य जिनका शासन अपूर्ण ज्ञान के आधार पर होता है। अर्थात् नके शासन क़ानून अपूर्ण ज्ञान के आधार पर बने होते हैं।

(३) वे राज्य जिनका शासन अज्ञान के आधार पर होता है।

चूँकि पहले प्रकार का आदर्श राज्य कहीं नहीं पाया जाता, वह केवल एक आदर्श है, इसलिये वास्तव में केवल दो प्रकार के राज्य पाये जाते हैं। एक तो वे जिनके क़ानूनों का आधार ज्ञान है और दूसरे वे जिनके क़ानूनों का आधार ज्ञान न होकर स्वेच्छा है।

ज्ञान पर आधारित राज्य तीन प्रकार के होते हैं—राजतन्त्र (Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और जनतन्त्र (Democracy)। इसके विपरीत अज्ञान पर आधारित शासनतन्त्र उत्पीड़क राजतन्त्र, उत्पीड़क कुलीन-तन्त्र और उत्पीड़क जनतन्त्र होते हैं। इसलिये आदर्श राज्य को छोड़कर प्लेटो के मतानुसार सबसे अच्छा राज्य राजतन्त्र होता है और सबसे ख़राब उत्पीड़क जनतन्त्र।

इस विश्लेषण से हम यह तात्पर्य निकाल सकते हैं कि प्लेटो ने शासन के स्वरूपों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया है। पहला, शासकों में ज्ञान अथवा अज्ञान का होना और दूसरा शासकों की संख्या।

प्लेटो के बाद अरिस्टॉटल ने शासनों के वर्गीकरण पर काफ़ी ध्यान दिया है। इस सम्बन्ध में उसके अध्ययन पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट है। लेकिन साथ ही उसके अपने विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं। प्लेटो ने अपने वर्गीकरण में क़ानून को महत्त्व दिया है। लेकिन अरिस्टॉटल ने नैतिकता (Morality) को महत्त्व दिया है। क्योंकि उसका मत है कि राज्य एक नैतिक संगठन या संस्था है और उसका उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करना है। उसका मत था कि जो राज्य अपना ध्येय श्रेष्ठ और उच्च जीवन की प्राप्ति रखते हैं वे सामान्य (Normal) राज्य हैं और जो राज्य इस लक्ष्य को भूल जाते हैं वे असामान्य या विकृत (Abnormal or Perverse) राज्य होते हैं। अपने वर्गीकरण की व्याख्या अरिस्टॉटल ने इस प्रकार की है।

अरिस्टॉटल का वर्गीकरण

"यह प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक शासन या सरकार में राज्य की एक सर्वोच्च, सर्वोपरि सत्ता होनी चाहिये। यह सत्ता या तो एक व्यक्ति के हाथ में होती है, या थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में या बहुत से व्यक्तियों के हाथ में। जब इस सत्ता का प्रयोग सबके हित में किया जाता है, तो राज्य का शासन अच्छा कहा जाता है। लेकिन जब उसका प्रयोग केवल एक व्यक्ति के हित में, अथवा थोड़े से लोगों के हित में, अथवा केवल उन अधिक लोगों के हित में जिनके हाथ में सत्ता

होती है, किया जाता है तब वह शासन खराब कहा जाता है। अर्थात् जब सत्ताधारी केवल अपने हित में सत्ता का प्रयोग करते हैं, तब उसे खराब सत्ता कहते हैं। क्योंकि या तो शासन का लाभ सबको मिलना चाहिये अथवा आप में यह कहने का साहस होना चाहिये कि जिन्हें शासन के लाभ नहीं मिलते, वे आपके नागरिक नहीं हैं। जब शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में रहती है तो उसे राजतन्त्र कहते हैं। जब वह थोड़े से लोगों के हाथ में रहती है तब उसे कुलीनतन्त्र कहते हैं। यह सत्ता या तो श्रेष्ठ लोगों के हाथ में रहती है या उस राज्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होती है। जब सत्ता नागरिकों के अधिकांश सदस्यों के हाथ में रहती है तो उसे जनतन्त्र (Polity) कहते हैं। जब शासन के इन तीन स्वरूपों में भ्रष्टाचार आ जाता है तो वे क्रमशः उत्पीड़क राजतन्त्र, उत्पीड़क कुलीनतन्त्र और उत्पीड़क जनतन्त्र (Democracy) हो जाते हैं। राजतन्त्र में राजा जब केवल अपने स्वार्थ के लिये शासन करता है तब वह उत्पीड़क राजतन्त्र हो जाता है। उत्पीड़क कुलीनतन्त्र में धनी वर्ग केवल अपने हित में शासन करता है। और उत्पीड़क जनतन्त्र में ग़रीब वर्ग केवल अपने हित में शासन करता है।"[१]

---

१ "It is evident that every form of government or administration .....must contain a supreme power over the whole state, and this supreme power must necessarily be in the hands of one person, or a few, or many and when either of these apply their power for the **Common good**, such states are well governed ; but when the interest of the one, the few or the many who enjoy this power is alone consulted, then ill ; for you must either affirm that who make up the community are not citizens, or else let these share in the advantages of government. We usually call a state which is governed by one person for the common good, a kingdom ; one that is governed by more than one but by a few only, an aristocracy; either because the governmnet is in the hands of the most worthy citizens, or because it is the best form for the city and its inhabitants. When the citizens at large govern for the public good, it called a state (or polity).....Now the corruptions attending each of these governments are these ; a kingdom degenerate into a tyranny, an aristocracy into an oligarchy, and a state (or polity) into a democracy. Now a tyranny is a monarchy where the good of one man only is the object of government, an oligrachy considers only the rich, and a

इस प्रकार हम देखते हैं कि शासन का निरूपण करते समय अरिस्टॉटल इस बात पर काफ़ी ज़ोर देता है कि शासन की आधारभूत भावना (Spirit) क्या है ? यदि शासन या सरकारें जनहित में काम करती हैं तो वे सामान्य हैं; यदि वे केवल अपने हित में काम करती हैं तो वे विकृत या असामान्य हैं। सामान्य राजतन्त्र में राजा सम्पूर्ण राज्य के कल्याण का प्रयत्न करेगा यदि वह केवल अपनी सत्ता और ऐश्वर्य के लिये राज्य करता है तो वह विकृत राजतन्त्र हो जाता है। सामान्य कुलीनतन्त्र में सत्ताधारी कुलीन वर्ग सम्पूर्ण राज्य के सब वर्गों का कल्याण-साधन करेगा। यदि वह केवल अपने वर्ग के हित-साधन में राज्य करता है तो वह विकृत कुलीनतन्त्र हो जाता है और यही हाल जनतन्त्र का है। जब ग़रीब वर्ग धनी वर्ग के हितों पर कुठाराघात करता है, या उसके विरुद्ध संघर्ष करता है तो जनतन्त्र उत्पीड़क या विकृत हो जाता है। अरिस्टॉटल ने शासनों का वर्गीकरण चार प्रधान बातों पर आधारित किया है, यथा—(१) सरकार का नैतिक उद्देश्य (Moral end of Government), (२) सरकार की भावना (Spirit or temper of Government), (३) समाज के वर्ग का प्रभाव (Influence of social class) और (४) शासकों की संख्या (Number of those that govern)। अरिस्टॉटल की दृष्टि में इनमें से सबसे कम महत्त्वपूर्ण बात शासकों की संख्या है। इन आधारभूत बातों पर अरिस्टॉटल ने शासनों का जो वर्गीकरण किया है उसकी खानाबन्दी हम इस प्रकार कर सकते हैं।

	राज्य के उद्देश्य और शासन की भावना (End of State and Spirit of Government)	
शासकों की संख्या और सामाजिक वर्ग (Number of rulers and social class)	सामान्य अर्थात् सर्वहित में (Normal or for Common good)	विकृत या उत्पीड़क अर्थात् स्वार्थ में। (Perverted or for self interest)
एक व्यक्ति का शासन (Rule of One)	राजतन्त्र (Monarchy)	उत्पीड़क राजतन्त्र (Tyranny)
थोड़े से व्यक्तियों का शासन (Rule of Few)	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	उत्पीड़क कुलीनतन्त्र (Oligarchy)
बहुत व्यक्तियों का शासन (Rule of Many)	जनतन्त्र (Polity)	उत्पीड़क जनतन्त्र (Democracy)

democracy only the poor, but neither of them have a common good in view." **Politics of Aristotle.** Every man's Library. pp. 78-79.

अरिस्टॉटल ने शासनों के वर्गीकरण के अलावा एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि कालान्तर में शासन के एक रूप का स्थान दूसरा रूप ले लेता है। उसने लिखा है कि प्राचीन काल में सबसे पहले राजतन्त्र प्रचलित था और राजा प्रजाहित में शासन करता था। कालान्तर में राजा उत्पीड़क धन और शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। प्रजा-हित वे लोग भूल गये। जिससे प्रजा में असंतोष फैलने लगा। एक समय ऐसा आया जब उच्च वर्ग के थोड़े से लोगों ने शासन-शक्ति अपने हाथ में ले ली और राजा को पदच्युत कर दिया। इस प्रकार कुलीनतन्त्र की स्थापना हुई। लेकिन कालान्तर में यह तन्त्र भी शक्ति का दुरुपयोग करके केवल अपने वर्ग के हित में शासन करने लगा। तब साधारण जनता में इस वर्ग के शासन के विरुद्ध असंतोष फैला और समय पाकर जनता ने इसकी शासन-शक्ति अपने हाथ में ले ली। इस प्रकार जनतन्त्र की स्थापना हुई। लेकिन धीरे-धीरे जनता का यह शासन भी अज्ञानता और मूढ़ता के कारण सर्व हितकारी शासन न रहा और जनता के असंतोष का बल पाकर फिर से एक व्यक्ति ने राजतन्त्र स्थापित किया। यह शासन सर्व हितकारी था। अरिस्टॉटल का मत है कि इतिहास में शासन का यह चक्र चलता रहता है। राजतन्त्र उत्पीड़क राजतन्त्र हो जाता है। उत्पीड़क राजतन्त्र की जगह कुलीनतन्त्र स्थापित होता है जो कि कालान्तर में उत्पीड़क कुलीनतन्त्र हो जाता है। फिर उसकी जगह जनतन्त्र लेता है और अन्त में जब यह भी उत्पीड़क जनतन्त्र हो जाता है, तब इसकी जगह फिर से राजतन्त्र स्थापित होता है।

परिवर्तन चक्र
Cycle of Change

अरिस्टॉटल के बाद पोलीबियस ने भी शासन के स्वरूपों की व्याख्या की है। उसका मत है कि सबसे अच्छा शासन वह है, जिसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के उत्तम अंशों का सम्मिश्रण हो। उदाहरण देते हुए उसने कहा कि तत्कालीन रोम के संविधान में कंसल (Consul) राजतन्त्र का प्रतिरूप था। सीनेट, कुलीनतन्त्र की प्रतिरूप थी और लोकसभाएँ जनतन्त्र का प्रतिनिधित्व करती थीं। उसका मत है कि संविधान की इस विशेषता के ही कारण रोमन राज्य का इतना विस्तार और उद्भव हुआ। अरिस्टॉटल के बाद मेकियावेली, बोदाँ, मॉन्टेस्क्यू इत्यादि विद्वानों ने भी राज्य के स्वरूपों का विश्लेषण किया है। लेकिन इन सबने भी अरिस्टॉटल की ही प्रणाली का अनुगमन किया है। मेकियावेली ने राजतन्त्र और गणतन्त्र इन दोनों के मिश्रिततन्त्र की चर्चा की है। बोदाँ ने भी शासनतन्त्र के तीन स्वरूप बतलाये हैं। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र। उसने राजतन्त्र के दो भेद किये हैं। एक उत्तम राजतन्त्र जिसमें राजा जनता के हित में शासन करता है और ईश्वर

के नियमों को मानता है; और दूसरा स्वेच्छाचारी राजतन्त्र जिसमें राजा अपनी इच्छानुसार शासन करता है, परन्तु वह अन्यायी नहीं होता। उसका शासन न्यायपूर्ण होता है। यही राजतन्त्र जब उत्पीड़क हो जाता है, तब वह ईश्वर के नियमों को नहीं मानता और स्वेच्छापूर्वक शासन करता है। तब शासन न्यायपूर्ण नहीं रह जाता। मॉन्टेस्क्यू ने भी शासन के तीन भेद माने हैं, यथा, जनतन्त्र या गणतन्त्र, राजतन्त्र और उत्पीड़क राजतन्त्र। जनतन्त्र में जनता की शक्ति सर्वोच्च होती है, राजतन्त्र में राजा निश्चित नियमों के अनुसार राज्य करता है और उत्पीड़क राजतन्त्र में राजा कोई नियम न मान कर स्वेच्छापूर्वक राज करता है।

प्रश्न यह उठता है कि अरिस्टॉटल ने शासनों का जो सीधा-सादा वर्गीकरण किया है क्या वह आधुनिक समय में लागू होता है ? इस सम्बन्ध में हमें कई बातें याद रखनी चाहिए। सबसे पहली बात यह है कि आजकल राज्य और सरकार के भेद पर काफ़ी ज़ोर दिया जाता है। सब राज्यों में मूल तत्त्व एक समान होते हैं। केवल उनके शासन के रूपों में भेद होता है। अरिस्टॉटल के समय में राज्य और शासन में इतना बड़ा अन्तर नहीं माना जाता था। दूसरी बात यह है कि अरिस्टॉटल ने शासन का आधार नैतिक (Moral) माना है। आजकल नैतिक आधार केवल एक सीमित अर्थ में स्वीकार किया जाता है। जब हम कल्याणकारी राज्य (Welfare and Culture State) की चर्चा करते हैं तो उसमें नैतिक भावना निहित रहती है। इसके विपरीत जो शासन युद्ध की ओर प्रवृत्त रहते हैं उनमें यह भावना नहीं रहती। संवैधानिक सरकार तथा स्वेच्छाचारी सरकार में उद्देश्य का ही भेद होता है। दूसरे हम देखते हैं कि आजकल कुलीनतन्त्र तो कहीं प्रचलित नहीं है, लेकिन उसके कुछ अंश शासन में कहीं-कहीं पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये ब्रिटेन की संसद में हाउस ऑफ लार्ड्स कुलीन वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता है। फिर जब हम पूँजीवादी राज्यों और समाजवादी राज्यों की चर्चा करते हैं तो वह भी हम सामाजिक वर्गवाद को ध्यान में रखकर ही करते हैं। अर्थात् अपने वर्गीकरण का आधार हम सामाजिक वर्ग बनाते हैं। तीसरे अरिस्टॉटल ने जिस प्रकार के राजतन्त्रों के चित्र खींचे हैं, वे आजकल भी देखने में आते हैं। उदाहरण के लिये अफ़गानिस्तान, साउदी, अरब तथा इथीयोपिया तथा स्याम में आज भी ऐसे राजतन्त्र हैं जहाँ राजा के अधिकारों पर वास्तव में कोई बन्धन नहीं है, साथ ही इंगलैण्ड और जापान में भी राजतन्त्र हैं, जहाँ राजा के अधिकार तरह-तरह के लिखित और अलिखित क़ानूनों द्वारा सीमित हैं। जिस उत्पीड़क

अरिस्टॉटल और आधुनिक काल

राजतन्त्र का अरिस्टॉटल ने वर्णन किया है, वह आजकल तो नहीं पाया जाता, लेकिन उसका एक परिवर्तित रूप तानाशाही (Dictatorship) अवश्य पाया जाता है। आधुनिक काल में जनतन्त्र (democracies) भी पायी जाती हैं। लेकिन अरिस्टॉटल ने उनका वर्णन एक दु:खद रूप में किया है। वह जनतन्त्र को सबसे ख़राब शासन समझता था। अच्छे जनतन्त्र को उसने "पॉलिटी" नाम दिया था और ख़राब जनतन्त्र को "डिमोक्रेसी"। आज डिमोक्रेसी और पॉलिटी में कोई अन्तर नहीं माना जाता। जनतन्त्र शासन का उत्तम रूप माना जाता है।

इन बातों के सिवाय आधुनिक काल के शासनतन्त्रों में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो अरिस्टॉटल के समय में नहीं पायी जाती थीं। इनको ध्यान में रखकर हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में अरिस्टॉटल का वर्गीकरण लागू नहीं होता। ये विशेषताएँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(१) अरिस्टॉटल के वर्गीकरण में मिश्रित शासन के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। लेकिन इंगलैण्ड में मिश्रित शासन का हम बड़ा अच्छा उदाहरण पाते हैं। वहाँ राजा, पार्लियामेन्ट तथा जनता, क्रमशः एक थोड़े से तथा बहुत से लोगों के शासन का प्रतीक एक ही संविधान के अन्तर्गत हैं।

(२) अरिस्टॉटल के वर्गीकरण में संघ शासन के लिये भी कोई स्थान नहीं है।

(३) उसके वर्गीकरण में प्रतिनिधि सरकार (Representative Government) की भी कोई चर्चा नहीं है। उसके समय में नगर-राज्य (City states) हुआ करते थे, आज के जैसे बड़ी-बड़ी सीमाओं वाले राष्ट्र-राज्य (Nation states) नहीं थे। इसलिये वह केन्द्रीय शासन, क्षेत्रीय शासन और स्थानीय शासन में अन्तर नहीं जानता।

(४) उसके वर्गीकरण में अलिखित संविधान तथा संवैधानिक परम्पराओं की भी कोई चर्चा नहीं है। उस समय इन बातों की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

(५) ब्लुंशली का मत है कि धर्मप्रधान शासनों (Theocracy) के लिये अरिस्टॉटल का वर्गीकरण लागू नहीं होता।

अरिस्टॉटल के इस अध्ययन के सम्बन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन जनतन्त्रों में भेद जानना भी उपयुक्त होगा, क्योंकि इन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर पाये जाते हैं।

सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि प्राचीन जनतन्त्र प्रत्यक्ष जनतन्त्र (direct democracy) होते थे। लेकिन आधुनिक काल में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि

जनतन्त्र (indirect or representative) जनतन्त्र होते हैं। ग्रीस के राज्य छोटे-छोटे नगर राज्य होते थे। एक राज्य के सब नागरिक एक सभा में एकत्रित होकर शासन की समस्याओं पर विचार कर सकते थे। जैसा कि ब्राइस ने कहा है कि ग्रीस के जनतन्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि शासन की सर्वोच्च सत्ता सब नागरिकों की एक सभा में निहित थी। यह एक ही सभा संसद, सरकार, कार्यकारिणी, विधायिनी, न्यायपालिका इत्यादि का काम करती थी। मतदान के आधार पर वह कई समस्याओं पर निर्णय करके कार्यकारिणी का काम करती थी। नागरिकों की यह सभा सेनापति और न्यायाधीश नियुक्त करती थी। यह युद्ध और शान्ति का निर्णय करती थी। सेनापतियों को आदेश देकर सैन्य संचालन करती थी। सरकारी आय-व्यय का नियंत्रण करती थी। सार्वजनिक और धार्मिक उत्सवों पर नियंत्रण रखती थी। यह सभा स्थायी क़ानून बनाती थी, तथा कर लगाती थी! समय-समय पर आदेश देकर शासन करती थी। सभा सब प्रकार के अपराधों पर विचार करके न्याय वितरण करती थी।

प्राचीन और अर्वाचीन जनतंत्र

लेकिन आजकल के राज्थों की सीमाएँ बड़ी-बड़ी होती हैं। राज्य के सब नागरिक एक सभा में जमा नहीं हो सकते। इसलिये अब प्रतिनिधि शासन का उपाय ग्रहण किया गया है। इसमें नागरिक अपने थोड़े से प्रतिनिधि चुनते हैं, जो राज्य के शासन सम्बन्धी क़ानून बनाते हैं। ब्लुंशली का मत है कि प्रतिनिधि शासन प्रत्यक्ष शासन से अच्छा होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष शासन में सभी नागरिकों को सभा में बैठने और उसके कार्य में भाग लेने का अधिकार था। लेकिन प्रतिनिधि शासन में नागरिक केवल योग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुनने का प्रयत्न करते हैं।

प्राचीन जनतन्त्र में राज्य के जो पदाधिकारी निर्वाचित होते थे, वे अपने कार्यकाल में दोषी नहीं ठहराये जा सकते थे। अर्थात् पद के कार्यकाल में उन पर किसी प्रकार का अपराध नहीं लगाया जा सकता था। लेकिन आधुनिक जनतन्त्र में निर्वाचित पदाधिकारियों पर दोषारोपण के कई तरीक़े प्रचलित हैं।

प्राचीन और आधुनिक जनतन्त्र में तीसरा बड़ा भेद यह है कि प्राचीन काल में मताधिकार उतना विस्तृत नहीं था जितना कि आजकल है। आजकल यह बात सर्वमान्य सी है कि २१ वर्ष से अधिक आयुवाले सभी स्त्री-पुरुष मतदान कर सकते हैं और निर्वाचन में भाग ले सकते हैं। इसके विपरीत प्राचीन जनतन्त्रों में राज्य के सब लोग नागरिक नहीं माने जाते थे। किसान, कारीगर, स्त्रियाँ तथा ग़ुलाम शासन कार्य में भाग नहीं ले सकते थे। अर्थात् वे नागरिक नहीं

माने जाते थे। नागरिक केवल वे ही लोग माने जाते थे, जो शासन और न्याय सम्बन्धी कार्यों में भाग ले सकते थे। इसका अर्थ यह है कि प्राचीन काल में जन-तन्त्र केवल नाम मात्र का जनतन्त्र था। वास्तव में वह एक उच्च वर्ग का शासन था और यह उच्च वर्ग अल्पमत था। बहुसंख्यक लोगों को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं थे। लेकिन आधुनिक जनतन्त्र में गुलामी प्रथा नहीं है, तथा स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। अब वयस्क मताधिकार प्रचलित है, इस प्रकार नागरिकता अब बहुत विस्तृत हो गई है।

चौथा भेद यह है कि प्राचीन काल में राज्य की जो परिभाषा मानी जाती थी उसके अनुसार व्यक्ति राज्य का एक अंग माना जाता था। राज्य एक उद्देश्य था और व्यक्ति उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हेतु माना जाता था। अर्थात् व्यक्ति अधिकार नहीं थे, उसके केवल कर्त्तव्य थे। इसके विपरीत आजकल यह माना जाता है कि सब संस्थाएँ मनुष्य के कल्याण के लिये होती हैं। इसलिये राज्य भी मनुष्य के कल्याण के लिये है। मनुष्य का व्यक्तित्व राज्य में लुप्त नहीं होना चाहिये। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये मनुष्य के कुछ अधिकार होते हैं। राज्य इन अधिकारों को मान्यता देता है। आज का व्यक्ति राज्य की अन्धपूजा नहीं करता। वह अपने क्रियाशील व्यक्तित्व को भी महत्त्व देता है। इस प्रकार जहाँ प्राचीन जनतन्त्र में क़ानून और कर्त्तव्य को महत्त्व दिया जाता था वहाँ आधुनिक जनतन्त्र में अधिकार और स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जैसा कि ब्लुंशली ने कहा है, प्राचीन काल में राज्य को प्राथ-मिकता प्राप्त थी और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये संप्रभुता सबमें समान रूप से बाँट दी जाती थी। लेकिन अब व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्राथमिकता दी जाती है और लोग राज्य को उस स्वतन्त्रता का कम-से-कम अंश देना चाहते हैं।

पाँचवाँ भेद यह है कि प्राचीन काल में सामूहिक जीवन को अधिक महत्त्व दिया जाता था। अतएव राज्य और समाज में बहुत कम अन्तर था। व्यक्ति समाज का एक छोटा-सा अंग माना जाता था। लेकिन आधुनिक समाज में व्यक्ति को काफ़ी महत्त्व प्राप्त है। वह समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाता है। आधुनिक जनतन्त्र में व्यक्ति को काफ़ी महत्त्व दिया जाता है।

अन्त में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि प्राचीन जनतन्त्र में वास्तव में एक अल्पसंख्यक वर्ग शासन करता था। इसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। लेकिन आजकल वास्तव में बहुसंख्यक मत द्वारा सब शासकीय निर्णय होते हैं।

अध्याय १३

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र

(Monarchy, Aristocracy and Democracy)

पिछले अध्याय में हम शासन के तीन रूपों की चर्चा कर चुके हैं। अब हम इन तीनों रूपों का एक-एक करके अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम राजतन्त्र का अध्ययन करेंगे।

राजतन्त्र

कहा जाता है कि राजतन्त्र शासन का सबसे पुराना रूप है। सैकड़ों वर्षों तक सारे विश्व में यह संस्था प्रचलित रही और आज भी इथीयोपिया अफ़गानिस्तान जैसे देशों में मजबूत राजतन्त्र पाये जाते हैं। राजतन्त्र के समर्थकों ने उसमें कुछ बड़े अच्छे गुण दिखाये हैं, जिनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं--

(१) जहाँ राजा राज करता है वहाँ का शासन मजबूत होता है क्योंकि यहाँ मतभेद की गुंजाइश नहीं रहती और वह तुरन्त किसी बात पर निर्णय ले सकता है। वह किसी के प्रति जिम्मेदार नहीं रहता।

(२) शासन की क्षमता राजा के व्यक्तित्त्व और शक्ति पर निर्भर रहती है इसलिये वह अच्छा शासन स्थापित कर सकता है और राज्य में शान्ति और सुरक्षा बनाये रख सकता है।

(३) चूँकि कार्यकारिणी विधायिनी और न्यायपालिका की शक्तियाँ राजा में ही केन्द्रित रहती हैं, इसलिये वह शासन में एकरूपता बड़ी आसानी से बनाये रख सकता है। साथ ही शासन कार्य बड़ा गतिमान हो सकता है।

(४) राजतन्त्र में शासन और जनता के हित एकरूप होते हैं "क्योंकि ग़रीब प्रजा का राजा धनी, सुखी और शक्तिशाली नहीं हो सकता। यदि प्रजा असंतुष्ट है तो राजा भी हमेशा ख़तरे में रहेगा।"

(५) एक चतुर राजा हमेशा अच्छे उपयुक्त और विश्वसनीय व्यक्तियों की सलाह प्राप्त कर सकता है। विधान सभाओं में यह बात नहीं होती। वहाँ चतुर वक्ता अपने धुंआधार भाषणों द्वारा सदस्यों को प्रभावित करके अपने पक्ष में बहुमत प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् सभासद भावुकता वश पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं।

(६) राजा की नीति में एकरूपता की अधिक सम्भावनाएँ रहती हैं, सभा की नीति में उतनी नहीं रहती। अनेक मतों के कारण उसमें काफ़ी अस्थिरता होती है।

(७) राज्य के बाहर राजा के शत्रु हो सकते हैं। परन्तु आन्तरिक मामलों में उसके कार्यों में कोई हस्तक्षेप करनेवाला नहीं होता और अपनी नीति के अनुसार वह शीघ्र ही काम कर सकता है। इसके विपरीत सभा में स्वार्थों का संघर्ष होता है, विरोध होता है, विरोधी दल होते हैं, और अन्त में गृह-युद्ध होने की संभावना भी होती है।

(८) परराष्ट्र नीति में राजा की नीति अधिक दृढ़ हो सकती है। सभा की नीति में कई मत हो सकते हैं और वह हमेशा परिवर्त्तनशील हो सकती है। सभा में मतभेद के कारण निर्णयों में भी देर हो सकती है।

(९) विभिन्न प्रजा हितकारी कार्यों द्वारा राजा आसानी से प्रजा की श्रद्धा भक्ति प्राप्त कर सकता है। अच्छे शासन से राजवंश के प्रति एक प्रकार की श्रद्धा हो जाती है। यह श्रद्धा किसी शासन सभा या संसद के प्रति नहीं हो पाती।

राजतन्त्र के समर्थकों ने जहाँ इतने गुण बतलाये हैं, वहाँ उसके आलोचकों ने दोष भी कुछ कम नहीं बतलाये हैं। राजतन्त्र के प्रधान दोषों का वर्णन हम संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं—

राजतंत्र के दोष

(१) यदि राजा कमजोर, चरित्रहीन और अस्थिर प्रकृति का हुआ तो वह शासन के नाम पर भयानक कुव्यवस्था फैला सकता है।

(२) इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक योग्य राजा का उत्तराधिकारी हमेशा योग्य नहीं होता। यदि उत्तराधिकारी अयोग्य हुआ तो वह अपने पूर्वज के सुशासन को मटियामेट कर देता है।

(३) राजा केवल अपनी बुद्धि के सहारे शासन करता है अतएव उससे प्राय: ग़लतियाँ हो सकती हैं, परन्तु सभा में शासन सम्बन्धी निर्णय काफ़ी वाद-विवाद के बाद बहुमत द्वारा हुआ करते हैं अतएव उसमें ग़लतियों की सम्भावनाएँ बहुत कम होती हैं।

(४) राजा को अपनी गद्दी तथा अपनी सुरक्षा की हमेशा चिन्ता रहती है। वह सदा सशंकित रहता है। षड्यन्त्र, कुचक्र या असंतोष की गन्ध पाते ही वह प्राय: कठोर दमनकारी काम करने लग जाता है।

(५) अपने गौरव का सिक्का जमाने के लिये राजा प्राय: युद्धप्रिय होता है। एक व्यक्ति की इच्छा या ग़लती से सारे देश पर भयानक विपत्ति आ सकती है।

आधुनिक काल में सब जगह जनतन्त्र का ही बोलबाला है। जहाँ कहीं राजतन्त्र दीख पड़ते हैं, वे पुराने खण्डहरों के ही रूप में पाये जाते हैं। इंगलैण्ड,

नार्वे, बेलजियम में के राजवंश अतीत के गौरव चिह्न हैं और थाइलैण्ड तथा इथीयोपिया के राजतन्त्र गतिहीनता के प्रतीक। परन्तु अरिस्टॉटल ने राजनीतिक परिवर्त्तन चक्र के सम्बन्ध में यह कहा है कि उत्पीड़क जनतन्त्र के बाद फिर राजतन्त्र पनपता है। इसकी सत्यता तो भविष्य में इतिहास ही सिद्ध कर सकता है।

कुलीनतन्त्र

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कुलीनतन्त्र में थोड़े से श्रेष्ठ लोगों का शासन होता है। ये थोड़े से श्रेष्ठ लोग उच्च वर्ग के होते हैं। ये उच्च वर्ग के लोग या तो धनी ज़मींदार हो सकते हैं या ऊँचे कुलों में जन्मे हुए। लेकिन प्लेटो केवल विद्वानों और बुद्धिमानों का उच्च वर्ग चाहता था। वह "दार्शनिक राजाओं" का शासन चाहता था। ऐसे कुलीन वर्ग का शासन आजकल कहीं नहीं पाया जाता। लेकिन इस प्रणाली में भी इसके समर्थकों ने कुछ लाभ माने हैं जैसे कि—

(१) कुलीनवर्ग स्वभाव से ही अपरिवर्तनशील होता है। वह क्रान्ति अथवा वेगवान प्रगति का विरोध करता है। वह धीरे-धीरे परिवर्तन चाहता है। विकास की यह मनोवृत्ति जनता के क्षणिक उत्साह या भावावेश के विरुद्ध अच्छी होती है।

(२) चूँकि कुलीन वर्ग अपने शासन में भूतकाल की बातों से एकदम सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता, इसलिये वह विगत अनुभवों से भी लाभ उठाता है। वह पुरानी संस्थाओं और परम्पराओं को एकदम नष्ट नहीं करता बल्कि विगत अनुभवों के आधार पर उनमें सुधार करता है। इस प्रकार समाज के जीवन में एक क्रम बना रहता है।

(३) इस अपरिवर्तनशील या क्रमिक विकास के दृष्टिकोण के कारण शासन में एक स्थायित्व होता है। इससे सामाजिक जीवन में अरक्षा की भावना उत्पन्न नहीं होती। मॉन्टेस्क्यू ने कहा है कि कुलीनतन्त्र का सबसे बड़ा गुण "धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा" की प्रवृत्ति है।

लेकिन इन गुणों के साथ-साथ इस प्रणाली में दोष भी बहुत हैं।

(१) कुलीनतन्त्र बहुत जल्दी उत्पीड़क कुलीनतन्त्र बन जाता है। उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अपना क्षेत्र सीमित करके अन्य वर्गों को अलग रखना चाहता है और केवल अपने वर्ग के हित में शासन करना चाहता है।

(२) वह शीघ्र ही वंश-परम्परा के विचार ग्रहण कर लेता है और अपने वर्ग को भूमि और जन्म पर आधारित करने की कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि वह स्वार्थी और प्रभुताप्रिय हो जाता है।

(३) कुलीनतन्त्र प्राय: अपने लिये विशेषाधिकारों का निर्माण करता है और आवश्यकता पड़ने पर इसके लिये वह क्रूरता से भी काम लेता है। इससे जनता में असंतोष और विद्रोह की भावना फैलती है।

(४) उसकी अपरिवर्तनशील मनोवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह कोई भी नई चीज ग्रहण नहीं करना चाहता। केवल पुरानी संस्थाओं और परम्पराओं से चिपके रहना चाहता है। यदि प्रगति होती भी है, तो बहुत धीमी चाल से। नतीजा यह होता है कि शासन में उन्नति के कुछ लक्षण ही नहीं दीख पड़ते।

(५) कुलीनतन्त्र के शासन में ठाट-बाट और दिखावटीपन बहुत रहता है। इनके ऊपर ख़र्च भी बहुत किया जाता है। यह ख़र्च जनता के धन से होता है, जिसका जनता को कोई लाभ नहीं मिलता।

आजकल के शासनों में कुलीनतन्त्र कहीं नहीं पाया जाता। लेकिन कहीं-कहीं उसका प्रभाव कुछ अंशों में देखने में आता है। वास्तव में, पूँजीपति और बड़े-बड़े व्यवसायी तथा जमींदार कुलीनतन्त्र के ही प्रतीक हैं।

जनतन्त्र

आधुनिक युग में राजनीतिक व्यवस्था का उपयुक्त आधार केवल जनतन्त्र माना जाता है। सभ्यता का यह प्रथम आधार माना जाता है। आजकल सर्वसम्मति से यह शासन का सर्वोत्तम रूप माना जाता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक विभिन्न विद्वानों ने जनतन्त्र की जो परिभाषाएँ दी हैं उनके आधार पर हम जनतन्त्र का अध्ययन करेंगे।

(१) ग्रीक विद्वान् प्लेटो और अरिस्टॉटल उसे जनतन्त्र को बहुसंख्यक लोगों का शासन समझते थे।

(२) सर हेनरी मेन के मतानुसार जनतन्त्र केवल शासन का एक स्वरूप है। उसके सिवाय वह और कुछ नहीं है।

(३) जेम्स रसेल लॉवेल के मतानुसार जनतन्त्र शासन का एक प्रयोग है। उसने यह भी लिखा है कि जनतन्त्र समाज का रूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को सक्रिय रूप से राजनीतिक जीवन में भाग लेने का मौक़ा मिलता है और वह इस बात को जानता भी है।

(४) सीले के मतानुसार जनतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा रहता है।

(५) डाइसी के मतानुसार जनतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासन शक्ति देश की जनता के एक काफ़ी बड़े हिस्से के हाथ में रहती है।

(६) अब्राहमलिंकन ने जनतन्त्र को जनता के लिये, जनता द्वारा और जनता की सरकार कहा है।

(७) ए० बी० हॉल ने जनतन्त्र को वह राजनीतिक संगठन बतलाया है जिस पर जनमत का नियंत्रण होता है।

(८) सेसिल चेस्टरटन का मत है कि चाहे जिस प्रकार हो जनतन्त्र का मूलतत्त्व यह होता है कि शासन जनता की इच्छानुसार होता है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह जनता द्वारा ही निर्वाचित और नियंत्रित हो। वह एक स्वेच्छाचारी का भी शासन हो सकता है। लेकिन यदि वह जनता की व्यापक इच्छा के साथ साम्य रखता है तो वह तत्त्वतः जनतन्त्र होगा।

(९) प्रोफेसर सी० एफ० स्ट्रांग का मत है कि "जनतन्त्र का अर्थ यह होता है कि वह शासित की सक्रिय स्वीकृति पर आधारित होता है। अर्थात् जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति निर्वाचनों, भाषणों, समाचारपत्रों इत्यादि के द्वारा प्रकट की जा सकती है। इसलिये जनतन्त्र शासन की वह प्रणाली होती है जिसमें कि किसी राजनीतिक समाज के अधिकांश सदस्य प्रतिनिधि प्रणाली के द्वारा शासन में भाग लेते हैं। इस प्रतिनिधि प्रणाली का अर्थ यह होता है कि शासन अपने कार्यों के लिये अन्तिम रूप में इस अधिकांश या बहुमत के प्रति जिम्मेदार होता है। इस प्रतिनिधि जनतन्त्र से जनता की सत्ता सुरक्षित रहती है और इसी सत्ता पर ही वैधानिक राज्य खड़ा होता है।"

(१०) ब्रॉइस का मत है कि "हेरोडोटस के समय से जनतन्त्र का अर्थ शासन का वह स्वरूप माना जाता रहा है जिसमें क़ानून द्वारा राज्य की शासन-शक्ति निहित हो। यह शक्ति किसी एक वर्ग या कुछ वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज में निहित होती है। इसलिये जिन समाजों में निर्वाचन प्रथा प्रचलित होती है उनमें इसका अर्थ यह होता है कि शासन बहुमत के आधार पर होता है। इसके सिवाय अभी तक दूसरा ऐसा कोई तरीक़ा नहीं निकला है, जिसके द्वारा शान्तिपूर्वक क़ानूनी तरीक़े से जनता की इच्छा जानी जा सके—वह भी ऐसी इच्छा जो एकमत नहीं होती। प्राचीन ग्रीस में जनतन्त्र का अर्थ बहुत लोगों का शासन होता था। यह राजतन्त्र अर्थात् एक व्यक्ति के शासन और कुलीनतन्त्र अर्थात् जन्म या धन पर आधारित थोड़े से लोगों के वर्गतन्त्र के विपरीत था। इस प्रकार इसका अर्थ यह होने लगा कि जनतन्त्र में बहुसंख्यक ग़रीब वर्ग का शासन होता है। 'जन' (Demos) का अर्थ प्रायः सारी जनता न होकर एक ग़रीब वर्ग होता था जो कि छोटे से धनी वर्ग से भिन्न होता था। आजकल भी जनता (Masses) और वर्ग (Classes) में अन्तर माना जाता है। लेकिन वास्तव में बहुमत के शासन का अर्थ सब वर्गों को मिलाकर तब उसको बहुमत मानना अधिक उचित है।"[1]

---

1 Bryce, 'Modern Democracies' Vol I

इन सब परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए जनतन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ लगाना बड़ा मुश्किल है। जैसा कि फ्रीमैन ने कहा है कि यह कहना कठिन है कि आधुनिक लेखक जनतन्त्र के क्या माने समझते हैं। एक ओर सीले की परिभाषा है जिसमें यह कहा गया है कि शासन में प्रत्येक व्यक्ति का भाग रहता है। ऐसा शायद ही कभी कोई शासन रहा हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग रहा हो। दूसरी ओर सेसिल चेस्टरटन एक व्यक्ति के स्वेच्छाचारी शासन को ही जनतन्त्र मानने को तैयार हैं। मेन और लॉवेल उसे केवल शासन का एक स्वरूप मानते हैं।

भावनामूलक

वास्तव में जनतन्त्र इन चीजों के सिवाय और कुछ भी होता है। जैसे कि एक मकान का अर्थ केवल ईंट और गारा नहीं होता, उसी प्रकार जनतन्त्र भी केवल रूप ही नहीं बल्कि एक भावना और चेतनामूलक वस्तु है।

जनतन्त्र के एक पहलू पर और विचार करना है। प्राचीन काल में नगर राज्य होते थे। वहाँ सभी नागरिक एकत्रित होकर शासन की समस्याओं पर विचार करते थे और निर्णय लेते थे। यह प्रत्यक्ष जनतन्त्र कहलाता था। लेकिन आजकल राज्यों का विस्तार बहुत अधिक होता है और सब लोगों के पास इतना समय भी नहीं रहता कि बहुधा एकत्रित होकर राज्य की समस्याओं पर विचार कर सकें। समस्याएँ भी इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि सबको उनका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। अतएव आजकल अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि जनतन्त्र (Indirect or Representative Democracy) प्रचलित है। प्रत्यक्ष जनतन्त्र इस समय केवल स्विटज़रलैण्ड के कुछ क्षेत्रों में प्रचलित है। अन्यथा सारे संसार में अप्रत्यक्ष जनतन्त्र प्रचलित है। अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि जनतन्त्र में नागरिक अपने कुछ प्रतिनिधि चुन लेते हैं और उन्हीं के हाथों में शासन की बागडोर सौंप देते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नागरिक उदासीन रहें। जबतक नागरिक राज्य के प्रति सजग और सक्रिय न रहें जनतन्त्र वास्तविक रूप में सफल नहीं हो सकता। आत्म-निर्णय (Self-determination) ही जनतन्त्र का मूल तत्त्व है। जनतन्त्र में नागरिक किसी नाटक के दर्शक न होकर स्वयं उसमें भाग लेने वाले अभिनेता होते हैं। जनतन्त्र का दूसरा मूल-मन्त्र यह है कि वह सम्पूर्ण समाज के कल्याण की कामना करता है केवल कुछ वर्गों के कल्याण अर्थात् केवल बहुमत के कल्याण की नहीं। अर्थात् जनतन्त्र में जहाँ किसी प्रश्न पर एकमत नहीं होता, वहाँ बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता है। वह बहुमत ऐसा होना चाहिये कि अल्पमत भी उस निर्णय को सहर्ष स्वीकार करे। वह यह समझे कि इस निर्णय में हमारा भी

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जनतन्त्र

वास्तविक कल्याण निहित है। यदि ऐसा न होगा तो वह शासन बहुसंख्यक वर्ग का शासन रह जायगा, वास्तविक जनतन्त्र नहीं। यदि अल्पसंख्यक मत बहुसंख्यक मत के निर्णय का स्वागत करता है तो वह सबका मत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अल्पसंख्यक मत बहुमत से सहमत न होता हुआ भी जब किसी निर्णय को सहर्ष स्वीकार करता है तभी जनतन्त्र की सच्ची सफलता होती है।

इस प्रकार जनतन्त्र के अर्थ को एक छोटी-सी परिभाषा में सीमित करना कठिन है। फिर भी यदि हमें उसकी परिभाषा संक्षेप में करनी पड़े तो उसे हम इस प्रकार कर सकते हैं—जनतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें जनता की सत्ता सर्वोच्च होती है, जिसमें सम्पूर्ण समाज के कल्याण की कामना को लेकर नागरिक सक्रिय भाग लेते हैं और जिसमें बहुमत और अल्पमत एक होकर सबके कल्याण के लिये कार्यान्वित होते हैं।

जनतन्त्र के गुण :—विभिन्न लेखकों ने जनतन्त्र के बहुत से गुणों का वर्णन किया है। उदाहरण के लिये सर हेनरी मेन का मत है कि जनतन्त्र में नागरिकों की राजनीति और शासन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। जब नागरिक देश की समस्याओं में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, तो इस प्रकार की रुचि होना स्वाभाविक है। इस प्रकार की रुचि होने से जनता में राजनीतिक जागृति होती है तथा देश के प्रति उदासीनता मिट कर श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है।

जनतन्त्र का दूसरा बड़ा गुण यह है कि समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों की भावनाओं और विचारधाराओं का पता लगता है।

तीसरे, चूँकि जनतन्त्र में जनता के विचार भली-भाँति प्रकट होते रहते हैं और यथाशक्ति शासन को प्रभावित करते रहते हैं, इसलिये जनतन्त्र में आन्तरिक विद्रोह अथवा गृह-युद्ध का खतरा बहुत कम रहता है। लोगों में यह भावना रहती है कि आख़िर देश के क़ानून हमारी ही सम्मति से बनाये गये हैं, इसलिये हमें इनका उल्लंघन नहीं करता चाहिये।

चौथे, शासन जनता की श्रद्धा बड़ी आसानी से प्राप्त कर सकता है। जनतन्त्र में जितनी आसानी से देशभक्ति का उदय और विकास होता है, उतनी आसानी से अन्य किसी तन्त्र में नहीं होता। लोगों के मन में यह भावना रहती है कि हम ही अपने देश के भाग्य-विधाता हैं।

पाँचवें, जनतन्त्र में राष्ट्रीय चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मत था कि जनतन्त्र नागरिकों को शिक्षित करता है। उनके मन और बुद्धि का विकास करता है। राजनीति में सक्रिय भाग लेने से नागरिकों में उच्च-भावनाओं का विकास होता है। यह बात अन्य शासनतन्त्रों में नहीं पाई जाती। अन्य शासनों में उनके विचार, बुद्धि, चरित्र और भाव-

नाएँ स्वार्थी और संकुचित हो जाते हैं। सक्रियता की जगह उनमें उदासीनता बढ़ती है। उसका मत था कि जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों और स्वार्थों के प्रति बहुत सजग रहता है। साथ ही व्यक्ति के कल्याण से समाज के कल्याण की व्यापक वृद्धि होती है।

छठें, जनतन्त्र में एक बड़ा भारी लाभ यह है कि इस प्रणाली में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास करने का जितना अच्छा अवसर मिलता है उतना अन्य प्रणालियों में नहीं मिलता। इस प्रणाली के सर्वत्र लोकप्रिय होने का यह एक बड़ा भारी कारण है। डयूवी का मत है कि कम-से-कम सिद्धान्त में व्यक्ति समाज का एक सजीव अंग बन जाता है। वह इस बात को महसूस करता है, वह सामाजिक उत्थान में योगदान कर सकता है। प्रोफेसर ज़िमर्न ने भी लिखा है कि व्यक्ति यह बात महसूस करता है कि वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र रहते हुए भी सबकी सेवा करता है, वह शासित होते हुए भी शासक है। अतएव वह अच्छा शासन स्थापित करने की चेष्टा करता है। वह स्वयं संयमित रहकर उच्च आदर्शों का पालन करना चाहता है और करवाना चाहता है। लार्ड ब्रॉइस का मत है कि मताधिकार मिलने से व्यक्तित्त्व ऊँचा उठता है और उसका विकास होता है। मनुष्य की नैतिकता बढ़ती है और उसमें जिम्मेदारी की अर्थात् कर्त्तव्यपालन की भावना बढ़ती है। कारण यह है कि जनतन्त्र में व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन पाया जाता है।

सातवें, प्रोफेसर गारनर का मत है कि निर्वाचन प्रणाली, जनता का नियंत्रण और जनता की जिम्मेदारी रहने के कारण इस व्यवस्था में कार्यक्षमता अधिक होती है।

आठवें, चूँकि जनतन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और कर्त्तव्य-निष्ठा पर ज़ोर दिया जाता है, इसलिये वह नागरिकता का प्रशिक्षण विद्यालय कहा जा सकता है।

नवें, जनतन्त्र व्यक्तियों की समानता पर ज़ोर देता है। नागरिकों को, धन और जाति-वर्ण का भेद-भाव भुलाकर उन्हें एक समान राजनीतिक अधिकार दिये जाते हैं। उनके सामने एक समान कर्त्तव्य और आदर्श रखे जाते हैं।

जनतन्त्र के दोष :—विद्वानों ने जहाँ जनतन्त्र में इतने गुण देखे हैं वहाँ उसके दोष भी उनसे छिपे नहीं रहे हैं। सिद्धान्तों की दृष्टि से जनतन्त्र चाहे जितना उच्च हो, लेकिन व्यवहार में इसके इतने दोष प्रकट हुए हैं कि उनकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। कार्लाइल ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जनता में अधिकतर मूर्ख होते हैं। उसमें न स्वयं शासन करने की क्षमता होती है और न वह योग्य शासक ही चुन सकती है। इसी प्रकार आधुनिक काल के एक

प्रसिद्ध विचारक एच० जी० वेल्स ने कहा है कि जनतन्त्र के पक्ष में जितने तर्क दिये जाते हैं वे सब पाँच मिनट में काटे जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन मतों में अतिरंजना है। प्रत्येक वस्तु और सिद्धान्त में गुण और दोष होते हैं। इसी तरह जनतन्त्र में भी जहाँ इतने गुण हैं, वहाँ कुछ दोष होना आवश्यक है। यहाँ कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा जनतन्त्र में दिखाये गये दोषों का वर्णन किया जाता है।

प्रोफ़ेसर हर्नशा की आलोचना

(१) प्रोफ़ेसर हर्नशा का मत है कि जनतन्त्र अच्छा शासन स्थापित करने में असमर्थ रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समाज के योग्य व्यक्ति जनता की भीड़-भाड़ और हल्ला-गुल्ला से अलग रहना ही पसन्द करते हैं, इसलिये उन बेचारों की कोई पूछ नहीं होती। इसीलिये कार्लाइल हार्टसमेन और जे० एस० ब्लेकी जैसे लोगों ने कहा है कि जनतन्त्र के वातावरण में केवल धूर्त लोग ही सफल होते हैं। उसमें धूर्तों, स्वार्थियों, चापलूसों और गाल बजाने वाले लोगों की बन आती है। योग्य और त्यागी व्यक्तियों की कोई क़दर नहीं होती।

(२) प्रत्येक शासन में नीति के कुछ ठोस और स्थायी सिद्धान्त और आदर्श होते हैं। जनतन्त्र इस प्रकार के ठोस सिद्धान्त स्थापित करने में असफल रहा है। इसके कई कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि आम जनता प्रायः शासन की ओर उदासीन रहती है। शासन और उसकी समस्याओं के प्रति उसमें वास्तविक दिलचस्पी नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि आम जनता में अज्ञानता बहुत बड़े पैमाने पर फैली हुई रहती है। तीसरा कारण यह है कि जनतन्त्र में शासकों में अनुभव और योग्यता की बड़ी कमी रहती है। चौथे, इसमें थोथे आदर्शवाद और सिद्धान्तों के ढोल तो खूब पीटे जाते हैं, परन्तु वास्तव में जनता केवल कुछ नारों से ही प्रभावित की जाती है। पाँचवें, धुआंधार उत्तेजनापूर्ण भाषणों का प्रभाव जनता पर बड़ी जल्दी पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति इस कला में निपुण हो जाता है तो वह आसानी से नेता और शासक बन जाता है, चाहे उसमें योग्यता और अनुभव तथा चरित्र भले ही न हों। छठें, जनतन्त्र में अस्थिरता बहुत होती है। आज व्यक्ति जनता का पूज्य देवता बना है, कल वही उसके पत्थरों का निशाना भी बन सकता है। शासन की नीति में घड़ी-घड़ी परिवर्तन होता रहता है। कहा नहीं जा सकता कि लोकमत कब क्या निर्णय लेगा। लोकमत पुरानी से पुरानी परम्पराओं को ठुकरा सकता है। तात्पर्य यह है कि लोकमत ग़ैर जिम्मेदार होता है। जो लोकमत बड़े-से-बड़े स्वेच्छाचारी को समाप्त कर सकता है, वही स्वयं भी अच्छी-से-अच्छी बातों के विरुद्ध हठधर्मी कर सकता है। जनता घोर अनैतिकता

के कार्य कर सकती है। बहुमत की स्वेच्छाचारिता के आजकल उदाहरण बहुत मिलते हैं। अन्त में मनुष्यों पर स्वार्थपरता का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। निकट और तत्काल स्वार्थ पर ही वह अधिक जोर देता है। समाज के स्थायी कल्याण की ओर वे बहुत कम ध्यान देते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जनता प्रायः अदूरदर्शी होती है।

(३) **शासन की बारीकियाँ**—शासन में इतनी अधिक बारीकियाँ आ गई हैं कि कुशल और सुयोग्य शासन असम्भव हो गया है। चुनाव और उसकी गुत्थियाँ, चुनाव अदालतें, दलबन्दी और उसके दाँव-पेंच, पदों के लिये दौड़-धूप इत्यादि के कारण बहुत संघर्ष होता है। संसद की प्रक्रिया बहुत जटिल और धीमी होती है। नतीजा यह होता है कि शासन भ्रष्टाचारी और कमज़ोर हो जाता है। विधानमंडल के सदस्य अवसरवादी हो जाते हैं, कार्यकारिणी के सदस्य डरपोंक और कमज़ोर हो जाते हैं और न्यायपालिका के सदस्य मुँह देखकर न्याय करने लगते हैं। यहीं विनाश का प्रारम्भ होता है।

(४) **अवज्ञा की प्रवृत्ति**—जनतन्त्र में अवज्ञा की प्रवृत्ति बढ़ती है। मन्त्रियों की नज़रें अगले चुनाव पर लगी रहती हैं। वे लोगों को अप्रसन्न नहीं करना चाहते। फल यह होता है कि वे ढीले-ढाले शासक होते हैं।

(५) जनतन्त्र में भ्रष्टाचार बढ़ता है। जिसकी थैली जितनी भारी होती है चुनाव जीतने का उसे उतना ही अधिक भरोसा होता है।

इस प्रकार जनतन्त्र के आलोचकों को उसमें दोष ही दोष दिखाई देते हैं।[1]

प्रोफेसर गारनर ने भी जनतन्त्र के दोष बतलाये हैं। उन्हें हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं—

गारनर की आलोचना

(१) जनतन्त्र में गुण की अपेक्षा मात्रा या भारीपन पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। प्रत्येक समस्या का निर्णय बहुमत द्वारा किया जाता है। चाहे उस बहुमत में सबके सब मूर्ख ही क्यों न हों। अल्पमतवाले कितने ही बुद्धिमान और चरित्रवान क्यों न हों उनकी बात कोई न सुनेगा।

(२) जनतन्त्र में प्रत्येक मनुष्य या मत एक इकाई माना जाता है और सब इकाइयों का मूल्य एक बराबर होता है। यदि किसी व्यक्ति में विशेष योग्यता

---

१ Thus Democracy is despised and rejected as "infirm of purpose, jealous, grudging, timid changeable, unthorough, unready, without foresight, obscure in its aims, blundering along in an age of lucidity, guided only by a faltering and confused instinct."

है किसी बात का उसे विशेष ज्ञान हो तो उस विशेष योग्यता का कोई मूल्य नहीं है। इसीलिये जनतन्त्र को अज्ञानियों और अनाड़ियों का शासन कहा जाता है। इसी मत का समर्थन करते हुए बार्थलेमी और जेम्स स्टीफन ने लिखा है कि जनतन्त्र में सत्ताधारी अज्ञानी होते हैं। उनमें प्रशासन सम्बन्धी कोई विशेष योग्यता नहीं होती।

(३) प्रोफ़ेसर सिजविक के मत का समर्थन करते हुए गारनर ने लिखा है कि जनतन्त्र में जिम्मेदारी की भावना पनपने नहीं पाती। जब सत्ताधारियों और निर्वाचित कर्मचारियों का कार्यकाल लम्बा होता है तब उनमें जिम्मेदारी की भावना भी बढ़ती है। लेकिन जनतन्त्र का आधार निर्वाचन है। उसमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का कार्यकाल लम्बा नहीं होता। इससे जिम्मेदारी की भावना नहीं पनपने पाती।

(४) जनतन्त्र में ऐसे लोगों का प्रभाव अधिक रहता है, जो वाचाल होते हैं, बातें अधिक करते हैं, दिखावटी काम करते हैं और पार्टी मशीन पर किसी पर अपना क़ाबू रखते हैं।

(५) जनतन्त्र में फ़िजूल ख़र्च बहुत होता है। ट्राजके (Trietzschke) ने तो यहाँ तक कहा है कि जनतन्त्र में शिक्षा, साहित्य, विज्ञान और कला की उन्नति नहीं हो पाती।

(६) सर हेनरी मेन ने भी जनतन्त्र की आलोचना की है। उसका मत था कि जनतन्त्र का भविष्य अंधकारमय है, क्योंकि वह बौद्धिक प्रगति को प्रश्रय नहीं देता।

(७) लेकी का मत था कि जनतन्त्र बहुत ही ख़तरनाक शासन है, क्योंकि उसमें ग़रीब, अनुभवहीन और अयोग्य व्यक्ति शासन करते हैं। इसमें स्वतन्त्रता भी ख़तरे में रहती है, क्योंकि जनता प्रायः एक तेज और शक्तिशाली व्यक्ति का अन्ध अनुकरण करती है।

फागे नाम के एक फ्रेंच लेखक ने जनतन्त्र की बड़ी कड़ी आलोचना की है। उसने जनतन्त्र को 'अयोग्यता का पन्थ' (Cult of incompetence) कहा है। उसके विचारों का भी हम संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

फागे की आलोचना

फागे का मत है कि शासन का प्रत्येक विभाग सुयोग्य व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिये। समाज में परिश्रम का विभाजन होना चाहिये, जिससे लोग विभिन्न कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त कर सकें। दक्षता से ही योग्यता आती है। शासन में योग्यता इसी प्रकार आ सकती है, तो कुशल शासन विशेष दक्षता के आधार पर चल सकता है। लेकिन जनतन्त्र में जनता से दक्षता की आशा करना व्यर्थ है। यह आशा

करना कि जनता का समूह उचित क़ानून बना सकता है और योग्य शासन कर सकता है, बेकार है।

लेकिन आजकल लोग स्वयं शासन नहीं करते। वे लोग अपने प्रतिनिधि चुनते हैं और ये प्रतिनिधि अपने कुछ प्रतिनिधियों को शासक नियुक्त करते हैं। ये प्रतिनिधि क़ानून बनाते हैं और इनमें से कुछ शासन करते हैं। इस प्रकार वास्तव में जनता कुछ लोगों के हाथ में शासन सौंपकर फिर उनका अनुगमन करती है।

दूसरी बात यह है कि जनता स्वाभाविक असमानता को छोड़कर अस्वाभाविक समानता पर ज़ोर देती है। योग्यता, साहस और कुशलता प्रत्येक व्यक्ति में एक-सी नहीं होती। पर जनतन्त्र सबको एक समान मानता है। आधुनिक राजनीतिज्ञ जनता को खुश करने में लगे रहते हैं। उनके पास न धन होता है, न शिक्षा। राजनीति ही उनका पेशा हो जाती है। उस पेशा को वे किसी न किसी प्रकार चलाना चाहते हैं। ऐसे लोग न तो राजनीति की कला जानते हैं, न उसका विज्ञान। इस प्रकार राज्य-शासन में कुशलता नहीं रहती।

फागे का मत है कि क़ानून बनानेवाले को अर्थात् विधानमंडल के सदस्य को प्रमुख देशों के क़ानूनों का ज्ञान होना आवश्यक है। साथ ही उसे अपने देश के लोगों के चरित्र, भावनाओं, विचारों तथा प्रथाओं इत्यादि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। उसे स्वयं निष्पक्ष सहृदय और बुद्धिमान होना चाहिये। जब विधायकों में इन सब गुणों की कमी होती है तो विधानमंडल एक कार-ख़ाना सा हो जाता है और उसमें बननेवाले क़ानून नये-नये डिज़ाइनों के खिलौने के समान होते हैं। इतना ही नहीं फागे का मत है कि जनतन्त्र में अज्ञानता के राज्य की हद हो जाती है। शासन के सूत्रधार प्रायः अपने विभागों के बारे में पूरे अज्ञानी और ढपोलसंख होते हैं। एक वकील शिक्षा-मंत्री हो सकता है। एक लेखक व्यवसाय-मंत्री हो सकता है। एक डाक्टर सुरक्षा-मंत्री हो सकता है और एक पत्रकार नौसेना का मंत्री हो सकता है। न्यायपालिका में भी न्यायाधीश स्वतन्त्र और निष्पक्ष नहीं हो पाते। वे हमेशा मंत्रियों को प्रसन्न करने के चक्कर में रहते हैं। अर्थात् वे भी दलबन्दी से प्रभावित हो जाते हैं।

शासन की तो बात ही अलग है, फागे का मत तो यहाँ तक है कि जनतन्त्र का कुप्रभाव कुटुम्ब-जीवन पर भी पड़ा है। जनतन्त्र स्त्री और पुरुष में समानता मानता है। नतीजा यह हुआ है कि स्त्रियाँ पुरुषों का सम्मान नहीं करतीं। कुटुम्ब-जीवन में जो श्रम का विभाजन पाया जाता था वह नष्ट हो गया है।

बच्चों के संस्कार भी उखड़ जाते हैं और स्कूल में परीक्षा-प्रथा उनके रहे-सहे व्यक्तित्व को भी खतम कर देती है। इन सबका नतीजा यह होता है कि शिष्टता और सद्गुणों का लोप होता जाता है और उद्दण्डता आदर पाती है। ये सब बातें अज्ञानता और अयोग्यता के ही कारण होती हैं। ये सब जनतन्त्र के ही कारण होते हैं।

रेमज़े म्योर की आलोचना

रेमज़े म्योर नामक लेखक ने कहा है कि जनतन्त्र में शासन की गाड़ी इतनी धीमी चाल से चलती है कि उसमें किसी भी बात पर निश्चयात्मक रूप से तुरन्त निर्णय नहीं लिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि मताधिकार देनेवाली जनता आजकल की दुनिया में शासन के पेचीदे मामलों को नहीं समझती। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक दलबन्दी देश की एकता को समाप्त कर देती है। उच्चकोटि के बुद्धिमान लोग सत्ताधारी नहीं हो सकते। साधारण कोटि के लोग सत्ताधारी होते हैं। जनता सार्वजनिक समस्याओं की ओर उदासीन रहती है। संसदीय विवादों का कोई महत्त्व नहीं होता।

लेकिन साथ ही रेमज़े म्योर यह भी स्वीकार करता है कि स्वयं जनतन्त्र में कोई दोष नहीं है। उसके तरीक़ों और संस्थाओं में दोष आ गये हैं। इसके लिये कुछ सुधारों के सुझाव भी पेश किये हैं। वह निर्वाचन-पद्धति में सुधार चाहता है जिससे योग्य व्यक्ति राजनीति में भाग ले सकें। दलबन्दी का संघर्ष कम हो और मताधिकार का प्रयोग बुद्धिमानी के साथ हो।

ब्रॉइस की आलोचना

आधुनिक युग में जनतन्त्र के सम्बन्ध में ब्रॉइस का अध्ययन सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है। ब्रॉइस ने कहा है कि प्लेटो से लगाकर आधुनिक युग के विद्वानों ने जनतन्त्र में निम्न-लिखित दोष बताये हैं :—

(१) संकटकाल में जनतन्त्र कमज़ोर पड़ता है। वह तुरन्त दृढ़तापूर्वक क़दम नहीं उठा सकता।

(२) उसमें स्थिरता और निश्चयात्मक बुद्धि की कमी रहती है। इसलिये उसके कर्मचारियों में भी यही बात पायी जाती है।

(३) आपसी मतभेद बहुत अधिक होते हैं, सत्ता के प्रति आस्था नहीं होती। हिंसात्मक उलट-फेर होते रहते हैं, जिससे अन्त में सैनिक राज्य स्थापित होता है।

(४) सब व्यक्तियों को एक समान माना जाता है। महान व्यक्तित्व को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

(५) बहुमत प्राप्त दल अल्पमत के साथ उपेक्षा का व्यवहार करता है।

(६) जनतन्त्र में नये-नये प्रयोग करने की उत्सुकता रहती है। पुरानी प्रथाओं और संस्थाओं के प्रति कोई आस्था नहीं रहती।

(७) अज्ञानता और मूर्खता की प्रधानता रहती है। अज्ञान और अबोध जनता धुंआधार भाषण देनेवाले अवसरवादियों के चक्कर में पड़ जाती है।[1] जनता स्वार्थी होती है।

जनतन्त्र की इन आलोचनाओं के बहुत से उत्तर तो तब मिल जाते हैं, जब हम उसके गुणों का वर्णन करते हैं। कुछ गुणों का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। लेकिन इन आलोचनाओं का सबसे बड़ा उत्तर यह है कि कम्यूनिस्ट देशों को छोड़कर आज सारे संसार में जनतन्त्र व्यवस्था ही प्रचलित है और लोगों की इस व्यवस्था में आस्था है।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र के गुण

अभी तक हमने केवल प्रतिनिधि जनतन्त्र (Representative Democracy) के गुण और दोषों का वर्णन किया है। प्रत्यक्ष जनतन्त्र की पीछे हम संक्षेप में चर्चा कर चुके हैं। यहाँ उसके गुण और दोषों का वर्णन करेंगे।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक को शासन कार्य का ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है। उसके जीवन में तथा राज्य के जीवन में जो समस्याएँ होती हैं उन पर उसको सोचना पड़ता है और निर्णय लेना पड़ता है। इस प्रकार वह राज्य का सक्रिय नागरिक होता है।

दूसरी बात यह है कि चूँकि राज्य के प्रत्येक मसले पर सब नागरिकों द्वारा विचार और आलोचना होती है इसलिये राज्य के लिये जो कानून बनाया जाता है वह बहुत सोच-विचार कर बनाया जाता है और सब नागरिकों द्वारा मिलकर बनाया जाता है। अतएव उसके भंग होने का डर बहुत कम हो जाता है।

तीसरे, प्रत्यक्ष जनतन्त्र में वर्ग-संघर्ष का मौक़ा बहुत कम रहता है। एक वर्ग, विशेषकर अल्प वर्ग, दूसरे वर्ग के विरुद्ध क़ानून नहीं बना सकता। न वह अपने ही स्वार्थ-सेवन के लिये क़ानून बना सकता है।

चौथे, प्रत्यक्ष जनतन्त्र में सत्ता की अपेक्षा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है। नागरिकों को वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव होता है और ऐसे वातावरण में सत्ता का महत्त्व अधिक नहीं होता।

---

१. ब्राइस ने अपनी Modern Democracies और American Common wealth नामक पुस्तकों में इन सब बातों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है।

अन्त में, प्रत्यक्ष जनतन्त्र में मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से विकसित होने का अवसर मिलता है। प्रत्येक नागरिक को हमेशा सजग रहने की आवश्यकता होती है। इससे व्यक्ति में जिम्मेदारी की भावना बढ़ती है।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र में जहाँ इतने गुण हैं, वहाँ कुछ दोष भी होते हैं। सबसे बड़ा ख़तरा यह होता है कि किसी समय पूरी जनता भावना के प्रवाह में बह सकती है। यह संभावना संकटकाल में विशेष रूप से होती है। अर्थात् प्रत्यक्ष जनतन्त्र में "भेड़ियाधसान" का बड़ा डर रहता है।

दोष

दूसरा दोष यह है कि प्रत्यक्ष जनतन्त्र में धनी और विद्वान तथा बुद्धिमान व्यक्तियों का कोई महत्त्व नहीं होता। यह उनके प्रति अन्याय है। इससे राज्य के जीवन का स्तर नहीं उठ पाता और समाज का विकास भी उचित रूप से नहीं हो पाता।

तीसरे, प्रत्यक्ष जनतन्त्र में केवल संख्या का महत्त्व होता है, बुद्धि और व्यक्तिगत अनुभव का नहीं। नतीजा यह होता है कि ऐसा राज्य अज्ञानमूलक हो जाता है। ऐसे वातावरण में स्वतन्त्रता का दुरुपयोग हो सकता है।

चौथे, यदि प्रत्यक्ष जनतन्त्र में जनता पर भावुकता का अधिक और बारम्बार प्रभाव पड़ता है तो ऐसा राज्य स्थिर नहीं हो सकता। स्वयं जनता उसके नष्ट होने की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देगी।

जैसा कि हम कह चुके हैं लार्ड ब्रॉइस जनतन्त्र व्यवस्था का बड़ा भारी पंडित था। उसने लिखा है कि स्विटज़रलैण्ड में प्रत्यक्ष और परोक्ष या प्रतिनिधि जनतन्त्र के कोई भी दोष नहीं पाये जाते और उस देश में दोनों प्रकार के जनतंत्र पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। ब्रॉइस ने इसके निम्नलिखित कारण बतलाये हैं।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र पर ब्रॉइस के विचार

(१) उस देश के 'कम्यून' या ज़िले बहुत प्राचीन काल से अपने नागरिकों को जनतन्त्र कला में प्रशिक्षण देते आये हैं। कालान्तर में वहाँ के लोगों को यह अनुभव हो गया है कि अपने राज्य के कार्य सुचारु रूप से किस प्रकार चलाये जा सकते हैं। 'कम्यून' जनतन्त्र प्रशिक्षण के विद्यालय से हो गये हैं।

(२) सामाजिक कार्यों में अर्थात् देश के कार्यों में दिलचस्पी रखने से वहाँ अच्छे नागरिक हुए हैं। ये नागरिक देश-भक्ति की भावना से भरे रहते हैं।

(३) स्थानीय स्वशासन में लगातार बहुत अरसे तक काम करने से लोगों में राष्ट्रीय भावना का उदय होता है। इस अनुभव ने राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय चरित्र का गठन किया है। इस कारण वहाँ कई जातियाँ और कई धर्म रहते हुए भी एक दृढ़ राष्ट्रीयता का उदय हुआ है।

(४) वहाँ समाज में धन की विषमता अधिक नहीं है। इसलिये वहाँ पूँजी और मजदूरों के झगड़ों के कारण देश में अधिक उथल-पुथल नहीं हुई। वहाँ की जनता अधिकतर किसान है। किसान क्रान्तिप्रिय न होकर शान्ति-प्रिय होते हैं।

(५) उस देश में राजनीतिक दलबन्दी नहीं पनपने पायी। इसलिये नेता भीषण भाषणों से जनता की भावनाएँ उभाड़कर उसे अपना खिलौना नहीं बना पाये।[1]

लेकिन यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि संसार में स्विटज़रलैण्ड अपने किस्म का एक निराला देश है। वहाँ के जैसे संस्कार और परिस्थितियाँ सब जगह नहीं होते। जो प्रयोग वहाँ सफल हुआ वह सब जगह शायद सफल नहीं हो सकता। फिर आज के देश बहुत बड़े होते हैं। पर सम्भवतः ब्राइस का आशय यह था कि जनतन्त्र में संस्कार और परम्पराएँ बहुत महत्व रखती हैं।

अध्याय १४

एकात्मक और संघात्मक शासन

(Unitary and Federal Forms of Government)

हम जनतन्त्र शासन-व्यवस्था की समीक्षा मोटे तौर पर कर चुके हैं। उसके पहले यह भी देख चुके हैं कि संविधान कई प्रकार के होते हैं। यथा, लिखित और अलिखित, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील इत्यादि। जनतन्त्र में संविधान होना आवश्यक है। चाहे वह किसी भी प्रकार का हो। लिखित हो अथवा अलिखित। परिवर्तनशील हो, अथवा अपरिवर्तनशील। जन-तन्त्र में प्रचलित संविधान के आधार पर शासन-व्यवस्था के दो वर्ग और होते हैं—एक एकात्मक (Unitary) और दूसरा संघात्मक (Federal)। वास्तव में इस वर्गीकरण का आधार राज्य का क्षेत्रफल या भूमि होती है। आजकल राज्यों का विस्तार प्रायः बहुत बड़ा होता है और शासन की सुविधा के लिये वे कई इकाइयों में बाँट दिये जाते हैं। इन इकाइयों को प्रान्त या राज्य इत्यादि कहते हैं, तो केन्द्रीय या राष्ट्रीय शासन और इन इकाइयों या प्रान्तीय शासन में आपस में जो सम्बन्ध होते हैं उसी के अनुसार शासन एकात्मक या संघात्मक कहाते हैं।

---

१ Bryce,' Modern Democracies' Vol. I, PP. 498–501

अतः यह बात ध्यान में रखने की है कि आधुनिक राज्य प्रायः बड़े-बड़े होते हैं और इस कारण देश की शासन-व्यवस्था कई इकाइयों में बाँट दी जाती है। भारत में केन्द्र के अन्तर्गत कई राज्य सरकारें हैं। इन राज्य सरकारों में भी जिला इत्यादि अन्य छोटी-छोटी इकाइयाँ होती हैं। इसी प्रकार की इकाइयाँ अमेरिका, फ्रान्स, स्विटजरलैण्ड इत्यादि देशों में हैं। इन राज्यों की इकाइयों के ऊपर जो राष्ट्रीय या केन्द्रीय शासन होता है वह केवल ऐसे विषयों का प्रशासन करता है, जिनका सम्बन्ध सारे राष्ट्र या देश से होता है। सेना और सुरक्षा, परराष्ट्र नीति मुद्रा इत्यादि ऐसे विषय हैं जिन्हें केन्द्रीय सरकार ही अपने हाथ में रखती है। ऐसा न करने से देश की एकता और दृढ़ता खतरे में पड़ जायगी। लेकिन शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण कार्य इत्यादि विषय क्षेत्रीय या प्रान्तीय सरकारों को दे दिये जाते हैं। ये ऐसे विषय हैं कि केन्द्रीय सरकार के हाथ में न रहने से वह कमज़ोर न होगी। फिर इन विषयों सम्बन्धी समस्याओं पर क्षेत्रीय या स्थानीय सरकार ही भली-भाँति विचार कर सकती है। दूर बैठी हुई केन्द्रीय सरकार नहीं। इसी प्रकार राज्यों के अन्तर्गत ज़िला इत्यादि जो और भी छोटी इकाइयाँ होती हैं वे और भी छोटे क्षेत्र का प्रशासन करके राज्य-शासन में सहायता देती हैं।

इस प्रकार शासन के क्षेत्रीय विभाजन का अर्थ यह होता है कि एक केन्द्रीय सरकार होती है और उसके अन्तर्गत प्रान्तीय या राज्य-सरकारें होती हैं। प्रान्तीय शासन के रूप के आधार पर देश के संविधान को एकात्मक या संघात्मक कहते हैं। जहाँ संघ शासन में संघ या केन्द्र-शासन इतना प्रबल होता है कि प्रान्तीय या राज्य-शासन अपने अस्तित्व के लिये केन्द्र पर निर्भर रहता है वह संविधान या शासन का रूप एकात्मक कहा जाता है। केन्द्रीय शासन चाहे तो राज्य की इकाइयों को इच्छानुसार परिवर्तित या समाप्त कर सकता है। इसके विपरीत संघात्मक शासन में राज्यों की इकाइयाँ अपने अस्तित्त्व के लिये केन्द्र पर इस प्रकार निर्भर नहीं रहतीं। संघ और राज्यों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग बँटे हुए रहते हैं।

सर जॉन सीले का मत था कि संघ शासन या संघ संविधान को एकात्मक और संघात्मक वर्गों में बाँटना अनुचित है, क्योंकि यह प्रकार भेद न होकर केवल अंशभेद है और यह अंशभेद भी केवल इस बात पर निर्भर करता है कि किसी संविधान में स्थानीय स्वशासन को कितना महत्त्व दिया जाता है। लेकिन इस मत के विपरीत प्रोफ़ेसर स्ट्रॉग का मत है कि यह भेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिये। मैरियट का भी मत है कि यह भेद केवल अंश का न होकर प्रकार का भी है। अतएव यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

एकात्मक शासन के लक्षण :—एकात्मक शासन वह होता है जिसमें केन्द्रीय शासन इतना प्रबल और शक्तिशाली होता है कि वह राज्य की इकाइयों में इच्छानुसार रद्दोबदल कर सकता है, उनकी सीमाएँ बदल सकता है, उन्हें समाप्त कर सकता है अथवा नये प्रान्त या राज्य बना सकता है और उनके शासनाधिकार घटा-बढ़ा सकता है।

फाइनर का मत है कि एकात्मक राज्य वह होता है जहाँ एक केन्द्रीय सरकार में सम्पूर्ण शासन-शक्ति निहित होती है। क़ानूनी दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य में केवल केन्द्र की इच्छा से ही शासन चलता है।

डाइसी का मत है कि एकात्मक राज्य में एक केन्द्रीय सत्ता के हाथ में क़ानून बनाने की सर्वोच्च सत्ता निवास करती है।

विलोबी का मत है कि एकात्मक राज्य में शासन के सब अधिकार मौलिक रूप में एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहते हैं। यह केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार उन अधिकारों का वितरण विभिन्न क्षेत्रीय इकाइयों में करती है। इस प्रकार एक सर्वोच्च क़ानूनी सत्ता के रूप में केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार शासन के अधिकारों का वितरण राज्य-सरकारों में करती है।

प्रोफ़ेसर स्ट्राँग का मत है कि एकातमक राज्य में शासन सत्ता का संगठन एक केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत होता है। क्षेत्रीय शासन को या राज्यों को जो भी अधिकार मिलते हैं वे केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार मिलते हैं। केन्द्रीय सरकार की इच्छा सर्वोच्च होती है। जिस क़ानून के द्वारा राज्यों को केन्द्र शासनाधिकार देता है, वह क़ानून केन्द्र की इच्छानुसार बदला जा सकता है।

प्रोफ़ेसर गारनर का मत है कि जब संविधान द्वारा शासन के सब अधिकार केवल एक सत्ता को सौंप दिये जाते हैं और अन्य स्थानीय या क्षेत्रीय सरकारें अपने सब अधिकार उस सत्ता से प्राप्त करती हैं, यहाँ तक कि अपना अस्तित्व भी केवल उसी सत्ता से प्राप्त करती हैं, तब उस देश में एकात्मक सरकार कही जाती है।

इन परिभाषाओं से हम यह देखते हैं कि एकात्मक शासन का सबसे बड़ा लक्षण यह होता है कि राज्य में एक केन्द्रीय शासन होता है और वह केन्द्रीय शासन देश की एकता बनाये रखता है। दूसरे प्रान्तीय या राज्यों के शासन उसकी इच्छानुसार अपने अधिकार प्राप्त करते हैं अर्थात् वे उसके अधीन रहते हैं। वे उसके ऊपर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगा सकते।

ब्रिटेन, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, आयर तथा जापान के संविधान एकात्मक शासन के नमूने हैं। भारत भी एकात्मक शासन का एक उदाहरण है। हमारे देश में केन्द्र इतना शक्तिशाली है कि राज्यों की इकाइयाँ पूर्ण रूप से

उस पर निर्भर हैं। हमारे राज्यों को जो शासनाधिकार दिये गये हैं उनमें केन्द्र इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है।

संघात्मक शासन के लक्षण :—एकात्मक शासन में सब अधिकार केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित रहते हैं। लेकिन संघात्मक सरकार में शासन के अधिकार केन्द्र और राज्यों या प्रान्तों के बीच में बँटे हुए रहते हैं। जब शासन के अधिकार केन्द्र और राज्यों के बीच में बँट जाते हैं तो राज्य अपने अधिकारों के अनुसार अपने क्षेत्र में शासन करते हैं और केन्द्र या संघ सरकार अपने अधिकारों के अनुसार अपने क्षेत्र में शासन करती है। राज्य और केन्द्र एक दूसरे के शासन क्षेत्रों में दख़ल नहीं देते। इसीलिये विभिन्न लेखकों ने संघात्मक शासन को दोहरी सरकार (Dual Government), मिश्रित सरकार (Composite State) तथा बहुमुखी सरकार (Multiple Government) कहा है। अब हम विभिन्न लेखकों द्वारा की गयी संघात्मक शासन की परिभाषाओं की ओर ध्यान देंगे।

मॉन्टेस्क्यू का मत है कि संघात्मक शासन तब स्थापित होता है जब कई छोटे-छोटे राज्य मिलकर एक संघ-शासन स्थापित करने का निर्णय करते हैं। वे सब उस संघ के सदस्य होते हैं।

डाइसी का मत है कि संघात्मक शासन एक ऐसा संगठन होता है जिसमें राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय सत्ता के साथ ही साथ राज्यों के अधिकार भी सुरक्षित रहते हैं और दोनों में सामंजस्य रहता है।[१]

फाइनर का मत है कि संघ शासन में शासन सत्ता का एक अंश तो क्षेत्रीय इकाइयों में निहित होता है और दूसरा अंश एक केन्द्रीय सत्ता में निहित होता है। यह सत्ता विभाजन क्षेत्रीय इकाइयों को संगठित करके जान-बूझ कर किया जाता है।[२]

सर हरबर्ट सेमुअल लिखते हैं कि संघ शासन में एक केन्द्रीय सत्ता होती है। यह सत्ता पूरे देश का बाह्य मामलों में तथा कुछ आन्तरिक मामलों के प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही कुछ क्षेत्रीय या प्रान्तीय सरकारें होती हैं जिन्हें

---

१ "A Federal State is a political contrivance intended to reconcile national unity and power with the manitenance of State rights."—**Dicey.**

२ "A Federal State is one in which part of the authority and power is vested in the local areas while another part is vested in a central institution deliberately constituted by an association of the local areas."—**Tiner.**

क़ानून बनाने के और शासन करने के कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। ये अधिकार संविधान द्वारा दिये जाते हैं।

प्रोफ़ेसर स्ट्राँग लिखते हैं कि संघ राज्य वह होता है जिसमें कई राज्य अपने सामान्य हितों की रक्षा के लिये मिलकर एक संघ बनाते हैं। ये राज्य मिलकर संघ को कुछ अधिकार देते हैं और शेष अपने हाथ में रखते हैं। यह अधिकार विभाजन संविधान द्वारा निश्चित होता है। संघ संविधान की प्रकृति कुछ-कुछ संधि जैसी होती है।

गारनर का मत है कि संघ शासन वह प्रणाली है जिसमें शासन की शक्तियाँ एक संविधान द्वारा अथवा संसद के एक क़ानून द्वारा विभाजित होती हैं, यह विभाजन संघ और संघ की इकाइयों के बीच में होता है।

हम एकात्मक और संघात्मक राज्यों की परिभाषा देख चुके हैं। अब उनकी समानता और विभिन्नता जानना ज़रूरी है। सबसे पहली बात तो यह है कि एकातमक शासन में केन्द्रीय सरकार में पूर्ण रूप से शासन शक्ति केन्द्रित होती है। इसके विपरीत संघात्मक शासन में शासन-शक्ति केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों में विभाजित रहती है। जैसा कि गारनर ने लिखा है एकात्मक शासन में संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच शासन-शक्तियों का बँटवारा नहीं किया जाता। इसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत होता है। केवल एक इच्छा-शक्ति से शासन चलता है। एकात्मक शासन में भी देश में राज्य, प्रान्त या काउन्टी, कम्यून इत्यादि होते हैं। पर ये संविधान द्वारा नहीं बनाये जाते। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये और बदले जाते हैं। इन्हें शासन सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त रहते हैं वे भी केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर रहते हैं। केन्द्रीय सरकार उन्हें इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकती है। इस प्रकार वे केन्द्रीय सरकार के ही अंग होते हैं। इसके विपरीत संघात्मक शासन राज्य या प्रान्तीय शासन केन्द्रीय सरकारों द्वारा नहीं बनाये जाते। गारनर का मत है कि अनुभव यही बतलाता है कि प्रायः कई राज्य मिलकर एक संघ-शासन स्थापित करते हैं। अतएव उनकी महत्ता संघ से अधिक होती है। वे संघ द्वारा नहीं बनाये जाते। बल्कि वे संघ के संविधान द्वारा बनाये जाते हैं।

तुलना

दूसरा भेद यह है कि एकात्मक राज्य एक इकाई होता है और संघात्मक राज्य कई इकाइयों का एक संघटन होता है। संघ शासन एक प्रकार की दोहरी सरकार होती है। एकात्मक राज्य में स्थानीय शासन की क्षेत्रीय या स्थानीय इकाइयाँ केन्द्र के अन्तर्गत होती हैं और उसी की सुविधा के अनुसार कार्य करती हैं। लेकिन संघ शासन में क्षेत्रीय इकाइयों के पास शासन के कुछ ऐसे

अधिकार रहते हैं जिनमें संघ-सरकार दख़ल नहीं दे सकती, उनका शासन का एक स्वतन्त्र क्षेत्र होता है। केन्द्र तथा राज्यों के अपने-अपने निर्धारित शासन क्षेत्र होते हैं। अपने-अपने विधानमंडल होते हैं जो अपने क्षेत्रों के लिये क़ानून बनाते हैं। ये विधानमंडल एक दूसरे के मातहत नहीं होते। लेकिन एकात्मक शासन में केन्द्रीय विधानमंडल ही सर्वोच्च होता है।

तीसरी बात यह है कि संघात्मक राज्य प्रायः कई स्वतन्त्र राज्यों की आपस की एक सन्धि या समझौते के आधार पर बनता है। कुछ स्वतन्त्र राज्य समान हितों की रक्षा के लिये आपसी समझौते द्वारा एक संघ बनाते हैं। वे शासन के कुछ अधिकार संघ को दे देते हैं और कुछ अपने पास रख लेते हैं। यह बँटवारा एक संविधान के आधार पर होता है और यह संविधान क़ानून बनाने की एक विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही बदला जा सकता है। संविधान में संशोधन के लिये सब राज्यों की या अधिकांश राज्यों की सहमति की आवश्यकता होती है। लेकिन एकात्मक शासन में केन्द्रीय विधानमंडल ही क़ानून बनाने के साधारण तरीके से संविधान में भी परिवर्तन या संशोधन कर सकता है। उसमें विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती।

चौथा भेद यह है कि संघ शासन में जब संघ या केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच किसी बात पर संघर्ष होता है तो एक स्वतन्त्र न्यायपालिका जिसे संघीय न्यायपालिका कहते हैं, उस संघर्ष पर अपना निर्णय देती है और वह केन्द्र तथा राज्य या राज्यों को मान्य होता है। एकात्मक राज्य में ऐसी किसी न्यायपालिका या तीसरे दल की आवश्यकता नहीं होती।

पाँचवाँ भेद यह है कि संघ शासन में दो प्रकार के क़ानून होते हैं। एक संघ सरकार के क़ानून और दूसरे राज्य-सरकार के क़ानून। अर्थात् एक नागरिक को दो प्रकार के क़ानूनों का पालन करना पड़ता है। परन्तु एकात्मक राज्य में केवल एक ही प्रकार के क़ानून होते हैं। एकात्मक राज्य के सब प्रांतों में एक से क़ानून होते हैं जबकि संघ के विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के क़ानून हो सकते हैं। अमेरिकी संघ शासन में यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। इंगलैण्ड में सब नागरिकों के लिये एक से क़ानून होते हैं। अमेरिका में ऐसा नहीं है। वहाँ विवाह और तलाक़ के क़ानून विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

संघ का अर्थः—संघ शासन के संघटन में मूल बात यह रहती है कि कई राज्य मिलकर एक नये राज्य का निर्माण करते हैं। प्रारम्भ में चाहे यह गठबन्धन ढीला हो, लेकिन धीरे-धीरे दृढ़ होता जाता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक एकात्मक राज्य स्वेच्छापूर्वक संघ-शासन का निर्माण करता है और अपने राज्यों को अधिकार देता है। भारत इसका उदाहरण है।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ

इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं कि कई स्वतन्त्र राज्य मिलकर आपस में सन्धि करते हैं। ये सन्धियाँ वास्तव में कुछ विशिष्ट कार्यों के लिये होती हैं और संघ-शासन से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। सन् १८१५ में आस्ट्रिया, रूस और प्रूशिया के सम्राटों ने मिलकर एक समझौता किया। इतिहास में यह पवित्र समझौता (Holy Alliance) के नाम से विख्यात है। इसका उद्देश्य यह था कि ये तीनों सम्राट् अपने-अपने साम्राज्यों में उठते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलनों का दमन करेंगे। सन् १९०२ में इंगलैण्ड और जापान ने सुदूर पूर्व की नीति के सम्बन्ध में एक सन्धि की। इस प्रकार के समझौते प्राय: थोड़े ही समय तक चल पाते हैं। इन समझौतों के फलस्वरूप कोई एक संघटन नहीं बन पाता। इसी प्रकार आजकल कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संघटन होते हैं, जिनका संघटन विभिन्न राज्यों के विशिष्ट वर्ग करते हैं। जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय डाक-कर्मचारी यूनियन, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघटन। इन्हें प्राय: अपने-अपने राज्यों का समर्थन प्राप्त रहता है, पर जिस प्रकार के संघ-शासन का हम अध्ययन कर रहे हैं, उससे इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

मैरियट और ब्लुंशली जैसे लेखकों ने कुछ वैयक्तिक संघटनों के भी उदाहरण दिये हैं। कभी-कभी एक राजा दो राज्यों का राज करने लगता है। जैसे कि स्पेन का राजा पाँचवाँ चार्ल्स (सन् १५२०–५६) सम्राट् मैक्समिलियन की मृत्यु पर आस्ट्रिया का भी राजा हो गया। सन् १९१४ से सन् १९३७ तक जर्मनी का हेनोवर राज्य और इंगलैण्ड का एक ही राजा होता था। जब रानी विक्टोरिया इंगलैण्ड की गद्दी पर बैठी तो हेनोवर ने यह स्वीकार नहीं किया और वह संघ टूट गया। वास्तव में ऐसे संघों का कोई महत्त्व नहीं है और आजकल इसके उदाहरण भी नहीं पाये जाते। लेकिन ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ दो राज्यों ने मिलकर एक राज्य की तरह काम किया। सन् १८६७ से सन् १९१९ तक आस्ट्रिया और हंगरी का ऐसा संघ रहा। इसी प्रकार सन् १८१५ में स्वीडन का राजा नार्वे का भी राजा हो गया और दोनों राज्य एक राज्य के समान हो गये। यह संघटन भी काफ़ी समय तक चला।

जैसा कि ब्लुंशली ने लिखा है, वास्तविक संघ वह होता है, जिसमें एक ही सर्वोच्च सरकार होती है और उसका एक विधानमंडल तथा एक प्रशासन होता है। परराष्ट्र नीति में संघ एक इकाई की तरह काम करता है। केवल आन्तरिक मामलों में संघ की इकाइयों में प्रशासन सम्बन्धी कुछ विभिन्नता पायी जाती है।

संघटन और संघ में भी भेद समझना आवश्यक है। जब कई स्वतन्त्र राज्य कुछ विशिष्ट बातों के लिये समझौता करते हैं तो उनका एक संघटन बन

जाता है। यह संघ और सन्धि के बीच की एक चीज़ होती है। इस प्रकार का संघटन एक नये राज्य की सूरत नहीं ग्रहण करता। संघटन में राज्यों की संप्रभुता बनी रहती है। लेकिन संघ में वे मिलकर एक संप्रभुतावाले एक राज्य हो जाते हैं।

लीकॉक का मत है कि संघटन (Confederacy or Confederation) एक राज्य नहीं होता। वह प्रभुत्वपूर्ण कई स्वतन्त्र राज्यों का एक समूह होता है, जो कुछ निश्चित विशिष्ट बातों के लिये संघटित किया जाता है। क़ानूनी तौर से कोई भी राज्य संघटन से इच्छानुसार अलग हो सकता है। उसमें राज्यों की अपनी संप्रभुता बनी रहती है। अतः वह स्थायी नहीं होता। इसके विपरीत संघ एक स्थायी राज्य होता है। संघ बनने के पहले भले ही प्रान्तों या राज्यों की अपनी संप्रभुता रही हो। लेकिन संघ बनने के बाद वह नहीं रह जाती। उसका कोई भी राज्य इच्छानुसार उससे अलग नहीं हो सकता। क़ानूनी तौर पर संघ का विघटन नहीं हो सकता। विलसन का मत भी यही है। वह कहता है कि संघ बनाने वाले राज्य अपने कुछ समान अधिकार संघ को दे देते हैं। केवल आन्तरिक मामलों में अपने हाथ में कुछ अधिकार रखते हैं।[१]

दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है जब एक संघ का निर्माण होता है तो एक नयी संप्रभुता का जन्म होता है। संघटन में नयी संप्रभुता का जन्म नहीं होता। गारनर कहता है कि संघ में केवल एक संप्रभुता रहती है, पर संघटन में कई संप्रभुताएँ रहती हैं। इसलिये संघटन के राज्य अपनी इच्छानुसार अन्य राज्यों के साथ युद्ध और सन्धि कर सकते हैं। यदि संघ के कुछ राज्यों में आपस में युद्ध होता है तो वह गृह-युद्ध कहलायेगा। लेकिन यदि संघटन के कुछ राज्यों में आपस में युद्ध होता है तो वह गृह-युद्ध न होकर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध होगा।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि संघ में राज्यों की संप्रभुता या तो

---

१ There is a permanent Surrender on the part of the constituent communities of their right to act independently of each other in matters which touch the common interest, and the consequent fusion of these communities, in respect of these matters, into a singal state. As regards other states they have merged their individuality into one national whole the lines which separate them are none of them on the outside lent all on the inside" Wilson,—**The State.**

२ "Unlike a federal union, confederation does not possess a single sovereignty, but there is a plurality of soverei-

समाप्त हो जाती है या बहुत ही सीमित हो जाती है। लीकॉक का मत है कि संघ में इकाइयों की संप्रभुता एकदम समाप्त हो जाती है। संघ में संप्रभुता उस संस्था में रहती हैं जो संविधान में संशोधन कर सकती है। संघटन में प्रत्येक राज्य अपनी संप्रभुता सुरक्षित रखता है।

तीसरे, संघ में एक नये क़ानून समूह का निर्माण होता है, लेकिन संघटन में प्रत्येक राज्य में अपने क़ानून रहते हैं। विलसन कहता है कि संघ शासन में एक नयी सामूहिक क़ानून संहिता का निर्माण होता है। एक नयी न्याय-व्यवस्था का भी उदय होता है। संघटन में इस प्रकार की नयी क़ानून-व्यवस्था का उदय नहीं होता। सब राज्य मिलकर ऐसे क़ानून नहीं बनाते जो सब राज्यों के नागरिकों के लिये मान्य हो। यदि ऐसे कुछ क़ानून बनाये भी जाते हैं तो वे विभिन्न राज्यों के राजदूतों द्वारा निश्चित किये जाते हैं जब कि संघ-शासन में संघ का विधानमंडल ऐसे क़ानून बनाता है।

चौथा भेद यह है कि संघ में एक नयी नागरिकता का जन्म होता है। इस प्रकार संघ शासन में दोहरी नागरिकता होती है। एक संघ की नागरिकता और दूसरी प्रत्येक राज्य की नागरिकता। संघटन में इस प्रकार की दोहरी नागरिकता नहीं होती। उसमें केवल प्रत्येक राज्य की अपनी नागरिकता रहती है। क्योंकि संघटन स्वतन्त्र राज्यों का केवल एक समूह रहता है।

समयानुसार इन भेदों में कुछ हेर-फेर होता रहता है जैसे कि भारत एक संघ-राज्य होते हुए भी इसमें कुछ वे भेद नहीं पाये जाते जो कि ऊपर कहे गये हैं। उदाहरण के लिये भारत में दोहरी नागरिकता नहीं है। यहाँ संघ और राज्यों के लिये एक ही नागरिकता प्रचलित है। इसका कारण यह है कि भारत एकात्मक संघ-राज्य है। एकात्मक राज्य से यहाँ स्वेच्छापूर्वक संघ-शासन बनाया गया है। विभिन्न राज्यों ने मिलकर संघ नहीं बनाया है। इसलिये हमारे यहाँ एकात्मक राज्य के अधिक लक्षण बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है।

संघ निर्माण के लिये विद्वानों ने दो तत्त्व आवश्यक बतलाये हैं। एक तो यह है कि जो राज्य आपस में मिलकर संघ राज्य बनाना चाहें उनमें एक जातीयता

---

gnties, as many in fact as there are states composing it. Ordinarily each member state remaind an international person, it may therefore enter into treaty relations with foreign states and even engage in war with them without involving its associates. If war breaks out between two or more of them it is international war and not civil war" Garner—"**Political Science and Government**"

की भावना (Sentiment of common nationality) बहुत प्रबल होना चाहिये और दूसरी बात यह है कि उनमें एक संगठन की प्रबल इच्छा होनी चाहिये। डाइसी ने इन दो बातों की विवेचना बहुत अच्छी तरह की है।[1] डाइसी कहता है कि सबसे पहली बात यह है कि एक दूसरे के सन्निकट कुछ देश ऐसे होने चाहिये जिनके लोगों में इतिहास, भूगोल, जातीयता इत्यादि की दृष्टि से एक होने की भावना हो। एक संगटन में आने के बाद भी उनमें एकरूपता का आभास होगा। स्विटज़रलैण्ड के केन्टन, अमेरिका के राज्यों तथा कनाडा के प्रान्तों में यह बात पायी जाती है। अनुभव यह भी बतलाता है कि जो राज्य मिलकर संघ बनाते हैं, उनमें पहले से किसी न किसी प्रकार की एकता और एकरूपता विद्यमान थी। दूसरी अति आवश्यक शर्त यह है कि इन राज्यों के लोगों में एक संगटन के अन्तर्गत रहने की प्रबल इच्छा होनी चाहिये। उनमें एक राष्ट्र बनकर रहने की भावना प्रबल होनी चाहिये। साथ ही यह भी भावना होनी चाहिये कि प्रत्येक राज्य का अपना अलग अस्तित्व भी बना रहेगा और उस अलग अस्तित्व की वे सब मिलकर रक्षा करेंगे। डाइसी के ये विचार काफी तर्कपूर्ण हैं।

संघ के दो तत्त्व

अनुभव यह भी बतलाता है कि पहले कुछ राज्य मिलकर एक संघटन बनाते हैं और जब उनमें आपस में सद्भावना की वृद्धि होती जाती है तो वे बाद में एक संघ का रूप धारण कर लेते हैं। संघटन तो एक बार बनकर टूट भी सकता है, परन्तु संघ नहीं टूटता।

संघटन और संघ के सम्बन्ध में हमने अभी तक जो अध्ययन किया है, उसका सारांश हम इस प्रकार रख सकते हैं:—

(१) संघ में एक नये राज्य का निर्माण होता है। लेकिन संघटन स्वतन्त्र राज्यों का ही एक संगटन एक समिति के रूप में रहता है।

(२) संघ में एक नई संप्रभुता का जन्म होता है; पर संघटन में जितने राज्य होते हैं उतनी ही संप्रभुताएँ रहती हैं।

(३) संघ में संघीय क़ानूनों का एक समूह होता है, जो सब राज्यों पर लागू होता है, लेकिन संघटन में सब राज्यों पर लागू होने वाले ऐसे सामान्य क़ानून नहीं होते। संघटन के सब राज्य अपने-अपने क़ानून बनाते हैं और उनका पालन करते हैं।

(४) संघ में प्रायः दोहरी नागरिकता होती है, पर संघटन में नहीं होती। प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी नागरिकता रखता है।

(५) संघ में एक नये राष्ट्र का जन्म होता है, पर संघटन में किसी नये राष्ट्र और नये सामाजिक तथा सामूहिक जीवन का निर्माण नहीं होता।

---

१ See Law of the constitution by Dicey.

(६) संघ राज्य में संघ की इकाइयाँ आसानी से संघ नहीं छोड़ सकतीं। पर संघटन में छोड़ सकती हैं।

(७) संघ में यदि राज्यों में आपस में युद्ध होता है तो वह गृह-युद्ध कहा जायगा। पर संघटन में यदि राज्यों में आपस में युद्ध होता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध कहा जायगा। सन् १८१२ में संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में जो युद्ध हुआ था वह गृह-युद्ध था।

(८) संघ में जो क़ानून बनाये जाते हैं वे वास्तविक विधानमंडलों द्वारा बनाये जाते हैं। संघटन में राजदूत और राजनीतिज्ञ आपस में सलाह करके प्रस्तावों के रूप में कुछ नियम बना लेते हैं।

संघ-शासन की सफलता के लिये कुछ मौलिक आवश्यकताएँ :—अब हमें यह देखना है कि संघ-शासन सफल कैसे हो सकता है। राजनीति-विशारदों का मत है कि जो क्षेत्र मिलकर संघ बनाना चाहते हैं। वे भूगोल की दृष्टि से एक दूसरे से लगे हुए हों। संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, दक्षिण अफ्रिका, स्विटज़रलैण्ड इसके उदाहरण हैं। पाकिस्तान के दो भाग एक दूसरे से बहुत दूर हैं। अतएव उनमें संघर्ष होता रहता है।

दूसरी आवश्यकता यह है कि इन क्षेत्रों के लोगों में रक्त, धर्म, भाषा, संस्कृति आर्थिक तथा राजनीतिक स्वार्थों की एकता हो। यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी शर्तें विद्यमान हों, पर मुख्य बात यह है कि जितनी अधिक समानता पायी जायगी संघ उतना ही दृढ़ होगा।

तीसरे, राज्य बनाने वाले राज्यों के लोगों में एक होने की दृढ़ भावना होनी चाहिये।

चौथे, इन राज्यों में विषमता बहुत बड़े रूप में नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, जनसंख्या, क्षेत्रफल, धन, ऐतिहासिक परम्पराओं की अधिक से अधिक समता होनी चाहिये। डाइसी इस शर्त पर बहुत ज़ोर देता है।

पाँचवें, सम्मिलित राज्यों में से कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं होना चाहिये कि वह अन्य राज्यों को अकेले ही दबा सके।

छठें, संघ के नागरिकों में ऊँचे स्तर की राजनीतिक जागृति होनी चाहिये। उन्हें अपने राज्य तथा संघ के प्रति अधिकार और कर्त्तव्यों का अच्छा ज्ञान होना चाहिये।

कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या ब्रिटिश राष्ट्रमंडल एक संघ है? यदि हम ऊपर दी हुई शर्तों पर विचार करें तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल एक संघ नहीं है वह कई राज्यों का संघटन है और ब्रिटेन का राजा एक प्रतीक के रूप में उस संघटन का प्रधान है।

संघ-शासन की विशेषताएँ :—अभी तक हमने यह देखा है कि संघ निर्माण के लिये आवश्यक और सहायक बातें कौन-कौन-सी होती हैं। अब हम यह देखेंगे कि संघ बन जाने के बाद संघ-शासन की विशेषताएँ कौन-कौन-सी होती हैं। सबसे पहली विशेषता यह है कि संघ-शासन में एक लिखित संविधान होना आवश्यक है। दूसरी विशेषता यह है कि वह संविधान संघ और राज्यों में शासन शक्तियों का विभाजन करता है। तीसरी विशेषता यह होती है कि संघ में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका होती है। यदि किसी बात पर संघ और राज्यों में मतभेद या संघर्ष होता है तो यह न्यायपालिका निर्णय करती है और उसका निर्णय दोनों पक्षों को मान्य होता है।

मैरियट ने इन तीन विशेषताओं को और विस्तृत करके उनकी संख्या पाँच कर दी है।[1] अपने मत का स्पष्टीकरण उसने इस प्रकार किया है :—

(१) संघ के संविधान का विकास नहीं होता, बल्कि वह एक सम्मेलन, समिति या विधान सभा द्वारा बहुत सोच-विचार कर तैयार किया जाता है। वह एक प्रकार की राजनीतिक रचना होती है।

(२) इसलिये यह स्पष्ट है कि जो संविधान बहुत वाद-विवाद के बाद तैयार किया जायगा वह लिखित होना चाहिये। संघ का संविधान विभिन्न राज्यों में एक सन्धि के समान होता है। जिस प्रकार सन्धि की शर्तें लिखित होती हैं उसी प्रकार शासन-शक्तियों का विभाजन भी लिखित होता है।

(३) लिखित संविधान का एक रूप यह भी होता है कि वह अपरिवर्तनशील होता है। यह बात ज़रूर है कि अलग-अलग संविधानों में अपरिवर्तनशीलता की मात्रा अलग-अलग होती है।

(४) प्रत्येक संविधान में एक संस्था या समिति ऐसी होनी चाहिये जो उसकी रक्षा करे। अर्थात् उसका उल्लंघन और अतिक्रमण न होने दे, और आवश्यकता पड़ने पर उसकी धाराओं की उचित व्याख्या कर सके।

(५) संघ-शासन के विभिन्न अंगों में, अर्थात् कार्यपालिका विधानमंडल और न्यायपालिका में अधिकारों का विभाजन सुनिश्चित होना चाहिये। दूसरी ओर संघ और राज्यों में अधिकारों का सुनिश्चित विभाजन हो। तीसरी ओर संघ की तरह प्रत्येक राज्य के विभिन्न अंगों में भी अधिकारों का निश्चित विभाजन हो।

शक्ति-विभाजन तीन प्रकार का होता है। एक तो यह कि संघ के शासन अधिकारों की एक सूची बना दी जाती है और शेष जो अधिकार बचते हैं वह राज्यों को दे दिये जाते हैं। अमेरिका में ऐसा ही है। दूसरा तरीक़ा यह है कि

---

१ See Marriot, the Mechanism of Modern State Vol. II PP. 409.

संघ के राज्यों के अधिकार अच्छी तरह निश्चित कर दिये जाते हैं और अवशिष्ट अधिकार संघ को दे दिये जाते हैं। तीसरा तरीक़ा यह है कि संघ और राज्यों के अधिकारों की सूची अलग-अलग निश्चित कर दी जाती है और एक समवर्ती सूची भी बना दी जाती है जिस पर संघ और राज्य दोनों का समान रूप से अधिकार होता है। भारत का संविधान इसका उदाहरण है।

इस अधिकार विभाजन की रक्षा संघ का सर्वोच्च न्यायालय या संघ-न्यायालय करता है। इसीलिये कहा जाता है कि संघ-शासन में न्यायपालिका की सर्वोच्चता का सिद्धान्त माना जाता है।

संघ-व्यवस्था के लाभ :—संघ-व्यवस्था में सबसे बड़ा लाभ यह है कि बहुत से छोटे-छोटे राज्य मिलकर एक शक्तिशाली राष्ट्र बन सकते हैं और साथ ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व भी सुरक्षित रख सकते हैं। अन्यथा बड़े-बड़े राज्य छोटे-छोटे राज्यों को आसानी से आत्मसात कर सकते हैं। एक छोटा राज्य बड़े राज्य के सामने कबतक टिक सकता है? संघ बनाने में देखने में तो ऐसा लगता है कि छोटे-छोटे राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो रहे हैं, पर वास्तव में बड़े-बड़े राज्यों का सामना करने में समर्थ हो जाते हैं, और इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकते हैं। साथ ही आपसी ईर्षा और प्रतिद्वन्द्विता भी समाप्त कर देते हैं। अलग-अलग रहते तो छोटी-छोटी बातों पर झगड़ा होता। पर जब वे संघ में मिलकर एक हो जाते हैं तो छोटी-मोटी बातों पर संघर्ष नहीं होता। संयुक्त राज्य अमेरिका आज संसार का एक महान शक्तिशाली राज्य है। यह महत्ता उसे तभी प्राप्त हो सकी है जब वहाँ के बहुत से छोटे-छोटे राज्यों ने मिलकर एक संघ बना लिया। इससे एक लाभ यह भी होता है कि छोटे-मोटे युद्ध बच जाते हैं और एक लाभ यह भी है कि युद्ध की संभावना कम करके शान्ति का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संघ बनाने से लोगों में समझौता करने की भावना बढ़ती है। संघ के विभिन्न राज्य और नागरिक छोटे-मोटे स्वार्थों को भूलकर राष्ट्रीय सुरक्षा और समृद्धि जैसी बातों पर ध्यान देते हैं।

संघ से होने वाले लाभों का एक आर्थिक पहलू भी होता है। जब बहुत से छोटे-छोटे राज्य पड़ोसी होते हैं तो एक दूसरे के विरुद्ध आयात-निर्यात कर लगाते रहते हैं। उनमें करों का एक युद्ध-सा होने लगता है। उनके यातायात का विकास भी बड़े पैमाने पर नहीं हो पाता। एक देश को बहुत से देशों में अपने राजनीतिक और आर्थिक प्रतिनिधि रखने पड़ते हैं। लेकिन एक संघ बन जाने पर ये सब अड़चनें दूर हो जाती हैं। देश का विकास बहुत बड़े पैमाने पर हो सकता है।

संघ-व्यवस्था का तीसरा लाभ यह है कि क्षेत्रीय शासन अधिक योग्यतापूर्वक चलता है। यदि किसी बड़े देश में शासन के अधिकार केवल एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में हों तो वह विभिन्न क्षेत्रों की स्थानीय समस्याओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकती। संघ शासन में एक लाभ यह होता है कि संघ सरकार सुरक्षा, मुद्रा, पर-राष्ट्र-नीति आदि बड़ी-बड़ी समस्याओं की ओर ध्यान देती है और विभिन्न राज्य-सरकारें अपनी-अपनी क्षेत्रीय समस्याओं और प्रशासन की ओर ध्यान देती हैं। इससे बड़े-से-बड़े राज्य का शासन भी सुचारु रूप से चलता है।

ब्रॉइस[1] ने संघ-व्यवस्था के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

(१) संघ-व्यवस्था में छोटे-छोटे राज्य अपना अस्तित्त्व मिटाये बिना एक राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत संगठित हो सकते हैं। इसमें उनके अपने शासनों का अस्तित्त्व भी बना रहता है।

(२) आधुनिक काल में किसी बड़े देश का विकास संघ-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़ी जल्दी और बड़ी अच्छी तरह हो सकता है।

(३) संघ-व्यवस्था में केन्द्रीय तानाशाही नहीं बढ़ने पाती। इससे नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहती है।

(४) संघ व्यवस्था में सरकार या जनता क़ानून बनाने तथा शासन में ऐसे ऐसे प्रयोग कर सकती है जो कि एकात्मक शासन में सम्भव नहीं होते।

(५) संघ-व्यवस्था में एक प्रकार की स्थानीयता होती है। यदि संघ के किसी राज्य में कोई ख़तरा या संकट उत्पन्न होता है तो राष्ट्रव्यापी बनने के पहले उसे उसी राज्य में सीमित करके रोका जा सकता है।

(६) संघ में केन्द्रीय विधानमंडल का बोझ हलका किया जा सकता है। क्षेत्रीय समस्याओं पर राज्यों के विधानमंडल क़ानून बना सकते हैं। केवल देशव्यापी राष्ट्रीय समस्याओं पर संघ का विधानमंडल क़ानून बनावेगा। इससे काम भी जल्दी होगा।

(७) संघ में बहुत से क्षेत्रीय शासन होने के कारण जनता में एक राजनीतिक जागृति बनी रहती है। वे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहते हैं और उनमें देशभक्ति की भावना बढ़ती है।

(८) क्षेत्रीय शासन में जनता का शासन-व्यवस्था से सक्रिय सम्पर्क बना रहता है। इससे उसमें ढिलाई नहीं आ पाती।

संघ-व्यवस्था के दोष :—विद्वानों ने संघ-व्यवस्था में जहाँ इतने गुण देखे हैं वहाँ उन्होंने उसमें कुछ दोष भी दिखाये हैं। उनका कहना है कि इस शासन

---

१ Bryce "American Common wealth" **Vol. I, PP. 350-353**

व्यवस्था में संघ और राज्यों के बीच शासन सत्ता का बँटवारा हो जाता है। साथ ही शासन के एक अंग को दूसरे अंग से सन्तुलित और सीमित करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे कि न्यायपालिका विधानमंडल के कार्यों की देख-रेख करती है। इन सबका नतीजा यह होता है कि शासन में एक प्रकार का लचरपन या कमज़ोरी आ जाती है। साथ ही इसमें शक्ति और साधनों की बरबादी भी काफ़ी होती है। एकात्मक शासन में केवल एक शासन से काम चल जाता है, लेकिन इसमें कई शासन और सबके सब प्रायः एक से स्थापित करने पड़ते हैं। डाइसी का मत है कि एकात्मक शासन की तुलना में संघ-शासन कमज़ोर होता है। क्योंकि संघ-शासन में शक्तियों का बँटवारा हो जाता है। संघ-व्यवस्था में राजनीतिज्ञ संघ के विभिन्न राज्यों के बीच संतुलन बनाने में ही लगे रहते हैं।

दूसरा दोष यह है कि जहाँ संघ-व्यवस्था होती है, वहाँ क़ानून की सत्ता पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है। लोग क़ानून की अवज्ञा करने से डरेंगे। इसलिये संविधान में न्यायपालिका का महत्त्व बहुत होगा। इसका दूसरा पहलू यह है कि जहाँ क़ानून के प्रति श्रद्धा नहीं होगी वहाँ दलबन्दी के स्वार्थ क़ानूनों को ही तोड़-मरोड़ देंगे। इसीलिये कहा गया है कि संघ-व्यवस्था सब देशों के लिये उपयुक्त नहीं है, जिन देशों के लोग क़ानून में आस्था या श्रद्धा रखते हैं वहीं संघ सफल हो सकता है।

तीसरा दोष यह है कि संघ में दोहरी राजभक्ति या देश-भक्ति होती है। हमें अपने देश का भक्त भी रहना पड़ता है और अपने प्रान्त या राज्य का भी। हम भारतवासी हैं और पंजाबी, मद्रासी और बंगाली इत्यादि भी।

चौथे, संघ में सब बातें दोहरी तो होती ही हैं, इसलिये उसमें फ़िज़ूल ख़र्च होता है, पर तिस पर भी शासन में वह दत्तचित्त दृढ़ता नहीं आ पाती जो एकात्मक शासन में होती है। संघ-शासन में छोटी-छोटी बातों पर प्रगति रुक जाती है; पर एकात्मक शासन में वही काम गतिपूर्वक होते रहते हैं।

पाँचवें, संघ शासन में हमेशा यह डर लगा रहता है कि कोई राज्य संघ से अलग न हो जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १८१२ में ऐसा हो चुका है।

छठें, यह डर लगा रहता है कि संघ के कुछ राज्य मिलकर अन्य राज्यों को आत्मसात न कर लें।

सातवें, लिखित संविधान होने से संघ-शासन रूढ़िवादी होने की प्रवृत्ति रखता है। बात-बात में संविधान की दुहाई दी जाती है और उसमें संशोधन को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

ब्रॉइस ने संघ-व्यवस्था में निम्नलिखित दोषों का वर्णन किया है :—

(१) संघ की परराष्ट्र नीति का संचालन कमज़ोर होता है।

(२) संघ-सरकार का राज्यों तथा नागरिकों पर दृढ़ प्रभाव नहीं होता।

(३) संघ को हमेशा यह डर लगा रहता है कि कुछ विद्रोही राज्य अलग न हो जायँ नहीं तो संघ का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाय।

(४) संघ के रहते हुए भी राज्य आपस में गुटबन्दी कर सकते हैं—या तो कुछ राज्य दूसरें राज्यों के विरुद्ध या संघ के विरुद्ध।

(५) कभी-कभी संघ ऐसे विषयों पर क़ानून बनाने के अधिकार से वंचित होता है, जो वास्तव में राज्य के हित में आवश्यक होते हैं।

(६) संघ के सब राज्यों में क़ानून बनाने और शासन की प्रक्रिया एक-सी नहीं होती।

(७) संघ शासन में ख़र्च, कष्ट और देरी बहुत होती है।

एक बात ध्यान में रखने की यह है कि ब्रॉइस ने ये निष्कर्ष अमेरिकी संघ व्यवस्था के आधार पर निकाले थे। इसलिये ये सबके सब प्रत्येक संघ-व्यवस्था में लागू नहीं होते। फिर ब्रॉइस का अध्ययन बहुत पुराना है। तब से आज अमेरिकी संघ के तत्त्वों में भी काफी परिवर्तन हुए हैं।

एकात्मक शासन के गुण :—संघ शासन के गुण और दोष हम देख चुके हैं। अब हम एकात्मक दोषों के गुणों की समीक्षा करेंगे। विद्वानों का मत है कि आधुनिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गति इतनी तीव्र हो गई है कि प्रायः सब देशों में एक मज़बूत और शक्तिवाली केन्द्रीय शासन की आवश्यकता महसूस की जा रही है। युद्धकाल में संयुक्त राज्य अमेरिका में द्वितीय महायुद्ध के समय प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट का शासन एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन था। आस्ट्रेलिया के संघ-शासन में भी यही प्रवृत्ति देखने में आती है। भारत में भी संघ-शासन होते हुए भी उसका रूप एकात्मक संघ रखा गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका शायद संघ-शासन का सबसे अच्छा उदाहरण है। लेकिन उसके सम्बन्ध में भी एफ० जी० गुडनो ने लिखा है कि यदि अमेरिकावासियों को अब एक नया संविधान बनाना पड़े तो वे ऐसा संविधान बनावेंगे जिसमें केन्द्र बहुत अधिक शक्तिशाली हो और जिसमें संविधान में आसानी से संशोधन हो सके। वे कनाडा के संघीय संविधान के आकार का संघ संविधान बनावेंगे।

विलोबी ने एकात्मक शासन के लाभ इस प्रकार बताये हैं[१]—

सबसे पहली बात यह है कि एकात्मक शासन में कार्य-क्षमता और दक्षता बहुत अधिक होती है। एकात्मक सरकार में शासन-संगटन की समस्या बड़ी आसान हो जाती है। जो संस्था संविधान बनाती है उसका काम बड़ा आसान हो जाता है।

---

१ W. F. Willoughby—The Government of Modern States.

उसे पूरे देश के लिये केवल एक शासन का संगटन करना पड़ता है। उसे शासन-शक्ति के विभाजन इत्यादि बातों पर विचार नहीं करना पड़ता। जब संघात्मक प्रणाली का निर्माण करना पड़ता है तो राज्यों और संघ के बीच अधिकार विभाजन की समस्या बड़ी कठिन हो जाती है। सरकार की दोहरी रूपरेखा बनानी पड़ती है। विलोबी का मत है कि आज भी अमेरिका में संघ और राज्यों के बीच एक तरह की रस्साकशी चलती रहती है।

एकात्मक शासन में दूसरा लाभ यह होता है कि उसमें संघात्मक शासन की अपेक्षा अधिक लचीलापन होता है। संघ में केन्द्र और राज्यों के कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा निर्धारित कर दिये जाते हैं। केवल संविधान में संशोधन द्वारा इस क्षेत्र में परिवर्तन हो सकता है। लेकिन एकात्मक शासन में आवश्यकता के अनुसार संविधान में आसानी से पविरर्तन किया जा सकता है। ब्रिटेन इसका उदाहरण है। वहाँ संसद के एक साधारण क़ानून द्वारा ही संविधान में संशोधन हो सकता है, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान में संशोधन की क्रिया बड़ी पेंचीदी है। तात्पर्य यह है कि एकात्मक शासन परिस्थितियों और विशेष अवसरों का सामना बड़ी आसानी से कर सकता है। लेकिन संघीय-व्यवस्था में यह आसान नहीं होता।

एकात्मक व्यवस्था में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि उसमें एकता या एक-रूपता होती है। शासन की सब शक्तियाँ केवल एक सत्ताधारी संस्था में केन्द्रित रहती हैं। शासन के सब अंग एक ही सत्ता द्वारा चालित होते हैं। इससे शासन का काम आसान हो जाता है। सत्ता में आन्तरिक संघर्ष नहीं होता। शासन में दोहरापन नहीं होता और वह लचीला होता है। ये विशेषताएँ संघीय व्यवस्था में नहीं पायी जातीं। आधुनिक प्रवृत्ति शासन की एकात्मकता पर ही अधिक ज़ोर देती है। संघ-व्यवस्था में अधिकाधिक एकात्मकता पर ज़ोर दिया जाता है।

अध्याय १५

सभात्मक और अध्यक्षात्मक शासन

(Parliamentary and Presidential Forms of Government)

पिछले अध्याय में हमने संघात्मक और एकात्मक शासन के रूपों पर विचार किया। इस भेद का आधार राज्य का क्षेत्र होता है। अर्थात् राज्य की भूमि के विभाजन के आधार पर (Territorial) ये दो पद्धतियाँ स्थिर की जाती हैं। पर शासन का एक वर्गीकरण शासन के कार्यों के आधार पर (Functional) भी किया जाता है और इसके अनुसार भी शासन के दो रूप होते हैं—एक सभात्मक शासन और दूसरा अध्यक्षात्मक शासन। यह विभाजन शासन के तीन प्रधान अंगों—क़ानून निर्माण, कार्यकारिणी और न्यायपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर होता है।

सभात्मक या मन्त्रिमंडल शासन (Parliamentary or Cabinet Government) में शासन के तीन अंग एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं रहते। बल्कि एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इसमें प्रायः विधानमंडल की प्रधानता रहती है और यदि विधानमंडल मंत्रिमंडल में अविश्वास प्रकट करे तो वह त्याग-पत्र दे देता है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन में शासन के तीनों अंग एक दूसरे से स्वतन्त्र रहते हैं। यह स्वतन्त्रता शासन-शक्तियों के विभाजन (Separation of powers) के सिद्धान्त पर आधारित होती है।

सभात्मक प्रणाली में वास्तविक शासन-शक्ति एक मंत्रिमंडल के हाथ में रहती है। यह मंत्रिमंडल विधानमंडल में बहुमत प्राप्त दल के नेताओं में से बनाया जाता है। यह मन्त्रिमंडल अपने कार्यों के लिये विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार रहता है और विधानमण्डल के द्वारा अपने निर्वाचकों के प्रति जिम्मेदार रहता है। शासन का नाममात्र का प्रधान या तो एक राजा होता है जैसा कि ब्रिटेन में है या एक राष्ट्रपति होता है जैसा कि फ़ान्स और भारत में है। इस प्रधान के हाथ में शासन के वास्तविक अधिकार नहीं होते। शासन के वास्तविक अधिकार मंत्रिमंडल के हाथ में होते हैं। यह मंत्रिमंडल वास्तव में विधानमंडल की एक कमेटी होती है और यह तभी तक अपने पद पर होती है जब तक विधानमंडल का उस पर विश्वास रहता है। यह विश्वास विधानमंडल की निम्नसभा या लोकसभा का बहुत आवश्यक है, क्योंकि आधुनिक काल में उच्च-

सभा का उतना महत्त्व नहीं है। मंत्रिमंडल प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वह सामूहिक रूप से विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार होता है। जब विधानमंडल उसमें अविश्वास प्रकट करता है तब पूरा मंत्रिमंडल त्यागपत्र दे देता है। मंत्रिमंडल में शक्ति-विभाजन नहीं होता। वह विधानमंडल का एक आवश्यक अंग होता है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

मंत्रिमंडल प्रणाली का प्रारम्भ ब्रिटेन में हुआ। वहाँ से अन्य देशों में इसका प्रचार हुआ। इंगलेण्ड में राजा नाम के लिए शासक होता है। सब शासन-कार्य उसके नाम में होता है। पर वास्तव में शासन के सब कार्य मंत्रिमंडल करता है। मंत्रिमंडल के सदस्य कॉमन्स या लोकसभा अथवा लॉर्ड्स या उच्च सभा के सदस्य होते हैं। लेकिन ध्यान में रखना चाहिए कि मंत्री चाहे जिस सदन के सदस्य हों, वे लोकसभा के द्वारा निर्वाचकों के प्रति जिम्मेदार होते हैं। इंगलेण्ड में प्रधान मन्त्री अपना मंत्रिमंडल भंग करके नया निर्वाचन करा सकता है। फ़ान्स में भी मंत्रिमंडल प्रणाली का प्रचलन है। लेकिन वहाँ मंत्रियों का विधानमंडल का सदस्य होना आवश्यक नहीं है। लेकिन मंत्री होने के नाते वे देश के दो सदनों में से किसी भी सदन में बैठ सकते हैं और उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं। इंगलेण्ड की तरह फ्रान्स के मंत्री विधानमंडल के नेता नहीं होते; वे विधानमंडल का अनुसरण करते हैं। विधानमंडल भंग करके नया चुनाव कराने का उनका अधिकार बहुत सीमित होता है। बल्कि विधानमंडल ही मंत्रिमंडल को बहुधा भंग करता रहता है। इंगलेण्ड में विधानमंडल मंत्रिमंडल बनाता है; पर मन्त्रिमंडल विधानमंडल को भंग कर सकता है। लेकिन फ़ान्स में विधानमंडल मंत्रिमंडल को भंग कर सकता है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली

अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यकारिणी अर्थात् मंत्रिमंडल विधानमंडल से स्वतन्त्र होता है और विधानमंडल मंत्रिमंडल से स्वतन्त्र होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अमेरिका में शासन का प्रधान राष्ट्रपति होता है। वह जनता द्वारा अप्रत्यक्ष विधि से एक निश्चित अवधि द्वारा चुना जाता है और विधानमंडल उसे अपदस्थ नहीं कर सकता। केवल भ्रष्टाचार या दुराचार के आरोप पर वह विशेष प्रक्रिया द्वारा कभी-कभी अपदस्थ किया जा सकता है। वह विधानमंडल का सदस्य नहीं होता, पर उसमें भाषण दे सकता है। राष्ट्रपति अपना एक मंत्रिमंडल नियुक्त करता है। वह उन्हें अपनी इच्छानुसार बरखास्त भी कर सकता है। ये मंत्री न तो विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार ही होते हैं और न उसमें बैठते हैं, न उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं। अध्यक्षात्मक प्रणाली में एक विधानमंडल भी होता है, जिसमें प्राय: दो सदन होते

हैं। राष्ट्रपति विधानमंडल को भंग नहीं कर सकता। पर वह उसके बनाये हुए क़ानूनों को अमान्य कर सकता है। लेकिन किसी क़ानून के अमान्य घोषित होने के बाद यदि वह विधानमंडल के प्रत्येक सदन में दो-तिहाई बहुमत से पास हो जाता है तो फिर वह राष्ट्रपति के लिये मान्य हो जाता है। विधान-मंडल उसे पदच्युत नहीं कर सकता। राष्ट्रपति के मंत्री केवल उसके सलाह-कार होते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति जिम्मेदार होते हैं, सामूहिक रूप से नहीं। तात्पर्य यह है कि अध्यक्षात्मक प्रणाली में विधानमंडल और प्रशासन या कार्यकारिणी एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र होते हैं।

अब हम सभात्मक और अध्यक्षात्मक प्रणालियों की तुलना इस प्रकार कर सकते हैं।

दो प्रणालियों की तुलना

(१) अध्यक्षात्मक प्रणाली शक्ति-विभाजन (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर आधारित है और सभात्मक प्रणाली शक्ति सम्मिलन के सिद्धान्त (union or fusion of powers) पर आधारित है।

(२) अध्यक्षात्मक प्रणाली में राज्य या शासन का प्रधान नाममात्र का प्रधान नहीं होता जैसा कि सभात्मक प्रणाली में होता है। वह देश की शासन शक्ति का वास्तविक प्रधान होता है। क़ानूनन तथा वास्तव में उसे शासन के सब अधिकार प्राप्त रहते हैं। इसके विपरीत सभात्मक प्रणाली में शासन का प्रधान नाममात्र का प्रधान होता है। न उसे वास्तविक अधिकार प्राप्त रहते हैं, न उसकी कोई जिम्मेदारी होती है।

(३) अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका संविधान के आधार पर विधानमंडल से बिलकुल स्वतन्त्र होती है। राष्ट्रपति ही कार्यपालिका का काम करता है। सभात्मक प्रणाली में कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमंडल विधान-मंडल का एक अंग होता है। इसलिये वह विधानमंडल पर निर्भर रहता है।

(४) अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल एक निश्चित अवधि के लिये होता है। उस अवधि के पहले वह पदच्युत नहीं की जा सकती। लेकिन सभात्मक प्रणाली जब वह व्यवस्थापिका या विधानमंडल का विश्वास खो देती है तो वह पदच्युत कर दी जाती है। तात्पर्य यह है कि पहले में अविश्वास के प्रस्ताव का कोई अर्थ नहीं है और दूसरे में वह केवल विधानमंडल के विश्वास पर ही निर्भर रहती है।

(५) अध्यक्षात्मक प्रणाली में मंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। वे केवल उसी के प्रति जिम्मेदार होते हैं; विधानमंडल के प्रति नहीं। लेकिन सभात्मक प्रणाली में वे केवल विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(६) अध्यक्षात्मक प्रणाली में मंत्री विधानमंडल के सदस्य नहीं होते। वे विधानमंडल में न कोई विधेयक पेश कर सकते हैं, न उसमें भाषण दे सकते हैं और न उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं। लेकिन सभात्मक प्रणाली में सब महत्त्वपूर्ण विधेयक मंत्रियों द्वारा पेश किये जाते हैं। वे विधानमंडल के सदस्य होते हैं, उसमें भाषण देते हैं, उसकी कार्यवाही में भाग लेते हैं और अपने कार्यों के लिये उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं।

तानाशाही, अध्यक्षात्मक और सभात्मक प्रणाली के भेद को एक लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

(१) तानाशाही में सरकार के तीनों कार्य एक व्यक्ति अर्थात् राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित रहते हैं। अर्थात् विधानमंडल और न्यायपालिका पूर्णरूप से कार्यपालिका के नियंत्रण में रहते हैं।

(२) जहाँ विधानमंडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र होते हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में काम करते हैं वहाँ अध्यक्षात्मक सरकार होती है।

(३) जहाँ कार्यपालिका विधानमंडल पर निर्भर होती है और उसके नियन्त्रण में होती है वहाँ सभात्मक सरकार होती है।

सभात्मक प्रणाली के लाभ—सभात्मक प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि बहुमत की इच्छाओं का पालन बड़ी आसानी से हो सकता है। क्योंकि मंत्रिमंडल विधानमंडल की एक कमेटी के समान होता है और उसमें बहुमत प्राप्त दल के नेता ही रहते हैं। नतीजा यह होता है कि यदि मंत्रिमंडल की नीति अपने दल के मनोनुकूल होती है तो उसे पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है। इसका मतलब यह है कि सभात्मक प्रणाली में संसद और कार्यपालिका में पूर्ण मतैक्य रहता है। संघर्ष नहीं होता। प्रोफ़ेसर विलोबी का भी मत है कि सभात्मक प्रणाली में जिम्मेदारी एक अंग में केन्द्रित रहती है। शासन का संचालन एक सूत्र द्वारा होता है और सरकार के विभिन्न अंगों में संघर्ष नहीं होता। अमेरिका में यदि विधानमंडल और कार्यपालिका में मतैक्य हो, संघर्ष न हो तो उसे एक विशेष घटना समझना चाहिए। प्रायः ऐसे मौक़े आते रहते हैं जब कि स्वयं राष्ट्रपति या गवर्नर विधानमंडल में अपनी पार्टी से मतभेद रखता है। नतीजा यह होता है कि न तो कार्यपालिका अपनी नीति को पूर्णरूप से कार्यान्वित कर सकती है और न विधानमंडल ही। विधानमंडल कार्यपालिका की उपेक्षा करके अपनी नीति पर तभी अमल कर सकती है जब वह किसी मसले पर दो तिहाई मत प्राप्त कर सके। इसके विपरीत इंगलेण्ड में विधानमंडल और कार्य-पालिका में संघर्ष कभी नहीं होता। यदि कभी हुआ भी तो वह आसानी से

सुलझ जाता है। जब शासन-शक्ति एक ही अंग में केन्द्रित होती है तो संकट के समय सरकार बड़ी पटुता के साथ क्रियाशील हो सकती है।

ब्रॉइस का मत है कि विधानमंडल में मन्त्रियों की उपस्थिति से दो लाभ होते हैं। एक तो मंत्री अपने दल तथा विरोधी दल के सम्पर्क में निरन्तर रहते हैं। इससे वे सभा की भावनाओं और विचारों से परिचित रहते हैं और सभा के द्वारा जनता से भी उनका निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है। सभा में की गई सरकार की आलोचना का वे भरपूर सदुपयोग कर सकते हैं। साथ ही सभा के सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों की जनता की शिकायतें मन्त्रियों के पास आसानी से पहुँचा सकते हैं और जनहित के प्रश्नों पर आसानी से आवश्यक सूचना प्राप्त कर सकते हैं। सभा में जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनका मन्त्रियों तथा जनता के लिये बड़ा महत्त्व होता है। इनके द्वारा सभा सदस्य सरकार की गतिविधि पर कड़ी नजर रख सकते हैं, उसकी आलोचना कर सकते हैं और उसके सामने अपने सुझाव रख सकते हैं। मन्त्री भी उत्तरों द्वारा अपने कामों की सफ़ाई देते हैं और नीति में सुधार तथा परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रणाली का दूसरा लाभ यह है कि सरकार शीघ्रतापूर्वक अपने निर्णय ले सकती है और जल्दी पूरी शक्ति के साथ उन निर्णयों पर अमल कर सकती है। देश-हित में सरकार जो क़ानून आवश्यक समझती है वे आसानी से बन सकते हैं और सरकार अपनी नीति पर पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ अमल कर सकती है, क्योंकि उसे बहुमत दल का समर्थन प्राप्त रहता है। वह जानती है कि विरोधी दल उस पर आक्रमण करेगा तो उसका दल उसका साथ देगा।

तीसरा लाभ यह है कि सभात्मक प्रणाली में शासन-शक्ति सरकार के एक अंग में केन्द्रित रहती है और संघ शासन में वह कई अंगों में वितरित रहती है। सभात्मक प्रणाली में मन्त्रिमण्डल पर बड़ी भारी जिम्मेदारी रहती है। उसे हमेशा बड़ी सतर्कता के साथ काम करना पड़ता है। न जाने कब सभा उससे किस काम पर क़ैफ़ियत माँग बैठे। न जाने कब सभा उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर बैठे।

चौथा लाभ यह है कि सभात्मक प्रणाली में सरकार की बागडोर हमेशा प्रतिष्ठित और योग्य व्यक्तियों के हाथ में रहती है। उनमें ईमानदारी, योग्यता, उद्यमशक्ति और बुद्धिमत्ता होती है। वे अच्छे वक्ता होते हैं और जनता के हित की बातें अच्छी तरह समझा सकते हैं। इन बातों को प्रोफ़ेसर लॉस्की ने बड़ी अच्छी तरह रखा है।[1] ब्रिटेन के हॉउस ऑफ कॉमन्स की चर्चा करते

---

१ देखिये प्रोफ़ेसर लॉस्की कृत, 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स'।

हुए लॉस्की ने लिखा है कि इस सभा में चाहे जो भी त्रुटियाँ हों लेकिन एक बात स्पष्ट है कि इसका नेतृत्त्व हमेशा उच्चकोटि के व्यक्तियों के हाथ में रहा है। यह एक आश्चर्यजनक बात कही जा सकती है। इसमें एक ओर उच्चकोटि की वक्तृत्व शक्ति देखने में आई है तो दूसरी ओर उच्चकोटि की प्रशासन शक्ति का भी परिचय मिला है। इसमें योग्यता और चरित्र दोनों की छाप रही है। मुझे इसके समान उपयोगी अन्य कोई प्रणाली नहीं दिखती। साधारणतः अमेरिका का राष्ट्रपति एक अज्ञात व्यक्ति होता है और उसका मंत्रिमंडल प्रतिनिधित्व की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता। लेकिन इसके विपरीत ब्रिटिश मंत्रिमंडल के प्रत्येक सदस्य को जनता बहुत पहले से जानती रहती है। सार्वजनिक जीवन में या जनता की नज़रों में वह तपा तपाया रहता है। पद पर आने के पहले उसे एक प्रकार का प्रशिक्षण मिल चुकता है।

पाँचवें, संसद में विरोधी दल बड़ा लाभकारी होता है। बहुमत प्राप्त दल तो सरकार बनाता है; लेकिन अल्पमत वाला दल निरन्तर सरकार की ग़लतियों और कमज़ोरियों की आलोचना करके जनता का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश करता है। इसका अर्थ यह है कि जब सरकार की पराजय होती है तो उसके बदले में तुरन्त एक ऐसा दल मिल जाता है कि सरकार बनाने को तैयार रहता है और यह दल ऐसा होता है जिसे संसदीय कार्य का अनुभव होता है। जेनिंग्ज़ ने विरोधी दल के महत्त्व का वर्णन इस प्रकार किया है। जब आम चुनाव होता है तब सरकार की स्थापना के साथ ही एक विरोधी दल की भी स्थापना होती है। साधारणतः प्रधान मंत्री के सामने संसद में विरोधी दल का नेता भी बैठता है। सरकारी दल के सदस्यों के सामने विरोधी दल के सदस्य बैठते हैं। जब मौजूदा सरकार में सभा अर्थात् जनता अविश्वास प्रकट करती है तब विरोधी दल सरकार हो जाता है और उसका नेता प्रधान मंत्री। यह परिवर्तन बड़े स्वाभाविक ढंग से होता है। साथ ही जनता को जागृत रखने का यह बड़ा भारी साधन है।

छठाँ लाभ यह है कि संसद प्रणाली में हमेशा जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व बड़ी अच्छी तरह से होता है। जनता की राय और उसकी आलोचनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसा कि डाइसी ने लिखा है संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल को जनमत के प्रति बहुत सचेत रहना पड़ता है। उसके अनुसार चलना पड़ता है। वह वैधानिक तथा प्रशासकीय कार्यों में जनमत पालन करने का अधिक से अधिक प्रयत्न करता है। क्योंकि उसी पर तो उसका अस्तित्त्व निर्भर रहता है।

सातवाँ लाभ यह है कि इस प्रणाली में लचीलापन या परिवर्तनशीलता रहती है। इससे यह नयी परिस्थितियों का सामना बड़ी आसानी से कर सकती है। क्योंकि यह विधानमंडल के सामने अपना दृष्टिकोण बड़ी आसानी से रख सकती है और उसका विश्वास प्राप्त कर सकती है। संकटकाल में सरकारी दल और विरोधी दल मिलकर काम कर सकते हैं जैसा कि द्वितीय महायुद्ध के समय इंगलेण्ड में हुआ था। इसीलिये यह कहा गया है कि इस प्रणाली में बड़ी सहनशीलता होती है।

इस प्रणाली का आठवाँ लाभ यह है कि राष्ट्र का प्रधान राजनीतिक दलबन्दी से परे होता है। भारत का राष्ट्रपति और इंगलेण्ड के राजा इसके उदाहरण हैं। राजनीतिक दल अपनी सरकारें बनाते हैं। सरकारें बदलती रहती हैं। पर राष्ट्र का प्रधान यथावत् रहता है। वह राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है। अन्य संसदीय प्रथाओं की तरह यह प्रथा भी इंगलेण्ड से प्रारम्भ हुई। उस देश में प्रथम जार्ज ने मंत्रिमंडल की कार्यवाही में भाग लेना बन्द कर दिया और वालपोल प्रधान मन्त्री के रूप में शासन चलाने लगा। तब से यह प्रथा चल पड़ी कि राष्ट्र का प्रधान कार्यपालक राजनीतिक दलबन्दी से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस विशेषता की प्रशंसा करते हुए लार्ड ब्रॉइस ने लिखा है कि वास्तविक कार्यपालिका तो एक दल विशेष की होती है और उसमें परिवर्तन होता रहता है। और जो शासन का नाम मात्र का प्रधान होता है वह दलबन्दी से परे होता है। इसलिये वह शासन की उस मशीन का प्रतिनिधि होता है जो सरकार के परिवर्तनों के बावजूद शान्तिपूर्वक चलती रहती है। जब एक सरकार का पतन होता है तब वह विरोधी दल के नेता को सरकार बनाने का नियन्त्रण देता है। मंत्री बदल जाते हैं और शासन ज्यों का त्यों चलता रहता है।

अन्त में यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस प्रणाली से जनता में बड़ी जागृति फैलती है। उसे राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। चुनाव जीतने के लिये दल अपने देशव्यापी संगठन बनाते हैं। उनकी शाखाएँ देश के कोने-कोने में छा जाती हैं। प्रत्येक दल जनता का मत प्राप्त करने की कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि लोगों के किसी भी बात के सब पहलू मालूम हो जाते हैं। अमेरिका में अध्यक्षात्मक प्रणाली प्रचलित है। वहाँ जब एक दल सत्ता पा जाता है तो फिर संविधान द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर उसे कोई पदच्युत नहीं कर सकता। अर्थात् उस अवधि में वह जनता तथा उसके प्रतिनिधियों की उपेक्षा कर सकता है। लेकिन इंगलेण्ड में ऐसी बात नहीं है। वहाँ लोकसभा किसी भी समय सरकार अर्थात् मंत्रिमंडल में अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे

अपदस्थ कर सकता है। लोकसभा में जो वाद-विवाद होते हैं वे किसी न किसी रूप में समाचार-पत्रों में छपते रहते हैं और उनके आधार पर जनता विभिन्न दलों के बारे में अपनी राय बनाती रहती है।

इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा गया है कि सभात्मक प्रणाली अध्यक्षात्मक प्रणाली से श्रेष्ठ होती है। इस बात का समर्थन करते हुए लास्की ने कहा है कि कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमंडल को विधानमंडल अर्थात् संसद की एक कमेटी बना देने से कई सुविधाएँ हो जाती हैं। कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर रह सकती है जब तक कि उसे विधानमंडल का विश्वास प्राप्त है। इससे मंत्रिमंडल और विधानमंडल के बीच अड़ंगा पैदा नहीं हो पाता जैसा कि अमेरिका में अक्सर हो जाया करता है। अमेरिका में तो यह अड़ंगा तब भी पैदा हो जाता है जब राष्ट्रपति अर्थात् कार्यपालिका का दल विधानमंडल में बहुमत में रहता है। सभात्मक प्रणाली में मंत्रिमण्डल पर हमेशा जिम्मेदारी का भार रहता है। वह हमेशा अपनी नीति विधानमंडल को समझाता रहता है। यदि विधानमंडल मंत्रिमंडल से सहमत नहीं है तो वह विरोधी दल को शासनसत्ता सौंप देगा। जब मंत्रिमंडल विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार नहीं होता तो वह मनमाना शासन चलाता है और विधानमंडल मनचाहे क़ानून बनाता है।

सिडनी लो नामक विद्वान ने सभात्मक प्रणाली के निम्नलिखित लाभ गिनाये हैं।[१]

(१) इस प्रणाली में सबसे बड़े जनतांत्रिक सिद्धान्त की रक्षा होती है। वह यह कि अन्तिम निर्णय जनता के हाथ में रहता है। अपने शासकों और क़ानून बनानेवालों का चुनाव जनता स्वयं करती है।

(२) शासन कार्य ऐसे लोगों के हाथ में सौंपा जाता है, जिनके विचार लोकसभा के बहुमत प्राप्त दल के अनुकूल होते हैं।

(३) यह प्रणाली मंत्रिमंडल को शासन के विस्तृत अधिकार देती है, साथ ही उसे हर वक्त लोकसभा के प्रति जिम्मेदार बनाये रखती है और लोकसभा द्वारा जनता के प्रति जिम्मेदार बनाये रखती है। क्योंकि लोकसभा जनता के प्रति जिम्मेदार होती है।

(४) किसी भी प्रशासकीय कार्य का चाहे जब सार्वजनिक रूप से वाद-विवाद हो सकता है।

(५) प्रशासकों को हर समय जनता के न्यायालय के सामने अपने कार्यों की क़ैफ़ियत देने के लिये तैयार रहना पड़ता है। जनता का यह न्यायालय

---

१ Sydney Low 'Governance of England'

अर्थात् लोकसभा यदि उनके कार्यों से असन्तुष्ट हुआ तो वे तुरन्त पदच्युत किये जा सकते हैं।

(६) एक ऐसी वास्तविक राजसत्ता स्थापित होती है, जो हर समय शासन तथा क़ानून बनाने के क्षेत्र में सर्वोपरि रहती है।

(७) जनता के मनोनुकूल प्रशासन की कार्रवाई तथा सुधार कार्य आसानी से होते रहते हैं।

ब्रिटेन में मिस्टर हरबर्ट मॉरिसन वर्षों तक लोकसभा के सदस्य रह चुके हैं। मि० एटली के मंत्रिमंडल में वे मज़दूर सरकार के मंत्री भी थे। अपने दीर्घ अनुभव के आधार पर उन्होंने ब्रिटेन के संविधान पर सन् १९५४ में एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उन्होंने लिखा है कि जो मंत्रिमंडल अपने समर्थकों की इच्छाओं और भावनाओं की उपेक्षा करेगा वह संकट में पड़ेगा। और यह संकट जल्दी ही आ सकता है। यह बात अवश्य है कि सार्वजनिक हित की किसी भी बात पर उसे एक दृढ़ निश्चय करना चाहिये। पर इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करने के लिये उसे प्रयत्न करके अपने समर्थकों की सहमति प्राप्त करनी पड़ती है। मेरा यह अनुभव है कि अन्त में यही रीति सबसे अधिक लाभकारी होती है।[१]

सभात्मक प्रणाली के दोष :—सभात्मक प्रणाली में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ विद्वानों ने कुछ दोष भी बताये हैं। सबसे बड़ा दोष यह है कि यह प्रणाली राजनीतिक दलबन्दी को प्रोत्साहन देती है। इससे देश में मतभेद का वातावरण बना रहता है। ब्रॉइस ने भी लिखा है कि सभात्मक प्रणाली देश में हर समय

---

१ "A cabinet that proceeded to ride rough-shod over the feelings and wishes of its supporters, relying on the whips to enforce its will, would be asking for trouble; and it would be not long before it got it. It must be ready to take a firm line on essential matters of public interest, but a government cannot hold its majority together unless it takes trouble to do so.......It is a widespread belief that the whips have no other duty than to bully and coerce members against their will into voting in the party lobby and speaking in accordance with the "party line.' This is an inaccurate and incomplete picture of the functions of the whips. It is persuation rather than bullying that is the rule ; it is reasoning with a recalcitrant member rather than coercion that is the general practice."—**Herbert Morrison, "Goveranment and Parliament" (1954).**

एक खलबली का वातावरण बनाये रखती है। जब देश के सामने प्रमुख समस्याएँ नहीं रहतीं तब भी विरोधी दल सरकारी पद प्राप्त करने के लिये सरकार का विरोध करके एक आन्दोलन सा चलाते रहते हैं। जब विरोधी दल सत्तारूढ़ हो जाता है तो भूतपूर्व सत्तारूढ़ दल विरोध में आकर उसके विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार हमेशा एक अशान्ति का वातावरण बना रहता है।

दूसरे, यह विरोध का वातावरण देश में तो रहता ही है, विधानमंडल में यह विरोध और उग्ररूप धारण कर लेता है। लेकिन विरोध करने के लिये विरोधी दल सरकार की आलोचना करता है। कभी-कभी सदस्यों में हाथापाई तक हो जाती है। इससे समय बहुत बरबाद होता है। इससे उपयोगी क़ानून बनने में भी कभी-कभी बड़ा विलम्ब लग जाता है। इसका असर जनता पर भी पड़ता है। उसमें उदासीनता की भावना बढ़ती है।

तीसरे, कहा जाता है कि इस प्रणाली में कार्यपालिका और विधानमण्डल में सामञ्जस्य होने से शासन सुचारुरूप से चलता है। लेकिन डॉइसी का मत है कि इसमें एक ख़तरा यह रहता है कि कार्यपालिका विधानमंडल का खिलौना बन सकती है। फल यह होगा कि चुनी हुई संस्था में जो मतभेद और अस्तव्यस्तता रहती है उसकी छाया कार्यपालिका पर भी पड़ेगी। लेकिन इसके विपरीत लॉस्की का मत है कि यदि विधानमंडल का प्रभाव न रहे तो कार्यपालिका निरंकुश हो जायगी और मनमाना शासन करेगी। ऐसी परिस्थिति में विधानमंडल कार्यपालिका की हाँ में हाँ मिलानेवाली संस्थामात्र रह जायगी। अर्थात् विधानमंडल एक शक्तिहीन संस्था रह जायगी।

चौथे, यह कहा जाता है कि पदच्युत होने के डर से मंत्रिमंडल हमेशा पार्लियामेन्ट को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है। इसलिये यदि पार्लियामेन्ट नहीं चाहती तो वह देश के लिये उपयोगी क़ानून बनाने की भी हिम्मत नहीं करता। चाहे उससे देश का नुक़सान ही क्यों न हो। संसद भी मंत्रिमंडल की इस कमज़ोरी का लाभ उठाकर शासन कार्य में अनुचित हस्तक्षेप कर सकता है। मंत्रिमंडल की एक मात्र चिन्ता यह रहेगी कि किसी प्रकार शासन चलाते चलो।

इस प्रकार मंत्रिमंडल और विधानमंडल के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। सारा प्रश्न दोनों अंगों के बीच एक उचित सामंजस्य स्थापित करने का है। डॉइसी कहता है कि यदि मंत्रिमंडल कमजोर होगा तो देश उसका आदर नहीं करेगा। यदि मंत्रिमंडल प्रबल होगा तो देश विधानमंडल का आदर नहीं करेगा। ब्रिटेन का उदाहरण देते हुए गॉरनर ने लिखा है कि देखने में यह आता है कि मंत्रिमंडल के सामने ब्रिटेन की पार्लियामेन्ट एक

शक्तिहीन, हाँ में हाँ मिलानेवाली संस्था रह गई है। हॉउस ऑफ कॉमन्स एक बड़ी सभा है। उसमें किसी समस्या पर उचित रूप से वाद-विवाद होना असम्भव हो गया है। अतएव क़ानून बनाने का और नेतृत्व भी मंत्रिमंडल के हाथ में केन्द्रित हो गया है। इसीलिये मंत्रिमंडल की तानाशाही की स्थिति आ गई है। वास्तविक शासन-शक्ति एक व्यक्ति अथवा थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो गई है। पार्लियामेन्ट ने अपना काम थोड़े से विश्वसनीय लोगों के हाथों में छोड़ दिया है। गॉरनर की इस आलोचना का उत्तर देते हुए लॉवेल लिखता है कि यदि सभात्मक प्रणाली में मंत्रिमंडल की स्थिति निरंकुश शासक की हो गई है तो भी उसमें एक गुण यह है कि उस पर संसद तथा प्रेस की आलोचना की बौछार पड़ती रहती है।

पाँचवें, सिज़विक का मत है कि इस प्रणाली में एक ख़तरा यह है कि मंत्रिमंडल शासन कार्य से विमुख होकर क़ानून बनाने के चक्कर में पड़ सकता है और इसी भाँति विधानमंडल क़ानून बनाने के काम से विमुख होकर शासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप की प्रवृत्ति दिखा सकता है।

छठाँ दोष यह बताया गया है कि युद्ध आदि संकट के समय संसदीय शासन कमज़ोर पड़ता है। वह शीघ्रतापूर्वक निर्णय नहीं कर सकता। गिलक्राइस्ट का मत है कि संसदीय प्रणाली में अनावश्यक वाद-विवाद में बहुत समय बरबाद हो सकता है। आवश्यक निर्णय भी देर में हो सकते हैं। शान्तिकाल में वाद-विवाद एक उपयोगी चीज़ होती है; परन्तु युद्धकाल में वह हानिकारक हो सकती है। यह बहुत भारी दोष है। ऐसे अवसर पर अध्यक्षात्मक प्रणाली अधिक उपयोगी होती है। लेकिन गिलक्राइस्ट को उत्तर देते हुए विलोबी ने लिखा है कि यह आवश्यक नहीं है कि युद्धकाल में अध्यक्षात्मक प्रणाली अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। द्वितीय महायुद्ध में चर्चिल ने प्रधान मंत्री की हैसियत से जापान पर तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी थी; पर अमेरिका में राष्ट्रपति को निर्णय लेने में ६ महीने लग गये। विलोबी के मतानुसार संकटकाल में भी सभात्मक प्रणाली ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सातवें, सभात्मक प्रणाली में दलबन्दी प्रथा बड़ा भारी दोष बतलाया गया है। जब कोई दल सत्तारूढ़ होता है तो वह प्रत्येक काम इस दृष्टि से करता है जिससे दल की स्थिति मजबूत रहे और वह सतारूढ़ बना रहे। नेता भी देश-हित के प्रति उतने सजग नहीं रहते जितने दल के हितों के प्रति। देश में दल के लिये दल का शासन हो जाता है।

आठवें, कुछ विद्वानों का मत है कि सभात्मक प्रणाली तभी सफलतापूर्वक चल सकती है जब देश में केवल दो राजनीतिक दल हों। यदि दो से अधिक दल हुए

तो बहुत से दल बनते-बिगड़ते रहते हैं और देश के शासन में दृढ़ता और स्थिरता नहीं आने पाती। फ्रान्स इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। वहां कोई भी मंत्रिमंडल दृढ़तापूर्वक आत्मविश्वास के साथ काम नहीं कर सकता। आग्ग ने लिखा है कि सभात्मक प्रणाली का विश्वास ब्रिटेन में ऐसे समय में हुआ जब वहां केवल दो दल थे। जब-जब तीसरे दल का उद्भव हुआ है तब-तब वहां अस्थिरता के लक्षण भी दिखाई पड़े हैं। आस्ट्रेलिया, कैनाडा और दक्षिण अफ्रीका में भी ऐसा ही हुआ है।

अन्त में यह खतरा भी है कि मंत्रिमंडल और विधानमंडल में मतैक्य रहने से यदि संकट के समय दोनों मिलकर जल्दी में कोई निर्णय ले लेते हैं और वह निर्णय ग़लत होता है तो फिर उसका परिहार नहीं हो सकता।

इन दोषों के बावजूद भी सभात्मक प्रणाली के पक्ष में ही जनमत अधिक है और इसकी सफलता की विद्वानों ने सराहना की है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली के गुण :—इस प्रणाली के सम्बन्ध में आग्ग का मत है कि सभात्मक प्रणाली के जो गुण हैं वही उसके दोष हैं और उसके जो दोष हैं वही इस प्रणाली के गुण हैं। इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह बताया जाता है कि कार्यपालिका विधानमंडल से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र होती है। अमेरिका का राष्ट्रपति कांग्रेस पर उस तरह निर्भर नहीं रहता जिस तरह ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री और मंत्रिमंडल पार्लियामेन्ट पर निर्भर रहता है। अमेरिका में राष्ट्रपति स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी नीति निर्धारित कर सकता है और चाहे तो कांग्रेस की उपेक्षा भी कर सकता है।

दूसरा गुण यह है कि इस प्रणाली में अनावश्यक विरोधी दल नहीं होता। इस प्रणाली में भी दलबन्दी हो सकती है जैसी कि अमेरिका में हो गई है और निर्वाचन के समय दलबन्दी का वातावरण चरम सीमा तक पहुंच सकता है, लेकिन यह वातावरण स्थायी नहीं होता, चूंकि विधानमंडल अपनी इच्छानुसार मंत्रियों को पदच्युत नहीं कर सकता, इसलिये उसकी नीति में अधिक दृढ़ता और स्थिरता रहती है। वे विधानमंडल के हाथ के खिलौना नहीं बन पाते।

तीसरे, इस प्रणाली से राष्ट्रपति देश का प्रमुख समझा जाता है, राष्ट्र का नेता होता है। केवल एक दल का नेता नहीं होता। इससे उसकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ती है। पूरा देश उसकी निर्णयात्मक बुद्धि की अपेक्षा करता है। प्रधान मंत्री तो एक दल का नेता होता है और दल के साथ ही उसका उद्भव और पराभव होता है। लेकिन एक का नेता होने पर भी राष्ट्रपति जब एक बार अपने पद पर बैठ जाता है तो फिर अपनी अवधि में उसे कोई पदच्युत नहीं कर सकता। आधुनिक काल में विलसन और रूजवेल्ट अमेरिका के महान राष्ट्रपति

हुए हैं। साथ ही लॉयड जार्ज और चर्चिल इंगलेण्ड के महान प्रधान मन्त्री हुए हैं। पर चर्चिल और लॉयड जार्ज को नीति निर्धारण में अपने सहयोगियों की राय समय-समय पर माननी पड़ी; जब कि रुज़वेल्ट जैसे राष्ट्रपतियों ने अपने मन्त्रियों की राय की कोई परवाह नहीं की। अमेरिका के मंत्री राष्ट्रपति के मातहत होते हैं, सहयोगी नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति अथवा अध्यक्ष संसदीय प्रणाली के प्रधान मन्त्री की अपेक्षा अधिक आत्मविश्वास के साथ नीति ग्रहण कर सकता है, क्योंकि प्रधान मंत्री को तो मन्त्रिमंडल और संसद की सहमति की अपेक्षा रहती है।

अध्यक्षात्मक प्रणाली के दोष :—अध्यक्षात्मक प्रणाली में कुछ दोष भी होते हैं। इस सम्बन्ध में विलोबी का कहना है कि इस प्रणाली में शासन-शक्ति और ज़िम्मेदारी कई अंगों में बँट जाती है और प्रत्येक अंग दूसरे से ईर्ष्या रखता है। नतीजा यह होता है कि उनमें आपस में सहयोग नहीं हो पाता। अतएव यह प्रणाली बहुत ही अपरिवर्तनशील हो जाती है। उसमें लचीलापन बिलकुल ही नहीं रह पाता। जब विभिन्न अंगों में अधिकार क्षेत्र या शासन-शक्ति के सम्बन्ध-में विवाद होता हैं तो वे न्यायालय की शरण लेते हैं। न्यायालय संविधान के उन शब्दों से बँधे रहते हैं जो बहुत पहले गढ़े गये थे। अर्थात् जो मौजूदा परिस्थितियों को नहीं समझते। साथ ही फ़ैसला भी सरकार के एक ऐसे अंग द्वारा दिया जाता है जिसे राजनीति तथा तात्कालिक ज़रूरतों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह फ़ैसला प्रायः सरकार अर्थात् जनता की इच्छाओं के विरुद्ध होता है। ऐसी परिस्थिति में एकमात्र उपाय यही होता है कि संविधान में संशोधन किया जाय और यह काम आसान नहीं होता।

इस प्रणाली की दूसरी आलोचना यह की जाती है कि यह "निरंकुश. ग़ैर-ज़िम्मेदार और ख़तरनाक" होती है। निरंकुश इसलिये होती है कि राष्ट्रपति किसी की सलाह लिये बिना ही अपनी इच्छानुसार शासन कर सकता है। मंत्री ग़ैर ज़िम्मेदार इसलिये होते हैं कि संसद उन्हें पदच्चुत नहीं कर सकती और ख़तरनाक इसलिये होती है कि सत्ताधारियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता।

तीसरे, इस प्रणाली में कार्यपालिका अर्थात् शासन और संसद में कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसका फल यह होता है कि विधानमंडल सरकार की आवश्यकताएँ नहीं समझता और तदनुसार काम नहीं करता। संसदीय प्रणाली में ऐसा नहीं होता, इसमें मन्त्रिमंडल संसद का उपयुक्त पथ-प्रदर्शन करता रहता है। इससे संघर्ष नहीं होता।

इस प्रणाली में चौथा दोष यह है कि शासन की सफलता या विफलता राष्ट्र-पति की बुद्धिमत्ता, चरित्र, साहस इत्यादि गुणों अथवा इनके विपरीत दुर्गुणों पर

निर्भर रहती है। वोट प्राप्त करने के लिये वह भ्रष्टाचार भी फैला सकता है। अमेरिका में राष्ट्रपति दो बार से अधिक उस पद पर नहीं रहते थे। रूजवेल्ट ने यह प्रथा तोड़ दी और तीन बार राष्ट्रपति हुए। अब कोई महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति चार बार पदासीन होने का प्रयत्न कर सकता है।

पाँचवाँ दोष यह है कि इस प्रणाली में शासन की जनता के प्रति सच्ची ज़िम्मेदारी नहीं हो पाती। वह केवल संसदीय प्रणाली में ही हो सकती है। अमेरिका में यदि राष्ट्रपति एक दल का हुआ और कांग्रेस अर्थात् संसद में दूसरे दल का बहुमत है और कहीं दोनों में संघर्ष या अड़ंगा उत्पन्न हुआ तो उसे तय करने का कोई तरीक़ा ही नहीं है।

अध्याय १६

अधिकार विभाजन का सिद्धान्त

(The Theory of Separation of Powers)

किसी भी आधुनिक जनतान्त्रिक राज्य में शासन के तीन सुस्पष्ट विभाग होते हैं—पहला विधानमंडल (Legislature), दूसरा कार्यपालिका (Executive) और तीसरा न्यायपालिका (Judiciary)। विधानमण्डल राज्य के लिये क़ानून बनाता है, क्योंकि प्रत्येक राज्य का शासन क़ानूनों के बल पर ही चलता है। आजकल यह देखने में आता है कि सामाजिक जीवन की समस्याएँ और गुत्थियाँ ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती हैं, विधानमंडलों अथवा संसदों को उतने ही अधिक क़ानून बनाने पड़ते हैं। कार्यपालिका राज्य के नागरिकों से इन क़ानूनों पर अमल करवाती है और जब कोई नागरिक राज्य के किसी क़ानून का उल्लंघन करता है तो न्यायपालिका उसे दण्ड देने का आदेश देती है। दंड कार्यपालिका देती है, परन्तु दंड का आदेश न्यायपालिका देती है।

जब राज्य प्रारम्भिक अवस्था में था तो इन तीन विभागों का अलग-अलग अस्तित्त्व नहीं था। राजा ही क़ानून बनाता था और वही न्याय भी करता था। अथवा राजा का जो प्रतिनिधि क़ानून पर अमल कराता था वही न्याय भी करता था। परन्तु राज्य के कार्य ज्यों-ज्यों बहुमुखी होते गये त्यों-त्यों राज कर्मचारियों के काम भी बढ़ते गये और इन तीन विभागों की स्थापना हुई। इस कार्य विभाजन का अर्थ यह नहीं है कि संप्रभुता में किसी प्रकार विभाजन होता है। यह

केवल कार्य विभाजन है जो राज्य के बढ़ते हुए कार्यों को आसानी से चलाने के लिये अपनाया गया है।

राजनीति विज्ञान की अन्य बातों की तरह अधिकार विभाजन की चर्चा भी हम अरिस्टॉटल के ग्रन्थ में पाते हैं। उसने भी शासन के तीन रूपों का वर्णन किया है, यथा—वैधानिक (Deliberative), प्रशासकीय (Magis-teial) और न्यायिक (Judicial)। लेकिन एक बात ध्यान में रखने की है। अरिस्टॉटल के समय में एथेन्स में जो शासन सभा थी, उसके हाथ में शासन के तीनों विभाग थे। इसके विपरीत रोम में शासन के तीन निश्चित विभाग थे। सीनेट (Senate) विधानमंडल का काम करती थी, कनसल (Consuls) कार्यपालिका का और ट्रिब्यून (Tribunes) न्यायपालिका का। सिसरो और पोलीबियस जैसे लेखकों ने रोम के इस विधान की प्रशंसा की है। लेकिन वास्तव में रोम में भी यह अन्तर नाम मात्र का था। वहाँ भी सब कार्यों में सीनेट की ही प्रमुखता थी और जब रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई तो ये प्रशासकीय भेद ग़ायब हो गये।

मध्ययुग में इस विचारधारा में कोई प्रगति नहीं हुई है। आधुनिक काल में बोदाँ नामक फ्रेंच विचारक ने शासन में अधिकार विभाजन की बात की। वह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का बड़ा भारी समर्थक था। उसका कहना था कि यदि एक राज्य क़ानून भी बनाता है और उनके आधार पर स्वयं न्याय भी करता है तो एक दुष्ट राजा कड़ी सजाएँ देगा। अर्थात् वास्तविक न्याय वितरण नहीं होगा। इंगलेण्ड में जब क्रॉमवेल के हाथ में सत्ता थी तो उसने शासन में कार्यपालिका और विधानमंडल के कामों को अलग-अलग कर दिया था। इंगलेण्ड में जो शान्तिपूर्ण रक्तविहीन क्रान्ति (Glorious Revolution) हुई उसमें राज्य के न्यायपालिका के अधिकार छीन लिये गये। इंगलेण्ड के तत्कालीन विचारक लॉक ने इस कार्य का समर्थन किया। उसने शासन कार्य को तीन भागों में विभाजित किया; यथा—विधायक अर्थात् क़ानून बनाने का काम (Legislative), कार्यपालिका अर्थात् क़ानूनों पर अमल करने का काम और संयोजक (Federative) अर्थात् कूटनीतिक कार्य।

लेकिन इस सिद्धान्त को वास्तविक और अन्तिम रूप फ्रान्स के राजनीतिक विचारक मॉन्टेस्क्यू (Montesquien) ने दिया। योरोप के तत्कालीन राजा निरंकुश थे। संपूर्ण शासन पर उनका एकाधिकार था। विधानमंडल, कार्य-पालिका तथा न्यायपालिका पर उनका पूर्ण नियंत्रण था। उनके मन्त्री अवश्य होते थे, लेकिन वे मंत्री उन्हीं के प्रति जिम्मेदार होते थे। वे उन मन्त्रियों को इच्छानुसार पदच्युत कर सकते थे। इसी प्रकार वे न्यायाधीशों को भी

इच्छानुसार नियुक्त और पदच्युत करते थे। यह सब देखकर मॉन्टेस्क्यू इस निर्णय पर पहुँचा कि राजा की इस प्रकार की निरंकुशता उचित नहीं है। साथ ही इंगलेण्ड में वह देख चुका था कि क़ानून बनाने का अधिकार पार्लियामेंट के हाथ में है और जबतक न्यायाधीशों का आचरण ठीक रहता है तब तक उन्हें कोई पदच्युत नहीं कर सकता। इसलिये सन् १७४८ ई० में मॉन्टेस्क्यू ने "क़ानून की आत्मा" (Esprit des Lois) नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें उसने शासन के सिद्धान्तों के विभाजन का समर्थन किया।

सिद्धान्त की व्याख्या :—अधिकार विभाजन के सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन यह है कि शासन में क़ानून बनाने, क़ानूनों पर अमल करने तथा उनके उल्लंघन होने पर दंड विचार का कार्य इन अलग-अलग अंगों द्वारा होना चाहिये। अर्थात् विधायनी सभा, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्य तीन विभिन्न संस्थाओं द्वारा होना चाहिये, जो एक दूसरे से अलग और स्वतन्त्र हों। एक का प्रभाव दूसरी पर न हो। उसने कहा है कि "जब क़ानून बनाने और उन पर अमल करने के अधिकार एक ही व्यक्ति अथवा एक ही सभा के हाथ में आ जाते हैं तब स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इसी प्रकार यदि न्यायापालिका, विधानमंडल और कार्यपालिका से बिलकुल स्वतन्त्र नहीं रहती तो भी स्वतन्त्रता मिट जाती है। यदि न्यायपालिका विधान सभा से जुड़ी रहती है तो भी जनता की स्वतन्त्रता खतरे में रहती है। क्योंकि तब न्यायाधीश ही क़ानून बनानेवाला होगा। यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के साथ जुड़ी होगी तो न्यायधीश दमनकारी नीति से काम ले सकता है। यदि एक ही व्यक्ति या एक ही सभा ये तीनों कार्य करने लगें तो वह परिस्थिति एकदम अवांछनीय होगी।[1]

---

[1] "When the legislative and the executive powers are united in the same person, or in the same body of Magistrates, there can be no liberty. Again there is no liberty if the Judicial power is not separated from the legislative and executive powers, were it joined with the legislative power the life and liberty of the subjects would be exposed to arbitrary control; for the judge would then be the legislator. Were it joined with the executive power, the judge might behave with violence and oppression there would be an end of every thing, were the same man or the same body, whether of the nobles or of the people, to exercise these three powers, that of enacting the laws, that of executing the public resolutions, and that of trying the cases of individuals."

मॉन्टेस्क्यू के इस सिद्धान्त का समर्थन इंगलेण्ड के राजनीतिक विचारक ब्लेकस्टोन (Blackstone) ने किया। उसने सन् १७६५ ई० में इंगलेण्ड के क़ानूनों की परिभाषा" ("Commentaries on the Laws of England") प्रकाशित की। उसने कहा कि "जब क़ानून बनाने और उनको चलाने का अधिकार एक ही व्यक्ति अथवा एक ही सभा में होता है, वहाँ जनता की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।"[1]

मान्यता :—मॉन्टेस्क्यू और ब्लेकस्टोन के इस सिद्धान्त को संयुक्तराज्य अमेरिका और फ़ान्स में मान्यता प्राप्त हुई। सन् १७८० ई० में मेसाचुसेट्स में जो संविधान ग्रहण किया गया उसमें यह उल्लेख किया गया कि संयुक्तराज्य के शासन में विधानमंडल न्यायपालिका और कार्यपालिका के अधिकारों का प्रयोग नहीं करेगा। न्यायपालिका, विधानमण्डल अथवा कार्यपालिका के अधिकारों का प्रयोग नहीं करेगी। यह शासन क़ानूनों का शासन होगा, व्यक्तियों का नहीं।"[2] सन् १७८७ ई० में संयुक्तराज्य अमेरिका में जो संघ शासन तैयार हुआ उसका आधार भी यही सिद्धान्त था।

इस सिद्धान्त का जन्म फ्रान्स में हुआ था और वहाँ भी इसे मान्यता प्राप्त हुई। "अधिकार-घोषणा" के अनुच्छेद १६ में कहा गया कि "जिस समाज में अधिकार-विभाजन नहीं है वहाँ कोई संविधान नहीं है।"[3] सन् १७९१ ई० में जो संविधान बना उसमें विधानमंडल और कार्यपालिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रखा गया और न्यायाधीश के पद निर्वाचन द्वारा रखे गये।

सिद्धान्त की समीक्षा :—मेसाचुसेट्स में इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई गई थी, वास्तव में उस पर अमल करना असम्भव है। क्योंकि उसका अर्थ यह होगा कि इन तीन विभागों में एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहेगा। तीनों विभाग एक दूसरे से स्वतन्त्र रहेंगे। लेकिन राजनय के

---

१ "Whenever the right of making and enforcing the law is vested in the same man or one and the same body of men, there can be no public liberty."

२ "In the Government of this Commonwealth, the legislative department shall never exercise the executive and judicial powers, or either of them, the judicial shall never exercise the legislative and executive powers, or either of them; to the end it may be a Government of laws, and not of men."

३ "Every society in which the separation of powers is not dertermined has no constitution."

विद्यार्थी जानते हैं कि शासन एक सजीव शरीर की तरह होता है। उसमें अंग-विच्छेद करना असम्भव है। शासन में अधिकार विभाजन केवल सहूलियत और नागरिकों के सुख के लिये किया जाता है जिससे उनके अधिकारों पर किसी प्रकार का घात न हो। फ्रांस में सन् १७९१ ई० के संविधान में संपूर्ण विभाजन का प्रयोग किया गया और उसमें कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आईं। तब और भी प्रयोग इस सम्बन्ध में किये गये। अन्त में संसदीय प्रणाली ग्रहण की गई जिसमें मंत्रिमंडल विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार होता है। जहाँ संसदीय प्रणाली प्रचलित नहीं है, वहाँ भी विधानमंडल को देश की आय और व्यय पर कुछ नियन्त्रण अवश्य प्राप्त होना चाहिये। इसी प्रकार विधानमंडल जो क़ानून बनाता है, उनकी व्याख्या न्यायपालिका करती है। कार्यपालिका को भी अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है। अर्थात् वह न्यायपालिका के कार्यों में कुछ हद तक दखल दे सकती है। यदि न्यायालय किसी अपराधी को अत्यन्त कड़ा दण्ड देता है और कार्यपालिका सोचती है कि मानवीय कमजोरियों को ध्यान में रखते हुए उसे रियायत या क्षमा मिलना चाहिये तो वह उस सज़ा में परिवर्तन कर सकती है।

लेकिन सभी आधुनिक संविधानों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि शासन के तीन प्रमुख प्रकार के अधिकार तीन विभिन्न प्रकार की संस्थाओं या व्यक्ति समूहों के हाथ में रहना चाहिये। ग़ैर-संसदीय शासन प्रणालियों में तो कार्यपालिका और विधानमंडल में अधिकार विभाजन काफ़ी स्पष्ट रहता है। लेकिन संसदीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका विधानमंडल का एक अंग होती है और वहाँ अधिकार विभाजन उतना स्पष्ट नहीं होता। फिर भी इस प्रणाली में भी अधिकार विभाजन की एक स्पष्ट रेखा रहती है। न्यायपालिका इस अर्थ में स्वतन्त्र रहती है कि न्यायाधीशों का कार्य-काल निश्चित रहता है और यदि उनका आचरण अच्छा रहा तो अपने पद की अवधि में ये हटाये नहीं जा सकते। कहने का तात्पर्य यह है कि शासन के ये तीन अंग बिलकुल स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा परस्पर निर्भर अधिक होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के किसी भी देश के संविधान में पूरा-पूरा अधिकार-विभाजन नहीं है और पूर्णरूप से अधिकार-विभाजन होना भी नहीं चाहिए। नहीं तो हमेशा एक विभाग दूसरे को निष्क्रिय बनाने में लगा रहेगा और अड़ंगे उठते रहेंगे। जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि सम्पूर्ण अधिकार-विभाजन होने पर प्रत्येक विभाग अपने अधिकारों की रक्षा करने में लगा रहेगा और दूसरे विभागों को सहयोग

मिल की राय

न देगा। इससे शासन में बड़ी गड़बड़ी होगी और अन्त में लाभ होने की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी।[१]

अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त पर पूर्णरूप से अमल करना सम्भव भी नहीं है। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि विधानमंडल जब कोई क़ानून बनाता है तब वह उसकी एक मोटी रूप-रेखा उपस्थित कर देता है। लेकिन उसका वास्तविक सम्पूर्ण रूप तो अमल करते समय कार्यपालिका द्वारा ही निर्धारित होता है। क़ानून पर अमल करने के नियम कार्यपालिका ही बनाती है। फिर आपात या संकट काल में कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार रहता है, जिन्हें एक निश्चित अवधि के लिये क़ानूनों की मान्यता प्राप्त रहती है। इसी प्रकार न्यायपालिका का भी क़ानून बनाने में हाथ रहता है। क्योंकि वह विधानमंडल के बनाये हुए क़ानूनों की व्याख्या करती है और अलिखित क़ानून का स्वरूप निश्चित करती है। इस प्रकार क़ानून बनाने का काम इन तीनों विभागों में बँट जाता है। इसीलिये मेडीसन ने लिखा था कि यदि एक विभाग का दूसरे विभाग पर वैधानिक नियन्त्रण न रहे तो अधिकार विभाजन के सिद्धान्त पर वास्तविक अमल नहीं किया जा सकता।[२] प्रत्येक देश में एक विभाग दूसरे विभाग का कुछ काम अवश्य करता है। उदाहरण के लिये संयुक्तराज्य अमेरिका में निम्न श्रेणी के न्यायालय और इंगलेण्ड में जस्टिस ऑफ पीस शान्ति और अमन बनाये रखने के लिये जिम्मेदार होते हैं। इसी प्रकार इंगलेण्ड में हॉउस ऑफ लॉर्ड्स अपील का सर्वोच्च न्यायालय होता है। इसी प्रकार इंगलेण्ड में पार्लियामेन्ट, संयुक्तराज्य अमेरिका में कांग्रेस और फ़ान्स में चेम्बर ऑफ डिपुटीज़ महाभियोग के न्यायालय होते हैं।

सम्पूर्ण विभाजन सम्भव नहीं

एक बात यह भी है कि किसी भी देश में सच्ची स्वतन्त्रता अधिकार विभाजन पर निर्भर न होकर वहाँ के लोगों के चरित्र, क़ानूनों और संस्थाओं पर निर्भर होती है। इंगलेण्ड और अमेरिका में स्वाधीनता का सच्चा आधार क़ानून

---

१ "Each department acting in defence of its own power would never lend its aid to the others, and the consequent loss in efficiency would overweigh all the possible advantages arising from independence."—**Mill.**

२ "Unless the departments were so far connected and blended as to give to each a constitutional control over the others the degree of separation which the maxim requires as essential to a free Government can never in practice be duly maintained."—**Madison.**

की सर्वोच्चता है, अधिकार विभाजन नहीं। स्विटज़रलैण्ड का शासन एक आदर्श शासन है, वहाँ सच्चे रूप में स्वतन्त्रता है। परन्तु वहाँ अधिकार विभाजन नहीं है। फिर अधिकार विभाजन से व्यक्ति की स्वतन्त्रता हमेशा सुरक्षित रहने का दावा नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि कोई अत्याचारी विधानमंडल दमनकारी क़ानून बनाता है तो न्यायालय उनका पालन करायेंगे ही।

सरकार राज्य की इच्छा प्रकट करती है और उस पर अमल करती है। सरकार के विभिन्न अंगों को इस प्रकार काम करना चाहिये कि उनमें एकरूपता का आभास हो। अधिकारों के पूर्ण विभाजन में यह सम्भव नहीं है।

फिर अधिकार विभाजन का सिद्धान्त इस भ्रमपूर्ण भावना पर आधारित है कि सब अधिकार एक बराबर होते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। शासन के तीन अंगों में से विधानमंडल को प्रमुख स्थान प्राप्त है। विधानमंडल क़ानून बनाने में राज्य की इच्छा प्रकट करता है। संसदीय प्रणाली में वह मंत्रिमंडल को पदच्युत कर सकता है और देश के आय-व्यय पर उसका नियन्त्रण रहता है। एक प्रकार से विधानमंडल सम्पूर्ण शासन की देख-रेख करता है।

इस सिद्धान्त के प्रयोग :—अब हमें यह देखना है कि विभिन्न देशों में इस सिद्धान्त पर किस हद तक प्रयोग किये गये हैं और वे कहाँ तक सफल हुए हैं। ब्रिटेन में काफी हद तक अधिकार विभाजन पाया जाता है। संसद क़ानून बनाती है और विधानमंडल का काम करती है। इस प्रकार वह कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमंडल से अलग है। संयुक्तराज्य अमेरिका की सीनेट के विपरीत

ब्रिटेन में

ब्रिटिश पार्लियामेन्ट उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में दख़ल नहीं देती। वह यह क़ानूनी बंधन भी उपस्थित नहीं करती कि सरकार जितनी सन्धियाँ करे वे सब उसके अनुमोदन के लिये उपस्थित की जायँ। यह बात अवश्य है कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल पार्लियामेंट के सदस्यों में से ही बनाया जाता है, परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि वह पार्लियामेंट का बहुत छोटा-सा अंग है। न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है, परन्तु कार्यपालिका उन्हें पदच्युत नहीं कर सकती। वे पदच्युत तभी किये जा सकते हैं जब संसद के दोनों सदन राजा से इस आशय की लिखित प्रार्थना करें। लेकिन साथ ही उनके वेतन पर पार्लियामेंट मतदान नहीं कर सकती, वह संचित निधि से दिये जाते हैं। इसीलिये विलोबी ने लिखा है कि "ब्रिटेन के शासन में अधिकार विभाजन का सिद्धान्त इतनी सुन्दरता के साथ ग्रहण किया गया है कि उसका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता।" इसकी सुन्दरता यह है कि शासन के तीन प्रमुख अंगों को एक दूसरे से एकदम स्वतन्त्र और निरंकुश नहीं बनाया गया

है। मंत्रिमंडल के सदस्य विधानमंडल के भी प्रमुख नेता रहते हैं। प्रमुख विधेयक वे ही संसद के सामने पेश करते हैं। आय-व्यय सम्बन्धी प्रस्ताव भी वे ही पेश करते हैं। मंत्रिमंडल हॉउस ऑफ़ कॉमन्स का विघटन कराकर नया चुनाव करा सकता है। मंत्रिमंडल न्यायपालिका के भी कुछ कार्य करता है और विधानमंडल विभिन्न कमेटियों के द्वारा कार्यपालिका का कुछ काम करता है।

संयुक्तराज्य अमेरिका में

संयुक्तराज्य अमेरिका का सम्पूर्ण संविधान ही अधिकार विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर बना हुआ है। राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होता है और वह प्रत्यक्षरूप से जनता द्वारा चुना जाता है। वह विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, परन्तु संघ कार्यपालिका के सब अधिकारी उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति तथा उसके सचिव विधानमंडल के सदस्य नहीं हो सकते। न्यायाधीश विधानमंडल तथा कार्यपालिका दोनों से स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन एक बात ध्यान में रखने की यह है कि इतना कठोर अधिकार विभाजन होते हुए भी सरकार के तीन अंग एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र नहीं रह सके। सीनेट विधानमंडल का एक अंग है परन्तु वह भी कार्यपालिका के कुछ कार्य करती है। अर्थात् कुछ उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में उसका हाथ रहता है, राष्ट्रपति किसी देश के साथ जो सन्धि करता है उसका अनुमोदन सीनेट द्वारा होना आवश्यक है। कांग्रेस अर्थात् विधानमंडल आर्थिक अनुदान देकर अथवा उन्हें रोक कर कार्यपालिका पर अपना प्रभाव डालता है। इसके विपरीत राष्ट्रपति कांग्रेस में अपने संदेश भेजकर अथवा उसके बनाये क़ानूनों पर अपना निषेध लगाकर उस पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना कांग्रेस का बनाया हुआ कोई भी क़ानून मान्य नहीं हो सकता। फिर, विभिन्न विभागों के प्रधान कांग्रेस की विभिन्न कमेटियों के सामने अपने कार्यों की रिपोर्ट देते हैं और उनके प्रश्नों के उत्तर देते हैं। राष्ट्रपति संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, लेकिन वह उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता। महाभियोग को छोड़कर वह अन्य सब दंडों और अपराधों के सम्बन्ध में अपने क्षमा-प्रदान के विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकता है। कांग्रेस के बनाये हुए क़ानूनों को न्यायपालिका संविधान विरोधी घोषित करके अमान्य ठहरा सकती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजनीतिक दलबन्दी की प्रथा ने कार्यपालिका और विधानमंडल को अधिक निकट ला दिया है, क्योंकि एक ही दल के सदस्य दोनों सभाओं या संस्थाओं में पहुँच सकते हैं। लॉस्की ने भी इस बात की ओर संकेत किया है, उसने लिखा है कि "दलबन्दी तो संविधान और क़ानून के बाहर की चीज़ है और उसकी सहायता से अधिकार विभाजन होते हुए भी एक ही दल

के लोग दोनों संस्थाओं में घुस सकते हैं। अर्थात् अधिकार विभाजन का अर्थ दल या व्यक्ति विभाजन नहीं हो सकता। इंगलेण्ड में जो अधिकार विभाजन प्रचलित था उसे मॉन्टेस्क्यू ने ग़लत तरीक़े से समझा था और ब्लेकस्टोन ने उसका ग़लत समर्थन किया था और जैसा कि डिग्वी ने स्पष्ट कर दिया है। किसी भी आदेश पर अमल करने के लिये राज्य के सब उच्च अधिकारियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसलिये अमेरिका में शासन के तीन अंगों को जो एकदम अलग रखने का प्रयत्न किया गया है उसका फल यह हुआ है कि उनमें आपस में ऐसे सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं जो संविधान के परे हैं। पद-वितरण में पक्षपात तथा विशेष प्रकार की दलबन्दी द्वारा कार्यपालिका और विधानमंडल में ऐसे सम्बन्ध बन गये हैं जो नितान्त आवश्यक हैं यद्यपि उनके उचित कहे जाने में बड़ा सन्देह है।"[१]

संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान के आदर्श पर दक्षिण अमेरिका के कुछ राज्यों ने भी अपने संविधान अधिकार विभाजन के आधार पर बनाये। अरजेन-टाइना और ब्राज़िल इसके उदाहरण हैं। इसके विपरीत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के राज्यों के संविधान ब्रिटेन के संसदीय संविधानों के आदर्श पर बनाये गये हैं।

फ़ान्स में

मॉन्टेस्क्यू के अधिकार विभाजन के सिद्धान्त का प्रभाव फ़ान्स के संविधान पर भी पड़ा। फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के समय सन् १७८९ में जो संविधान बनाया गया उसमें भी अधिकार-घोषणा में यह कहा गया कि जिस समाज में अधिकार विभाजन न हो उसमें कोई संविधान नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा को विधानमंडल के बनाये हुए क़ानूनों पर केवल अस्थायी निषेध आज्ञा लगाने का अधिकार था। राजा का कोई भी मन्त्री विधानमंडल का सदस्य नहीं हो सकता था। राजा विधानमंडल को विघटित नहीं कर सकता था। न्यायाधीशों का निर्वाचन भी जनता द्वारा होता था। लेकिन बाद में फ़ान्स ने भी ब्रिटेन की तरह संसदीय शासन-प्रणाली ग्रहण कर ली। फिर भी अधिकार विभाजन की छाया उस पर बनी ही रही और फ़ान्स में जो प्रशासकीय क़ानून (Administrative Law) प्रचलित है, वह भी उसी की छाया है। इसके अनुसार सरकारी कर्मचारी यदि अपने सरकारी कार्य के सम्बन्ध में कोई अपराध करें तो उनका न्याय विचार साधारण न्यायालय के सामने न होकर विशेष प्रकार के प्रशासकीय न्यायालयों में होता है। इस प्रकार न्यायपालिका और कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा करके उनको अलग रखने का प्रयत्न किया गया। साथ ही यह भी कहना आवश्यक है कि इंगलेण्ड

---

१ देखिए Laski—'A Grammar of Politics.'

में भी गत कुछ वर्षों से प्रशासकीय क़ानून का प्रचलन एक छोटे रूप में प्रारम्भ हुआ है।

अधिकार विभाजन के दोष :—यह तो हम देख ही चुके हैं कि अधिकार विभाजन के सिद्धान्त पर पूर्णरूप से अमल करना सम्भव नहीं है और यदि उस पर अमल करने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें कई दोष दिखाई पड़ते हैं। कुछ दोषों को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

सबसे पहले तो इस बात को ध्यान में रखना है कि राज्य एक जीवित शरीर की तरह होता है और उसके विभिन्न अंग एक दूसरे के पोषक और सहायक होते हैं। हम शरीर के विभिन्न अंगों को एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र नहीं बना सकते। इसी प्रकार हम राजनीति में भी अधिकार विभाजन नहीं कर सकते। जिस प्रकार मनुष्य के मन के विचार का विभाजन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शासन में नीति पर अमल करने में भी पूर्ण विभाजन संभव नहीं है।

दूसरे मॉन्टेस्क्यू ने कहा है कि स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अधिकार विभाजन आवश्यक है। परन्तु वास्तव में स्वतन्त्रता की रक्षा लोगों की सतत जागरूकता से होती है।

तीसरे जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है, कटोर अधिकार विभाजन से शासन में आन्तरिक संघर्ष की सम्भावना हो सकती है।

चौथे जहाँ अधिकार विभाजन के सिद्धान्त को लेकर न्यायाधीश जनता द्वारा चुने जाते हैं वहाँ न्याय-वितरण योग्य व्यक्तियों द्वारा नहीं हो पाता। अधिकतर लोग दलबन्दी के आधार पर चुने जाते हैं, योग्यता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

पाँचवें, यह देखा गया है कि शासन में एक विभाग का कुछ-न-कुछ काम दूसरे विभाग को करना ही पड़ता है।

अन्त में हम यह देख चुके हैं कि यह कहना ग़लत है कि प्रत्येक विभाग को बराबर अधिकार प्राप्त हो सकते हैं। विधायक विभाग के हाथ में ही अधिक अधिकार रहते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि भारत के नये संविधान में किस हद तक अधिकार विभाजन हुआ है। इसका उत्तर यह है कि भारत में इंगलेण्ड की तरह संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है और उसी तरह का अधिकार विभाजन भी यहाँ प्रचलित है।

अध्याय १७

विधानमंडल

(Legislature)

प्रत्येक सभ्य और सुव्यवस्थित समाज का जीवन कुछ क़ानूनों के द्वारा चलता है अथवा नियंत्रित होता है। ये क़ानून विधानमंडलों के द्वारा बनाये जाते हैं। प्राचीन नगर राज्यों और जनपदों के विपरीत आजकल के राज्य बहुत बड़े होते हैं और उनकी जनसंख्या भी बहुत बड़ी होती है। अतः आजकल प्रत्यक्ष जनतन्त्र के स्थान पर प्रतिनिधि जनतन्त्र (Representative Democracy) होती है। आधुनिक विधानमंडल जनतन्त्र के वास्तविक स्वरूप होते हैं। ये विधानमंडल जो क़ानून बनाते हैं उनके द्वारा वे राज्य की जनता की इच्छा को एक निश्चित रूप देते हैं। इन क़ानूनों में नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का निरूपण किया जाता है और राज्य द्वारा निर्धारित दंड संहिता के आधार पर इनका पालन कराया जाता है। विभिन्न लेखकों ने शासन के तीन अंगों में से विधानमंडल को ही प्रथम स्थान दिया है। इसका कारण यह है कि पहले विधानमंडल क़ानून बनाता है तब कार्यपालिका उनका पालन कराती है और न्यायपालिका उनका उल्लंघन होने पर दंड-विचार करती है। जिन देशों में संसदीय शासन प्रणाली प्रचलित है उनमें कार्यपालिका विधानमंडल का अंग और उसके प्रति उत्तरदायी होती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में कार्यपालिका विधानमंडल के नियंत्रण में नहीं रहती और न उसके प्रति जिम्मेदार ही होती है।

विधानमंडल के कार्य :—विभिन्न राज्यों में प्रचलित शासन-प्रणालियों के कार्य अलग-अलग प्रकार के होते हैं। जनतन्त्र के प्रारम्भिक काल में विधानमंडलों की स्थिति केवल सलाहकार समितियों की तरह थी। ज़ार के शासनकाल में रूस की संसद ड्यूमा केवल एक सलाह देनेवाली संस्था थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी विधानमंडल अर्थात् कांग्रेस का काम राष्ट्रपति को सहयोग प्रदान करना है। वहाँ अधिकार विभाजन अधिक कठोर है। वहाँ विधानमंडल तथा कार्यपालिका में सामंजस्य राजनीतिक दल स्थापित करते हैं। यदि दोनों संस्थाओं में एक ही दल के लोग होते हैं तो काम अधिक अच्छी तरह से होता है। लेकिन ब्रिटेन, फ़ान्स और भारत जैसे देशों में विधानमंडल शासन के शेष दो अंगों से निश्चय ही श्रेष्ठ होता है। वह अपने क़ानूनों द्वारा राष्ट्र की इच्छा

व्यक्त करता है। कार्यपालिका उसकी इच्छा ही के अनुसार कार्य करती है। आधुनिक काल में यही प्रवृत्ति बल पकड़ रही है।

आजकल शासन की समस्याएँ दिन प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ रही हैं। इसलिये विधानमंडलों के काम भी बढ़ रहे हैं। जिस देश में जनतन्त्र की भावना जितनी अधिक प्रबल होती है वहाँ विधानमंडल की शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। मोटे तौर से हम यह कह सकते हैं कि किसी देश में जनतन्त्र के अनुरूप ही विधान-मंडल की शक्ति होती है। इस बुनियाद के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि विधानमंडल का प्रधान काम क़ानून बनाना है। समाज की विकासवादी परिस्थितियों के अनुसार जिन क़ानूनों की आवश्यकता होती है, उन्हें विधानमंडल बनाते हैं। साथ ही जो क़ानून अनावश्यक हो जाते हैं उन्हें विधानमंडल समाप्त कर देते हैं। विधानमंडल का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य देश की आय और व्यय पर नियंत्रण रखना है। सभी जानते हैं कि आजकल राष्ट्रीय बजट अरबों खरबों रुपयों के बनते हैं। इस सम्बन्ध में आय के जरिये कर इत्यादि विधान-मंडल ही निश्चित करते हैं और वे ही व्यय के मद भी निर्धारित करते हैं। उनकी अनुमति के बिना मंत्रिमंडल न नये कर लगा सकते हैं और न एक पाई खर्च ही कर सकते हैं। विधानमंडल का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य देश की राष्ट्रीय और विदेशी नीति पर नियंत्रण रखना है। यह कार्य विधानमंडल मंत्रिमंडल तथा वित्त पर नियन्त्रण रख कर करता है। चौथे विधानमंडल न्यायपालिका और कार्यपालिका के भी कुछ काम करता है। जब विधानमंडल निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों पर विचार करता है अथवा जब वह बड़े-बड़े पदाधिकारियों पर लगाये गये अभियोगों पर विचार करता है तो वह न्यायपालिका का कार्य करता है और जब वह बड़े-बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति पर अनुमति देता है अथवा कमीशन इत्यादि नियुक्त करता है तो वह कार्यपालिका का काम करता है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत हो गया है और राष्ट्र-संघ जैसी संस्थाओं के सम्पर्क राष्ट्रीय सरकारों के साथ इतने अधिक बढ़ गये हैं कि शिक्षा, समाज-कल्याण तथा आर्थिक नियंत्रण के क्षेत्र में विधान-मंडलों के काम काफ़ी विस्तृत हो गये हैं। जब काम अधिक बढ़ता है तो उसे सुचारु रूप से चलाने के लिये किसी न किसी प्रकार का श्रम-विभाजन भी करना पड़ता है और विधानमंडलों को भी ऐसा ही करना पड़ा है। विधान-मंडल के सामने आजकल जिस प्रकार के और जितने प्रकार के काम आते ह उनमें गंभीर और विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतएव यह देखा गया है कि विधानमंडल विशिष्ट कार्यों के लिये कमीशन या आयोग नियुक्त करते रहते हैं। इन आयोगों में ऐसे व्यक्ति रखे जाते हैं जिन्हें उस विषय का

विशेष ज्ञान रहता है। लेकिन यह बात अवश्य है कि ये आयोग विधानमंडल के अधीन रहते हैं। विधानमंडल इन्हें आदेश देता है और इनकी सिफ़ारिशें मानने को बाध्य नहीं रहता।

विधानमंडल का संगठन :—मानव समाज के प्रारम्भिक काल में समाज का जो मुखिया होता था उसी का हुक्म या आदेश क़ानून होता था। वही विधानमंडल का काम करता था। प्रायः पुरानी प्रथा ही क़ानून के रूप में स्वीकार की जाती थी। समाज का प्रधान न केवल विधानमंडल का काम करता था बल्कि कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी काम करता था। इसके बाद प्राचीन ग्रीस और रोम के नगर राज्यों में यह प्रथा थी कि सब स्वतन्त्र नागरिक एक साथ बैठकर विधानमंडल का कार्य करते थे। ये नागरिक एक सभा में बैठकर राज्य के सब वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे और विधानमंडल का काम करते थे। लेकिन आधुनिक काल में राज्यों का क्षेत्र बड़ा होता है, उनकी जनसंख्या भी अधिक होती है। अतः आधुनिक काल में प्रतिनिधि जनतन्त्र (Representative Democracy) का विकास हुआ। प्रतिनिधि जनतन्त्र के अन्तर्गत देश भर के नागरिक अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करते हैं और ये प्रतिनिधि विधानमंडल बनाते हैं और राष्ट्र की सामूहिक इच्छा को क़ानून का रूप देते हैं। चूँकि क़ानून में समस्त राष्ट्र की इच्छा व्यक्त होती है इसलिये क़ानून ऐसे होने चाहिए जो सब वर्गों के लिये कल्याणकारी हो सकें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विधानमंडल में इतने काफ़ी सदस्य होने चाहिये कि वे किसी भी क़ानून पर भली-भाँति विचार विमर्श कर सकें, उसके सब पहलुओं को सोच और देख सकें। लेकिन इतने अधिक भी न हों कि वे अपना अधिक समय अनावश्यक वाद-विवाद में ही गँवाते रह जायँ। किसी भी विधानमंडल के लिये सदस्यों की संख्या निर्धारित करनी कठिन है और अनावश्यक भी है। प्रायः यही देखा जाता है कि प्रत्येक देश में विधानमंडल में कुछ सौ सदस्य होते हैं और वे एक या दो सदनों में बैठकर अपना काम करते हैं।

द्विसदनीय विधानमंडल (Bicameral Legislatures) :—मध्ययुग में योरोप में दो, तीन और चार सदनवाले विधानमंडलों तक के उदाहरण मिलते हैं। लेकिन अन्त में इंगलेण्ड में द्विसदनीय विधानमंडल का रूप निर्धारित हुआ। यह भी एक ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर हुआ। और चूँकि इंगलेण्ड की संसद विश्व संसदों की जननी मानी जाती है, अतः उसकी परम्परा के आधार पर अन्य कई देशों में द्विसदनीय संसदों का निर्माण हुआ। स्वयं इंगलेण्ड में क्रॉम्वेल के शासन काल में एक-सदनीय संसद स्थापित करने की कोशिश की गई। लेकिन वह सफल नहीं हुई। सन् १७९१ ई० में फ्रान्स के

संविधान में एक सदनीय संसद स्वीकार की गई। लेकिन सन् १७९५ ई० में उसे त्यागकर द्विसदनीय संसद स्वीकार की गई। सन् १८४८ ई० में वहाँ फिर एक सदनीय संसद स्थापित की गई, पर अन्त में उसे त्यागकर फिर दो सदनीय संसद स्थापित करनी पड़ी। क्योंकि एक सदनीय संसद को किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। अन्य कई राज्यों में भी एक सदनीय संसद के प्रयोग किये गये पर वे सफल नहीं हुए और उनकी जगह द्विसदनीय संसद स्थापित करनी पड़ी। क्योंकि अन्य सब देश देख रहे थे कि इंगलेण्ड में द्विसदनीय संसद शासन में स्थिरता प्रदान कर रही थी। अब तो द्विसदनीय संसद स्थापित करने की राजनीतिक प्रथा सी हो गई है। संघ शासन में द्विसदनीय संसद एक आवश्यकता मानी जाती है। संध शासन में एक सदन जनता का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा सदन राज्यों की समानता का प्रतिनिधित्व करता है। आजकल सभी बड़े देशों में दो सदन होते हैं और इंगलेण्ड में भी द्वितीय सदन को सुधारने के लिये आन्दोलन होता है, उसे समाप्त करने के लिये नहीं।

द्विसदनीय संसद के पक्ष में तर्क :—राजनीतिक विचारकों ने इस बात पर काफ़ी चर्चा की है कि वर्तमान संसदों में द्वितीय सदन अर्थात् उच्च सदन की आवश्यकता है कि नहीं। कुछ लोगों का विचार है कि इंगलेण्ड में द्वितीय संसद की ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है, वहाँ का घटनाचक्र कुछ ऐसा रहा कि द्वितीय सदन स्थापित करना वहाँ आवश्यक हो गया। अन्यथा आजकल कम से कम संसदीय प्रणाली में द्वितीय सदन आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत कुछ विचारकों का मत है कि आजकल विशेष रूप से द्वितीय सदन आवश्यक है। आजकल संसदों का काम बहुत बढ़ गया है। उन्हें बहुत से क़ानून बनाने पड़ते हैं। संभव है वह कोई क़ानून जल्दी में पास कर दे। उस पर पूर्ण रूप से विचार न कर सके। अथवा संसद का बहुमत किसी बात पर इस प्रकार हावी हो जाय कि जनमत का बिचार किये बिना ही कोई क़ानून पास कर दे। अथवा कभी-कभी केवल जनमत को ख़ुश करने के लिये ही कोई क़ानून बना दे चाहे वह देश-हित के प्रतिकूल ही क्यों न हो। ऐसी स्थिति में द्वितीय सदन उस पर भली-भाँति विचार कर सकता है, उसके दोष दूर करने का प्रयत्न कर सकता है और देश-हित के अनुकूल उसमें संशोधन कर सकता है। फिर एक सदन से दूसरे सदन तक जाने में किसी विधेयक को काफ़ी समय लगता है और द्वितीय सदन में भी उस पर कई दिनों तक विचार होता है। इतने समय में जनता उस पर समाचार पत्रों तथा अन्य तरीक़ों द्वारा अपने विचार प्रकट कर सकती है। अर्थात् यह विलम्ब भी उपयोगी साबित हो सकता है।

दूसरा तर्क यह है कि एक सदनवाली संसद कभी-कभी अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर सकती है। उसे यह भय तो रहेगा नहीं कि उसके विधेयक पर विचार करने के लिये दूसरा सदन भी है। इस प्रकार संसद का एक सदन अपने बहुमतवाले वर्ग और मतदाताओं के हित में क़ानून बना सकता है और यह देश के व्यापक हितों के विरुद्ध जा सकता है। कभी-कभी एक सदन में सिद्धहस्त भाषणकर्त्ता भी अपनी वाक्-शक्ति द्वारा प्रभाव डालकर अवांछित क़ानून बनवा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि दूसरे सदन में अन्य दल का बहुमत है तो वह पहले सदन के बहुमत का मुक़ाबिला करने का प्रयत्न करेगा और उसके अधिकार दुरुपयोग को रोकने की कोशिश करेगा। यदि एक सदन नागरिकों के अधिकारों को सीमित करने का प्रयत्न करेगा तो दूसरा सदन उसे रोकेगा।

द्विसदनीय संसद का तीसरा लाभ यह है कि इस व्यवस्था में सब वर्गों के लोगों का तथा अल्पसंख्यक वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व हो सकता है। इस प्रकार देश के जनमत का उचित प्रतिनिधित्व हो सकेगा। यह कार्य तब और अच्छी तरह हो सकता है जब दो सदनों के निर्वाचन विभिन्न समयों पर विभिन्न अवधि के लिये हों।

चौथा लाभ यह है कि द्विसदनीय संसद में कार्यपालिका की शक्ति और उसके अधिकार अधिक सुरक्षित रहते हैं। एक सदन में यदि एक दल का बहुमत जोरदार है तो वह कार्यपालिका को हमेशा अपनी कठपुतली बनाने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार अधिकार-विभाजन समाप्तप्राय हो जायगा अथवा केवल एक तमाशा मात्र रह जायगा। लेकिन यदि दो सदन रहेंगे तो उनकी आपसी प्रतिद्वन्द्विता में कार्यपालिका की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। यदि एक सदन ज्यादती करेगा तो कार्यपालिका दूसरे सदन का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी। लेकी का मत है कि एक सदनीय संसद सबसे अधिक निरंकुश होती है।

पांचवें, जैसा कि पहले कहा जा चुका है संघ-शासन में द्वितीय सदन का विशेष महत्त्व होता है। उसमें द्वितीय सदन में संघ के राज्यों को जनसंख्या का विचार न करके बराबर प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में सीनेट अर्थात् द्वितीय सदन में छोटे-बड़े सब राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया है। अतएव शासन में बड़े राज्य छोटे राज्यों को हीन दृष्टि से नहीं देख सकते।

छठाँ और एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि विभिन्न क्षेत्रों और विषयों के योग्य व्यक्तियों को आसानी से द्वितीय सदन का सदस्य बनाया जा सकता है। योग्य और वयोवृद्ध व्यक्ति निर्वाचन की सरगरमी और छीछालेदरी में नहीं पड़ना चाहते। फिर भी राष्ट्र के लिये उनकी योग्यता का महत्व होता है। ऐसी

परिस्थिति में नाम निर्देशन अथवा निर्वाचन के द्वारा उन्हें आसानी से द्वितीय सदन की सदस्यता दी जा सकती है। क्योंकि प्रायः द्वितीय सदन के मतदाताओं की संख्या बहुत कम होती है और निर्वाचन आसान होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का भी मत था कि निम्न या प्रथम सदन जनसाधारण का सदन होना चाहिये, लेकिन उच्च सदन में अनुभवी, गण्यमान और योग्य राजनीतिज्ञ होना चाहिये। ये जनता के स्वाभाविक नेता होगें और देशहित की चिंता करेंगे।

द्वितीय सदन के विपक्ष में तर्क :—अबे साइस (Abbe Sieyes) फ़्रान्स की प्रथम राज्यक्रान्ति के समय का एक सक्रिय राजनीतिज्ञ था। उसने कहा था कि "द्वितीय सदन की क्या आवश्यकता है? यदि वह प्रथम सदन के साथ सहमत होता है तो उसका कोई उपयोग नहीं है और यदि वह सहमत नहीं होता तो वह केवल कोई शैतानी करेगा। दोनों सदनों में संघर्ष अवश्य होगा और नतीजा यह होगा कि इस निष्क्रियता में जनमत का कोई ज़ोर न रह जायगा।" इन दोनों सदनों की समस्या पर विचार प्रकट करते हुए लार्ड ब्राइस ने ख़लीफ़ा ओमर के समय की एक घटना की चर्चा की है। मिस्र देश के सिकन्दरिया शहर में एक बड़ा पुस्तकालय था। ख़लीफ़ा ओमर ने उसे यह कहकर जलवा दिया था कि यदि इन पुस्तकों का मत क़ुरानशरीफ़ से मिलता है तो उनकी ज़रूरत नहीं है और यदि नहीं मिलता तो उन्हें ज़रूर जला देना चाहिये और वह पुस्तकालय जला दिया गया। अबे साइस के कथन में कुछ महत्व अवश्य है, यदि ब्रिटिश हाउस ऑफ लॉर्ड्स की तरह द्वितीय सदन नाम-निर्देशित होता है, तो नागरिकों के समान अधिकारों का पालन नहीं होता। समाज के छोटे से वर्ग को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो जाते हैं और यदि वह कार्यपालिका द्वारा नाम निर्देशित होता है, तो वह कार्यपालिका के हाथ की कठपुतली बन जायगा। यदि वह फ्रान्स की सीनेट की तरह अप्रत्यक्षरूप से निर्वाचित होता है तो उसमें भ्रष्टाचार फैलने का डर रहता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि द्वितीय सदन कुछ ऐसे कार्य कर सकता है, जिनमें प्रथम सदन के साथ संघर्ष न हो और साथ ही जो उपयोगी हों।

द्वितीय सदन के विपक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह है, कि उससे राष्ट्र की एकता समाप्त हो जाती है। विधानमंडल राष्ट्र की एकता का प्रतीक होता है। इसलिये राष्ट्र के जनमत को प्रकट करने के लिये दो परस्पर विरोधी संस्थाएँ नहीं होनी चाहिये। लॉस्की का मत है कि यदि प्रथम सदन राष्ट्र की इच्छा सही तरीक़े से व्यक्त नहीं कर सकता, तो द्वितीय सदन शायद ही कर सके। गेटेल का मत है कि, राष्ट्रीय विकास में द्वि-सदनीय संसद एक अस्थायी चीज़ होती है। वह राष्ट्र के विभिन्न वर्गों का मत प्रकट करती है। जब राष्ट्र में सब वर्गों में

स्वार्थों की एकता होगी, तो दूसरे सदन की आवश्यकता नहीं रह जायगी। एमॉस का मत है कि एक ही सदन में विभिन्न वर्गों के लोगों का विचार-विनिमय अधिक अच्छा होगा।

बीसवीं सदी में प्रवृत्ति एक ही सदन की ओर रही है। यद्यपि भारत के संविधान में द्विसदनीय संघ शासन की व्यवस्था की गई है। लॉस्की का मत है कि आधुनिक काल में एकसदनीय सर्व-शक्तिशाली विधानमंडल ही सबसे अच्छा रहेगा।

द्वितीय सदनों के कार्यों के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। पहला यह कि सब बातों में द्वितीय सदन को पहले सदन ही की भाँति अधिकार प्राप्त हो। इसमें कठिनाई यह है कि दोनों सदनों के बीच हमेशा संघर्ष चलेगा। दूसरा सिद्धान्त यह है कि वित्तीय मामलों में द्वितीय सदन प्रथम सदन के आधीन रहे और अन्य सब बातों में दोनों सदनों के अधिकार एक समान हों। लेकिन इस परिस्थिति में भी संघर्ष होने की संभावना बनी रहती है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि द्वितीय सदन को विधेयकों में संशोधन और परिवर्तन करने के सुझाव देने भर का अधिकार हो। जिन देशों में यह तीसरा सिद्धान्त माना जाता है, वहाँ एक अवधि निश्चित कर दी जाती है, जिसके भीतर द्वितीय सदन को किसी विधेयक पर अपना मत देना होता है। इंगलेण्ड में यही प्रथा प्रचलित है। इस प्रकार वहाँ प्रथम सदन की ही प्रमुखता है।

विधानमंडल का संघटन (Composition of the Legislature) :— द्विसदनीय विधानमंडलों के लिये सबसे अच्छा सिद्धान्त यह होगा कि उनका संघटन विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय। इसमें ध्यान यह रखना चाहिये कि विभिन्न विचारधाराओं और स्वार्थों का उचित संतुलन हो सके। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि दोनों सदनों की सदस्य संख्या, उनका कार्यकाल तथा सदस्यों की निर्वाचन योग्यताएँ अलग-अलग हों। निम्न अथवा प्रथम सदन जन साधारण का सदन हो और उच्च अथवा द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गों और विशिष्ट स्वार्थों के प्रतिनिधियों का सदन हो। यदि द्वितीय सदन में नाम-निर्देशन की भी गुंजाइश रखी जाय, तो कला, विज्ञान तथा ऐसे ही अन्य विषयों के विशेषज्ञ उसके सदस्य आसानी से हो सकेंगे।

द्वितीय सदन

यद्यपि द्वितीय सदनों के संघटनों के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, लेकिन प्रथम सदन के संघटन के सम्बन्ध में उनमें बहुत कुछ मतैक्य है। आजकल सभी सभ्य देशों में वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त है। अतएव इसी आधार पर प्रथम सदनों के निर्वाचन होते हैं। ये निर्वाचन विभिन्न देशों में जनसंख्या के

प्रथम या निम्न सदन

विभिन्न अनुपात में होते हैं। एक निश्चित संख्या पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाता है। प्रायः एक क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। कहीं-कहीं एक क्षेत्र से दो प्रतिनिधि भी चुने जाते हैं। निम्न सदन के लिये प्रायः प्रत्यक्ष चुनाव होते हैं। अधिकतर देशों में किसी प्रतिनिधि के चुने जाने के लिये साधारण बहुमत काफ़ी होता है। निम्न सदनों के निर्वाचन तीन वर्ष से लगाकर ६ वर्ष तक के लिये होते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका का निम्न सदन केवल २ वर्ष के लिये चुना जाता है। ब्रिटेन और भारत के निम्न सदन ५ वर्ष के लिये चुने जाते हैं।

दोनों सदनों के आपसी सम्बन्ध :—सिद्धान्त की दृष्टि में दोनों सदनों के अधिकार समान होते हैं। कोई भी विधेयक क़ानून तभी बन सकता है जब उसे दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त हो। लेकिन वित्तीय मामलों में अधिकतर देशों में निम्न सदन के अधिकार अधिक होते हैं। वित्तविधेयक निम्न सदन में ही प्रथम पेश किये जाते हैं। यह प्रथा इंगलेण्ड की वैधानिक प्रथा पर आधारित है। इंगलेण्ड में हाउस ऑफ कॉमन्स जनता का सदन समझा जाता है और वित्तीय मामलों में उसी के अधिकार अधिक हैं। भारत में भी यही प्रथा प्रचलित है। यदि द्वितीय सदन निर्वाचित सदन होता है तो उसके अधिकार बहुत कुछ प्रथम सदन के समान होते हैं। लेकिन यदि उसका संघटन उत्तराधिकार या नाम-निर्देशन के अनुसार होता है तो उसके अधिकार प्रथम सदन की अपेक्षा बहुत कम होते हैं।

विधानमंडल की कार्य-प्रणाली :—आजकल विधानमण्डलों का काम बहुत अधिक बढ़ गया है। अतएव उसे सुचारु रूप से चलाने के लिये और समय के अन्दर पूरा करने के लिये एक अच्छी कार्य-प्रणाली की आवश्यकता है। अधिकतर विधानमण्डल अपनी कार्य-प्रणाली स्वयं निश्चित करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं संविधान इसे निश्चित करते हैं। प्रायः सभी विधानमंडल स्वयं अपने अध्यक्ष और अन्य उच्चाधिकारी नियुक्त करते हैं। लेकिन संयुक्तराज्य अमेरिका और भारत के संविधान में यह दिया गया है कि देश के उपराष्ट्रपति द्वितीय सदनों के सभापति भी होंगे। इंगलेण्ड में लॉर्ड चान्सलर हॉउस ऑफ लॉर्ड्स का सभापति होता है। ब्रिटेन और फ्रान्स में विधानमंडल के सदस्य कुछ कार्यपालिका के पदों पर नियुक्त हो सकते हैं। लेकिन अमेरिका में ऐसा नहीं होता। अमेरिका में केवल राष्ट्रपति विधानमंडल में भाषण दे सकता है। लेकिन भारत, ब्रिटेन और फ्रान्स में विधानमंडल के सदस्य ही मंत्रि-पद के लिये चुने जाते हैं और निम्न सदन की अधिकतर कार्यवाही उन्हीं के द्वारा संचालित होती है। सदस्यों को वेतन और भत्ते मिला करते हैं और उनके कुछ विशेषाधिकार भी रहते हैं।

आजकल कार्यभार के कारण विधानमंडलों का काम प्रायः कमेटियों के ज़रिये होता है। जिस विषय पर क़ानून बनना होता है, कमेटियाँ उसकी पूरी-पूरी छान-बीन करके अपनी रिपोर्ट तैयार करती हैं और इन रिपोर्टों के आधार पर क़ानून बनाये जाते हैं। इन कमेटियों में विधानमंडल के प्रायः सभी दलों के लोग शामिल किये जाते हैं। कुछ कमेटियाँ स्थायी और कुछ अस्थायी। इनमें से वित्तीय और परराष्ट्र-नीति-संबन्धी कमेटियों का महत्व अधिक होता है। अमेरिका में चूँकि अधिकार-विभाजन बहुत कठोर है, इसलिये वहाँ कार्य-पालिका और विधानमंडल के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में ये कमेटियाँ बहुत बड़ा काम करती हैं।

विधेयक पेश करने और उन्हें पारित करने के निश्चित नियम होते हैं। इसी प्रकार कार्य स्थगन, उपस्थिति, मतदान तथा विवाद के सम्बन्ध में भी विधानमण्डल के निश्चित नियम होते हैं। विभिन्न विधानमण्डलों में ये नियम अलग-अलग होते हैं। फिर भी आजकल प्रायः सभी देशों के विधान-मण्डलों के कार्य-संचालन के नियम बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं। कोई विधेयक क़ानून तभी बन पाता है, जब उसे दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त हो। आजकल कहीं भी लम्बे भाषणों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता।

क़ानून निर्माण की प्रत्यक्ष विधि (Direct Legislation) :— यद्यपि आजकल प्रतिनिधि जनतन्त्र का युग है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में कुछ देशों में जनता स्वयं क़ानून बनाती है। यह व्यवस्था जनता के संप्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है। जब जनता अपनी प्रतिनिधि सभा से संतुष्ट नहीं होती, तब वह कोई विशिष्ट क़ानून बनाने का काम अपने हाथ में ले लेती है। विज्ञान के साधनों ने इस कार्य को बहुत कुछ आसान भी कर दिया है। प्रत्यक्ष रूप से क़ानून बनाने के तीन तरीक़े हैं। इनको हम यहाँ एक-एक करके देखेंगे :—

उपक्रम

पहली विधि को उपक्रम (Initiative) कहते हैं। इसके अन्तर्गत क़ानून के द्वारा निर्धारित मतदाताओं की कम-से-कम एक निश्चित संख्या विधानमण्डल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजती है। जिसमें कोई क़ानून बनाने की प्रार्थना की जाती है। विधानमण्डल से कहा जाता है कि अमुक विषय पर क़ानून बनाने के लिये वह एक मसविदा तैयार करे और उसे जनता की सहमति के लिये उपस्थित करे। कहीं-कहीं मतदाता स्वयं भी मसविदा या विधेयक तैयार कर सकते हैं और विधानमण्डल को उस पर विचार करने के लिये विवश कर सकते हैं। स्विटज़रलैण्ड में संघ में तथा राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था है। संयुक्तराज्य अमेरिका के केवल राज्यों में यह व्यवस्था

है। स्विटज़रलैण्ड में संघ शासन में कम-से-कम पचास हज़ार मतदाता इस प्रकार की कार्यवाही कर सकते हैं। इस विधि के द्वारा वे संविधान में संशोधन का भी प्रस्ताव कर सकते हैं। स्विटज़रलैण्ड में राज्यों में उपक्रम संवैधानिक तथा साधारण क़ानूनों के लिये प्रयोग किया जा सकता है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में १४ राज्यों में उपक्रम संवैधानिक क़ानूनों के लिये, १९ राज्यों में साधारण क़ानूनों के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है। उपक्रम का प्रयोग उतना अधिक नहीं किया जाता, जितना कि लोकमत संग्रह या लोक निर्देशना (Referendum)।

उपक्रम के कई लाभ बताये गये हैं। इसके द्वारा मतदाता विधानमण्डल को कोई क़ानून बनाने के लिये विवश कर सकते हैं। आधुनिक राज्यों की जनसंख्या इतनी अधिक होती है कि उनके विधानमण्डल जनमत के सब वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में जनता अपने हित में लाभकारी क़ानून बनाने के क़दम स्वयं उठा सकती है। इसका एक सुफल यह होता है कि जनता देशहित कार्यों में दिलचस्पी लेती रहती है और उसे नागरिकता में प्रशिक्षण मिलता है। इसके साथ ही सरकार भी जनता के प्रति जागरूक रहती है। इस विधि का एक फ़ायदा यह भी है कि लोग एक सम्प्रदाय अथवा एक वर्ग विशेष के हित चिन्तन से ऊपर उठ कर राष्ट्र की दृष्टि से वस्तुओं पर विचार करते हैं। इस क्रिया से जो क़ानून बनाया जायगा, जनता उसका पालन अधिक स्वेच्छा पूर्वक करेगी। उपक्रम का एक लाभ यह भी है कि जहाँ इसका प्रचलन होता है, वहाँ विद्रोह की सम्भावना कम हो जाती है। यदि विधान-मण्डल जनता की आवाज नहीं सुनते तो जनता स्वयं क़ानून बना सकती है और निश्चय ही इस प्रकार के क़ानून अधिक प्रभावशाली होंगे।

लेकिन उपक्रम में जहाँ इतने गुण हैं, वहाँ कुछ दोष भी होते हैं। एक तो इससे विधानमण्डल की प्रतिष्ठा कम होती है। कभी-कभी विधानमण्डल को केवल जनमत को प्रसन्न करने के लिये ऐसे क़ानून बनाने पड़ते हैं, जो वास्तव में वह जनहित के लिये उपयुक्त नहीं समझता। दूसरी बात यह है कि आज-कल क़ानून बनाना बड़ा पेचीदा काम है। साधारण जनता इसकी बारीकियाँ नहीं समझती। उसे विशेषज्ञ का सहयोग भी सुलभ नहीं रहता। इसलिये वह ऐसे क़ानून बना सकती है जो उसका नुक़सान ही कर दे। इसमें एक ख़तरा यह भी है कि कोई प्रभावशाली नेता अपनी वाक-चातुरी द्वारा जनता को प्रभावित करके ऐसे क़ानून बनवा सकता है, जो राज्य के लिये ख़तरनाक सिद्ध हो।

प्रत्यक्ष क़ानून निर्माण का दूसरा तरीक़ा लोकमत-संग्रह या लोक-निर्देशना (Referendum) कहलाता है। इसके अनुसार विधानमण्डल जब कोई

विधेयक पास करता है, तो वह मतदाताओं के सामने सहमति के लिये प्रत्यक्ष रूप से रखा जाता है। मतदाता चाहें तो उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते हैं। वे अपना निर्णय साधारण बहुमत से प्रकट करते हैं। यह संवैधानिक क़ानून तथा साधारण क़ानून दोनों के लिये लागू होता है। लोकमत संग्रह अनिवार्य भी होता है और विशिष्ट या वैकल्पिक भी। स्विटज़रलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया में जितने संवैधानिक संशोधन होते हैं, वे सब अनिवार्य रूप से लोकमत संग्रह के लिये भेजे जाते हैं। स्विटज़रलैण्ड के कुछ राज्यों में सब प्रकार के क़ानून लोकमत संग्रह के लिये भेजे जाते हैं और कुछ राज्यों में लोकमत-संग्रह वैकल्पिक है। अमेरिका में भी कुछ राज्यों में लोकमत-संग्रह वैकल्पिक है। अमेरिका में संघ शासन में लोकमत-संग्रह नहीं है।

लोकमत-संग्रह

जब कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये लोकमत-संग्रह किया जाता है तो उसे जनमत-संग्रह (Plebiscite) कहा जाता है। वास्तव में इन दोनों में बहुत कम अन्तर होता है।

जनता की राय जानने के लिये लोकमत-संग्रह सबसे अच्छा तरीक़ा है। इसके ज़रिये लोग उन क़ानूनों का बहिष्कार कर सकते हैं, जिन्हें वह अपने हित में उचित नहीं समझते। विधानमण्डल के कार्यों में जो त्रुटियाँ रहती हैं, उन्हें इस तरह ठीक किया जा सकता है। इस तरीक़े के द्वारा विद्रोह को रोका जा सकता है। विधानमण्डलों पर दलबन्दी का ज़ोर रहता है, लेकिन इस प्रणाली के द्वारा दलबन्दी प्रभावहीन हो सकती है। साथ ही इसके द्वारा जनता और उसके प्रतिनिधियों में सम्पर्क बना रहता है। इस प्रणाली की आलोचना में यह कहा जाता है कि इसके द्वारा वैधानिक कार्य जिम्मेदार से ग़ैरजिम्मेदार और और सज्ञान से अज्ञान हाथों में चला जाता है। बारीक़ और गम्भीर मामलों से भरे हुए काम यदि साधारण जनता की राय के लिये रखे जायँ, तो वह उनके बारे में क्या समझ सकती है और केवल हाँ अथवा ना कह देने से उसकी वास्तविक राय नहीं जानी जा सकती। दूसरी बात यह है कि यदि बार-बार लोकमत-संग्रह किया जाय, तो जनता भी उसके प्रति उदासीन हो जायेगी और क़ानून बनाने में जो विलम्ब होगा, वह तो अलग ही है। इस प्रयोग के बार-बार दोहराये जाने से विधानमण्डल अपना आत्म-विश्वास खो बैठेगा और उसमें ज़िम्मेदारी की भावना की भी कमी होगी।

प्रत्यक्ष क़ानून निर्माण अथवा प्रत्यक्ष व्यवस्थापन का तीसरा तरीक़ा प्रत्यावर्तन कहलाता है। इसके ज़रिये मतदाताओं की एक निश्चित संख्या एक प्रार्थना पत्र द्वारा किसी उच्च सरकारी कर्मचारी अथवा विधानमण्डल के सदस्य

को पदच्युत करने की माँग करते हैं। स्विटज़रलैण्ड के कुछ राज्यों में मतदाताओं की एक निश्चित संख्या इस प्रक्रिया द्वारा राज्य विधानमण्डल का विघटन कर सकते हैं। इस प्रक्रिया का मूल सिद्धान्त यह है कि जिस पदाधिकारी में जनता का विश्वास नहीं रह जाता, उसे अपना पद छोड़ देना चाहिए। इसे राजनीतिक भ्रष्टाचार-निरोध का एक उपाय कहा जाता है। यह प्रथा संयुक्तराज्य अमेरिका, स्विटज़रलैण्ड और सोवियत रूस के कुछ राज्यों में प्रचलित है।

आलोचकों ने इस प्रणाली में भी कुछ दोष बतलाये हैं। उनका कहना है कि इसके कारण सरकारी कर्मचारी और निर्वाचित प्रतिनिधि हमेशा डरे रहते हैं। इससे शासन में ढीलापन आता है। दूसरा दोष यह है कि अज्ञान जनता हमेशा उनकी न्यायाधीश बनी रहती है। विधानमण्डल में भी प्रतिनिधि कोई साहस पूर्ण क़दम उठाने में हिचकिचाते हैं। इससे प्रशासन कमज़ोर होता है और योग्य व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में आने से हिचकिचाते हैं। यदि यह प्रक्रिया न्यायाधीशों पर लागू की जाय, तो वह निष्पक्ष रूप से न्याय-विचार नहीं कर सकेंगे।

इन तीन प्रक्रियाओं के अलावा संयुक्तराज्य अमेरिका के उत्तरी राज्यों में तथा स्विटज़रलैण्ड के कुछ राज्यों में नगर-सभा (Town Meeting) की प्रथा प्रचलित है। नगर-सभाओं के जरिये मतदाता एक सार्वजनिक सभा में इकट्ठे होकर स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी क़ानून बनाते हैं और स्थानीय कर्मचारियों का निर्वाचन करते हैं।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष व्यवस्थापन वही सफल हो सकता है, जहाँ ज़नता में राजनीतिक जागृति और अपने अधिकार तथा कर्त्तव्यों का अच्छा बोध हो। यदि ये बातें हों, तो इसमें सन्देह नहीं है कि इन प्रत्यक्ष प्रणालियों द्वारा जनता का सरकार पर अधिक नियन्त्रण हो सकता है और जन-संप्रभुता का सिद्धान्त अधिक अच्छी तरह अमल में आ सकता है, तथा प्रत्यक्ष जनतन्त्र सफल हो सकता है।

अध्याय १८

कार्यपालिका

(The Executive)

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि शासन का जो अंग क़ानून के रूप में राष्ट्र की इच्छा व्यक्त करता है, उसे विधानमंडल कहते हैं। दूसरा अंग कार्यपालिका होता है। यह विधानमंडल के बनाये हुए क़ानूनों पर नागरिकों से अमल करवाता है। कार्यपालिका में वे सब राज्य-कार्मचारी होते हैं, जो विधानमंडल तथा न्यायपालिका से संबन्धित नहीं होते, अर्थात् शासन के प्रधान से लगाकर एक साधारण चपरासी तक कार्यपालिका का अंग होता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कार्यपालिका के माने केवल शासन का प्रधान और उसके मंत्रिगण तथा सचिव होते हैं। उदाहरण के लिये भारत में राष्ट्रपति तथा उसका मंत्रिमंडल; ब्रिटेन में राजा तथा उसका मन्त्रिमण्डल और संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके मंत्रियों को कार्यपालिका कहा जाता है। कभी-कभी कार्यपालिका और प्रशासन (Administration) में यह भेद बतलाया जाता है कि कार्यपालिका में केवल वे विभागीय प्रधान होते हैं जो नीति-निर्धारण करते हैं और प्रशासन में वे अधीनस्थ अधिकारी होते हैं जो कि उस नीति के अनुसार कार्य की रूप-रेखा बनाकर उस पर अमल करते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं, यथा—(१) कार्यपालिका का प्रधान (Executive Head), (२) मंत्रिमण्डल जिसमें विभिन्न भागों के अध्यक्ष होते हैं और (३) प्रशासकीय सेवाएँ (Administrative Civil Service)। यहाँ हम कार्यपालिका का अध्ययन शासन के प्रधान और मंत्रिमंडल अर्थात् विभागीय अध्यक्षों का अध्ययन विशेष रूप से करेंगे।

यद्यपि आधुनिक काल में कार्यपालिका की अपेक्षा विधानमण्डल का कार्य अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है, फिर भी कार्यपालिका का कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं होता है। जिन देशों में संसदीय शासन-प्रणाली प्रचलित है, उन देशों में कार्यपालिका के कहने के अनुसार ही विधानमण्डल क़ानून बनाते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका न केवल क़ानून का पालन करवाती है, बल्कि उसको अपनी इच्छानुसार बनवाती भी है। यदि कोई क़ानून उसकी इच्छानुसार नहीं बनता तो कम से कम वह उसका पालन अपनी इच्छानुसार करा सकती है। इस प्रकार कार्यपालिका का क्षेत्र आधुनिक काल में बहुत विस्तृत हो गया है। उसे हम इन

पाँच विभागों में बाँट सकते हैं :—(१) कूटनीतिक अधिकार (Diplomatic Power), (२) प्रशासकीय अधिकार (Administrative Power), (३) सैनिक अधिकार (Military Power), (४) न्याय सम्बन्धी अधिकार (Judicial Power), इसमें दण्ड कम करना, क्षमादान देना इत्यादि के अधिकार शामिल हैं और (५) विधानमण्डल संबन्धी अधिकार (Legislative Power) इसमें विधानमंडल का अधिवेशन कराने, अधिवेशन को स्थगित करने, विधानमंडल को विघटन करने, विधेयक तैयार करना और विधानमंडल में पेश करके उन्हें क़ानून बनाना, क़ानूनों में संशोधन करना तथा अध्यादेश जारी करने के अधिकार शामिल हैं।

इन कई प्रकार के कार्यों को अच्छी तरह करने के लिये कार्यपालिका में कुछ गुण बहुत ज़रूरी हैं। सबसे बड़ी आवश्यकता तो यह है कि कार्यपालिका में संघटन और नीति की एकता होनी चाहिये अर्थात् सम्पूर्ण कार्यपालिका की सामूहिक रूप से एक इच्छा या मन्तव्य होना चाहिये। इसके बिना उसका कोई काम नहीं सध सकता। दूसरी आवश्यकता यह है कि उसमें निश्चयात्मक रूप से निर्णय करने की और दृढ़तापूर्वक कार्य करने की शक्ति होनी चाहिये। तीसरी आवश्यकता यह है कि उसकी नीति गोपनीय रहे। यह सब काम अच्छी तरह तब हो सकते हैं, जब कार्यपालिका के अधिकार एक व्यक्ति अथवा कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में हों और उनको कार्य करने की क़ाफी स्वतन्त्रता हो, लेकिन साथ ही यह अधिकार बेलगाम अर्थात् अनियंत्रित भी न हो। अन्यथा जनतन्त्र की जगह तानाशाही का शासन हो जायगा। एक अन्य आवश्यक गुण यह भी है कि जिन लोगों के हाथ में कार्यपालिका के अधिकार हों उनका कार्यकाल भी इतना लम्बा हो कि वे अनुभव प्राप्त करके लगन और जिम्मेदारी के साथ अपना काम कर सकें।

शासन का प्रधान :—आजकल संसार के विभिन्न देशों में कई प्रकार के शासन के प्रधान देखे जाते हैं। जैसे कि ब्रिटेन के संवैधानिक उत्तराधिकारी राजा तथा अफ़गानिस्तान के निरंकुश राजा, अमेरिका के राष्ट्रपति—जिनके हाथ में शासन के सब अधिकार हैं और भारत के राष्ट्रपति जो शासन के केवल एक वैधानिक प्रधान हैं। इन सब प्रकारों को देखते हुए हम शासन के प्रधानों को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। यथा-(१) वास्तविक (Real) अथवा नाममात्र (Nominal), (२) वंश-उत्तराधिकारी (Hereditary) अथवा निश्चित (Elected or Nominated), (३) एकल (Singular) अथवा बहुल (Plural)

वैधानिक तथा संसदीय शासन-प्रणाली प्रारम्भ होने के पहले प्रायः सभी देशों में शासन के प्रधान वंशज उत्तराधिकारी होते थे। आधुनिक युग में शासन

शक्ति विधानमण्डल के हाथ में आ गई है और उसका प्रयोग एक ऐसा मंत्रिमण्डल करता है, जो विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार होता है। तात्पर्य यह है कि कहीं-कहीं शासन के प्रधान के हाथ में वास्तविक शक्ति है और कहीं नाममात्र की। इसका भेद हम अच्छी तरह तब समझ सकते हैं; जब किसी देश में कार्यपालिका और विधानमंडल के संबन्ध को अच्छी तरह जान लें। जिन देशों में संसदीय शासन-प्रणाली प्रचलित है, वहाँ शासन का प्रधान नाममात्र का प्रधान होता है। वास्तविक अधिकार मंत्रिमंडल के हाथ में होते हैं; और मंत्रिमंडल पर विधान-मंडल का अधिकार रहता है। उदाहरण के लिये ब्रिटेन का राजा फ्रान्स का राष्ट्रपति और भारत के राष्ट्रपति नाममात्र के शासन के प्रधान हैं। इसके विपरीत जिन देशों में अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है वहाँ कार्य-पालिका विधानमंडल से स्वतन्त्र होती हैं और कार्यपालिका प्रधान शासन का वास्तविक प्रधान होता है। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति शासन का वास्तविक प्रधान होता है।

वर्गीकरण का एक आधार यह होता है कि शासन का प्रधान किस प्रकार नियुक्त किया जाता है। वह वंशज उत्तराधिकारी अथवा निर्वाचित। दूसरे वह जीवनभर के लिये नियुक्त होता है अथवा एक निश्चित अवधि के लिये। देखा यह गया है कि जो वंशज उत्तराधिकारी होते हैं वे जीवनभर के लिये शासन के प्रधान हो जाते हैं और जो निर्वाचित होते हैं वे एक निश्चित अवधि के लिये। निर्वाचन के चार तरीक़े देखने में आते हैं:—(१) प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित, (२) अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित, (३) विधानमंडल द्वारा निर्वाचित और (४) नाम-निर्देशित।

जनतन्त्र के विकास के पहले प्रायः सब जगह शासन का प्रधान वंशज उत्तरा-धिकारी होता था। आजकल भी कई देशों में शासन के प्रधान वंशज उत्तरा-धिकारी होते हैं। ब्रिटेन और बेलजियम इसके उदाहरण हैं, लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कि इनके हाथ में वास्तविक शक्ति नहीं है। इनका पद केवल अनुकम्पा से बना हुआ है। यदि हम वंशज उत्तराधिकारी शासन के प्रधान के गुण और दोषों की ओर देखें तो यह कह सकते हैं कि वंशज उत्तराधिकारी राजा के पद की प्रतिष्ठा बहुत बड़ी होती है। उसके पीछे इतिहास की एक बड़ी परम्परा होती है। राजा की शासन नीति और कार्यों में एक तारतम्य रहता है। उसके क़ानूनों को लोग श्रद्धापूर्वक देखते हैं। राजा के शासन में राजनीतिक परम्पराएँ स्थापित होती हैं। साथ ही इस पद में दोष भी बहुत होते हैं। कोई राजा निरंकुश और अत्याचारी हो सकता है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इस

प्रकार का राजतन्त्र जनतंत्र का विरोधी होता है। ऐसे राजा ग़ैरजिम्मेदारी से भी काम कर सकते हैं।

गणतन्त्र में कहीं-कहीं शासन का प्रधान जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है। संयुक्तराज्य अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुना जाता है, यद्यपि उसकी प्रणाली अप्रत्यक्ष मालूम होती है। इस प्रकार के निर्वाचन के कई लाभ हैं। एक तो इससे जन-संप्रभुता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। जनता सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी लेती रहती है। दूसरे इससे सरकार की जड़ मजबूत होती रहती है, क्योंकि शासन का प्रधान स्वयं जनता द्वारा चुना जाता है। इससे यह संभावना रहती है कि वह जनता के हित में शासन करेगा। लेकिन साथ ही इस प्रणाली में विद्वानों ने कई दोष भी बतलाये हैं। इतने बड़े पद के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका अन्दाज जनता यथोचित रूप से नहीं लगा सकती। एक ही पद के लिये यदि कई उम्मीदवार हुए तो भी जनता उनकी योग्यता की तुलना भली-भाँति नहीं कर सकती। वह भाषणों द्वारा गुमराह भी की जा सकती है। इस प्रणाली से दलबन्दी की बुराइयाँ बढ़ती हैं और भ्रष्टाचार फैलता है। हम लोग जानते हैं, कि संयुक्तराज्य अमेरिका में जब राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है, तो ऐसा लगता है कि मानों गृह-युद्ध हो रहा हो। इस प्रणाली द्वारा यदि एक ही व्यक्ति कई बार राष्ट्रपति चुना जा सकता है, तो तानाशाही स्थापित होने का डर रहता है। जर्मनी में ऐसा ही हुआ। दक्षिण अमेरिका के राज्यों में भी यह प्रणाली सफल नहीं हुई।

शासन के प्रधान के अप्रत्यक्ष निर्वाचन का अर्थ यह होता है कि वह एक निर्वाचिक गण (Electoral College) द्वारा चुना जाता है। यह प्रणाली मेक्सिको, अर्जेन्टाइना, चिली, दक्षिण अमेरिका के कुछ अन्य राज्यों में प्रचलित है। इस प्रणाली के द्वारा वे दोष कुछ कम हो जाते हैं जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इससे निर्वाचकों की संख्या और उन्हें सोचने-विचारने का अधिक मौक़ा मिलता है। लेकिन इस प्रणाली पर भी दलबन्दी प्रथा का बहुत भारी प्रभाव रहता है और लोग एक न एक दल से संबद्ध होकर अपने ही दल के व्यक्ति को अपना मत देते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका में इससे दलगत, पक्षपात और भ्रष्टाचार का प्रचलन हुआ है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन का दूसरा रूप यह है कि शासन का प्रधान संसद के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। भारत और फ्रान्स में यही प्रणाली प्रचलित है। इसका अर्थ यह है कि शासन का प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा चुना जाता है। स्विटजरलैण्ड में पूरी कार्यकारिणी सभा विधानमंडल द्वारा चुनी जाती है। इस प्रणाली में भी कुछ गुण हैं। विधानमण्डल के सदस्यों

को राजनीतिक समस्याओं का अच्छा ज्ञान रहता है। इसलिये इनमें मतदान करने की क्षमता अधिक अच्छी होती है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि शासन के प्रधान और विधानमंडल में अधिक अच्छा सहयोग रहता है। जिन देशों में अधिकार विभाजन का सिद्धान्त कठोर रूप से प्रचलित है, उनमें प्रधान और विधानमंडल में संघर्ष होने की संभावना बहुत कम हो जाती है। भारत, ब्रिटेन और फ्रान्स में कार्यपालिका नाम के लिये यद्यपि शासन के प्रधान द्वारा होती है, तथापि वास्तव में वह विधानमंडल की स्वीकृति से होती है। इस प्रणाली में दोष यह है कि विधानमंडल के द्वारा जो प्रधान निर्वाचित किया जायगा उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की क्षमता न होगी, क्योंकि वह हमेशा एक प्रकार से विधानमंडल का आभारी रहेगा। इस प्रणाली द्वारा राजनीतिक सौदे, पक्षपात, भ्रष्टाचार इत्यादि की भी संभावनाएँ रहती हैं। सारांश यह है कि इस प्रकार की कार्यपालिका एक कमजोर संस्था होगी जो कि देश के लिये अहितकर होगी।

शासन का प्रधान नाम-निर्देशित भी हो सकता है। उदाहरण के लिये ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (Commonwealth) के राज्यों के गवर्नर-जनरल नाम-निर्देशित होते हैं। लेकिन वास्तव में ये केवल नाममात्र के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा नाम-निर्देशित होते हैं। स्वतन्त्रता के पहले भारत का गवर्नर-जनरल वास्तविक रूप से ब्रिटिश सरकार द्वारा नाम-निर्देशित होता था।

एकल और बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive) :—कार्यपालिका का दूसरा वर्गीकरण एकल और बहुल के आधार पर भी किया जाता है। एकल कार्यपालिका में शासन-शक्ति अन्तिम रूप से एक व्यक्ति के हाथ में रहती है और बहुल कार्यपालिका में वह कई व्यक्तियों के हाथ में रहती है। आधुनिक काल में बहुल कार्यपालिका का उदाहरण केवल स्विटज़रलैण्ड में पाया जाता है। वहाँ विधानमंडल द्वारा निर्वाचित सात व्यक्तियों की एक सभा में शासन-शक्ति समानरूप से निहित है। इनमें एक व्यक्ति को राष्ट्रपति कहा जाता है। कार्यपालिका का सम्पूर्ण कार्य यही सातों व्यक्ति देखते हैं। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से वहाँ भी कार्यपालिका की एकता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है।

एकल कार्यपालिका में कई गुण रहते हैं। यदि शासन-शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में रहेगी तो वह मुस्तैदी के साथ काम कर सकता है और दृढ़तापूर्वक नीति निर्धारित कर सकता है। नेपोलियन कहा करता था, दो अच्छे सेनापतियों की अपेक्षा एक बुरा सेनापति अधिक अच्छा काम कर सकता है। जब शासन का केवल एक प्रधान होता है, तो सारी जिम्मेदारी उस पर होती है, उसका कोई

प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। इसमें दोष यह है कि वह एक निर्भीक तानाशाह की तरह भी काम कर सकता है।

इसके विपरीत बहुल कार्यपालिका में यह गुण होता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है और शासन के विभिन्न विभागों के कार्य-क्षेत्र अधिक स्वतन्त्र और सुरक्षित रहते हैं। इसमें किसी भी बात पर सोच-विचार करने के लिये अधिक व्यक्ति उपलब्ध रहते हैं। अतएव हम यह कह सकते हैं कि इसके निर्णय अधिक गम्भीर होंगे। लेकिन इन गुणों की अपेक्षा इस प्रणाली में दोष अधिक बतलाये गये हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, इसमें अधिकार बँटा हुआ रहता है। इसलिये शासन में ढीलापन आने का डर रहता है। किसी एक व्यक्ति पर निश्चित रूप से जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती। संकट काल में यह दृढ़तापूर्वक तुरन्त कोई निर्णय नहीं ले सकती और यह बात देश के लिये ख़तरनाक़ सिद्ध हो सकती है। विदेशी कूटनीति की चालें अधिक आसानी से चल सकती हैं। सहयोगियों में आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण शासन का पतन हो सकता है।

कार्यपालिका की अवधि (Tenure of the Executive):—अलग-अलग देशों में शासन के प्रधान का कार्यकाल अलग-अलग होता है और यह बहुत कुछ नियुक्ति के तरीक़ों पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिये जब शासन का प्रधान वंशज उत्तराधिकारी होता है, तो वह आजन्म अपने पद पर रहता है। जब वह निर्वाचित होता है, तो उसका विभिन्न राज्यों में एक वर्ष से लगाकर सात वर्ष तक देखा जाता है। संयुक्तराज्य अमेरिका के कुछ राज्यों के गवर्नर एक वर्ष और दो वर्ष के लिये चुने जाते हैं। स्विटज़रलैण्ड में संघीय कार्यपालिका तीन वर्ष के लिये चुनी जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्राजील के राष्ट्रपति चार वर्ष के लिये चुने जाते हैं। भारत का राष्ट्रपति पाँच वर्ष के लिये चुना जाता है। फ्रान्स का राष्ट्रपति सात वर्ष के लिये चुना जाता है। जिन देशों में संसदीय प्रणाली प्रचलित है, वहाँ कार्यपालिका तबतक अपने पद पर रहती है, जब तक कि उसे विधानमंडल का समर्थन प्राप्त रहता है। विद्वानों का मत है कि कार्यपालिका की अवधि निश्चित नहीं की जा सकती। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह न तो बहुत कम हो और न बहुत लम्बी। यदि अवधि बहुत कम होती है, तो पदाधिकारी अपने कार्य के सम्बन्ध में कुछ अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते। अथवा यों हो सकता है कि ज्यों ही एक व्यक्ति को अनुभव प्राप्त होगा, त्यों ही उसकी जगह में दूसरा व्यक्ति निर्वाचित हो सकता है। इस कारण से किसी पदाधिकारी का अपने काम में मन नहीं लगेगा। वह कोई नई नीति भी नहीं चलायेगा, क्योंकि उसे यह डर लगा रहेगा कि यदि जनता नाराज़ हो गई तो उसे अगली अवधि में निर्वाचित

न करेगी। जल्दी-जल्दी निर्वाचन होने से देश में संघर्ष और तनाव का वातावरण बना रहता है। दलबन्दी के जितने दोष होते हैं वे सब अपने उच्च-तम सतह पर बने रहते हैं। इन परिस्थितियों में कार्यपालिका का प्रधान सुचारु-रूप से काम नहीं कर पाता और न किसी काम की योजना ही बना पाता है। इसमें केवल एक गुण यही है कि अल्प-अवधि में शासन-शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने पाता है। इसी प्रकार बहुत लम्बी अवधि में भी ख़तरे रहते हैं। उसमें शासन का प्रधान अपनी ही तानाशाही स्थापित करने की बात सोच सकता है। प्रथम नेपोलियन और तृतीय नेपोलियन को दस वर्ष के लिये शासन का प्रधान चुना गया था और इस अवधि में उन्होंने अपने वंश के साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न किये। इसलिये इतनी लम्बी अवधि भी नहीं होनी चाहिये। इन सब बातों पर ध्यान देकर यह कहा जा सकता है कि शासन के प्रधान के लिये चार या पाँच वर्ष की अवधि काफ़ी अच्छी होती है। इतने काल में शासन सम्बन्धी अनुभव भी प्राप्त हो सकता है, शासन व्यवस्थित रूप से चल सकता है, उसमें दृढ़ता और स्थिरता आ सकती है। दलबन्दी के दोष दबे रह सकते हैं और जनता के प्रति जिम्मेदारी की भावना भी बनी रह सकती है।

शासन के प्रधान के कार्यकाल के साथ उसके पुनर्निर्वाचन का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। अवधि समाप्त होने पर एक प्रधान अपने पद के लिये फिर से निर्वाचित हो सकता है अथवा नहीं और वह कितने बार निर्वाचित हो सकता है। इस संबन्ध में भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं। दक्षिण अमेरिका के कुछ देशों में शासन-प्रधान अपने पद के लिये फिर से निर्वाचित नहीं हो सकता। लेकिन अर्जेन्टाइना, ब्राज़ील और चिली में वह कुछ समय बाद निर्वाचित हो सकता है, तुरन्त नहीं। संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रपति वाशिंगटन ने यह प्रथा स्थापित की थी कि दो बार से अधिक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिये निर्वाचित न होगा। परन्तु राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने इस प्रथा को तोड़ दिया। वहाँ का संविधान इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। स्विटज़रलैण्ड में संघीय कार्यपालिका सदस्य अपने पद के लिये प्रायः फिर से निर्वाचित हो जाते हैं।

जनमत और व्यवहार पुनर्निर्वाचन के पक्ष में ही दिखते हैं। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह है कि शासन के प्रधान के पद के लिये प्रायः अनुभवी व्यक्ति मिलते रहते हैं। इससे शासन-कार्य की क्षमता बनी रहती है। साथ ही प्रधान के पद पर रहनेवाला व्यक्ति भी पुनर्निर्वाचन की आशा से अधिक लगन से कार्य कर सकता है। इससे शासन में अच्छी प्रथाओं की नींव पड़ती है और जनता में शासन के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। यदि प्रधान यह जानता है कि वह

केवल एक ही बार पद पर रह सकता है, तो उसमें यह भावना पैदा होती है कि दुबारा तो पद मिलना नहीं है। इस अवधि में जितना लाभ बन सके उठा लेना चाहिये। इसमें दोष यह है कि प्रधान अपना सब समय पुनर्निर्वाचन के प्रयत्नों में लगा सकता है और इन प्रयत्नों में भ्रष्टाचार, पक्षपात इत्यादि को प्रोत्साहन दे सकता है। यदि पुनर्निर्वाचन का लोभ न रहे तो प्रधान अधिक दृढ़तापूर्वक और अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करेगा। वह अनावश्यक रूप से लोगों को खुश नहीं करता फिरेगा।

वंशज उत्तराधिकारी प्रधान ब्रिटेन की राजा की तरह नाममात्र का प्रधान हो सकता है और अफगानिस्तान तथा अबीसीनिया की तरह वास्तविक शासक भी हो सकता है। इसी प्रकार निर्वाचित प्रधान संयुक्तराज्य अमेरिका की तरह वास्तविक शासक हो सकता है और भारत तथा फ्रान्स के राष्ट्रपति की तरह नाममात्र का शासक हो सकता है। इस तरह के वर्गीकरण का वास्तविक आधार यह होगा कि कार्यपालिका का विधानमंडल या संसद के साथ क्या संबन्ध हैं। अर्थात् क्या कार्यपालिका संसदीय ढंग की और विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार है अथवा वह विधानमंडल से स्वतन्त्र है।

कार्यपालिका का विधानमंडल से संबन्ध (The Executive and the Legislature) :—यह हम पीछे देख चुके हैं कि कार्यपालिका और विधानमंडल में पूर्णरूप से कार्य-विभाजन नहीं हो सकता। एक दूसरे से पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं रह सकते। संसदीय प्रणाली में विधानमंडल का पल्ला ही भारी रहता है और वह कार्यपालिका पर अपने प्रभाव जमाये रहता है। लेकिन अध्यक्षात्मक प्रणाली में दोनों एक दूसरे पर स्वतन्त्र रूप से प्रभाव डालते हैं। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि दोनों प्रणालियों में कार्यपालिका विधानमंडल पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालती है और विधानमंडल के कुछ न कुछ काम अवश्य करती है। यही बात विधानमंडल के संबन्ध में भी लागू होती है। वह वित्त पर नियन्त्रण रखकर कार्यपालिका पर प्रभाव डालता है और कुछ उसके काम भी करता है। उदाहरण के लिये ब्रिटेन का राजा कार्यपालिका की सलाह से हाउस ऑफ कॉमन्स के अधिवेशन कराता है। अधिवेशनों को स्थगित कराता है, तथा सभा को विघटित भी करता है। फ्रान्स का राष्ट्रपति भी यही करता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में अधिवेशन का समय और विघटन तो संविधान द्वारा निर्धारित है, पर राष्ट्रपति विधानमंडल का विशेष अधिवेशन बुला सकता है। संसदीय प्रणाली में विधानमंडल का सब काम कार्यपालिका की देख-रेख में होता है। विधान का सारा काम उसी के नेतृत्व में होता है। लोकसभा में वित्त-विधेयक मंत्रिमंडल ही पेश करता है। चूँकि मंत्रिमंडल

लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त रखता है, इसलिये उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी विधेयक पास नहीं हो सकता। राजा का भाषण भी मंत्रिमंडल ही तैयार करता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में भी कार्यपालिका विधानमंडल को क़ानून बनाने का आदेश देती है। संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस अर्थात् विधानमंडल में जो वार्षिक संदेश भेजता है, उसमें अपनी नीति समझाता है और तदनुसार क़ानून बनाने का आग्रह भी करता है। कांग्रेस जो क़ानून बनाती है उनका पालन कार्यपालिका ही कराती है। अधिकतर देशों में संकट-काल में कार्यपालिका अध्यादेश जारी करती है और उनकी मान्यता क़ानून के समान होती है। फिर कार्यपालिका को विधानमंडल के विरुद्ध निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त होता है। वह विधानमंडल के बनाये हुए किसी भी अधिकार को रद्द कर सकती है अथवा उसे कुछ समय के लिये स्थगित कर सकती है। परन्तु वास्तव में ऐसा बहुत कम होता है।

कार्यपालिका का विधानमंडल पर इतना प्रभाव होते हुए भी विधानमंडल का कार्यपालिका पर कम प्रभाव नहीं होता। जैसा कि हम कह चुके हैं संसदीय शासन प्रणालीवाले देशों में कार्यपालिका सब कर विधानमंडल की अनुमति से लगाती है और व्यय भी उसकी अनुमति से करती है। फिर कई राज्यों में विशेषकर संघ राज्यों में विधानमंडल शासन अर्थात् कार्यपालिका के उच्चतम अधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है और उस पर विचार कर सकती है तथा सही होने पर उन्हें पदच्युत कर सकती है।

कार्यपालिका और न्यायपालिका :—प्राय: प्रत्येक आधुनिक राज्य में शासन का प्रधान साधारण क़ानूनों से परे होता है। अर्थात् उस पर प्रचलित क़ानून व्यवस्था के अनुसार न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। योरोप के कई देशों में प्रशासकीय क़ानून और प्रशासकीय न्यायालय होते हैं, जो साधारण न्यायालय से स्वतन्त्र होते हैं और शासन के उच्च अधिकारियों का न्याय-विचार इन प्रशासकीय न्यायालयों में होता है।

कार्यपालिका का संघटन :—आधुनिक काल में कार्यपालिका के कार्यों का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। उसे प्राय: सभी प्रकार के काम करने पड़ते हैं। उसके कामों को हम निम्नलिखित विभागों में बाँट सकते हैं :—

(१) कूटनीतिक (Diplomatic) :—विदेशी राज्यों में विभिन्न प्रकार की वार्त्ता करना, समझौता करना, युद्ध की घोषणा करना तथा संधि करना कार्यपालिका का एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। कुछ राज्यों में इन कार्यों के लिये विधानमंडल की अनुमति आवश्यक होती है और कुछ में नहीं होती। कार्यपालिका विदेशों में अपने राजदूत नियुक्त करती है और विदेशी राजदूत को अपने यहाँ मान्यता देती है।

(२) प्रशासकीय (Administrative) :—देश के अन्दर कार्यपालिका क़ानून का पालन कराती है और शासन की नीति-निर्धारित करती है। देश के वित्त पर देख-रेख रखती है और उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करती है। प्रशासन के सम्बन्ध में कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी करती है।

(३) सुरक्षा (Defence) :—देश की सुरक्षा का भार भी कार्यपालिका पर होता है। शासन का प्रधान प्रायः सैनिक शक्ति का भी प्रधान होता है। वही उच्च सेना अधिकारियों की नियुक्ति करता है। संकट काल में वह साधारण क़ानून की जगह सैनिक क़ानून (Martial Law) प्रचलित कर सकता है। युद्ध की घोषणा भी वही करता है।

(४) वैधानिक (Legislative) :—इस सम्बन्ध में कार्यपालिका विधान-मंडल का अधिवेशन बुलाती है और उसे स्थगित करती है। वही विधानमंडल को विघटित भी करती है। वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से क़ानून बनाती है और क़ानून का पालन कराती है।

(५) न्यायिक (Judicial) :—कार्यपालिका न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है और उन्हें पदच्युत भी कर सकती है। कार्यपालिका अपराधियों को क्षमादान भी दे सकती है।

संयुक्तराज्य अमेरिका संघीय शासन के देशों में कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र संविधान द्वारा निर्धारित होता है। उसके हाथ में अवशिष्ट अधिकार नहीं होते। लेकिन ब्रिटेन में अवशिष्ट अधिकार कार्यपालिका के हाथ में हैं। वह राजा के विशेषाधिकारों का भी प्रयोग करती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक काल में सभी देशों में कार्यपालिका की तानाशाही देखने में आती है। रूस जैसे देशों में तो विधानमंडल का कोई महत्व ही नहीं है। इंगलेंड में भी कार्यपालिका के अधिकार दिन प्रति दिन बढ़ते ही जाते हैं। कार्यपालिका की इस तानाशाही के कई कारण बतलाये जाते हैं। एक तो विधान-मंडल में अधिकतर क़ानून मंत्रिमंडल के ही इशारे पर बनते हैं। गैर-सरकारी विधेयकों को जबतक सरकारी समर्थन प्राप्त न हो, तबतक उनके पास होने की कोई आशा नहीं रहती। आधुनिक विधानमंडल में बहुमत प्राप्त दल की ही बात चलती है और यह दल मंत्रिमंडल के हाथ में रहता है। अतएव विधानमंडल की ही इच्छानुसार काम करता है। आजकल क़ानून बनाने का काम इतना पेचीदा हो गया है कि विधानमंडल का साधारण सदस्य नहीं समझता और वह सब जिम्मेदारी मंत्रिमंडल के हाथ छोड़कर उदासीन हो जाता है। फिर आजकल वैदेशिक नीति का कार्य इतना अधिक बढ़ गया है कि उसके द्वारा कार्यपालिका की शक्ति अपने आप बढ़ जाती है।

जैसा कि पहले कह चुके हैं कार्यपालिका में शासन के प्रधान और मन्त्रिमंडल के अलावा वे सब अधिकारी शामिल होते हैं, जो विभिन्न विभागों से संबन्धित रहते हैं। प्रायः एक मन्त्री के जिम्मे एक विभाग होता है, फिर उस विभाग के विभिन्न प्रशासकीय अधिकारी और सहायक अधिकारी होते हैं। यही क्रम सेना में भी होता है।

मन्त्रिमंडल शासन की नीति निर्धारित करता है और फिर प्रत्येक मन्त्री अपने विभागीय कर्मचारियों की सहायता से काम करते हैं।

प्रशासकीय सेवाएँ (The Civil Service) :—आधुनिक काल में सरकार का काम इतना बढ़ गया है और ऐसा पेचीदा हो गया है कि उसे हरेक आदमी आसानी से नहीं कर सकता। इसके कुछ ऐसे वेतनभोगी पेशेवर कर्मचारी रखे जाते हैं, जो इसी काम में लगे रहते हैं। इस प्रकार उनके लगातार अनुभव के कारण प्रशासन का काम दक्षतापूर्वक और अच्छी तरह चलता है। ये किसी राजनीतिक दल से संबन्धित नहीं रहते। शासन सत्ता में राजनीतिक दल बदलते रहते हैं, परन्तु कर्मचारियों का यह वर्ग अपने पद पर स्थायी रूप से रहता है। इनका कार्यकाल २५ से ३० वर्ष तक होता है और अवकाश प्राप्त करने के बाद इन्हें पेन्शन भी मिलती है। इस वर्ग में विधानमंडल न्यायालयों के तथा सेवा के कर्मचारी सम्मिलित नहीं किये जाते। इन कर्मचारियों का संबन्ध प्रशासन के किसी न किसी विभाग से रहता है। इसका नतीजा यह होता कि प्रशासन में दक्षता आती है। सबसे पहले इस सेवा की स्थापना इगलैण्ड में की गई थी और उसी के आधार पर भारत में भी प्रशासकीय सेवाओं का गठन किया गया। लेकिन हमारे देश में प्रशासकीय सेवाओं पर बहुत अधिक खर्च होता है। विद्वानों का मत है कि इसमें काफी मितव्ययता की गुंजाइश है।

लॉस्की ने प्रशासकीय सेवाओं के सुधार के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये हैं। उन्होंने लिखा है कि प्रशासकीय कर्मचारियों को दो भागों में बांट सकते हैं। एक वर्ग में वे लोग होते हैं; जो केवल खानापूरी का काम करते हैं और दूसरे वर्ग में वे लोग आते हैं जो कि सोच-विचार कर नीति-निर्धारण करते हैं। ऐसी परिस्थिति में इन कर्मचारियों के साथ कुछ सार्वजनिक-सलाहकार समितियाँ (Public Advisory Committees) का होना चाहिए। इन कमेटियों के जरिये कर्मचारियों का सम्बन्ध समाज के विभिन्न अंगों से बना रहेगा और उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं हो पायेगा। कमेटियों के अभाव में उनके विचार केवल विभागीय रिपोर्टों और लाल फीता से बँधे रह जायेंगे। लॉस्की का दूसरा सुझाव यह है कि इन सेवाओं के अधिकारियों को पढ़ने-लिखने और सोचने-विचारने में दिलचस्पी रखनी चाहिये। समय-समय पर उन्हें अपने विचार प्रकट करते

रहने चाहिये। तीसरे, उनके काम और स्थान में परिवर्तन समय-समय पर होते रहना चाहिये जिसमें कि उनके दिमाग़ ताज़े बने रहें। चौथे इन सेवाओं का सम्बन्ध विश्वविद्यालयों से रहना चाहिये, जिससे कर्मचारी नये विचारों से परिचित होते रहें। लॉस्की का मत है कि यदि इन बातों की तरफ ध्यान दिया जाय तो इन सेवाओं में जो दोष बताये जाते हैं; वे कुछ दूर हो सकते हैं।

डाक्टर फाइनर ने प्रशासकीय सेवाओं का आधार बतलाते हुए कहा है कि ये सेवाएँ समाज की एक महान् आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। इनका संघटन किसी प्रकार के लाभ के लिये नहीं किया जाता। इनकी दृष्टि में सब नागरिक समान होने चाहिये। इनके कार्य की एक परिधि निश्चित रहती है। उसी परिधि के अन्दर इन्हें अपने व्यक्तित्व अथवा दूसरों के व्यक्तित्व का विचार किये बिना काम करना चाहिये। जो भी काम ये करें, उनके लिये उन्हें पूर्णतया जिम्मेदार होना चाहिये। इनका संघटन विभिन्न श्रेणियों अथवा एक सीढ़ी के समान होता है। नीचे से लगाकर ऊपर तक कर्मचारियों की पंक्ति एक सीढ़ी के समान होती है। चूँकि इन्हें क़ानून का पालन करना पड़ता है, इसलिये ये प्रायः लोकप्रिय नहीं होते। साथ ही वे अपनी प्रसिद्धि के लिये प्रयत्न भी नहीं करते। अपने व्यक्तित्व को वे सर्वथा अपने विभाग के काम में लीन कर देते हैं। किसी राजनीतिक दलविशेष से उनका सम्बन्ध नहीं रहता।

अध्याय १९

न्यायपालिका

(Judiciary)

न्यायपालिका राज्य में प्रचलित क़ानूनों की व्याख्या करती है अर्थात् उनका स्पष्टीकरण करती है और यदि कोई व्यक्ति किसी क़ानून का उल्लंघन करता है तो वह उस पर विचार करके उस व्यक्ति को उचित दण्ड देती है। क़ानून सब व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते हैं और उनसे व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा होती है। न्यायपालिका सबके क़ानूनी अधिकारों की रक्षा करती है। क़ानून चाहे न्यायपूर्ण हों या अन्यायपूर्ण, न्यायपालिका को इससे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो राज्य द्वारा बनाये हुए क़ानूनों का पालन कराती है। राज्य द्वारा बनाये हुए क़ानूनों के अलावा प्रत्येक देश में ऐसे क़ानून होते हैं जो

प्राचीन प्रथाओं के आधार पर प्रचलित होते हैं और राज्य तथा न्यायपालिका उन्हें स्वीकार करते हैं। फिर राज्य द्वारा जो लिखित क़ानून बनाये जाते हैं उनका अर्थ लगाने में भी न्यायाधीशों को क़ाफी गुंजाइश मिल जाती है। इस प्रकार क़ानूनों का अर्थ लगाने या व्याख्या करने में न्यायालय नये क़ानूनों का निर्माण भी करते हैं। यदि एक प्रचलित क़ानून का अर्थ कोई न्यायाधीश ऐसा करता है जो अभी तक प्रचलित नहीं था तो उस क़ानून का रूप ही बदल जाता है। इंगलेण्ड, भारत और संयुक्तराज्य अमेरिका में न्यायाधीशों के बनाये हुए इन क़ानूनों का बड़ा महत्व होता है। इस प्रकार न्यायालय न केवल क़ानूनों की व्याख्या करते हैं और न उनका पालन कराते हैं बल्कि नये क़ानूनों का निर्माण भी करते हैं।

इस प्रकार सब देशों में न्यायपालिका क़ानून और नागरिक अधिकारों की रक्षक होती है। इसके साथ ही जिन देशों में अपरिवर्तनशील लिखित संविधान प्रचलित होते हैं वहाँ न्यायपालिका संविधान की भी रक्षक होती है। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका इसके उदाहरण हैं। संघीय संविधान वाले देशों में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। जब संघ में राज्यों में किसी बात पर संघर्ष होता है तो संघ या सर्वोच्च न्यायालय इसका निर्णय देता है कि किसका कार्यक्षेत्र कहाँ तक है। यदि संसद कोई ऐसा क़ानून बनाती है जो संविधान का अतिक्रमण करता है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध और अमान्य घोषित कर सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में एक स्वतन्त्र और प्रभावशाली न्यायपालिका बहुत आवश्यक है।

यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि न्यायपालिका अपने कर्त्तव्यों का पालन भली-भाँति तभी कर सकती है जब न्यायाधीश निर्भीक, स्वतन्त्र प्रकृतिवाले और कर्त्तव्यपरायण हों। तभी न्यायपालिका उचित रूप से क़ानून की सत्ता स्थापित कर सकती है। नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और संविधान की रक्षा कर सकती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि न्यायाधीश प्रलोभनों से परे हों, निष्पक्ष हों और विद्वान हों। तभी वे अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह भली-भाँति कर सकते हैं। उन पर विधानमंडल तथा कार्यपालिका का प्रभाव भी नहीं पड़ना चाहिये। अथवा वे ही इस प्रकार का प्रभाव न पड़ने दें। क़ानूनशास्त्र का ज्ञान, व्यक्तिगत ईमानदारी और कार्य करने की स्वतन्त्रता, जब न्यायाधीशों में ये गुण होंगे तब एक आदर्श न्यायापालिका की स्थापना हो सकती है। ये बातें इस पर निर्भर करती हैं कि किस योग्यता के व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होंगे, उनकी नियुक्ति और पदच्युति किस आधार पर होगी और उनको क्या वेतन मिलेगा तथा उनके पद किस हद तक सुरक्षित रह सकेंगे।

यदि योग्य वकील न्यायाधीशों के पद पर नियुक्त किये जायँ और उन्हें अच्छा वेतन दिया जाय तथा कार्यकाल में उनके वेतन कम न किये जायँ तो वे आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं जिनके द्वारा आदर्श न्यायपालिका की स्थापना होती है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन तरीक़े प्रचलित हैं। यथा—(१) विधानमंडल द्वारा निर्वाचन, (२) नागरिकों द्वारा निर्वाचन और (३) विधानमंडल की सहमति से अथवा उसके बिना कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति। न्यायाधीशों का विधानमंडल द्वारा निर्वाचन केवल स्विटज़रलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। इस प्रणाली को हम बहुत प्रशंसनीय नहीं कह सकते। क्योंकि यह दलबन्दी से प्रभावित होती है। योग्यता का विचार न करके लोग अपने ही दलों के व्यक्तियों को चुनते हैं। इस आधार पर जो व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर बैठेंगे वे निष्पक्ष नहीं रह सकते। उन्हें अपने दल का कुछ न कुछ विचार या पक्षपात अवश्य करना पड़ेगा। जब न्यायाधीश विधानमंडल द्वारा निर्वाचित होते हैं तो यह कहा जा सकता है कि वे अप्रत्यक्षरूप से विधानमंडल पर निर्भर हो जाते हैं। इस प्रकार न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता का तो अन्त हो जाता है।

न्यायाधीशों का जनता द्वारा निर्वाचन संयुक्त राज अमेरिका के कुछ देशों में प्रचलित है। न्यायाधीशों की नियुक्ति का यह सबसे ख़राब तरीक़ा है। अधिकार विभाजन के सिद्धान्त को कठोर रूप से लागू करने के लिये यह तरीक़ा अपनाया गया था। लेकिन इस प्रणाली के द्वारा बहुत ही अवांछित प्रकार के न्यायाधीश प्राप्त होते हैं। इनका निर्वाचन भी दलबन्दी के आधार पर होता है। ऐसे न्यायाधीश अपने दल के सिवाय जनता को भी प्रसन्न करने की चिन्ता में रहेंगे। अतः वे निष्पक्ष और स्वतन्त्र नहीं रह सकते, कुछ राज्यों में जनता न्यायाधीशों को पदच्युत भी कर सक्ती है। इस परिस्थिति में तो उनकी स्वतन्त्रता एक मज़ाक हो जाती है। एक विचार करने की बात यह भी है कि साधारण जनता को न्यायाधीशों के गुणों और योग्यता की, अथवा क़ानूनशास्त्र की क्या परख हो सकती है, जिसके आधार पर वह न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है।

सबसे अधिक प्रचलित तरीक़ा यह है कि कार्यपालिका न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है, पर उसे संघ की सीनेट की सहमति लेनी पड़ती है। लेकिन अधिकतर राज्यों में कार्यपालिका को न्यायाधीशों को नियुक्त करने की स्वतन्त्रता होती है। भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है। इसका एक सुफल यह होता है कि न्यायाधीश राजनीतिक दलबन्दी से अलग रहते

हैं और वह स्वतन्त्र रूप से और निष्पक्ष रूप से कर्त्तव्य-पालन कर सकते हैं। इस प्रणाली में एक गुण यह भी है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति अज्ञान जनता के द्वारा न होकर कार्यपालिका के अनुभवी उच्च अधिकारियों द्वारा होती है। अतएव योग्य व्यक्ति ही न्यायाधीशों के पद पर बैठते हैं। यह बात अवश्य है कि कभी-कभी संसदीय शासन-प्रणाली में दलबन्दी का प्रभाव न्यायाधीशों की नियुक्ति पर पड़ता है, पर ऐसा बहुत कम होता है और प्रायः योग्य, निष्पक्ष और कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति ही न्यायाधीश नियुक्त होते हैं।

न्यायाधीशों का कार्यकाल :—जब हम न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की बात करते हैं तो हमें न्यायाधीशों के कार्यकाल और उनकी पदच्युति पर भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि उनका कार्यकाल और पदच्चुति यदि कार्यपालिका के हाथ में रही तो वे निष्पक्ष रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में अलग-अलग देशों में अलग-अलग नियम हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायाधीश २ से लगाकर २१ वर्ष तक के लिये नियुक्त होते हैं। औसतन वे ६ से लगाकर ९ वर्ष तक के लिये नियुक्त होते हैं। उनकी नियुक्ति दूसरी बार भी हो सकती है। स्विटज़रलैण्ड में न्यायाधीश संघ विधानमंडल द्वारा ६ वर्ष के लिये निर्वाचित होते हैं। साधारणतया वे अपने पद पर पुनर्निर्वाचित हो जाते हैं। अधिकतर आधुनिक राज्यों में न्यायाधीशों के कार्यकाल के सम्बन्ध में यह शर्त लगाई जाती है कि जब तक उनका आचरण अच्छा रहे तब तक वे अपने पद पर रह सकते हैं। साथ में एक शर्त यह भी रहती है कि अमुक आयु तक ही कोई व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर रह सकता है। उक्त आयु प्राप्त होने पर वह अवकाश ग्रहण कर लेता है। जब कोई न्यायपालिका इन नियमों के अन्तर्गत नियुक्त होती है तो वह कार्यपालिका के दबाव से मुक्त रह सकती है और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा भी अच्छी प्रकार कर सकती है। अल्प कार्यकाल और पुनर्निर्वाचन न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता समाप्त कर देते हैं और यदि न्यायाधीशों का कार्यकाल कार्यपालिका की इच्छा पर रहता है तो भी उनकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती। अपने पद की सुरक्षा की भावना होने पर ही कोई न्यायाधीश स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सकता है।

दूसरा प्रश्न न्यायाधीशों की पदच्युति का है। कोई ऐसी विधि अवश्य होनी चाहिये जिसके द्वारा भ्रष्टाचारी न्यायाधीश पदच्युत किया जा सके। अन्यथा क़ानून की सत्ता में जनता का विश्वास उठ जायगा। परन्तु कोई भी न्यायाधीश पूरी छानबीन के बाद पदच्युत होना चाहिये। ब्रिटेन में जब संसद के दोनों सदन किसी न्यायाधीश पर कुछ आरोप लगाते हैं तब उन पर विचार होता है और वे पदच्युत कर दिये जाते हैं। भारत में बहुत कुछ ऐसी ही प्रणाली

अदालतें और उसके नीचे जिला अदालतें। उसके बाद प्रत्येक राज्य में एक उच्चतम न्यायालय और उसके अधीन न्यायालय होते हैं।

भारत में न्यायपालिका का एक आदर्श संगठन है। ऊपर से लगाकर नीचे तक न्याय-व्यवस्था की सीढ़ी है। संघ में एक सर्वोच्च न्यायालय है। उसके बाद राज्यों के उच्च न्यायालय हैं। ये सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं। उनकी अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में हो सकती हैं। फिर किसी राज्य की न्याय-व्यवस्था राज्य के उच्च न्यायालय के अधीन होती है। सर्वोच्च न्यायालय के अधीन जिला जज और सेशन्स जज होते हैं। हमारी न्याय-व्यवस्था की अन्तिम सीढ़ी ग्राम-पंचायतें हैं। हमारे यहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति अच्छे आचरण के आधार पर एक विशेष आयु तक के लिये होती है। विधानमंडल द्वारा न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाया जा सकता है। हमारे देश में अधिकार विभाजन का सिद्धान्त मान लिया गया है पर उस पर अभी तक पूर्ण रूप से अमल नहीं किया गया है।

इंगलेण्ड में क़ानून की सत्ता (Rule of Law in England) :— इंगलेण्ड का संविधान अधिकतर अलिखित है। वहाँ नागरिकों के मूल अधिकार संविधान में कहीं लिखित रूप में नहीं पाये जाते हैं। इन अधिकारों की सुरक्षा वहाँ के नागरिक न्यायालयों द्वारा प्राप्त करते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि इंगलेण्ड में क़ानून की सत्ता है। जैसे कि व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का बन्दी प्रत्यक्षीकरण क़ानून (Habeas Corpus Acts) के द्वारा प्राप्त होता है। अर्थात् किसी व्यक्ति को दंड तभी दिया जा सकता है, जब वह किसी क़ानून का उल्लंघन करे। क़ानून की सत्ता का दूसरा सिद्धान्त यह है कि क़ानून की दृष्टि में प्रत्येक नागरिक समान है। राजा को छोड़कर सब नागरिकों पर क़ानून समान रूप से लागू होता है। राजा को इसलिये छोड़ दिया गया कि वह कोई ग़लती नहीं कर सकता। उसके सब काम ऐसे व्यक्तियों या पदाधिकारियों द्वारा होते हैं जिन पर साधारण क़ानून लागू होते हैं क़ानून की सत्ता का तीसरा स्रोत यह है कि सब वैधानिक अधिकारों का स्रोत संविधान न होकर न्यायालयों के निर्णय होते हैं। इससे भी हम क़ानून का महत्व समझ सकते हैं।

न्यायपालिका और विधानमंडल (Judiciary and Legislature) :— विधानमंडल क़ानून बनाता है और न्यायपालिका की यह जिम्मेदारी होती है कि वह नागरिकों द्वारा क़ानून का पालन कराती है और जो नागरिक क़ानून का उल्लंघन करता है, उसको दण्ड देती है। लेकिन व्यावहारिक रूप में यह देखने में आता है, कि विधानमंडल कार्यपालिका के कुछ कार्य करते हैं और कार्यपालिका विधानमंडल के कुछ कार्य करती है। अधिकतर राज्यों में यह देखने में आता

है कि विधानमंडल को नये न्यायालय स्थापित करने तथा वर्तमान न्यायालयों को समाप्त करने का अधिकार रहता है। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में यह लिखा गया है कि संघ की न्याय-व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय तथा ऐसे अन्य न्यायालय शामिल होंगे, जिन्हें कांग्रेस समय-समय पर स्थापित करे। इसका मतलब यह है कि कांग्रेस उच्चतम न्यायालय के बाद पूरी न्याय-व्यवस्था को बदल सकती है। इतना ही नहीं वह उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था को भी बदल सकती है। न्याय-व्यवस्था पर जो ख़र्च होता है वह भी कांग्रेस की अनुमति से होता है। अतएव इस दृष्टि से भी विधानमंडल का प्रभाव न्यायपालिका पर पड़ता है। दूसरी बात यह है कि न्यायालय उन क़ानूनों पर विचार करते हैं, जो विधानमंडल द्वारा बनाये जाते हैं। कई राज्यों में विधानमंडल स्वयं न्यायालय का काम करता है। उदाहरण के लिये इंगलेण्ड में हॉउस ऑफ लार्ड्‌स अपील का अन्तिम न्यायालय होता है। पार्लियामेन्ट न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाकर राजा से किसी जज को पदच्युत करने की प्रार्थना कर सकती है।

जैसा कि कहा जा चुका है न्यायपालिका का मुख्य काम क़ानून की व्याख्या करना और व्यक्तिगत मामलों में उसे लागू करना है। अधिकतर राज्यों में विधानमंडल क़ानूनों की केवल एक मोटी रूपरेखा उपस्थित कर देते हैं। उनको असली स्वरूप न्यायालय देते हैं और वे ही उनकी व्याख्या करते हैं। यह काम भी एक प्रकार से क़ानून बनाने की तरह है। प्रायः प्रत्यक देश में क़ानूनों की एक बहुत बड़ी ऐसी संख्या पाई जाती है, जिनका स्वरूप न्यायालयों द्वारा निर्धारित किया गया है।

न्यायालयों का सबसे बड़ा अधिकार यह हैं कि वे विधानमंडल के द्वारा बनाये गये किसी क़ानून को अवैध तथा अमान्य घोषित कर सकते हैं। यद्यपि कुछ राज्यों में सर्वोच्च विधानमंडल के बनाये हुए क़ानूनों को अवैध घोषित नहीं कर सकते। ब्रिटेन और फ्रान्स इसके उदाहरण हैं। जिन देशों में संघ शासन व्यवस्था और लिखित संविधान प्रचलित हैं, उन देशों में न्यायालय विधानमंडल के द्वारा बनाये गये क़ानूनों को इस आधार पर अवैध घोषित कर सकते हैं कि वे संविधान का अतिक्रमण करते हैं। भारत में इसी आधार पर संसद के बनाये हुए किसी क़ानून को उच्चतम न्यायालय अवैध घोषित कर सक़ता है।

न्यायपालिका और कार्यपालिका (Judiciary and Executive):— न्यायपालिका पर कार्यपालिका का प्रभाव इसलिये रहता है कि न्यायालयों के निर्णय कार्यपालिका द्वारा ही कार्यरूप में परिणित किये जाते हैं। दण्ड देने की शक्ति कार्यपालिका के अधिकारों के ही हाथ में रहती है। दूसरी बात यह है कि

न्यायालय को नियुक्त करने का अधिकार कार्यपालिका के ही हाथ में होता है। प्राय: प्रत्येक देश में शासन के प्रधान को क्षमादान देने का अधिकार रहता है। सेना के न्यायालय साधारण न्यायालयों से अलग होते हैं। इनमें सैनिक अपराधियों पर विचार किया जाता है। जिन राज्यों में प्रशासकीय क़ानून तथा प्रशासकीय अदालतें (Administrative Law and Administrative Courts) प्रचलित हैं, वहाँ निश्चय ही कार्यपालिका न्यायपालिका का कुछ काम करती है। इसके अलावा कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार रहता है, इनके द्वारा वह निश्चित रूप से न्यायपालिका पर अपना प्रभाव डाल सकती है।

न्यायपालिका भी कार्यपालिका संबन्धी कुछ कार्य करती है, जैसे कि वह अपने प्रशासन अधिकारी स्वयं नियुक्त करती है। जिन देशों में क़ानून की सत्ता प्रचलित है, उन देशों में कार्यपालिका के अधिकारी साधारण न्यायालयों के विचार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं, अर्थात् उन पर वही क़ानून लागू होता है, जो साधारण नागरिकों पर होता है और उनका विचार भी न्यायालयों में होता है। न्यायालय के अपमान सम्बन्धी मुक़दमों में न्यायालय कार्यपालिका के काम करते हैं।

अध्याय २०

स्थानीय-स्वशासन

(Local Government)

आधुनिक राज्यों का आदर्श कल्याणकारी शासन होता है। अर्थात् आधुनिक काल में राज्य पूरे समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण साधन का प्रयत्न करता है। इस प्रकार आजकल राज्य की जिम्मेदारियाँ और कार्य अधिकाधिक बढ़ते जाते हैं। फिर आधुनिक राज्यों का क्षेत्रफल और जनसंख्या भी बहुत बड़ी होती है। इनमें से कुछ देशव्यापी कार्य तो केन्द्रीय शासन द्वारा सम्पन्न होते हैं। लेकिन कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनका क्षेत्रीय विभाजन करना पड़ता है क्योंकि वे विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकता के अनुसार क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा अधिक अच्छी तरह सम्पन्न हो सकते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई इत्यादि इसी प्रकार की समस्याएँ हैं। सरकार के वे अंग जो इन क्षेत्रीय समस्याओं की ओर ध्यान देते हैं, स्थानीय स्वशासन के नाम से प्रचलित हैं। ये अंग केन्द्र और

राज्य सरकारों से भिन्न होते हैं। पर राज्य की सरकार के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि ये अंग राज्य सरकारों के अन्तर्गत आते हैं तथापि इन्हें अपने क्षेत्र में कार्य करने की काफी स्वतन्त्रता रहती है। मेकआइवर का मत है कि कोई भी राज्य तीन प्रकार के कार्य करता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सारे देश भर के लिये किये जाते हैं और जिन्हें केन्द्रीय सरकार ही उपयुक्त तरीक़े से कर सकती है। युद्ध और शान्ति, विदेशी राजनीति, सेना, नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकार, आयात और निर्यात सम्बन्धी कार्य केवल केन्द्रीय सरकार भली-भाँति कर सकती है। इनके सिवाय कुछ काम ऐसे होते हैं जिनका महत्त्व सम्पूर्ण देश के लिये होता, परन्तु उन्हें सम्पन्न करने के लिये क्षेत्रीय अधिकारियों का सहयोग आवश्यक होता है। ये कार्य केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत राज्य सरकार करती है। पुलीस प्रबन्ध, न्याय-वितरण, शिक्षा, कृषि इत्यादि इस श्रेणी में आते हैं। तीसरे प्रकार के कार्य ऐसे होते हैं जिनका महत्त्व बिलकुल स्थानीय होता है और राज्य सरकार भी उनकी समस्याएँ न पूरी तरह समझ सकती है न उन्हें अच्छी तरह सम्पन्न ही कर सकती है। ये कार्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं द्वारा अच्छी तरह किये जा सकते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा, स्थानीय चिकित्सालय, पानी और प्रकाश का प्रबन्ध, सफाई, बाजार, मेले इत्यादि ऐसे ही कार्य होते हैं। इन कार्यों को पूरा करने के लिये सम्बन्धित क्षेत्रों की समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिये ये कार्य स्थानीय शासन संस्थाओं द्वारा ही अच्छी तरह किये जा सकते हैं और ये संस्थाएँ इन कामों के लिये धन संग्रह कर सकती हैं। यदि राज्य सरकार इन कार्यों को करना चाहे, तो उसका बहुत सा समय और श्रम व्यर्थ जायगा। स्थानीय संस्थाएँ अपने क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों तथा आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से भली-भाँति परिचित रहती हैं। इसलिये इनका शासन स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि केन्द्रीय और राज्य सरकार इन कामों में कोई दिलचस्पी नहीं लेती। वे समय-समय पर इन संस्थाओं को सहायता और सलाह देती रहती हैं। लेकिन प्रबन्ध इन्हीं संस्थाओं के द्वारा होता है। हमारे देश में स्थानीय स्वशासन का अर्थ कारपोरेशन, नगरपालिका, जिला-बोर्ड, टाउन एरिया, नोटीफाइड एरिया, ग्राम-पंचायतें इत्यादि संस्थाएँ होता है।

स्थानीय स्वशासन के लाभ :—स्थानीय शासन संस्थाओं से कई लाभ होते हैं। इनसे राज्य सरकार का अनावश्यक खर्च बच जाता है और स्थानीय समस्याओं का हल कुशलतापूर्वक होता रहता है। जैसा कि कहा जा चुका है आधुनिक राज्य का विस्तार बहुत बड़ा होता है और केन्द्रीय सरकार छोटी-छोटी स्थानीय संस्थाओं की ओर ध्यान नहीं दे सकती। उसके पास उन

समस्याओं को समझने के लिये न समय होता है और न सुविधाएँ। इसलिये सबसे अच्छा यह समझा जाता है कि किसी एक क्षेत्र के लोग ही स्वयं उन कार्यों को करें और जहाँ तक हो सके स्वयं अपने क्षेत्र में उनके करों द्वारा उनके लिये धन-संग्रह करे। इस व्यवस्था का दूसरा लाभ यह होता है कि जनता में नागरिकता की भावनाओं की जागृति होती है। उन्हें अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है और सामाजिक जीवन की भावनाएँ बढ़ती हैं। साथ ही जनतान्त्रिक प्रणाली की शिक्षा भी मिलती है, जिससे वे राज्य की बड़ी-बड़ी समस्याओं में दिलचस्पी ले सकते हैं। इससे नागरिकों में एकता की भावना बढ़ती है। इस व्यवस्था का तीसरा लाभ यह है कि केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार का बोझ इससे काफी हलका हो जाता है। यदि ये सब छोटे-मोटे काम केन्द्रीय या राज्य सरकार करने लगे तो नौकरशाही का अन्त ही न रहेगा। इस व्यवस्था से केन्द्रीय सरकार को स्थानीय परिस्थितियों का ज्ञान भी होता रहता है।

यदि हम इन संस्थाओं के कामों के बारे में विचार करने लगें तो देखेंगे कि वे ही काम दिये जाते हैं जो केवल इनके क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। इन कामों की सूची बनाना मुश्किल है। साधारणतया प्राथमिक शिक्षा, वाचनालय, पुस्तकालय, पानी, प्रकाश, स्वास्थ्य, सफाई, अजायबघर, कला-सदन, यतीमखाने, बूचड़खाने, बाजार इत्यादि का प्रबन्ध ये संस्थाएँ करती हैं।

केन्द्रीय सरकार और स्थानीय स्वशासन :—सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्थानीय संस्थाओं का केन्द्रीय शासन से क्या सम्बन्ध होना चाहिए। हमारे देश में केन्द्रीय शासन का अर्थ राज्य सरकार से होगा। लेकिन इंगलेण्ड जैसे छोटे-छोटे देशों में इनका सम्बन्ध सीधा केन्द्रीय सरकार से होता है। इस सम्बन्ध में प्रधान प्रश्न यह होता है कि केन्द्रीय सरकार का स्थानीय संस्थाओं पर किस हद तक नियन्त्रण होना चाहिए। राज्य के व्यापक कार्यों तथा क्षेत्रीय कार्यों में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। अनुभव के आधार पर विद्वानों का मत है कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर केन्द्र का थोड़ा-बहुत नियन्त्रण अवश्य होना चाहिये और इस नियन्त्रण का प्रधान उद्देश्य कार्य की सक्षमता बनाये रखना होना चाहिये। लेकिन साथ ही यह नियन्त्रण ऐसा होना चाहिये कि संस्थाएँ पूरी जिम्मेदारी के साथ अबाधरूप से अपना काम करती रहें। यदि केन्द्र की ओर से बहुत अधिक दखल हुआ तो ये संस्थाएँ अपने उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों की ओर उदासीन हो जायँगी। वे हमेशा ऊपर से आदेश पाने की या स्वीकृति प्राप्त करने की राह देखती रहेंगी। दूसरी बात यह है कि केन्द्र की राजनीति दलबन्दी के आधार पर चलती है। लेकिन जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय

स्वशासन को दलबन्दी से अलग रखना चाहिये। जब छोटे दायरे में दलबन्दी होती है तो उसके परिणाम हानिप्रद हो सकते हैं।

साथ ही केन्द्रीय शासन की यह जिम्मेदारी तो रहती ही है कि स्थानीय स्वशासन भली-भाँति चलता रहे। इसके लिये केन्द्र का कुछ-न-कुछ नियन्त्रण आवश्यक होता है। केन्द्र को यह देखना चाहिये कि किसी क्षेत्र के स्थानीय स्वशासन में कोई एक गुट हावी होकर अपना स्वार्थ-साधन तो नहीं कर रहा है। भ्रष्टाचार और आतङ्क तो नहीं फैला रहा है। ऐसे अवसरों पर केन्द्र अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। स्थानीय शासन को कुछ समय के लिये स्थगित करके अपना प्रशासक नियुक्त कर सकता है अथवा नये निर्वाचन करा सकता है। एक बात यह भी है कि जो क्षेत्र जितना पिछड़ा हुआ होगा उसके स्वशासन पर केन्द्र को उतनी ही अधिक देख-रेख रखनी पड़ेगी। अन्यथा उसकी प्रगति रुक सकती है। यदि एक क्षेत्र में लापरवाही के कारण कोई संक्रामक रोग फैलता है तो उसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर पड़ सकता है। ऐसी बातों पर केन्द्र को देख-रेख रखना आवश्यक हो जाता है। फिर यदि किसी क्षेत्र में नया स्वशासन स्थापित होता है तो वहाँ के लोग अनुभवहीन होंगे। ऐसी परिस्थिति में केन्द्र को तब तक देख-रेख रखना पड़ेगा जब तक कि वहाँ के लोग शासन-व्यवस्था में कुछ अनुभव प्राप्त न कर लें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय और स्थानीय शासनों के बीच में सम्बन्धों का ठीक-ठीक निर्धारण करना कठिन है। वे विभिन्न क्षेत्रों और उनकी परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। लेकिन फिर भी केन्द्र को स्थानीय संस्थाओं के प्रशासकीय वैधानिक तथा वित्तीय अधिकारों को स्पष्टरूप से निर्धारित कर देना चाहिये। जो क्षेत्र जितना प्रगतिशील हो उसे वैसे ही अधिकार देना चाहिये और फिर उसके शासन पर ऊपर की देख-रेख रखनी चाहिये। लेकिन उसमें दखल नहीं देना चाहिये। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार एक पिता अपने बच्चों की देख-रेख करता है, उसी प्रकार केन्द्रीय सरकार को भी स्थानीय संस्थाओं की देख-रेख और पालन-पोषण करना चाहिये। केन्द्रीय सरकार उन संस्थाओं को समय-समय पर आवश्यक सूचना, सलाह और सहायता दे सकती है। सहायता धन और प्रशिक्षित व्यक्तियों को दी जा सकती है। यदि ये संस्थाएँ क़ानून की अवहेलना करें अथवा किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न की उपेक्षा करें तो सरकार उन्हें सचेत कर सकती है। केन्द्र की देख-रेख रहने से ये संस्थाएँ सावधानी से काम करेंगी।

स्थानीय संस्थाओं के साथ केन्द्र के सम्बन्ध दो तरीक़ों द्वारा नियन्त्रित होते हैं—एक विकेन्द्रीकरण के आधार पर और दूसरे केन्द्रीकरण के आधार पर।

जहाँ विकेन्द्रीकरण की प्रणाली प्रचलित है, वहाँ स्थानीय संस्था एक निर्वाचित संस्था होती है और उसके कुछ प्रशासक अधिकारी होते हैं। ये दोनों केन्द्र अथवा संविधान द्वारा निर्धारित कुछ नियमों के अनुसार काम करते हैं। लेकिन अपने क़ानून बनाने और अपना शासन चलाने में इन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है। जहाँ केन्द्रीकरण की प्रणाली प्रचलित होती है, वहाँ स्थानीय संस्थाएँ केन्द्र द्वारा नियुक्त कुछ अधिकारियों की देख-रेख में काम करती हैं। विकेन्द्रीकरण की प्रणाली अमेरिका तथा इंगलेण्ड में प्रचलित है। इन देशों में स्थानीय संस्थाओं को प्रशासन सम्बन्धी पूरी स्वतन्त्रता है और कुछ हद तक क़ानून बनाने की भी स्वतन्त्रता है। भारत में भी यही प्रलाणी प्रचलित है। यह बात आवश्यक होती है कि इनके बनाये हुए क़ानून राज्य सरकार के क़ानूनों के संघर्ष में न आवें। फ्रांस में केन्द्रीकरण की प्रणाली प्रचलित है। फ्रांस में प्रशासन केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों के द्वारा चलता है, लेकिन प्रशासन सम्बन्धी क़ानून स्थानीय संस्थाएँ ही बनाती हैं। एक बात यह कहनी आवश्यक है कि केन्द्रीय नियन्त्रण चाहे जितना हो, केन्द्रीय सरकार को यह देखते रहना चाहिये कि स्थानीय संस्थाएँ अपने अधिकारों का दुरुपयोग तो नहीं करती हैं। केन्द्रीकरण से कार्यक्षमता कुछ-न-कुछ अवश्य बढ़ती है, लेकिन इससे नौकरशाही के शासन में वे सब दोष आ जाते हैं, जिनसे कि कार्य में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत विकेन्द्रीकरण से लोगों में इन संस्थाओं की तरफ़ आकर्षण बढ़ता है। नौकरशाही तो जनमत की परवाह नहीं करती। लेकिन नागरिकों को स्वयं अपनी समस्याओं पर विचार करने का मौक़ा मिलता है।

दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि स्थानीय शासन संस्थाओं का क्षेत्र कितना बड़ा होना चाहिये। इस सम्बन्ध में भी प्रत्येक देश में अपनी एक प्रणाली पायी जाती है। भारत, इंगलेण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका में इन संस्थाओं का संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार का है। प्रत्येक देश में इन संगठनों के पीछे एक ऐतिहासिक प्रथा पाई जाती है। प्राचीन काल में ये छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयाँ थीं। परन्तु समय के अनुसार इनमें परिवर्तन होते गये। फ्रांस में जो 'डिपार्टमेण्ट' हैं और इंगलेण्ड में जो 'काउण्टी' हैं उनमें ऐतिहासिक परम्परा के साथ-साथ एक सांस्कृतिक एकता भी पाई जाती है। इतिहास के साथ-साथ इनके संगठन में भौगोलिक परिस्थितियों का भी हाथ रहा है। नदियों, पहाड़ों इत्यादि के कारण भी क्षेत्रीय इकाइयों का रूप गठित होता था। इनके गठन का तीसरा आधार जनसंख्या का घनत्व भी होता है। एक नगर की जनसंख्या अधिक होती है। अतएव उसके लिये एक नगर-निगम या नगर-पालिका होती है। लेकिन ग्रामों की जनसंख्या बहुत थोड़ी होती है। अतएव

कई ग्रामों के लिये एक पंचायत होती है। इन पंचायतों के ऊपर एक जिला-बोर्ड होता है, जो कुछ बातों का प्रबन्ध सम्पूर्ण जिले के लिये करता है। इनके अलावा आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा अन्य कई परिस्थितियों का भी विचार किया जाता है। कभी-कभी स्थानीय संस्थाओं का संगठन और वर्गीकरण उनके कार्यों के आधार पर किया जाता है और कभी-कभी प्रशासकीय सुविधाओं को ध्यान में रख कर उनका निर्माण किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसा ही किया गया।

आय के साधन :—स्थानीय संस्थाओं की उपयोगिता उनके आय के साधनों पर निर्भर रहती है। इन संस्थाओं की जिम्मेदारियाँ जैसी हों वैसी ही यदि उनके आय के साधन हों तो वे अपने काम अच्छी तरह कर सकती हैं। साथ ही उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये। यदि उनके आय के साधन पर्याप्त नहीं हैं तो केन्द्रीय सरकार को उन्हें वित्तीय सहायता भी देनी चाहिये। स्थानीय संस्थाओं के अपने क्षेत्र में कर लगाने के कुछ अधिकार मिलना चाहिये और यदि इन करों की आय से उनका ख़र्च न चले तो केन्द्र उन्हें आर्थिक सहायता दे। कुछ कर ऐसे होते हैं जो केवल स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही लगाये जा सकते हैं और लगाये जाना चाहिये। इनमें हम मकान कर, सड़क कर, सवारी कर, चुङ्गी इत्यादि शामिल कर सकते हैं। इनमें से कुछ कर ऐसे होते हैं जो ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध नहीं होते, केवल शहरी क्षेत्रों में लगाये जा सकते हैं। जैसे कि सिनेमा, थियेटर, बिजली, ट्राम इत्यादि पर ग्रामीण क्षेत्रों में कर लगाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ ये चीज़ें होती ही नहीं हैं। अतएव केन्द्रीय सरकार को ग्रामीण स्वशासन संस्थाओं को अधिक उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देनी चाहिये। अनुभव यही कहता है कि स्थानीय संस्थाओं को करों से जो आय होती है वह उनकी आवश्यकताओं को पूरी नहीं करती। अतएव केन्द्रीय सरकार की सहायता आवश्यक होती है। केन्द्रीय सहायता दो प्रकार से दी जाती है। एक तो विशिष्ट कार्यों के लिये दी जाती है और दूसरी सामान्य सहायता होती है। सामान्य सहायता के रूप में प्राप्त धन ये संस्थाएँ अपनी किसी भी आवश्यता पर ख़र्च कर सकती हैं। साधारणतः केन्द्रीय अर्थात् राज्य सरकार अपनी आय का एक निश्चित अंश इन संस्थाओं को देती हैं। साधारणतः केन्द्रीय आर्थिक सहायता का एक सुफल यह होता है कि केन्द्रीय सरकार इन संस्थाओं के आय-व्यय पर देख-रेख रखती है। उनके हिसाब की जाँच करती रहती है। केन्द्रीय सरकार को यह भी देखना चाहिये कि कोई स्थानीय स्वशासन संस्था ऐसा कोई कर न लगावे जिसका प्रभाव उस क्षेत्र के किसी वर्ग विशेष पर प्रतिकूल सिद्ध हो।

भारत में स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ अपनी आय का काफी अंश प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष क्षेत्रीय करों द्वारा प्राप्त करती हैं। इसके सिवाय राज्य सरकारें भी उन्हें सहायता देती हैं। ब्रिटेन में भी यही प्रथा प्रचलित है। फ्रांस की स्थानीय संस्थाएँ कुछ अपने कर लगाती हैं और उन्हें केन्द्रीय सरकार के करों का भी कुछ अंश मिलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय संस्थाएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर लगाती हैं।

अध्याय २१

राजनीतिक दल और दलगत शासन

(Political Parties and Party Govt.)

प्रजातान्त्रिक शासन राजनीतिक दलबन्दी के आधार पर चलता है। एक देश में दो या दो से अधिक राजनीतिक दल होते हैं और उनमें से जिस दल को निर्वाचन में बहुमत प्राप्त होता है वही देश का शासन चलाता है तथा अन्य दल या तो विधानमंडल में उसका विरोध करते हैं या उसका साथ देते हैं। यदि केवल दो ही दल हुए तो दूसरा दल उसका वैधानिक विरोध करता है। एडमंड बर्क ने राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार की है। "राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक ऐसा समूह होता है जो किसी सिद्धान्त के आधार पर एकमत होकर अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करना चाहते हैं।"[१] फाइनर ने राजनीतिक दलों की परिभाषा करते हुए लिखा है कि राजनीतिक दल सुसंगठित राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं। इनकी सदस्यता स्वेच्छा पर निर्भर होती है। ये अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा राजनीतिक या शासन-शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी देश में कोई राजनीतिक दल का एक ऐसा संगठन होता है जो एक इकाई की तरह काम करके शासन पर अपना कब्जा करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है। इस प्रकार के संगठन में तर्क यह रहता है कि जो कार्य एक व्यक्ति नहीं कर सकता वह सामूहिक प्रयत्नों द्वारा सम्भव हो सकता है।

---

१ "A body of men, united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interests, upon some principle on which they are all agreed."—**Burke.**

जैसा कि कहा गया है राजनीतिक दलबन्दी आधुनिक प्रजातन्त्र की एक विशेषता है। इन दलों का संगठन प्रायः कुछ राष्ट्रीय समस्याओं के आधार पर होता है। ये आधार या समस्याएँ जातीय, धार्मिक आर्थिक इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। भारत में मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा धार्मिक आधार पर बनी थी। कांग्रेस का आधार राजनीतिक और आर्थिक था। हमारे देश में एक ही धर्म के अन्तर्गत कई जातियाँ और कभी-कभी जाति के आधार पर भी दल बनते हैं। वैसे आधुनिक प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों के संगठन की प्रवृत्ति राजनीतिक और आर्थिक आधारों की ओर अधिक है। यद्यपि संविधान में इन दलों को स्वीकार नहीं किया जाता, अर्थात् इनकी वैधानिक स्थिति नहीं रहती फिर भी यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के जीवन की सांस होती है। दलों का मुख्य उद्देश्य शासन के विभिन्न पदों पर दखल करना होता है और इसके लिये वे जनता से विभिन्न प्रकार की घोषणाओं द्वारा निर्वाचन में जनता का मत प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर ये दल समय-समय पर अपनी नीति की घोषणा करते रहते हैं और उस पर जनता की स्वीकारोक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

दलों की उत्पत्ति और उनका स्वरूप :—किसी देश की जनता विभिन्न वर्गों और समूहों में बँटी रहती है। इन वर्गों के अलग-अलग स्वार्थ होते हैं और उन स्वार्थों के कारण उनके अलग-अलग मत होते हैं। प्रत्येक वर्ग यह सोचता है कि उसके स्वार्थों का साधन सबसे अच्छा तभी हो सकता है जब वह एक राजनीतिक दल के रूप में सुसंगठित हो जाय। फिर सब मनुष्यों की प्रकृति एक सी नहीं होती। इन्हीं प्राकृतिक मतभेदों के आधार पर प्रत्येक समाज में विभिन्न दल पाये जाते हैं। यदि हम इस प्रकार के कुछ उदाहरण देखें तो यह बात सिद्ध हो जाती है। ग़रीब-अमीरों के विरोधी होते हैं। इसलिये यदि अमीरों के विरोध में ग़रीब एक संगठन बनाते हैं तो अमीर भी, अपना एक संगठन बनावेंगे। फिर समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। इन्हें हम अपरिवर्तनशील या अनुदार (Conservative) कह सकते हैं। इनके विपरीत कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो समय के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन करने को तैयार रहते हैं। इन्हें उदार (Liberal) कहा जा सकता है। एक तीसरा दल ऐसा हो सकता है जो वर्तमान व्यवस्था में तेजी के साथ परिवर्तन करना चाहता है। इस दल को उग्र (Radical) कहा जा सकता है। ये लोग पुरानी सामाजिक परम्पराओं के कट्टर विरोधी होते हैं। इन तीनों प्रकार के दलों के उदाहरण इंगलेण्ड के राजनीतिक इतिहास में पाये जाते हैं। एक

दल के भीतर ही दो ऐसे दल हो सकते हैं जिनके मत अलग-अलग हों। उदाहरण के लिये इंगलेण्ड के मजदूर दल का एक अंश उग्रगामी है और एक मन्दगामी। इसलिये प्रायः यह देखा जाता है कि किसी एक दल की नीति इतनी विस्तृत होती है कि उस नीति को मूल रूप में स्वीकार करनेवाले सब प्रकार के लोग रह सकते हैं चाहे उनमें आपस में विभिन्न बातों पर छोटे-मोटे मतभेद भले ही हों। सबसे बड़ी बात यह है कि आजकल जनमत तभी प्रभावपूर्ण हो सकता है जब वह संगठित हो। दलों का संगठन तो प्रायः स्वार्थों और वर्गों के आधार पर होता है, पर वे प्रभावशाली होने के लिये 'राष्ट्रीय' स्वरूप ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् वे प्रभावशाली होने के लिये सम्पूर्ण देश की जनता के प्रति अपील करते हैं और उसका समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिये तो राजनीतिक दल नितान्त आवश्यक हैं ही, लेकिन इतिहास बतलाता है कि प्रत्येक काल में प्रत्येक शासन में किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक दलबन्दी अवश्य रही है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में भी राजनीतिक दलबन्दी के प्रमाण मिलते हैं। प्राचीन ग्रीस और रोम में भी वर्ग संघर्ष और राजनीतिक दलबन्दी पाई जाती थी। इंगलेण्ड में जब गृहयुद्ध हुआ तब वहाँ राजतन्त्र था और वह आज की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था।

आधुनिक जनतन्त्रीय दलबन्दी इंगलेण्ड से रानी एलीजाबेथ के राज्यकाल से प्रारम्भ हुई। वास्तव में आधुनिक संसदीय दलबन्दी का विकास इंगलेण्ड से ही हुआ। राजा चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल में ह्विग और टोरी नाम के दो दल संगठित हुए। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय से सन् १७९६ में राजनीतिक दलों का संगठन हुआ। इन दोनों देशों में हमेशा दो राजनीतिक दल ही प्रमुख रहे हैं। लेकिन इसके विपरीत योरोप के कई प्रमुख देशों में दो से अधिक दल पाये जाते हैं। भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस ही सबसे पुराना राजनीतिक दल है। इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कई दलों का जन्म हुआ, पर वे साम्प्रदायिक और धार्मिक प्रकृति के थे। आजकल कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल तथा कम्यूनिस्ट पार्टी भारत के उल्लेखनीय दल हैं। इनके अलावा कुछ साम्प्रदायिक संगठन भी हैं।

दलों के कार्य :—प्रतिनिधि और जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दल आवश्यक होते हैं। किसी भी देश में एक साधारण मतदाता को अपने देश की समस्याओं का अच्छा ज्ञान नहीं होता। औसत मतदाता अपने दैनिक कार्यों में ही इतना व्यस्त रहता है कि उसे राजनीति की ओर ध्यान देने का अधिक

अवकाश नहीं रहता। फिर भी उसकी देश की उन्नति और समृद्धि के सम्बन्ध में कुछ न कुछ विचार और महत्त्वाकांक्षाएँ रहती हैं। पर बहुधा वह उन्हें स्पष्टरूप से न सोच पाता है और न व्यक्त कर पाता है। यह काम उसके लिये राजनीतिक दल कर देते हैं। वे उनके सामने देश की समस्याओं को स्पष्टरूप से रखते हैं और उनका समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। प्रतिनिधि जनतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दल निम्नलिखित काम करते हैं—

(१) आधुनिक काल में राज्यों की जनसंख्या बहुत बड़ी होती है। मतदाता सारे देश में फैले रहते हैं। अतएव दलबन्दी के आधार पर उनका एक देशव्यापी संगठन बन जाता है। इस प्रकार उनके प्रतिनिधियों अर्थात् विधान-मंडल के सदस्यों का भी एक संगठन बन जाता है। ये दल अपने मतदाताओं के सामने विभिन्न समस्याओं के विभिन्न पहलू रखते रहते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल नागरिकों को शिक्षित करते रहते हैं। दलों के पास समाचार पत्र, रेडियो इत्यादि प्रचार के साधन रहते हैं। दल के नेता सार्वजनिक सभाओं में भाषण देते हैं। यह कार्य निरन्तर चलते रहते हैं और जनता में राजनीतिक जागृति बनी रहती है।

(२) राजनीतिक दल जनता अथवा राष्ट्र की इच्छा व्यक्त करते हैं। अपने प्रचार साधनों द्वारा वे जनमत को संगठित करते हैं और उसे ठोस रूप देते हैं। सतत प्रयत्नों द्वारा वे जनमत को इतना ठोस बना देते हैं कि सरकार को बहुधा उसे स्वीकार करना पड़ता है। एक तरह से सरकार को भी इसमें सुविधा होती है। किसी एक दल के लोग अपने छोटे-छोटे मतभेद और स्वार्थों को भूलकर महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं पर एक होने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जब कोई नीति और मत स्पष्ट रूप से व्यक्त किया जाता है तो उसी के आधार पर शासन के कार्य और नीति भी निर्धारित होती है। बल्कि इन्हीं के आधार पर सरकारें भी बनती और बिगड़ती हैं। यदि जनता का अधिकांश भाग किसी दल का समर्थन करता है और यदि उस दल को बहुमत प्राप्त होता है तो वही दल सत्तारूढ़ भी होगा और उसी की नीति के अनुसार शासन चलेगा। इस प्रकार जनमत को उत्पन्न करके और उसे शिक्षित करके ये दल देश की बड़ी भारी सेवा करते हैं।

(३) दलों के कारण देश में स्वस्थ राष्ट्रीयता की स्थापना होती है। आजकल वयस्क मताधिकार और अनिवार्य शिक्षा का ज़माना है। प्रायः सभी लोग पढ़े-लिखे होते हैं और सब वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थितियों में हज़ारों तरह के परस्पर विरोधी विचार होना आवश्यक है। इन बौद्धिक मतभेदों के कारण बौद्धिक संघर्ष भी हो सकता है और

राष्ट्र में हमेशा एक उत्तेजना का वातावरण बना रहेगा। लेकिन राजनीतिक दल इन छोटे-मोटे मतभेदों को भुलाकर प्रधान विचारों के आधार पर राष्ट्र-व्यापी जनमत संगठित करते हैं। पूरा देश उन महत्त्वपूर्ण विचारों का एक स्वर से अनुमोदन या विरोध करता है और उसके बल पर स्वस्थ राष्ट्रीयता पनपती है। भारत में कांग्रेस दल जिस बात का समर्थन करता है वह राष्ट्रव्यापी समस्या बन जाती है। इसी प्रकार प्रजा-समाजवादी दल जिस बात का समर्थन करता है वह भी एक राष्ट्रव्यापी समस्या बन जाती है।

(४) दलबन्दी के आधार पर योग्य व्यक्ति विधानमंडल के सदस्य हो सकते हैं और शासन पदों पर पहुँच सकते हैं। आजकल निर्वाचन क्षेत्र बहुत बड़ा होता है और मतदाताओं की संख्या भी बहुत बड़ी होती है। ऐसी परि-स्थितियों में किसी स्वतन्त्र उम्मीदवार के लिये चुनाव लड़ना बड़ा मुश्किल होता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति किसी दल का सदस्य हो जाता है तो उसके लिये चुनाव लड़ना आसान हो जाता है। दलों के पास अपने धनकोष होते हैं, अपने समाचार पत्र तथा प्रचार के अन्य साधन होते हैं। यदि कोई व्यक्ति राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ रखता है और कोई दल उसे सदस्यता देता है तो उसके लिये चुनाव लड़ना आसान हो जाता है। वह दल ही उसके लिये चुनाव के सारे साधन जुटा देगा। उसे केवल अपने दल के अनुशासन को मानना पड़ेगा इससे मतदाताओं को भी बड़ी सुविधा होती है। किसी दल की नीति से तो मतदाता परिचित रहता है। वह चाहे तो उस दल के उम्मीदवार को मत दे अथवा न दे। लेकिन स्वतन्त्र उम्मीदवारों को मत देने में वह बड़े चक्कर में पड़ जाता है। इसके लिये यह आवश्यक होता है कि वह प्रत्येक उम्मीवार के विचार और नीति तथा योग्यता जाने और यह बात आजकल संभव नहीं है।

(५) एक महत्त्वपूर्ण कार्य दल यह करते हैं कि निर्वाचन के बाद वे अपने प्रतिनिधियों और उनके निर्वाचन क्षेत्रों में हमेशा सम्पर्क बनाये रहते हैं। प्रतिनिधि तथा दलों के अन्य सदस्य अपने चुनाव क्षेत्रों में जाते रहते हैं। इस प्रकार शासन वास्तव में प्रतिनिधि जनतान्त्रिक शासन होता है।

(६) विधानमंडल में दल अपने सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रहते हैं। विधानमंडलीय सदस्यों के लिये दल समय-समय पर नीति निर्धारण करते हैं और उन्हें आदेश देते रहते हैं। सदस्य अपनी पार्टी के प्रोग्राम को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। संसदीय प्रणाली में सत्तारूढ़ दल में तथा विरोधी दलों में दलगत एकता बहुत ज़रूरी है। क्योंकि दलों के ही आधार पर सरकार बनती है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में स्वस्थ दलबन्दी आवश्यक है।

(७) देश में राजनीतिक दलबन्दी की प्रणाली का प्रचार होने से खूनी या सशस्त्र क्रान्ति का डर नहीं रहता। यदि दल सचेत हैं तो वे देश की इच्छा को कार्यरूप में परिणित कर देंगे। एक दल नहीं करेगा तो दूसरा कर देगा। जनता के सम्पर्क में रहने से वे जनता की इच्छा से अवगत रहते हैं। दलबन्दी से राष्ट्र में परिवर्तनशीलता का गुण रहता है और वह अपनी वास्तविक इच्छा व्यक्त कर सकता है।

दलों के गुण :—राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने दलबन्दी में गुण और दोष दोनों देखे हैं। इस प्रथा के समर्थकों का कहना है कि स्वभाव से ही मनुष्य विभिन्न प्रवृत्तियों के होते हैं। कोई अग्रगामी, कोई उग्रगामी, कोई परिवर्तनप्रिय और कोई अपरिवर्तनप्रिय। इसलिये दलबन्दी मनुष्य प्रकृति के अनुकूल है। उनका कहना यह भी है कि आजकल की बड़ी जनसंख्या और बड़े क्षेत्रफलवाले राज्यों में केवल दलबन्दी के आधार पर जनतन्त्र सफल हो सकता है। जनतन्त्र का अर्थ बहुमत प्राप्त दल द्वारा शासन होता है। यह बहुमत केवल दलबन्दी के आधार पर प्राप्त होता है। केवल दलीय संगठन देश के बिखरे हुए मतदाताओं को मूल समस्याओं पर एक संगठन में बाँध सकते हैं और एक टिकाऊ शासन की स्थापना कर सकते हैं। यदि देश का बहुमत किसी नीति के विरुद्ध है और वह संगठित नहीं है तो वह प्रभावहीन हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में जहाँ शासन अधिकारों का कठोर विभाजन है यदि राजनीतिक दल न हों तो शासन के तीन प्रमुख विभागों में रोज़ अवरोध पैदा होता रहे। संघ शासन में दलबन्दी के आधार पर संघ और राज्यों में भी आपस में अच्छा सहयोग रहता है। भारत इसका उदाहरण है। यहाँ संघ तथा राज्यों में कांग्रेस दल का ही बहुमत है। अतएव सारे देश का शासन एक इकाई की तरह चल रहा है। संघ तथा राज्यों में गत्यावरोध उत्पन्न नहीं होता।

दलबन्दी के कारण शासन की दक्षता भी बनी रहती है क्योंकि विधानमंडल में तथा उसके बाहर विरोधी दल सत्तारूढ़ दल की हमेशा आलोचना किया करता है। जनमत शिक्षित और सुसंगठित रहता है और सरकार उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। राजनीतिक दलों की क़ानून की दृष्टि से कोई स्थिति नहीं रहती। न कोई वैधानिक स्थिति रहती है। पर उन्हीं दलों के संगठन के आधार पर शासन की गाड़ी चलती है। दलों के कारण अच्छे क़ानून बनते हैं। खराब क़ानून रद्द होते हैं और विरोधी दल यदि चौकन्ना रहता है तो कोई क़ानून जल्दी में अहितकारी रूप में नहीं बन पाता। यदि बहुमत स्वस्थ है तो सरकार को उससे बल मिलता है। साथ ही स्वस्थ विरोधी मत के कारण सरकार में भ्रष्टाचार नहीं फैल पाता। कुछ लेखकों ने विरोधी दल को सरकार

रूपी नाव का पतवार कहा है जो सरकार को पथभ्रष्ट होने से बचाता रहता है। दलबन्दी के कारण लोग छोटे-मोटे स्वार्थों को भूलकर देश के बृहद् स्वार्थों की ओर ध्यान देते हैं। अनुभव यही बतलाता है कि दलबन्दी के कारण जनमत प्रेस, विधानमंडल तथा सरकार हमेशा एक स्वस्थ वातावरण की ओर उन्मुख होते रहते हैं। मेकआइवर ने दलबन्दी प्रथा के गुण इन शब्दों में बताये हैं :—"दलबन्दी के कारण परिवर्तनशील समाज और राज्य में हमेशा स्वस्थ और उपयुक्त सम्बन्ध बनते रहते हैं। शासन की मशीन लचीली बनी रहती है। जनमत एक स्थिर और स्पष्ट रूप धारण करता है और देश का शासन उसकी कसौटी पर कसा जाता है। इसीलिये एकतन्त्रात्मक ताना शाही राज्यों में सबसे पहला प्रहार राजनीतिक दलों पर होता है।"

दोष :—दलबन्दी प्रथा के विरोधियों का कहना है कि वह देश में हमेशा संघर्ष और मतभेद का वातावरण बनाता रहता है। जहाँ मतभेद न भी हो वहाँ मतभेद पैदा कर देता है। दलबन्दी के आधार पर जो एकता पैदा होती है वह अस्थायी होती है। उसके कारण मनुष्य का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। किसी दल के सदस्यों को अपने मत को भूलकर अपने दल का मत स्वीकार करना पड़ता है और उसी के अनुशासन में रहना पड़ता है। इस प्रकार दल के सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। यह बात जनतन्त्र के विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि दलबन्दी सार्वजनिक जीवन में बेईमानी का वातावरण पैदा करती है। उसके कारण देश का सार्वजनिक जीवन और विधानमंडल एक युद्धक्षेत्र का दृश्य उपस्थित करता है। इस संघर्ष के वातावरण में लोग सही और निष्पक्ष राय क़ायम नहीं कर सकते। विरोधी दल अनावश्यक और कभी-कभी झूठी आलोचना के द्वारा सत्तारूढ़ दल की हमेशा आफ़त किये रहता है और उसके बारे में ग़लतफ़हमी फैलाता रहता है। भोली जनता भी इस प्रभाव में पड़ जाती है। इस प्रकार दलबन्दी से केवल व्यक्ति का ही नहीं बल्कि देश का अहित होने की सम्भावना रहती है। फिर जब कोई दल सत्तारूढ़ होता है तो वह अपने ही आदमियों को अच्छे-अच्छे पदों पर रखने की कोशिश करता है, चाहे वे व्यक्ति योग्य हों या अयोग्य। इससे शासन की दक्षता नष्ट होती है। विरोधी दल में चाहे कितने ही योग्य व्यक्ति क्यों न हों वे पद नहीं पा सकते। जिन देशों में केवल दो राजनीतिक दल रहते हैं वहाँ तो फिर भी ग़नीमत है, लेकिन जिन देशों में दो से अधिक दल होते हैं वहाँ शासन कभी भी स्थिर और स्थायी नहीं रह पाता।

दलबन्दी का एक दोष यह भी बताया जाता है कि अबोध जनता को गुमराह करके उसकी सहानुभूति का अनुचित लाभ उठाती है। जनता को खुश करने के लिये भले-बुरे सब तरह के क़ानून बनते रहते हैं। दलगत सत्ता में क़ानूनों की

भरमार रहती है। दूसरी बात यह है कि दलों का जो चित्र खींचा जाता है वह यथार्थ नहीं होता। वास्तव में उनमें जनतान्त्रिक तत्त्व बहुत कम रहते हैं। हर एक का संगठन तथा नेतृत्त्व थोड़े से लोगों के हाथ में रहता है। ये थोड़े से लोग अपने स्वार्थ के लिये अबोध जनता का शोषण करते रहते हैं। संकट काल में दलबन्दी बड़ी ख़तरनाक होती है। यदि युद्धकाल में विभिन्न दल एकमत न हो सकें तो देश नष्ट हो सकता है। देश की जनता जब विभिन्न दलों की चतुराई-पूर्ण बातें सुनती है तो उसकी समझ में नहीं आता कि क्या सच है और क्या झूठ है। भारत जैसे पिछड़े हुए देशों में दलों का संगठन जाति और धर्म के आधार पर होता है। यह परिस्थिति बड़ी भयावह होती है। हमारा देश तो इसके कारण खंड-खंड हो गया।

इन दोषों को दूर करने के लिये विद्वानों ने कहा है कि दलों का संगठन जाति और धर्म के आधार पर नहीं होना चाहिये। दलों को केवल देश-हित की व्यापक समस्याओं पर विचार-विमर्श करना चाहिये। राजनीतिज्ञों को समाज में स्वस्थ नैतिकता को प्रोत्साहन देना चाहिये। इसका फल यह होगा कि जनता किसी जाति या वर्ग के प्रति भक्ति न रखकर देश के प्रति भक्ति रखेगी। एक दल दूसरे दल की केवल निन्दा न करके यदि उसके अच्छे गुणों को भी स्वीकार करे तो संघर्ष का वातावरण काफी कम हो सकता है और स्वस्थ राजनीति की स्थापना होगी।

दो दल तथा अनेक दल :—यह देखने में आया कि जिन देशों में केवल दो राजनीतिक दल प्रमुख रूप से होते हैं वहाँ का राजनीतिक वातावरण अधिक स्वस्थ तथा शासन अधिक स्थायी होता है। यदि एक दल चुनाव हारता है तो दूसरा दल शक्ति पाता है। आज का विरोधी दल कल का सत्ताधारी दल बन सकता है। इसके फलस्वरूप विरोधी दल सरकार की आलोचना अधिक जिम्मेदारी के साथ करता है और शासन-नीति में अनावश्यक और जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होते। अधिक जिम्मेदारी के साथ काम होता है। दो दलीय प्रथा के दोष यह है कि जनता के सामने एक संकुचित दायरा उपस्थित हो जाता है। या तो वह एक दल को चुने या दूसरे दल को। स्वतन्त्र विचार के लोगों को इस परिस्थिति में बड़ी मुश्किल हट होती है। व्यक्तिगत राय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। दो दलों की व्यवस्था में राजनीतिक पक्षपात बहुत अधिक होता है। जो भी दल सत्ताधारी होता है वही अपने लोगों को पदों पर भरता है। यह प्रणाली बड़ी अपरिवर्तनशील होती है।

इसके विपरीत जिन देशों में दो से अधिक दल होते हैं उनमें व्यक्तियों को अपना मत प्रकट करने का अधिक मौका मिलता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जनता को केवल दो दलों में विभाजित होने की आवश्यकता नहीं होती। बल्कि समय

की आवश्यकता के अनुसार कई मत और कई संगठन बन सकते हैं। लेकिन इस व्यवस्था में कोई एक दल अकेला बहुमत प्राप्त नहीं कर सकता। उसे किसी अन्य दल या दलों के साथ मिलकर संयुक्त सरकार बनानी पड़ती है। लेकिन इसमें दोष यह है कि दल आपस में मिलते और फूटते रहते हैं और इससे शासन टिकाऊ नहीं हो पाता तथा मंत्रिमंडल बहुधा जिम्मेदारी के साथ काम नहीं करते। राजनीतिक दलों में भी आन्तरिक अनुशासन की कमी रहती है और पदों के लिये सौदे होते रहते हैं। संयुक्त सरकार जमकर शासन नहीं कर सकती। जनता के या किसी दल के थोड़े से विरोध से ही टूट जाती है।

एकदलीय शासन :—द्वितीय महायुद्ध के पहले इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में एकदलीय शासन स्थापित हुआ। फासिस्ट पार्टी का नेता मुसोलिनी था तथा उसी दल का शासन था। इसी प्रकार जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाज़ी दल का शासन हुआ। द्वितीय महायुद्ध में जब ये दोनों देश हार गये तो एकदलीय शासन भी समाप्त हो गया। इन शासनों की विशेषता यह थी कि सत्तारूढ़ होते ही ये अपने विरोधी दलों को हिंसापूर्ण उपायों द्वारा समाप्त कर देते थे। आज भी रूस में तथा कुछ अन्य कम्यूनिस्ट देशों में एकदलीय शासन है। वहाँ कम्यूनिस्ट पार्टी की सत्ता है और विरोधी दल कोई नहीं है। स्वर्गीय डाक्टर बेनीप्रसाद ने लिखा था कि इन दलों के नेता कुछ ऐसे काम करते हैं जो जनता के हित में दिखते हैं और जनता उन्हें स्वीकार करती है। इसीलिये इनकी सत्ता टिकी रहती है। वास्तव में एकदलीय शासन की सत्ता बल के आधार पर टिकी रहती है। ये दल अपने विरोध में कोई मत स्वीकार ही नहीं कर सकते।

अध्याय २२

राज्य का लक्ष्य और उसके कर्त्तव्य

(Ends of the state)

(१) राज्य का लक्ष्य

प्रस्तावना

राज्य के कर्त्तव्यों का राज्य सम्बन्धी विचारों से सीधा सम्बन्ध है। मोटे तौर से ये विचार चार प्रकारों में बाँटे जा सकते हैं—अराजकतावादी, व्यक्तिवादी, आदर्शवादी और समाजवादी। राज्य के कर्त्तव्यों का सम्बन्ध राज्य के लक्ष्य से भी है। जो दार्शनिक राज्य को नैतिक संस्था मानते हैं उनके इस सम्बन्ध में एक प्रकार के विचार हैं ; और जो इसको एक आवश्यक दूषण समझते हैं, उनके दूसरे विचार हैं।

राज्य के लक्ष्य का सम्बन्ध राज्य और व्यक्ति की प्रकृति और उनके पारस्परिक सम्बन्ध से है। यदि मनुष्य विवेकशील और समाजप्रिय प्राणी है तो समाज और राज स्वाभाविक संस्था हैं। वह इनके बाहर नहीं रह सकता। ऐसी दशा में राज्य एक मजबूरी नहीं, वरन् आवश्यकता है। यदि मनुष्य समाजप्रिय नहीं, वरन् भावना प्रधान और स्वार्थी जीव है तब राज्य का स्वरूप दूसरा ही हो जाता है। वह प्राकृतिक नहीं रहता। उसका स्वरूप कृत्रिम हो जाता है। उसका लक्ष्य व्यक्ति की स्वार्थ सिद्धि-मात्र रह जाती है, आदि।

राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के अलग-अलग विचार हैं। परन्तु उनको मोटेतौर से दो प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है— पहला वे जो राज्य को मुख्य समझते हैं और दूसरे वे जो व्यक्ति को मुख्य समझते हैं।

(१) राज्य प्रधान विचार

प्राचीन योरोप और भारत में राज्य को अधिकांशतः नैतिक संस्था माना जाता था। उसको मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मानते थे। राज्य मनुष्य के हितों का साधक नहीं, वरन् वह स्वयं ही अपना लक्ष्य है। ऐसा भी विचार था।

प्राचीन काल में राज्य को दैवी समझा जाता था। दैवी शक्ति को ही उसकी शक्ति का स्रोत समझा जाता था। अतः स्वभावतः ही व्यक्तिगत हित

इस दैवी शक्ति के अधीन समझे जाते थे। इसी कारण व्यक्तिगत हितों और स्वतन्त्रता का प्रश्न न उठता था। प्लेटो और अरस्तू, दोनों के ही मतानुसार राज्य इसी प्रकार प्राकृत संस्था है, जिस प्रकार मनुष्य प्राकृत है। प्लेटो के अनुसार राज्य मनुष्य का ही वृहद् रूप है। इन दोनों का विचार है कि राज्य मनुष्य की शक्तियों का प्रकटीकरण हैं। मनुष्य के लिए उत्तम जीवन केवल राज्य में ही सम्भव है। अरस्तू का विचार है कि मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। उसका विवेकशील और नैतिक जीवन केवल राज्य में ही सम्भव है। राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए होती है, परन्तु वह सद्जीवन के हित जीवित रहता है। उसकी सहायता के बिना सदाचारी जीवन सम्भव नहीं। सदाचारी जीवन से तात्पर्य है विवेकशील जीवन से। क्योंकि विवेक ही सद्-असद् की सूझ देता है, उसी की सहायता से सहयोगी जीवन सम्भव होता है। राज्य, उसकी विधि और संस्थाएँ इसी विवेक पर आधारित हैं। इनका विवेक ऐसा है जो व्यक्ति की इच्छा अथवा उसकी सनक से प्रभावित अथवा विचलित नहीं होता। अतः व्यक्ति की अपेक्षा राज्य प्रधान है, क्योंकि उसके बिना मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य—सद्जीवन सम्भव नहीं। इसी कारण राज की शक्ति अथवा उसके कर्त्तव्यों को सीमित नहीं किया जा सकता।

जर्मनी के आदर्शवादी दार्शनिक हीगेल और ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिक बुसांके भी राज्य को प्रधान मानते हैं। हीगेल के ऊपर उपर्युक्त यूनानी दार्शनिकों और अपने समय का प्रभाव था। उस समय नैपोलियन-विरोधी भावना ने योरोप में राष्ट्रीय भावना को जागृत किया था। उसने संविदा आदि के सिद्धान्तों को ठेस पहुँचाई और हीगेल के जैसे सिद्धान्त को जन्म दिया। रूसो और कॉन्ट की भाँति हीगेल भी नैतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त से आरम्भ करता था। मनुष्य नैतिक स्वतन्त्रता का अधिकारी है, क्योंकि वह विवेकशील प्राणी है। परन्तु सारे विश्व के पीछे भी एक विचार, एक बुद्धि का सिद्धान्त है। मनुष्य की बुद्धि उसी का एक अंग है। यह बुद्धि का सिद्धान्त मनुष्य की बुद्धि द्वारा स्वयं पूर्णता प्राप्त करता है। क्योंकि मनुष्य में बुद्धि है इसी कारण वह स्वतन्त्र आचरण कर सकता है, इसी कारण वह नैतिक हो सकता है। परन्तु यह नैतिकता और स्वतन्त्रता उसी दिशा में सम्भव है जब मनुष्य विवेकशील हो, जब उसकी इच्छा स्वार्थ से प्रेरित न हो। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपनी स्वार्थी इच्छा को छोड़ सामान्य इच्छा (जो सामान्य ज्ञान के अनुकूल आचरण करती है) के अनुकूल आचरण करे। इस प्रकार की इच्छा राज्य में निहित है। राज्य का प्राकृतिक रूप से विकास हुआ है। इसका अपना व्यक्तित्व है। इसमें पूर्ण विवेक अभिव्यक्त है। वह राज्य को स्वाभाविक

सावयवी मानता है। अतः उसका अपना विवेक, उसकी अपनी इच्छा है। वह स्वयं ही अपना लक्ष्य है। राज्य में रहने और उसकी आज्ञा-पालन करने में ही मनुष्य का जीवन सार्थक और पूर्ण है। नागरिक राज्य के लिए है। विधिवत् जीवन ही स्वतन्त्र जीवन है। इस प्रकार वह राज्य को देवता तुल्य समझता है। हीगेल के अनुसार राज्य अपने आंतरिक ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी असीम है। उसकी अपनी नैतिकता है जो व्यक्तिगत नैतिकता से परे है। राज्य की सर्वशक्तिमानता का पता युद्ध के समय में लगता है। इस प्रकार हीगेल ने राजनीति में इच्छा को महत्त्व दिया और राज्य के प्रभुत्व को गौरवान्वित किया। इसने व्यक्तित्व की महत्ता और मनुष्य के अधिकारों की उपेक्षा की।

ग्रीन का कहना है कि जर्मन दार्शनिक राज्य और समाज में भेद नहीं करते, अतः वे राज्य के कर्त्तव्यों को समाज के कर्त्तव्यों से मिला देते हैं और इस प्रकार राज्य के कर्त्तव्यों की परिधि बढ़ा देते हैं। ब्रिटेन में ऐसा सम्भव नहीं। अतः बुसांके भी ग्रीन की भाँति राज्य और समाज में भेद करता है। वह मानता है कि राज्य की शक्ति के प्रयोग द्वारा कोई मनुष्य सदाचारी नहीं बन सकता, वह स्वतन्त्र आचरण से ही सदाचारी हो सकता है। स्वतन्त्र और विवेकशील मनुष्य की भाँति ही राज्य का लक्ष्य भी नैतिक है। परन्तु व्यक्ति के सदाचारी आचरण के लिए राज्य केवल परिस्थितियाँ और सुविधाएँ प्रदान कर सकता है, उसके सदाचरण के मार्ग की रुकावटों को हटा सकता है। परन्तु बुसांके के अनुसार राज्य केवल शक्ति का प्रयोग ही नहीं करता, वरन् वह समाज की विभिन्न संस्थाओं के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करता है, उनको संघर्षों से बचाता है, उनकी आलोचना करता है और उनके जीवन को सम्भव बनाता है। अतः राज्य सम्पूर्ण जीवन की एक धारणा के स्वरूप में सामने आता है। इसी दृष्टि से वह अन्य संस्थाओं की समालोचना करता और उनका सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं से प्रधान है, उसका लक्ष्य नैतिक है, वह सर्वोच्च नैतिकता है। राज्य और व्यक्ति के बीच संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार बुसांके अपने विचार में हीगेल के निकट पहुँच जाता है। उसके अनुसार यद्यपि राज्य की भावना प्रत्येक व्यक्ति में है, परन्तु यह भावना स्वतन्त्र रूप धारण कर लेती है। देश की संस्थाओं (जिनमें राज्य भी सम्मिलित है) का स्वतन्त्र मस्तिष्क और विचार होता है यद्यपि यह विचार और मस्तिष्क व्यक्तियों द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। क्योंकि ये संस्थाएँ (राज्य भी) व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अतः व्यक्ति को उनके आन्तरिक अथवा बाह्य सम्बन्धों में आलोचना का अधिकार नहीं। राज्य नैतिक विचार

है, वह समस्त जीवन की धारणा है। अतः वह राज्य को विस्तृत अधिकार देने के पक्ष में है।

ट्राइस्के के भी यथार्थवादी रूप से राज्य को गौरवान्वित करता है। वह राज्य को स्वयं अपना लक्ष्य मानता है और इसको "मनुष्य के सनातन समाज में सर्वोच्च" समझता है। वह राज्य को इच्छा-शक्ति के रूप में देखता है और शक्ति को सर्वोच्च अधिकार मानता है।

इसी प्रकार की विचारधाराएँ फ़ासिज्म और नाज़ीवाद की भी हैं। वे राज्य को सोद्देश्य, सजीव और सशक्त संस्था मानते हैं। उसकी शक्ति और सामर्थ्य व्यक्ति से कहीं अधिक है। राज्य अनश्वर सावयवी है। मनुष्य नश्वर है। मनुष्य का जन्म होता है, वह बढ़ता है और बाद में वह अपना स्थान सन्तान को देकर मर जाता है। समाज सदैव जीवित रहता है और अपने विचार तथा भावनाओं की धरोहर को अक्षुण्ण रखता है। अतः समाज अथवा राज्य का लक्ष्य व्यक्ति नहीं, वरन् उसका अपना निजी लक्ष्य है। वह अपनी सुरक्षा, विस्तार और पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। अतः अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए समाज व्यक्ति का प्रयोग कर सकता है।

उपयोगितावादी दार्शनिक अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई चाहते थे। बुद्धिवादी दार्शनिकों का विश्वास था कि मनुष्य अपनी योग्यता से सामाजिक संस्थाओं का सुधार कर सका है। इन दोनों विचार-धाराओं ने सुधार के आन्दोलन को जन्म दिया। इस कारण अनेक विधान बने और इस प्रकार राज्य का महत्त्व बढ़ा। विकासवाद से प्रभावित दार्शनिक भी राज्य को सावयवी मानते थे और इस प्रकार मनुष्य (जो राज्य का एक अवयव मात्र समझा जा सकता था) को राज्य से तुच्छ समझते थे।

राजकीय समाजवादी व्यक्ति को प्रधान मानते हैं और विश्वशान्ति के पक्ष में हैं। अतः उनके विचार हीगेल आदि के आदर्शवादी अथवा फ़ासिस्ट विचारों से भिन्न हैं। तथापि वे सामूहिक दायित्व और राज्य के कर्त्तव्यों के विस्तार के सिद्धान्त के पोषक हैं। वे राज्य की शक्ति मजदूर वर्ग के हाथ में देना चाहते हैं, और उसकी शक्ति को बढ़ाना भी चाहते हैं। साम्यवाद के सिद्धान्त भी इसी दिशा में अग्रसर होते हैं।

आलोचना :—राज्य का स्वयं अपना क्या लक्ष्य हो सकता है और क्यों, इसका सन्तोषपूर्ण उत्तर नहीं मिलता। कहा जाता है कि राज्य दैवी-विवेक को अभिव्यक्त करता है, अथवा यह कि हमारी सदिच्छा इसमें निहित है। इनका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जैसा कि कहा गया है, ये अनुदारवादिता के तर्क हैं। इस प्रकार राज्य को गौरवान्वित कर सुधार का विरोध किया जाता

है। इस प्रकार शासित वर्ग से त्याग की अपील की जाती है। इसके सहारे निरंकुश शासन का समर्थन किया जाता है।

मैकआइवर का कहना है कि इस प्रकार मानव-समाज को मनुष्य के और राष्ट्र को उसकी जनता से बढ़ा कर दिखाया जाता है और यह बताया जाता है कि मनुष्य की सेवा के बिना समाज की और जनता की सेवा के बिना राष्ट्र की सेवा सम्भव है। जिस हद तक कि समाज के अपने मूल्य और लक्ष्यों को अलग समझा जाता है उसी हद तक मनुष्य को समाज से तुच्छ समझा जाता है।

कॉन्ट के शब्दों में, मनुष्य को किसी लक्ष्य का साधनमात्र नहीं समझा जा सकता, वह स्वयं ही अपना लक्ष्य है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य एक साधनमात्र हो सकता है।

(२) व्यक्ति प्रधान विचार
(Individualistic Theory)

जहाँ एक ओर राज्य की प्रधानता को महत्त्व देने वाले दार्शनिक हैं, वहाँ दूसरी ओर वे दार्शनिक हैं जो राज्य को बुरा समझते हैं। विभिन्न प्रकार के अराजकतावादी राज्य की कड़ी आलोचना करते हैं और उसके तत्कालिक अथवा निकट भविष्य में विनाश की बात करते हैं।

योरोपीय इतिहास के मध्ययुग में राज्य और धर्म के बीच प्रधानता के लिए संघर्ष था। धर्म की ओर से कहा जाता था कि राज्य मनुष्य के पापों का परिणाम है, वह मनुष्य की अपूर्णता का द्योतक है। अतः उसकी उत्पत्ति मनुष्य के पापों के प्रायश्चित के लिए है। राज्य और धर्म मनुष्य के दो प्रकार के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। राज्य का सम्बन्ध उसके ऐहिक और भौतिक जीवन से है, धर्म का आध्यात्मिक और पारलौकिक से। क्योंकि आध्यात्मिक और पारलौकिक जीवन श्रेष्ठ है, अतः धर्म राज्य से प्रधान है। राज्य मनुष्य के निम्न प्रकार के हितों का साधन करता है, अतः उससे छोटा है। वह पापों का परिणाम होने के नाते अनिवार्य अभिशाप है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के क्रान्तिवादी तत्कालीन राजतन्त्र के विरोधी थे। वे राज्य को दैवी अथवा स्वाभाविक अथवा सावयवी न मानते थे। उनका कहना था कि वह मनुष्य द्वारा ही बनाया गया है, अतः अप्राकृतिक है। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं और उसके अधिकारों पर अधिक ज़ोर देते और राज्य को गौण समझते थे। अतः वे व्यक्ति को मुख्य मानते थे और राज्य के कृत्यों को सीमित करना चाहते थे। उनका विचार था कि ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति

करेगा, जैसे-जैसे वह विवेकशील होगा, उसकी संस्थाएँ उन्नति करेंगी और वैसे ही वैसे राज्य की आवश्यकता कम होगी, उसकी सत्ता का क्षेत्र कम होता जायगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि उपयोगितावादी दर्शन ने भी राज्य के महत्त्व को बढ़ाया। परन्तु वे राज्य को प्रधान नहीं मानते। वे भी हॉब्स और लॉक की भाँति व्यक्ति को स्वार्थी मानते हैं। इनमें सबसे बड़ा दार्शनिक बेन्थम (१७४८–१८३२) हुआ है। उसका कहना है कि सब मनुष्य आनन्द चाहते हैं। मनुष्य चरित्र मुख्यतया दो भावनाओं से प्रभावित होता है और वे ये हैं—पीड़ा और आनन्द। हमारे आचार, विचार और कर्त्तव्य—सब इनके अधीन हैं। आनन्द के चार स्रोत हैं, भौतिक अथवा शारीरिक, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक। राजनीतिक सुख से तात्पर्य है अच्छे क़ानूनों द्वारा, सुधार द्वारा प्राप्त आनन्द। उपयोगितावादियों ने राज्य द्वारा आनन्द वृद्धि के लिए अनेक प्रकार के राजनीतिक, क़ानूनी और वैधानिक सुधारों की योजना रखी है। यहाँ तक कि वे राज्यसत्ता को निरंकुश मानते हैं। परन्तु राज्य स्वयं लक्ष्य नहीं। लक्ष्य मनुष्य का अधिकाधिक आनन्द है। उसके हित राज्य अपनी निरंकुश शक्ति का उपयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य के ऊपर अनेक व्यावहारिक सीमाएँ भी लगाई हैं। जिनमें सबसे बड़ी सीमा उपयोगिता की है। यदि राज्य का कोई कार्य उपयोगी नहीं, तब राज्य को उसमें हाथ नहीं डालना चाहिए।

इस विचारधारा के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह मानवीय व्यापार को भी व्यापार जैसा समझ निःस्वार्थ भावना को भुला देती है। मनुष्य के आचरण में त्याग की भावना भी है। प्रत्येक कार्य को केवल आनन्द की दृष्टि से ही नहीं किया जाता। बेन्थम ने आनन्द की कमी-बेशी को नापने के लिए एक गणित का जैसा सिद्धान्त उपस्थित किया है। जहाँ तक आनन्दों का प्रश्न है, उनका जोड़ना-घटाना भी प्रायः असम्भव है। बेन्थम ने प्रत्येक व्यक्ति को बराबर माना है और उसके आनन्द का मापदण्ड अधिक व्यक्तियों का आनन्द भी है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि जहाँ तक आनन्द का सम्बन्ध है, उसमें एकता का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं। एक ही घटना से विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न मात्रा में आनन्द मिल सकता है। परन्तु फिर भी आनन्द का सिद्धान्त राज्य के कर्त्तव्य की परख के लिए एक मापदण्ड है। कार्य का निर्णायक उसका परिणाम है। जनता का अनुभव ही राज्य के कर्त्तव्यों की कसौटी है। इस प्रकार पोलक के शब्दों में आनन्द का सिद्धान्त हॉब्स की लिवायथन (सर्व शक्तिमान् राज्य) की नाक में उपयोगिता की नकेल डाल देता है।

आधुनिक काल में व्यक्तिवाद, बहुलवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद राज्य की शक्ति को सीमित करने के पक्ष में हैं। कुछ समाजवादी विचारधाराएँ राज्य के कर्त्तव्यों को बढ़ाने के पक्ष में हैं। व्यक्तिवाद को भय है कि कहीं इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विनाश न हो जाए, कहीं नौकरशाही सर पर सवार न हो जाए। अन्तर्राष्ट्रीयवादी राष्ट्रीय प्रभुत्व को अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और युद्ध की जड़ समझते हैं। वे भी राज्य की शक्ति को, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, सीमित करना चाहते हैं। बहुलवाद भी राज्य की सर्वोच्चता, विशेषतया ऐसी सर्वोच्चता जिसका ऑस्टिन ने प्रतिपादन किया है, विरोध करता है। उसके अनुसार अनेक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि संस्थाएँ महत्त्व में राज्य से कम नहीं। सम्भव है वे जीवन के लिए इतनी ही अथवा कुछ अधिक उपयोगी हों। अतः उनको कम-से-कम अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार वर्त्तमान काल में राज्य के आन्तरिक और बाह्य सर्वाधिकार और सर्वोच्चता का विरोध किया जाता है।

आलोचना :—राज्य को प्रधान माननेवाले तथा व्यक्ति को प्रधानता देनेवाले, दोनों ही विचार अधूरे हैं। जो विचार राज्य को प्रधान मानते हैं वे एक सामान्य इच्छा की कल्पना पर निर्धारित हैं। यह वास्तविक और विवेकशील इच्छा है और यह राज्य में अभिव्यक्त है। अतः राज्य प्रधान है, वह स्वयं ही अपना उद्देश्य है। यह सत्य है कि अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो अपना हित-अनहित नहीं पहचानते और राज्य अपने क़ानूनों द्वारा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्न कर सकता है। परन्तु यह कि राज्य व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध भी क़ानून द्वारा हित-साधन कर सकता है, प्रायः असम्भव है। प्रथम तो इच्छा केवल व्यक्ति में ही सम्भव है। यदि कोई सामान्य इच्छा है भी तो वह राज्य के अतिरिक्त अनेक अन्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकती है। राज्य की इच्छा भी सदैव ही सामान्य इच्छा नहीं होती और न वह सदैव सद् अथवा विवेकशील इच्छा ही कही जा सकती है। अधिक-से-अधिक उसको बहुमत अथवा बहु-हिताय इच्छा कहा जा सकता है। अतः राज्य के कार्यों का मापदण्ड उसके परिणाम हैं। राज्य अन्य समुदायों से भिन्न हैं, क्योंकि इसकी सदस्यता अनिवार्य है और उसकी शक्ति और कर्त्तव्य अन्य समुदायों से अधिक और विस्तृत हैं। अधिकांशतः राज्य और व्यक्ति के हितों में सामंजस्य होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी, जैसे युद्ध काल में, राज्य को अपनी रक्षा-हेतु व्यक्ति से अधिकतम त्याग की माँग करनी पड़ती है। दूसरी ओर, साधारण समय में व्यक्ति राज्य से स्वतन्त्रता, सुरक्षा आदि की माँग कर सकता है। राज्य को अनेक अधिकार हैं। वह सम्पत्ति पर कर लगा कर समाजवादी

समाज की ओर अग्रसर हो सकती है, धार्मिक प्रश्नों में हस्तक्षेप कर सकता है, युद्ध काल में व्यक्ति को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य कर सकती है। लॉस्की के अनुसार राज्य, "एक ऐसा संगठन है जो जन-समूह को सामाजिक कल्याण को विस्तृत पैमाने पर सम्भव बनाने की क्षमता देता है।" यही उसका उद्देश्य है और यही उसकी सफलता का मापदण्ड है।

(३) राज्य का लक्ष्य
(Aims of the state)

ऊपर कहा जा चुका है कि विभिन्न दार्शनिकों के मत मोटेतौर से या तो व्यक्ति अथवा राज्य को प्रधानता देते हैं। राज्य को प्रधानता देनेवाले इस सीमा तक भी जाते हैं कि वे राज्य को स्वयं ही अपना लक्ष्य मान लेते हैं। दूसरे व्यक्ति को प्रधान और राज्य को व्यक्ति के हितों का साधनमात्र समझते हैं। आधुनिक युग में राज्य के क्या लक्ष्य हैं, यह प्रश्न विचाराधीन है।

सतरहवीं शताब्दी के ब्रिटिश दार्शनिक लॉक का कथन है कि "मानव जाति की भलाई" सरकार का उद्देश्य है। परन्तु मानव जाति की भलाई से उसका मुख्य तात्पर्य सम्पत्ति की रक्षा से है। साथ ही वह जीवन और स्वाधीनता के अधिकारों की रक्षा भी करना चाहता है। वह मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को अक्षुण्ण रखता है। राज्य इनको सीमित नहीं कर सकता।

ऑडम स्मिथ (सन् १७२३-९०) राज्य के तीन कर्त्तव्यों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। प्रथम समाज को विदेशी अतिक्रमण अथवा आक्रमण से बचाना; दूसरा समाज के प्रत्येक सादस्य को अन्य सदस्यों के अन्याय अथवा अत्याचार से बचाना और इस हेतु न्यायालय स्थापित करना और तीसरे ऐसे सार्वजनिक कार्य करना और संस्थाओं को स्थापित करना जो व्यक्ति अथवा किसी छोटे व्यक्ति समूह के लिए स्वार्थकर नहीं।

जर्मन लेखकों में होल्टसेन डोर्फ़ (Holtzendorf) का मत है कि राज्य के तीन उद्देश्य हैं। पहला, अन्य राज्यों से अपनी रक्षा और राज्य के अन्दर व्यक्ति और समुदायों पर अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए राज्य को अपनी शक्ति के विकास की आवश्यकता है। दूसरा, वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा, विशेषतया सरकारी अतिक्रमण से। तीसरा, सामाजिक उन्नति और जन-संस्कृति के विकास में सहायता देना। प्रजा को शिक्षा और सहायता देकर राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। होल्टसेन डोर्फ़ की ही भाँति दूसरा जर्मन लेखक ब्लुंशली का विश्वास था कि राष्ट्र की शक्ति को विकसित करना और राष्ट्रीय जीवन को पूर्णता प्रदान करना राज्य का प्रथम और प्रत्यक्ष उद्देश्य है। दूसरा

और अप्रत्यक्ष उद्देश्य है व्यक्ति को स्वतन्त्रता और सुरक्षा प्रदान करना। जन-कल्याण राज्य का उद्देश्य है। ब्लुंशली इस पर ज़ोर देता था। परन्तु उसने यह भी बताया कि जन-कल्याण के अर्थ के सम्बन्ध में भारी मतभेद है और यह भी सम्भव है कि कुछ राज्य इसकी आड़ में निरंकुश कार्य करें।

अमरीकी लेखक बर्गेस के अनुसार राज्य के तीन उद्देश्य हैं। प्रथम और प्राथमिक सरकार की स्थापना, परन्तु उसके साथ ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा और उसकी अभिवृद्धि जिससे कि कहीं वह सरकारी क़ानूनों द्वारा कुचल न जाए। द्वितीय और गौण, राष्ट्रीय राज्य की स्वतन्त्रता और उसका विकास। अन्तिम उद्देश्य है मानव समाज और विश्व सभ्यता की पूर्णता के लिए प्रयत्नशील होना। दूसरे अमरीकी लेखक विलोबी के अनुसार भी राज्य के तीन उद्देश्य हैं, अपनी शक्ति द्वारा राज्य की स्वतन्त्रता और उसकी आन्तरिक शान्ति व्यवस्था क़ायम रखना ; व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित सरकार को मज़बूत बनाना और नागरिकों को शिक्षित करना तथा आर्थिक, नैतिक और बौद्धिक कल्याण की अभिवृद्धि करना। जहाँ तक राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध हैं, गारनर भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के हेतु शान्ति व्यवस्था, जन-कल्याण और मानव-सभ्यता की उन्नति, इन तीन पर ज़ोर देता है।

राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्त की बारीकियों को बचाकर प्रयोगवादी ढंग से राज्य की सफलताओं पर ध्यान देता है। वह राज्य के कर्त्तव्यों को ध्यान में रखते हुए यथार्थवादिता से राज्य के उद्देश्य पर दृष्टिपात करता है। प्रोफ़ेसर लॉस्की इसी प्रकार के विचारकों में से एक अपितु प्रमुख हैं।

इस सम्बन्ध में लॉस्की बेन्थम के विचारों से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने बेन्थम का मनुष्य की प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्त को नहीं अपनाया। उनके अनुसार मनुष्य स्वार्थी नहीं वरन् समाजप्रिय है, जिसके बिना उसका हित-साधन असम्भव है। भूख, योनि और प्रेम की भावनाएँ मुख्य हैं, और ये तीनों समाज के बिना तुष्ट नहीं हो सकतीं। परन्तु इनकी तुष्टि के लिए केवल राज्य ही नहीं, अन्य अनेक सामाजिक संस्थाओं की भी आवश्यकता है। "राज्य एक ऐसा संगठन है जो जन-समूह को सामाजिक कल्याण को विस्तृत पैमाने पर सम्भव बनाने की क्षमता देता है।" इसका कार्य सभ्य समुदाय के कार्यों का नियमन करना है। ये कर्त्तव्य, आवश्यकतानुसार घट-बढ़ सकते हैं। परन्तु उसके कर्त्तव्य इतने विस्तृत नहीं हो सकते, मनुष्य के सब कार्यों को अपने अन्दर समेट ले। राज्य के पास शक्ति है, परन्तु साथ ही कर्त्तव्य भी है। इसकी परख केवल सिद्धान्त

में नहीं, वरन् व्यवहार में होती है। मनुष्य समाज का सदस्य है, परन्तु साथ ही उसका पारखी भी है।

लॉस्की बेन्थम के पीड़ा और आनन्द सम्बन्धी गणित को न मानते हुए भी उसके मूलतत्त्व का अनुकरण करता है। सामाजिक भलाई से उसका तात्पर्य भी आनन्द प्राप्ति और पीड़ा का निवारण है। मनुष्य की निहित शक्तियों के विकास के हेतु ही राज्य का अस्तित्व है। इन शक्तियों के विकास के लिए अधिकारों की आवश्यकता है, जिनकी व्यवस्था करना राज्य का धर्म है। अधिकार काल और स्थान के अनुसार परिवर्त्तनशील है। मनुष्य के अधिकारों का विश्लेषण करते हुए वह व्यक्तित्व के विकास के लिए काम करने अथवा निर्वाह योग्य भत्ते का अधिकार, पर्याप्त वेतन, आराम, उद्योग-धन्धों के प्रबन्ध में मज़दूरों के भाग का अधिकार, राज-काज में भाग लेने के लिए मताधिकार ; अन्य राजनीतिक और नागरिक अधिकार तथा सम्पत्ति और विश्वास आदि के निजी अधिकारों की चर्चा करता है। वह स्वीकार करता है कि अधिकार सामाजिक है और अन्य व्यक्तियों के समान अधिकारों से सीमित हैं। वह यह भी स्वीकार करता है कि केवल इन अधिकारों से ही व्यक्तित्व का विकास नहीं होगा। उसके लिए व्यक्ति को अपनी योग्यता की भी आवश्यकता है। परन्तु राज्य की ओर से इन सुविधाओं की भी आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना व्यक्ति का मार्ग प्रशस्त न होगा।

लॉस्की का विचार आदर्शवादियों की भाँति दुरूह नहीं, और न लॉक तथा स्पेन्सर की भाँति संकुचित है। यह स्पष्ट और यथार्थवादी है और यह व्यक्ति को राज्य के उद्देश्य का केवल साधन मात्र नहीं, वरन् उसको स्वयं उद्देश्य समझता है।

आलोचना :—यह तो स्पष्ट है कि राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसका सम्बन्ध राजनीतिक और सभ्यता की उन्नति और देश काल की समस्याओं से है। सम्भव है कि किसी युग की यह धारणा हो कि उसका कल्याण राज्य की शक्ति को बढ़ाने से ही होगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के हितों का ध्यान छोड़ राज्य की सत्ता पर ध्यान देना होगा। यदि समाज में स्वामित्व अथवा राज्य के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए तब शासन के अधिकारियों के हितों की ओर अधिक ध्यान देना होगा। मनुष्य के समान अधिकारों का सिद्धान्त अपेक्षत: नया है। इसके प्रभाव में राज्य के उद्देश्यों में परिवर्त्तन हुआ है। जन-कल्याण के विचार का उदय हुआ है। परन्तु जन-कल्याण क्या है, इस प्रश्न पर अनेक मत हैं। व्यक्ति के हितों का अन्य के हितों से अथवा व्यक्ति और समूह के हितों

के बीच क्या सम्बन्ध हो, यह समस्या उपस्थित है। और, फिर इनका मानव समाज के हितों से क्या सम्बन्ध है? ऐसी दशा में राज्य के कार्य के सम्बन्ध में अनेक मत हैं।

(४) राज्य की आज्ञा-पालन का सिद्धान्त
(Theory of obedience to the state)

व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करे? यह प्रश्न भी राज्य के लक्ष्य से सम्बन्धित है। यदि राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त को माना जाए तब स्पष्ट है कि व्यक्ति राज्य की शक्ति के भय के कारण उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। ऐसी ही ध्वनि हॉब्स के सिद्धान्त से भी निकलती है। व्यक्ति ने आत्मरक्षा के हित अपनी सारी शक्तियों का त्याग कर एक प्रभुत्त्व की स्थापना की। इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के सम्मुख व्यक्ति नगण्य और शक्ति-हीन है और राज्य-प्रभुत्त्व शक्ति द्वारा आज्ञा-पालन करा सकता है। संविदा सिद्धान्त के प्रतिपादक संविदा की शर्तों पर ज़ोर देते और कहते थे कि जिस सीमा तक राज्य संविदा की शर्तों का पालन करता है उसी सीमा तक व्यक्ति को भी उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। इस प्रकार, लॉक के अनुसार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा राज्य का कर्त्तव्य है और उसी हद तक राज्य की आज्ञाओं का पालन करना व्यक्ति का भी अधिकार है। उपयोगिता-वादियों ने इन शर्तों को उपयोगिता के रूप में देखा। क्योंकि राज्य उपयोगी है, अतः उसकी आज्ञा का पालन किया जाता है। परन्तु क्या इस उपयोगिता का ध्यान प्रत्येक क्षण रखा जाता है? ऐसा सम्भव नहीं। मनुष्य अनुभव द्वारा सीख चुका है कि राज्य उपयोगी है। अतः उसको आज्ञा-पालन की आदत पड़ गई है। इस प्रकार बेन्थम और ऑस्टिन दोनों ही राज्य प्रभुत्त्व की परिभाषा में आदत के तत्त्व को मुख्य स्थान देते हैं। राज्य को आवश्यक दोष अथवा पिछड़े समाज का प्रतीक समझने वाले स्पेन्सर जैसे दार्शनिक राज्य कार्यों को सीमित करने के साथ ही उसकी आज्ञाओं का पालन न करने में भी कोई दोष नहीं समझते। इसके एक पग आगे, अराजकतावादी राज्य को दोषमात्र और सम्पत्तिवान् पुरुषों की एजेन्सी समझ उसका विरोध करते हैं और क्रान्ति द्वारा उसका नाश करने के लिए प्रयत्नशील हैं। मार्क्स के अनुसार राज्य शासक-वर्ग का शासन अस्त्र है। यदि शासन-सत्ता का स्वामी पूँजीपतिवर्ग है, तब मज़दूर के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ऐसे राज्य के लिए वफ़ादार हो। हाँ, मज़दूर-राज्य में परिस्थिति बदल जाती है और श्रमजीवी वर्ग को ऐसे राज्य के प्रति वफ़ादार होना चाहिए।

आदर्शवादी विचारधारा राज्य को नैतिक संस्था मानती है। राज्य तथा अन्य सामाजिक समुदायों के पीछे मनुष्य का ज्ञान, उसकी विवेकशील और नैतिक इच्छा है। राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता, उसके नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक है। अतः व्यक्ति को उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। परन्तु फिर भी कॉन्ट और ग्रीन व्यक्ति का राज्य के उद्देश्यों का साधन नहीं, उसको स्वयं उद्देश्य मानते हैं। व्यक्ति साधन नहीं हो सकता। अतः उसको राज्य कर्त्तव्यों की आलोचना का अधिकार है और यदि राज्य नैतिक पथ से भ्रष्ट हो जाता है, तब ग्रीन के अनुसार व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है। परन्तु इस सम्बन्ध में उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि वह भूल तो नहीं करता, उसके साथ बहुमत भी है अथवा नहीं, क्या वह लोकतन्त्रात्मक रीति से राज्य को ठीक नहीं कर सकता और कहीं उसके इस विरोध से लाभ के स्थान में हानि तो अधिक न होगी। रूसो और हीगेल तथा बुसांके जैसे आदर्शवादी इस तर्क को आगे बढ़ा कर कहते हैं कि जब राज्य विवेक और सदिच्छा की अभिव्यक्ति करता है, जब उसका उद्देश्य नैतिक है, तब राज्य प्रमुख है और उसकी आज्ञा-पालन करने में ही व्यक्ति का कल्याण है। वास्तव में राज्य की इच्छा ही व्यक्ति की सही इच्छा है। अतः राज्य व्यक्ति को शक्ति द्वारा आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सकता है और यह व्यक्ति की सदिच्छा के अनुकूल ही होगा।

विवेक के आधार पर कहा जा सकता है, क्योंकि राज्य से लाभ हैं, अतः उसकी आज्ञा का पालन किया जाता है। राज्य विस्तृत मात्रा में सामाजिक हित का संगठन करता है। इसके लिए उसको व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता है। व्यक्ति राज्य की आज्ञाओं का इस कारण पालन करते हैं, क्योंकि वह उनके व्यक्तित्त्व के विकास के लिए सुविधाएँ देता है। यदि व्यक्ति को यह विश्वास हो कि राज्य अपने उद्देश्य में असफल है, तब राज्य के प्रति उसकी भक्ति के बन्धन शिथिल होने लगते हैं। उस समय वह सोच सकता है कि आख़िर राज्य की आज्ञा-पालन करने से क्या लाभ ? वह स्वयं को नैतिक रूप से राज्य की आज्ञा के विरोध के लिए तैयार करता है।

अन्य अधिकारों की भाँति राज्य की आज्ञा के विरोध करने के अधिकार की भी सीमाएँ हैं। यदि इसका निश्चय हो कि राज्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील है, तब प्रगति की गति धीमी होने पर भी राज्य का विरोध नहीं करना चाहिए। विरोध करने के पूर्व उसको विश्वास होना चाहिए कि इस प्रकार उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी। विरोध करने के पूर्व उसको संवैधानिक उपायों का सहारा लेना चाहिए। सम्भव है, इस प्रकार उसके उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। विरोध का कारण महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। यों हीं छोटी-मोटी बात के लिए

विरोध करना उचित नहीं। विरोध को राज्य-रोग के उपचारमात्र के लिए प्रयोग करना चाहिए। उसकी आदत नहीं होनी चाहिए।

परन्तु आधुनिक लेखकों का विचार है कि मनुष्य आचार-विचार और विवेक से निर्धारित नहीं होता। ग्राहम वालस का कहना है कि मानसिक जीवन में अन्त:प्रेरणा और भावनाओं का भी स्थान है। लॉस्की के अनुसार भी मनुष्य स्वभाव, प्रवृत्ति और विवेक का मिश्रण है। भूख, प्यास, योनि, वस्त्र और निवास स्थान के लिए व्यक्ति को सामुदायिक जीवन की आवश्यकता होती है और सामुदायिक जीवन के लिए शासन और राज्य की आवश्यकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को विवेकशील और बुद्धिमान भी मान लिया जाए तथापि सभ्य समाज के विभिन्न और दुरूह कार्यों को स्वयं नियमन के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। उसको नियमन की आवश्यकता है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य को शक्ति की आवश्यकता है। परन्तु वह राज्य का सार नहीं। विधि-पालन, शान्ति स्थापन और समाज-हित-साधन के लिए सरकार शक्ति का प्रयोग करती है। अधिकांश मनुष्य वैसे भी स्वभावतः राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। सरकार शेष को भी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करती है। परन्तु शक्ति राज्य का आधार नहीं। ऐसी अनेक दार्शनिकों की धारणा है। उनका कहना है कि राज्य क़ानून के समर्थन में शक्ति का प्रयोग करता है और इस क़ानून का आधार जनता का समर्थन, उसकी इच्छा है। अत: राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।[1]

---

[1] Will, not force is the basis of the state.

अध्याय २३

राज्य का कार्य-क्षेत्र

(Sphere of State Activity)

प्रस्तावना : ऐतिहासिक पार्श्व भूमि

राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या हो? इसकी क्या सीमाएँ हों? राजनीति-शास्त्र ये प्रश्न उठाता है। इन प्रश्नों से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य के कार्यों की सीमाएँ हैं। सीमाओं का प्रश्न इसलिए उठता है कि कहीं व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं का अपहरण न हो जाए। राज्य और समाज को पृथक् करके देखा जाता है।

प्राचीन काल में, विशेषतया यूनान में, स्थिति भिन्न थी। वहाँ नगर राज्य थे और शासक तथा शासित का बहुत निकट सम्बन्ध था। नागरिक आपस में एक दूसरे को जानते-पहिचानते थे और वे शासक से परिचित थे। अतः ऐसी स्थिति में समाज और राज्य की सीमाएँ अदृश्य जैसी थीं। वे दोनों एक ही वास्तविकता समझी जाती थीं। साथ ही, वे राज्य को दैवी शक्ति से सम्पन्न और सर्वशक्तिमान् समझते थे। उनके लिए राज्य ही सब कुछ था। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई विशेष अस्तित्त्व न था। प्राचीन यूनान में राज्य सारे जीवन पर हावी था। राज्य का उद्देश्य बड़ा ही विस्तृत था। अतः राज्य अनेक प्रकार के नियन्त्रण लाद सकता था। उसको धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। सिज़विक (Sidgwick) इस मत का विरोध करते हुए सिद्ध करता है कि प्राचीन यूनान के नगर-राज्य का कार्य-क्षेत्र आधुनिक राज्य से अधिक विस्तृत न था। परन्तु जैसा कि बार्कर (Barker) कहता है, उस समय व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का प्रश्न न था, क्योंकि उनका अस्तित्त्व ही न था।

प्राचीन रोम ने भी एक हद तक यूनानी धारणाओं को अपनाया था। वहाँ कुटुम्ब को अपेक्षतः अधिक स्वतन्त्रता थी और सामाजिक रिवाज़ और धार्मिक प्रकृति द्वारा भी राज्य शक्ति का नियमन होता था। परन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि रोम-राज्य कम शक्तिशाली था। उसने स्वयं अपने को सीमित किया था।

मध्य युग की पार्श्व भूमि भिन्न थी। ईसाई धर्म और जर्मन कबीलों ने रोमराज्य से संघर्ष किया था। इसके अतिरिक्त इस युग में राज्य बड़ा कमज़ोर और धर्म आदि अन्य संस्थाएँ शक्तिशाली थीं। ऐसी दशा में राज्य का वह स्थान जो उसको प्राचीन काल में प्राप्त था, असम्भव था। धर्म और राज्य के बीच संघर्ष का विषय ही यह था कि राज्य की शक्ति श्रेष्ठ है अथवा धर्म की। धर्म ने अपने को राज्य के कार्य और अधिकार क्षेत्र से अलग रखने का सफल प्रयत्न किया। इसी प्रकार मध्यकालीन सामन्तवाद भी राज्य की परिधि से प्रायः स्वतन्त्र रहा। इस प्रकार मध्यकाल में राज्य का कार्यक्षेत्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकार तथा धार्मिक अधिकारों से सीमित था।

मध्ययुग के अन्त में राष्ट्रीयता का उदय हुआ और उसके साथ ही राष्ट्र-राज्य स्थापित हुए। योरोप के अनेक देशों में निरंकुश शासकों ने सामन्तवादी अराजकता का अन्त किया और धर्म की स्वतन्त्र शक्ति पर भी विजय प्राप्त की। राजाओं की निरंकुश शक्ति को राजा के अधिकारों के दैवी सिद्धान्त (Divine Right of kings) से बल मिला। इस समय से ही राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकार अथवा धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इस प्रकार आधुनिक काल में राज्य के कार्यों की सीमा का प्रश्न उठा।

राज्य के कार्य-क्षेत्र की समस्या :—राजनीतिक सत्ता के स्वरूप का निश्चय, उसका व्यक्ति तथा अन्य राज्यों से सम्बन्ध, ये राजनीति दर्शन की मुख्य समस्या है। व्यक्ति अथवा अन्य राज्यों से राज्य का सम्बन्ध, उसके कर्त्तव्यों की सीमा निर्धारित करते हैं। राज्य के कर्त्तव्य क्या हों, इसका सम्बन्ध राज्य की शक्ति संगठन, उसके संविधान से भी है। राज्य की शक्ति का मालिक कौन है, राज्य के क्या उद्देश्य हैं, वह क्या हासिल करना चाहता है, उसकी बाह्य और आन्तरिक परिस्थिति कैसी है—आदि तथ्यों का भी राज्य के कर्त्तव्यों पर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों के कारण राज्य के विभिन्न स्वरूप होते हैं उसी प्रकार उसके कर्त्तव्य भी स्थान, काल आदि अन्य परिस्थितियों के अनुसार भिन्न होते हैं।

कार्यक्षेत्र की समस्या के सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न है राज्य का व्यक्ति से सम्बन्ध। राज्य किस सीमा तक व्यक्ति को कार्य-स्वतन्त्रता (Freedom of action) दे, वह जन-कल्याण के हित किस हद तक अपने कार्यों को सीमित करे? इस सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ ऐसे हैं जो राज्य को अनावश्यक समझते हैं, दूसरे इसको मजबूरी समझते हैं, कुछ इसको नैतिक आवश्यकता मानते हैं और अन्य इसके कार्यक्षेत्र को अधिक-से-अधिक विस्तृत बनाना चाहते हैं। इस प्रकार मोटेतौर से इन विचारधाराओं को

चार भागों में बाँटा जा सकता है। (१) अराजकतावादी, (Anarchist), (२) व्यक्तिवादी (Individualist), (३) आदर्शवादी (Idealist), और (४) समाजवादी (Socialist)।

अराजकतावादी दृष्टिकोण (Anarchist View):—यह सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व के ही विरुद्ध है। वह राज्य को अनावश्यक ही नहीं, वरन् घातक समझता है। इसके प्रतिपादकों में ब्रिटिश दार्शनिक गाडविन (Godwin), फ्रांसीसी दार्शनिक प्रूधों (Proudhon), रूसी क्रान्तिकारी बाकूनिन (Bakunin), क्रोपोटकिन (Kropotkin) और टॉल्सटॉय (Tolstoy) आदि मुख्य हैं। इनका दर्शन उन्नीसवीं सदी के राज्य विरोधी व्यक्तिवाद और सम्पत्ति विरोधी साम्यवाद का सामंजस्य स्थापित करता है। परन्तु ये व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य को मजबूरी नहीं समझते, उसको व्यक्ति के विकास के लिए घातक समझते हैं। इसी प्रकार समाजवादियों की भाँति वे व्यक्तिगत पूँजी के अधिकार के विरोधी हैं। परन्तु उनकी तरह राज्य को स्वीकार नहीं करते।

इनका विचार है कि मनुष्य स्वभावतः सहयोगप्रिय प्राणी है। यदि उसको राज्य की शक्ति और ग़रीबी तथा धर्म से छुटकारा मिल जाए, तब वह सुखी और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकता है। बाकूनिन के अनुसार राज्य मनुष्य की अविकसित और पिछड़ी अवस्था का द्योतक है। वह सम्पत्तिवान् का सहायक और एजेण्ट है। धर्म भी ऐसी राज्य-शक्ति की सहायता करता है। स्वतन्त्र और विवेक पूर्ण आचरण ही सद् और नैतिक आचरण है। राज्य अपने क़ानून और शक्ति का प्रयोग कर मनुष्य की बुद्धि को मन्द बनाता और उसकी नैतिकता का नाश करता है। वह उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर उसको अनैतिक बनाता है। क्रोपोटकिन के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक लोक-तन्त्र (Representative Democracy) भी धनीवर्ग का ही राज्य है। ग़रीब को केवल मत-दान का अधिकार है। यह प्रतिनिधि किसी पेशे का न होने के कारण समाज के किसी भी वर्ग अथवा पेशे का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। कहा जाता है कि राज्य देश में शान्ति रखने और विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए है। परन्तु पुलिस से अपराध कम नहीं होते और सेनाओं के रहते हुए भी स्वतन्त्रताओं का अपहरण हो जाता है। स्वतन्त्र संगठनों द्वारा ही नैतिक सुधार और स्वतन्त्रता सम्भव है। वैयक्तिक पूँजीवादी सम्पत्ति के कारण देश वर्गों में विभाजित हो जाता है और गृहयुद्ध की स्थिति उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार राज्य के कारण संसार राष्ट्रों में बँट जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिड़ जाते हैं। अतः अराजकतावादी दृष्टिकोण

राज्य और उसके प्रतीक जैसे पुलिस, फ़ौज, नौकरशाही, जेल, न्यायालय आदि का घोर विरोधी है। इन दार्शनिकों का मत है कि ऐसे राज्य का नाश होना चाहिए। परन्तु दार्शनिक अराजकतावादी (Philosophical Anarchist) केवल अलोकतन्त्रात्मक (Undemocratic) तथा अत्याचारी राज्य का ही विरोध करते हैं। इनमें और क्रान्तिकारी अराजकतावादियों (Revolutionary Anarchists) के बीच उपायों (method) का भी भेद है। क्रान्तिकारी अराजकतावादी क्रान्तिकारी तरीक़ों से राज्य का नाश करना चाहते हैं, सरकार की शक्ति को मिटाना चाहते हैं जब कि दार्शनिक अराजकतावादी शिक्षा और प्रचार में विश्वास करते हैं।

भावी अराजकतावादी समाज का क्या रूप हो, इस सम्बन्ध में भी मत-भेद है। व्यक्तिवादी अराजकतावादी (Individualistic Anarchists) चाहते हैं कि व्यक्ति को अपनी निजी व्यक्तिगत सम्पत्ति (पूँजीवादी सम्पत्ति नहीं) स्वयं रखने का अधिकार हो। कदाचित् वे बड़े पैमाने की पैदावार के विरोधी और घरेलू तथा ग्राम-उद्योग के विचार के पोषक हैं। इसके विपरीत साम्यवादी अराजकतावादी (Communistic Anarchists) सम्पत्ति के उसके उत्पादन के साधन, उत्पादन और वितरण की समाजीकरण में विश्वास करते हैं। उनका ऐसा मत प्रतीत होता है कि राज्य के बिना भी स्वतन्त्र संस्थाएँ और समाज सहयोग सम्भव हैं। जनमत राज्य-शक्ति का स्थान ले सकता है। वैसे तो राज्य की अनुपस्थिति में मनुष्य स्वभावतः ही नैतिक होंगे। यदि कहीं किसी की कदाचारी प्रवृत्ति हुई भी तब जनमत के असर से वह रुक जायगा। उनमें से कुछ कारखानों के लिये रक्षा-सेना की भी बात करते हैं।

सारांश यह कि अराजकतावादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, अधिकार, व्यक्ति की मौलिकता तथा नैतिकता, उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के पक्षपाती हैं। उनका मत है कि राज्य उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक है। अतः वे इसका विरोध करते हैं।

आलोचना :—इसमें सन्देह नहीं कि अराजकतावाद आधुनिक राज्यों की अपूर्णताओं की ओर संकेत करता है ; उनके दोषों, नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक पतन की ओर दृष्टि आकर्षित करता है। परन्तु उसका कहना है कि राज्य और सरकार केवल दमन और अत्याचार के अस्त्र हैं, सर्वथा सत्य नहीं। सरकार का कार्य केवल शक्ति प्रयोग ही नहीं, जनता का हित-साधन, उसकी सहायता करना, शिक्षा आदि देना भी है। सरकार और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी समझना भूल है। स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारिता नहीं समझना चाहिए। सच्ची स्वतन्त्रता की सीमाएँ हैं। सरकारविहीन अराजकतावादी

समाज में स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। वहाँ तो बली का दुर्बल पर राज्य होगा और फिर इस समाज में भी एक-न-एक सरकार उत्पन्न होगी और राज्य का रूप धारण करेगी। चाहे राज्य में कितनी ही बुराइयाँ क्यों न हों, सभ्य समाज के लिए उसकी आवश्यकता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य स्वभावतः सद्प्राणी है और वह स्वयं सहयोगी जीवन व्यतीत कर सकता है, फिर भी कुछ बुरे मनुष्य उसको भ्रष्ट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य से देवत्व की आशा करना दुराशामात्र है। इस समाज की समस्याएँ इतनी जटिल हैं कि बिना सरकारी नियमन के उनका सुलझाना प्रायः असम्भव है।

व्यक्तिवादी (Individualistic) दृष्टिकोण :—अराजकतावाद राज्य को बुरा और अनावश्यक समझता है, वह राज्य-विहीन समाज की कल्पना करता है। परन्तु व्यक्तिवाद राज्य को बुरा समझते हुए भी आवश्यक मानता है। राज्य आवश्यक अभिशाप है। मनुष्य के अन्दर अहम् है, अतः आपसी संघर्षों का भय है। इस कारण मनुष्य को सम्बन्धों का नियमन करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपना हित स्वयं जानता है, और स्वयं ही उसका साधन कर सकता है। उसके व्यक्तित्व का विकास उसके निजी प्रयत्न द्वारा ही हो सकता है, अतः राज्य को अपने हस्तक्षेप को सीमित करना चाहिए, उसके कर्त्तव्य कम-से-कम होने चाहिए। "सरकार व्यक्ति की अपूर्णता का चिह्न है" (फ्रीमैन)। फ्रांसीसी लेखक सीमों (Simon) ने कहा था कि राज्य को चाहिए कि वह स्वयं को व्यर्थ बना दे और अपनी मृत्यु की तैयारी करे। राज्य को व्यक्ति के निजी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि भी निजी विषय हैं और राज्य को इनसे अलग रहना चाहिए।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्तिवादियों के बीच स्वयं मतभेद है। स्पेन्सर जैसे व्यक्तिवादी अराजकता के निकट पहुँच जाते हैं और उस समाज को आदर्श मानते हैं, दूसरी ओर अन्य व्यक्तिवादियों का मत है कि जीवन-धन और स्वतन्त्रता जैसे अधिकारों की रक्षा भर के लिए राज्य की आवश्यकता है। परन्तु ऐसे भी व्यक्तिवादी हैं, जो राज्य से जन-कल्याण की आशा रखते हैं और ऐसे अवसरवादी कारणों से राज्य के कर्त्तव्यों की वृद्धि के लिए तैयार हैं।

ऐतिहासिक रूप से व्यक्तिवादी विचारधारा का आरम्भ योरोप में सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में हुआ। इस समय राजसत्तावादी राजा के दैवी अधिकारों के तर्क के आधार पर उनका निरंकुश शासन क़ायम रखना चाहते थे। इसके विरुद्ध, लोकतन्त्रवाद के समर्थकों ने सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लॉक का कहना था कि

मनुष्य स्वभावत: विवेकशील है, वह सहयोगप्रिय प्राणी है। उसको जन्म से ही प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में समाज और राज्य नहीं, अत: उसके प्राकृतिक अधिकार पूर्ण रूपेण सुरक्षित नहीं। इस कारण, मनुष्य समझौते द्वारा, इन अधिकारों की रक्षा के हित राज्य का निर्माण करता है। अत: इस प्रकार ऐसे व्यक्तिवादी लेखक, राजा का बुरा समझने के स्थान पर राज्य को बुरा समझने लगे और राज्य की शक्तियों को महत्त्व न देकर उन्होंने व्यक्ति के अधिकारों पर ज़ोर दिया। इनके अनुसार राज्य समझौते से और प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के हेतु स्थापित हुआ है। अत: राज्य का उद्देश्य केवल नकारात्मक है और इसके अतिरिक्त कुछ भी और करना, अथवा प्राकृतिक अधिकारों में हस्तक्षेप करना समझौते की शर्तों के बाहर है। यदि राज्य व्यक्ति के अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा तो व्यक्ति को आज्ञा-भंग करने का अधिकार है।

परन्तु लोकतन्त्र के विकास के साथ यह विचार बदलता गया। राज्य की शक्ति और उसके कार्य बढ़ते गये। रूसो (Roussean) के लोकतन्त्र-वादी और जन-सत्ता (Popular Sovereignty) सम्बन्धी विचारों से राज्य को बल मिला। जो राजनीतिक दल एक समय राज्य के कर्त्तव्यों को सीमित करना चाहते थे वे ही सत्तारूढ़ होने के बाद वैधानिक नियमन (Legislative Regulation) और राजकीय शक्ति के प्रयोग के समर्थक बन गये।

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में व्यक्तिवाद के सिद्धान्त, एक बार फिर प्रसिद्ध और जनप्रिय हो गए। इसके कई कारण थे। इनमें प्रमुख कारण था व्यापारवाद (Mercantilism) के समय के सरकारी क़ानून जिनके द्वारा जीवन के प्रत्येक पहलू को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया जाता था। न केवल मज़दूर आदि सम्बन्धी नियम थे, वरन् कुछ उद्योगों को सहायता दी जाती थी और अन्य पर टैक्स लगाए जाते थे और यहाँ तक कि खान-पान, वेष-भूषा आदि सम्बन्धी क़ानून भी सरकार द्वारा बनाए जाते थे। अत: इस प्रकार के सरकारी नियमों के विरुद्ध फ्रांस में फ़िज़ियोक्रेट (Physiocrat) थे, जो कृषि कर्म की स्वतन्त्रता चाहते थे और ब्रिटेन में स्वतन्त्र व्यापार (Laisser faire) के पक्षपाती थे। आर्थिक के अतिरिक्त इस समय के व्यक्ति-वाद के अन्य पहलू भी थे, जैसे वैज्ञानिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि।

जर्मन लेखक हम्बोल्ट (Humboldt १७९१) ने कहा था कि राज्य को अपनी रक्षा और अपने नागरिकों की शान्ति और सुरक्षा के कार्य से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। उपर्युक्त दो कारणों के लिए ही राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं को सीमित कर सकता है। राज्य के लिए मुख्य बात ध्यान देने योग्य यह है कि

उसका प्रत्येक व्यक्ति स्वयं व्यक्तिगत रूप से अपनी शक्तियों का विकास कर सके और राज्य केवल वही काम हाथ में ले जो व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता, जैसे—सुरक्षा।

इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के दो प्रमुख व्यक्तिवादियों, जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) और हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) के विचार जानने योग्य हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) उपयोगितावादी विचार-धारा का अनुसरण करता था। परन्तु वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक जोर देता था। उसका कहना था कि स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। अतः एक व्यक्ति अथवा समुदाय किसी दूसरे की स्वतन्त्रता को केवल अपनी अथवा अन्य किसी की रक्षा के लिए ही सीमित कर सकता है। केवल शारीरिक अथवा नैतिक भलाई के नाम पर उसके ऊपर प्रतिबन्ध नहीं लगाए जा सकते। मनुष्य के दो प्रकार के कार्य हैं, एक वे हैं जिनका असर केवल उसके ऊपर पड़ता है और दूसरे वे जिनका असर समाज पर भी पड़ता है। पहले प्रकार के कार्यों में वह समाज के प्रति उत्तरदायी नहीं। वे उसके स्वयं सम्बन्धी (Self regarding) कार्य हैं। अधिक से अधिक समाज उनके प्रति अपनी अस्वीकृति प्रकट कर सकता है। मिल के विचारों के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के स्वयं सम्बन्धी अधिकारों को सुरक्षित करे (स्वास्थ्य, सम्मान, सम्पत्ति आदि) और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करे। वह राज्य के समाज सेवा कार्य के विरुद्ध था।

दूसरा प्रमुख व्यक्तिवादी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर था। उसका विचार था कि राज्य मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति, उसके पापों का परिणाम है। समाज में हिंसा और पाप हैं। उनके दमन के लिए राज्य की आवश्यकता है। ऐतिहासिक रूप से भी राज्य एक पिछड़े समाज, सैन्य समाज (Militant Society or Krieg Staat) का परिचायक है। ऐसे समाज में व्यक्ति को बहुत कम स्वतन्त्रता थी। इस समय उसका सामाजिक स्थान (Status) निश्चित था। समाज के विकास के साथ उसका रूप बदला है। इस समय उद्योग प्रधान (Industrial or Handel) समाज है। उसमें व्यक्तित्व को मान्यता दी गई है। वह अपने सामाजिक स्थान से बँधा हुआ नहीं। उसको संविदा (Contract) करने की स्वतन्त्रता है। स्पेन्सर एक ऐसे समाज की कल्पना करता था जिसमें राज्य का अन्त हो जायगा, जब समाज बिना पुलिस, फ़ौज और सरकार के भी, केवल अपनी गति से चल सकेगा। यह अराजकता-वादी समाज आदर्श समाज होगा। मनुष्य को स्वतन्त्रता में ही आनन्द मिलता

है। आनन्द अथवा समाज सेवा के नाम पर राज्य को अपने अधिकार नहीं बढ़ाने चाहिए।

आज की अवस्था में राज्य एक मजबूरी (Necessary evil) है। विदेशी आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक उपद्रवों को शान्त करने और आपसी समझौते और अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता है। परन्तु राज्य का हस्तक्षेप मजबूरी है, अतः उसको अपने कर्त्तव्यों को सीमित करना चाहिए। उसका कार्यक्षेत्र केवल उपर्युक्त तीन तक ही सीमित रहना चाहिए। वह नहीं चाहता था कि राज्य स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, डाक और सिक्के आदि का प्रबन्ध करे। उसका कहना था कि बीमार का अधिकार है कि वह खुले बाजार में डाक्टरी सलाह और दवाई मोल ले। राज्य को उसके ऊपर दवाई और डाक्टर नहीं लादना चाहिए। व्यक्ति स्वयं ही सफाई का भी प्रबन्ध कर सकता है। बच्चा राज्य से शिक्षा की माँग नहीं कर सकता, उसके पिता स्वयं शिक्षा का प्रबन्ध कर सकते हैं। राजकीय शिक्षा लादना व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करना होगा। डाक का राजकीय प्रबन्ध स्वतन्त्र-व्यापार के अधिकार को सीमित करता है। इसी प्रकार राज्य का सिक्के का अधिकार स्वतन्त्र विनिमय के प्राकृतिक सिद्धान्त का विरोधी है। गरीबों के लिए प्रबन्ध करना भी कमजोरों की रक्षा करता है और यह विकास सिद्धान्त के विरुद्ध है। संसार के जीवन संघर्ष में केवल शक्तिशाली को ही जीवित रहने का अधिकार है।

सच यह है कि स्पेन्सर विधान-सभाओं की विधान-निर्माण की प्रवृत्ति और सरकारों की नौकरशाही का विरोधी था। उसका विचार था कि विधान-सभाएँ अनेकों गलत क़ानून बनाती हैं जिनको आगे चल कर बदलना पड़ता है। यदि सरकारें अपने कर्त्तव्यों को सीमित करेंगी तो व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार, उसकी स्वतन्त्रताएँ सुरक्षित रह सकेंगी, अन्यथा नहीं।

व्यक्तिवादी विचारक अपने मत के समर्थन में कई प्रकार की दलीलें देते हैं। ये मुख्यतया वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक हैं।

जहाँ तक **मनोवैज्ञानिक** तर्कों का सम्बन्ध है, व्यक्तिवादियों का कहना है कि मनुष्य अपना स्वार्थ स्वयं समझता है। उसको राज्य की सहायता की आवश्यकता नहीं। प्रकृति ने स्वयं उसको अपना हित समझने की क्षमता दी है।

वैज्ञानिक तर्क :—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही विकासवाद के सिद्धान्तों का जन्म हुआ था। डारविन से भी पहले ये विचार प्रचलित हो चले थे। स्पेन्सर ने ब्रिटेन में इनका प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार प्रकृति में उसी प्रकार समाज में भी "अस्तित्व के लिए संघर्ष" (Struggle for existence) का सिद्धान्त लागू होता है। जो जीव

सर्वशक्तिशाली (fittest) होता है, वह जीवित रहता है, अन्य का जीवन संघर्ष में नाश हो जाता है। सरकार अथवा राज्य को इस प्राकृतिक नियम का विरोध नहीं करना चाहिए ; उसको ग़रीब और कमज़ोर को बचाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से प्राकृतिक विकास में बाधा पड़ेगी और अहित होगा। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि मानव और अन्य प्रकार के जीवन में भेद है। मनुष्य परिस्थितियों का दास मात्र नहीं। वह प्रकृति के नियमों का पता लगा कर उनके ऊपर विजय प्राप्ति का भी प्रयत्न करता है। शक्तिशाली की विजय के अर्थ समाज के लिए अहितकर भी हो सकते हैं। राज्य की सहायता से योग्य को जीवित रहने में सहायता मिलनी चाहिए।

नैतिकता का प्रश्न मनुष्य की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध मनुष्य जीवन के लक्ष्य से भी है। कॉन्ट आदि दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति स्वतः अपना उद्देश्य है। उसके व्यक्तित्व का विकास उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। यह स्वतन्त्र आचरण द्वारा ही सम्भव है। स्वतन्त्र आचरण ही नैतिक आचरण है। क़ानून और राज्य-शक्ति से प्रभावित आचरण पशुतुल्य और अनैतिक है। व्यक्ति की शक्तियों के उदय, उसकी मौलिकता के विकास के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। प्रकृति के नियम और न्याय का भी यही तक़ाजा है कि राज्य व्यक्तिगत आचरण में कम-से-कम हस्तक्षेप करे, अन्यथा स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व का तो हनन हो जायगा और नीरस एकरूपता तथा बुद्धिहीनता का जन्म होगा। ये लेखक स्वतन्त्र व्यापार द्वारा की हुई उन्नति की ओर संकेत करते थे जहाँ आपसी संघर्ष और प्रतियोगिता द्वारा देश धनी हुए और शिक्षा आदि की उन्नति हुई।

हम ऊपर कह चुके हैं कि व्यक्तिवाद का जन्म राजा के दैवी अधिकारों के विरुद्ध सतरहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। इस समय व्यक्तिवाद और लोकतन्त्रवाद दोनों साथी थे। जो शक्तियाँ टैक्स देने के लिए प्रतिनिधित्व (अर्थात् लोकतन्त्र) चाहती थीं, वे ही मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों द्वारा भी राजा के अधिकारों को सीमित करना चाहती थीं। जॉन लॉक (John Locke) इसी प्रकार के दार्शनिकों में से एक था। जब ह्विग (Whig) दल सत्ता प्राप्त कर चुका तब स्वयं उसने राज्य के अधिकारों की परिधि को विस्तृत किया और जीवन के अनेक अंगों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के क़ानून लाद दिये। अतः स्वतन्त्र व्यापारिक सुविधाओं और क़ानूनी आदि सुधारों की माँग की गई। अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एक बार फिर व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। परन्तु अबकी बार प्राकृतिक न्याय और प्राकृतिक अधिकारों पर इतना ज़ोर न था

(यद्यपि स्पेन्सर जैसे लेखकों ने ये प्रश्न भी उठाये) परन्तु इस समय व्यावहारिक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। जैसे अफ़सरशाही अथवा सरकारी शक्ति के दुर्गुणों की ओर संकेत किया गया। मिल जैसे लेखकों को लोकतन्त्रवाद की प्रगति से भी कुछ भय था। अनभिज्ञ जनता की शक्ति से डरते थे, अतः सामूहिक शक्ति से व्यक्ति और बहुमत से अल्पमत की रक्षा करना चाहते थे। अतः उन्होंने अपने व्यक्तिवादी सिद्धान्तों, विशेषतः स्वतन्त्रता की धारणा का प्रतिपादन किया। इसके बाद तो व्यक्तिवाद अनुदार और सम्पत्तिवानों का सिद्धान्त बन गया। स्पेन्सर के विचारों से ऐसे ही दलों ने लाभ उठाया। इन सिद्धान्तों द्वारा प्रत्येक प्रगतिशील और जन-हितकारी क़ानून का, प्रत्येक समाजवादी सुधार का विरोध किया गया। यह व्यक्तिवाद का **राजनीतिक** पहलू है।

इसके अतिरिक्त इसका **आर्थिक** पहलू है जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। ऊपर कहा जा चुका है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, व्यापारवादी (Mercantilism) काल में राज्य ने न केवल आर्थिक, वरन् अन्य प्रकार के जीवन पर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये थे। उस समय न केवल आयात-निर्यात, व्यापार, मजदूरी, काम के घण्टे आदि पर पाबन्दियाँ थीं, वरन् जूतों और बटन आदि की शक्लों आदि तक के सम्बन्ध में नियम बने हुए थे। ऐसे आर्थिक नियन्त्रण के विरुद्ध फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही देशों में आन्दोलन हुए। फ्रांस में भूमि की स्वतन्त्रता पर ज़ोर था और ब्रिटेन में व्यापारिक स्वतन्त्रता पर। आडम स्मिथ (Adam Smith) जैसे लेखकों का कहना था कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता द्वारा देश की सम्पत्ति बढ़ सकती है। क़ीमत, मज़दूरी, आयात-निर्यात आदि को अनियन्त्रित और स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। आपसी प्रतियोगिता के कारण अच्छे से अच्छा और सस्ते से सस्ता सामान बाजार में आयगा। प्रत्येक व्यापारी और पूँजीपति अपनी पूरी योग्यता से काम करेगा। इस प्रकार देशों की सम्पत्ति बढ़ेगी और आनन्द में वृद्धि होगी। जैसा कि हम देखेंगे यह अवस्था भी बहुत दिन न रह सकी। जिस समय ब्रिटेन उद्योग-धन्धों में अन्य देशों से आगे था उस समय वह स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त को मानता था। इसके बाद नई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और सब देशों को इस दिशा में नीति बदलती पड़ी।

अनुभव और इतिहास का तर्क भी दिया जाता था। कहा जाता था कि जिस समय व्यापार-काल में राज्य ने व्यक्ति और व्यापार की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए थे उस समय देश की उन्नति रुक गई थी। परन्तु उसके बाद जब ये रुकावटें दूर हो गईं, तब देशों ने उन्नति की। इसी प्रकार, राज्य

सम्बन्धी अनुभव की ओर संकेत किया जाता था। यह कहा जाता था कि यद्यपि राज्य को सबसे ज़्यादा सुविधाएँ प्राप्त हैं, और उसके पास अनेक भेद रहते हैं जो व्यक्ति को प्राप्त नहीं होते, और वह अपने कर्मचारियों को अधिक वेतन दे सकता है, तथापि राज्य में व्यक्ति की जैसी योग्यता और सफ़ाई नहीं। सरकारी काम में लाल फ़ीता, ढिलाई, बेईमानी, नौकरशाही—ये आए दिन के अनुभव हैं।

आलोचना :—(१) व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वार्थ जानता है और वह स्वार्थ की भावना से प्रेरित होता है। यदि उसको स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो किसी स्वार्थ संघर्ष की सम्भावना नहीं। आलोचकों का कहना है कि सभी व्यक्ति अपना स्वार्थ नहीं जानते। स्वास्थ्य, सफ़ाई आदि के सम्बन्ध में तो अवश्य ही समाज अधिक जानता है। यह आवश्यक नहीं कि जो मनुष्य अपना वर्त्तमान हित जानता है वह भावी-हित भी जानता हो। मनुष्य स्वार्थ ही नहीं परमार्थ की भावना से भी प्रेरित होते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि मनुष्य के स्वार्थों का संघर्ष न हो। इस संघर्ष को रोकने और स्वार्थों का नियमन करने के लिए राज्य की आवश्यकता है।

(२) कहा जाता है कि यदि प्रतिबन्ध न होंगे तब मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होगा। परन्तु स्वतन्त्र प्रतियोगिता उसी दशा में सम्भव है जब सब मनुष्यों को समान सुविधाएँ हों। अनुबन्ध का अधिकार उसी दशा में ठीक हो सकता है जब दोनों पक्ष बराबर हों। उन परिस्थितियों के बिना पूँजी और मजदूर के बीच का समझौता शेर और बकरी का जैसा साथ होगा। राज्य इस प्रकार की समान सुविधाएँ प्रदान कर सकता है।

(३) राज्य को बुरा ही समझना उचित न होगा। राज्य केवल शक्ति के प्रयोग अथवा आज्ञा देने मात्र के लिए ही नहीं है। वह समाज सेवा-कार्य भी करता है। वह उत्साहवर्द्धन और रक्षा करता है। विशेषतया परिस्थितियों के बदलने पर मजदूर सम्बन्धी नियम आवश्यक हो गए हैं। इसी प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम भी ज़रूरी हैं। राज्य की बुराइयों को अधिक करके आँका गया है। यदि इसी प्रकार निजी उद्योगों की बुराई की भी छान-बीन की जाए तब कम बुराइयाँ न निकलेंगी। भेद केवल यह है कि राज्य की बुराइयाँ सर्वविदित हो जाती हैं और निजी उद्योगों के दोष जनता से छिपे रहते हैं। अतः ये दोष राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की दलील नहीं हो सकते।

(४) व्यक्तिवादियों की ऐसी धारणा है कि राजकीय शक्ति से स्वतन्त्रता का हनन होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे सरकार और स्वतन्त्रता में

अन्तर्विरोध है। रिची (Ritchie) कहता है कि इन दोनों को बहीखाते के दो पहलू, जमा और व्यय समझा जाता है। एक के अधिक होने पर दूसरा कम होता है। वास्तविकता ऐसी नहीं। स्वतन्त्रता की समस्या सीमाओं को निर्धारित करने की समस्या है। सरकार अपने कार्यों द्वारा स्वतन्त्रताओं के लिए सुविधाएँ प्रदान कर सकती है, वह मनुष्य के अधिकारों के रास्ते के रोड़े हटा सकती है। ग़रीबी अथवा मज़दूर सम्बन्धी क़ानूनों से स्वतन्त्रता कम नहीं होती वरन् समान अवसर द्वारा उनको स्वतन्त्रता देने का प्रयत्न किया जाता है। बुरे डाक्टर, खराब मकान अथवा गन्दगी से बचाने के कारण स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती।

(५) मौलिकता और सनकीपन (Eccentricity) में भेद करने की आवश्यकता है। प्रत्येक स्वतन्त्र आचरण निश्चय रूप से मौलिकता की वृद्धि नहीं करता। व्यक्तित्व का सच्चा विकास समाज अथवा राज्य के बाहर नहीं हो सकता। समाज के बिना व्यक्ति एक जंगली जानवर बन सकता है। वह सभ्य मनुष्य नहीं बन सकता। मिल की धारणा कि मनुष्य को स्वयं सम्बन्धी विषयों में स्वतन्त्र होना चाहिए, भ्रमात्मक है। स्वयं सम्बन्धी विषय की कल्पना करना कठिन है। विचारों पर भी परिस्थितियों और समाज का प्रभाव पड़ता है।

(६) लॉस्की का कहना है कि यह सिद्धान्त नैतिक रूप से अपर्याप्त है। इसका अर्थ यह है कि कमज़ोरी, निरक्षरता, ग़रीबी आदि ज्यों की त्यों रहें और बहुमत इनकी ओर ध्यान न दे। दूसरों की कमज़ोरी का फ़ायदा उठाया जाए।

(७) बदली हुई परिस्थितियों में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यह स्वतन्त्र प्रतियोगिता का युग नहीं वरन् एकाधिकार का युग है। अब माँग-देन का सिद्धान्त (Demand & Supply) सही नहीं। प्रथम तो यह भी संदिग्ध है कि यह कोई सिद्धान्त है अथवा सिद्धान्तहीनता है। यदि यह सिद्धान्त है भी तो आज की परिस्थितियों में ठीक नहीं बैठता। नियमन की पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। राज्य धन की आवश्यकता, व्यापार की उन्नति आदि के लिए भाँति-भाँति के आयात-निर्यात आदि सम्बन्धी तटकर और कर तथा अनेक प्रकार के बन्धन लगाता है।

(८) ऐसी परिस्थिति में और इसके अतिरिक्त भी व्यक्तिवादी सिद्धान्त राज्य-कार्य का एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त उपस्थित नहीं करता। राज्य का कार्य-क्षेत्र क्यों हो ? क्यों और किस हद तक सीमित हो ? इस विषय में व्यक्तिवाद एक स्पष्ट उत्तर नहीं देता। इतिहास बताता है कि सभ्य समाज का विकास

राज्य के विकास के साथ हुआ है और आज के जटिल जीवन में इसकी आवश्यकता कम नहीं, अधिक ही है।

(९) यदि दो बातों को ध्यान में रक्खा जाए तब व्यक्तिवाद के तर्क और भी कमज़ोर पड़ जाते हैं। निरंकुश नौकरशाही अथवा लोकतन्त्र विरोधी शासन के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के कुछ अर्थ थे। राज्य लोक-तन्त्रवादी न था। परन्तु लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए पुराने स्वतन्त्रता सम्बन्धी तर्क लागू नहीं होते। दूसरी बात यह कि राष्ट्रीयकरण में नौकरशाही का भय हो सकता है। परन्तु वर्तमान विचारधाराएँ चुंगीकरण (Municipalisation) में भी विश्वास करती है। इस प्रकार विकेन्द्रित और चुनी हुई संस्थाओं द्वारा प्रबन्धित सार्वजनिक उद्योगों के विरुद्ध पुराने तर्क फीके पड़ जाते हैं।

(१०) स्पेन्सर का कहना है कि राज्य को "नकारात्मक नियमन" (Negatively regulative) करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ग़लती करता है तो उसको सज़ा मिलनी चाहिए। परन्तु राज्य व्यक्ति को ग़लती करने से रोके—यह उसकी शक्ति से बाहर होना चाहिए। इसके अर्थ यह हुए कि यदि कोई खराब दवा अथवा दूध बेचता है तब उससे बीमार होने वाले व्यक्ति ऐसे ख़राब काम करनेवाले व्यक्तियों पर दावा कर सकते हैं। राज्य का यह अधिकार नहीं कि वह ऐसे ख़राब काम करनेवालों के विरुद्ध पहले ही क़ानून बनाए और उनको रोक दे। इसी प्रकार, गन्दगी से बीमारी फैलने के बाद ही राज्य को अपराधी को दण्ड देना चाहिए। व्यक्ति को अपराध करने से बचाने का राज्य को अधिकार नहीं। आलोचकों का कहना है कि यदि राज्य हिंसा और धोखे से व्यक्ति को बचा सकता है तब उसी प्रकार राज्य को बीमारी आदि से भी बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः केवल "नकरात्मक नियमन" ही नहीं "सकारात्मक नियमन" भी राज्य का कर्त्तव्य है।

यह सच है कि व्यक्तिवाद राजकीय नियमन (State Regulation) की बुराइयों पर अत्यधिक ज़ोर देता है और उसके गुणों की ओर से आँख फेर लेता है। परन्तु यह भी सत्य है कि यह विचारधारा व्यक्ति, स्वतन्त्रता, आत्म-विश्वास आदि को महत्त्व देती है और आर्थिक तथा नैतिक क्षेत्र में अत्यधिक राजकीय हस्तक्षेप का विरोध करता है। यह मानना पड़ेगा कि अपवादों को छोड़, व्यक्ति ही अपने सुख-दुःख का निर्णायक हो सकता है और उसको व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता चाहिए।

आदर्शवादी दृष्टिकोण (Idealist View point) :—ऊपर कहा जा चुका है कि वर्त्तमान युग में आदर्शवादी विचारधारा पर फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद

की राष्ट्रीयता का प्रभाव पड़ा था। अतः ये दार्शनिक राज्य को बुरा नहीं समझते। इनका कहना है कि मनुष्य का आदर्श नैतिक जीवन है और राज्य इसमें सहायक है। अतः राज्य भी नैतिक संस्था है और दोनों का एक ही आदर्श है अर्थात् सद्जीवन। परन्तु क्योंकि नैतिकता व्यक्ति के अपने निजी आचरण पर निर्भर करती है, उसको क़ानून के ज़ोर से नहीं लादा जा सकता, अतः राज्य का कार्य इनके अनुसार भी नकारात्मक (Negative) है। अर्थात् राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता, उसके अधिकारों की पूर्ति के रास्ते से रोड़े हटा सकता है। वह बाधाओं का निवारण कर सकता है। उसका काम संस्थाओं अथवा व्यक्तिओं के सम्बन्धों का नियमन करना है। जहाँ तक सम्भव हो राज्य को कम ही क़ानून बनाना चाहिए। विशेषकर धार्मिक और नैतिक प्रश्नों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आर्थिक और सामाजिक विषयों में भी यथासम्भव कम हस्तक्षेप करना चाहिए, अन्यथा स्वतन्त्रता में बाधा पड़ेगी।

परन्तु व्यक्तिवादियों की भाँति वे राज्य को बुराई अथवा मजबूरी नहीं मानते, वरन् उसको नैतिक संस्था समझते हैं। यद्यपि वे राज्य के कर्त्तव्यों को सीमित और नकारात्मक मानते हैं, परन्तु फिर भी राज्य के कार्य नैतिक हैं, अनैतिक नहीं। राज्य का कार्य नैतिकता के मार्ग से रोड़े हटाना है। परन्तु इस नकारात्मक कार्य में अनिवार्य शिक्षा, शराबबन्दी, भूमि-सुधार, स्वतन्त्र संविदा आदि सम्बन्धी क़ानून शामिल हैं। क्योंकि निरक्षर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकता, शराब पीना भी मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक होता है। इसी प्रकार जब तक कि दोनों पक्ष बराबर न हों तब तक संविदा के कोई अर्थ नहीं होते।

बुसांके भी राज्य के नकारात्मक कार्यक्षेत्र का पक्षपाती था। परन्तु वह राज्य को अधिक महत्त्व देता था। उसका कहना था कि राज्य जीवन की अन्तिम सक्रिय धारणा (Final working Conception of life) है। राज्य की अपनी नैतिकता है, जो व्यक्तिगत नैतिकता से भिन्न है। इस नैतिकता की आलोचना का व्यक्ति को अधिकार नहीं है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण समझता है कि क़ानून और नैतिकता भिन्न हैं। क़ानून द्वारा नैतिकता सम्भव नहीं। परन्तु फ़ौजदारी क़ानून द्वारा नैतिकता को सहायता मिलती है। क़ानून से भी मनुष्य को नैतिकता की सूझ होती है। उनका कहना है कि राज्य का कर्त्तव्य नैतिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करना है। यह सीधी बात को घुमा कर कहना हुआ। उनके अनुसार शिक्षा भी नैतिकता के रास्ते की रुकावटों को दूर करती है। परन्तु साधारण

जन शिक्षा को उपयोगी समझते हैं। "बाधाओं को दूर करने" का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं। "बाधाओं" का विवरण नहीं दिया गया। भय यह है कि कहीं इस सन्देह में पड़ कर राज्य निष्क्रिय न हो जाय। आदर्शवादी लेखक नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को अधिक महत्त्व देने के कारण सम्भवतः भौतिक जीवन को भुला देते हैं।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक राज्य के प्रति दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, व्यक्तिवाद और आदर्शवाद के बीच अन्तर है। एक राज्य को आवश्यक बुराई और दूसरा उसको भलाई मानता है। परन्तु जहाँ तक कार्य-क्षेत्र का सम्बन्ध है, उनके बीच बहुत बड़ा अन्तर नहीं। दोनों ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर ज़ोर देते हैं और समझते हैं कि व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्न से नैतिकता प्राप्त कर सकता है, अतः राज्य का कार्य-क्षेत्र नकारात्मक होना चाहिए।

राज्य नियमन का (State Regulation) सिद्धान्त :— जहाँ तक राज्य के कार्य-क्षेत्र का सम्बन्ध है यह सिद्धान्त बीच का रास्ता अपनाता है। जहाँ तक सम्भव हो सके व्यक्ति को स्वतन्त्र होना चाहिए, उसको व्यापार और धन संचय की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह व्यक्ति की अपेक्षा जनता के हितों को प्रधानता देता है, और इस हेतु व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नियमन को भी आवश्यक समझता है। जनहित के लिए सम्पत्ति का राष्ट्रीय-करण किया जा सकता है। विभिन्न वर्गों की रक्षा के लिए क़ानून बनाये जा सकते हैं। राज्य के कार्य-क्षेत्र की सीमा आवश्यकतानुसार न्यून अथवा अधिक हो सकती है। ब्रिटेन और अमरीका की सरकारें इस सिद्धान्त का अनुकरण करती हैं। आधुनिक जीवन की जटिलताओं और जनता की मांगों के कारण जनहित के लिए अधिक विधान की आवश्यकता होती है। अतः पिछली शताब्दी में इस सिद्धान्त के अनुसार विस्तृत राजकीय नियमन की ओर प्रवृत्ति रही है।

समाजवादी (Socialistic) दृष्टिकोण :— राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में "समाजवादी दृष्टिकोण" शब्द का प्रयोग भ्रमात्मक हो सकता है। क्योंकि समाजवाद का तात्पर्य मोटेतौर से एक ऐसे समाज से है जो न्याय पूर्ण हो और जिसमें उत्पादन और वितरण के ढंग पर सामाजिक नियन्त्रण हो जिससे कि व्यक्ति का शोषण न हो, आदि। समाजवादी विचार-धाराओं के अनेक प्रकार हैं और ये अपने उद्देश्यों और उद्देश्य प्राप्ति के साधनों में भिन्न हैं। राज्य के सम्बन्ध में भी विभिन्न विचारधाराओं के विभिन्न मत हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि इनमें से अधिकांश विचारधाराओं के अनुसार

आर्थिक जीवन, उसके उत्पादन और वितरण का सामूहिक नियमन आवश्यक है। यह नियमन किस सीमा तक और किस प्रकार हो, अथवा राज्य का इसमें कितना हाथ हो, अथवा स्वयं राज्य का क्या रूप हो, यह दूसरी बात है। अतः गारनर का कहना है कि इस दृष्टिकोण का सही भावार्थ फ्रांसीसी शब्द एटाटिस्मे (Étatisme) अर्थात् राज्यवाद या राज्यवादी मत से निकलता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं। उसका कहना है कि स्वतन्त्र व्यापार, निजी सम्पत्ति और प्रधान समाज अधिकांश व्यक्तियों को विकास का समुचित और समान अवसर तथा सुविधाएँ नहीं देता। अतः उनके लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएँ कोरी काग़ज़ी रह जाती हैं। उनके अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, नैतिकता, लोकतन्त्रवाद आदि का सबसे बड़ा शत्रु पूँजीवाद और निजी सम्पत्ति की व्यवस्था हैं। लगभग सभी समाजवादी, विभिन्न मात्रा में आर्थिक जीवन--उत्पादन के साधन, वितरण, यातायात, बैंक, बीमा आदि का सामूहिक नियमन चाहते हैं, चाहे वह सहकारी, सामाजिक, म्युनिसिपैलिटी अथवा राष्ट्रीय आदि किसी आधार पर क्यों न हो। समाज-सेवा और कल्याण के हित में इन कार्यों का समूह अथवा राज्य के हाथ में आना अहितकर ही नहीं कल्याणकारी है, उनका ऐसा विचार है। अतः वे आर्थिक और अन्य प्रकार के सामाजिक जीवन का नियमन व्यक्ति की सदिच्छा पर नहीं छोड़ते। इसके नियन्त्रण में वे राज्य अथवा समाज का हाथ चाहते हैं। इन विचारों के अनुसार राजकीय अथवा सामाजिक कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। जो आर्थिक जीवन व्यक्तिवादियों और एक प्रकार से आदर्शवादियों के अनुसार स्वतन्त्र होना चाहिए, समाजवादियों के अनुसार वह सब राज्य अथवा समाज के कार्य-क्षेत्र की परिधि में आ जाता है। इस प्रकार यह व्यक्तिवाद का विरोधी विचार है।

समाजवादी दृष्टिकोण का अपना इतिहास है। आदिकाल में भी एक प्रकार की समाजवादी व्यवस्था थी। इस समय सामूहिक सम्पत्ति उपार्जन और वितरण के आधार पर ही मनुष्य जीवन निर्वाह होता था। प्राचीन यूनान के नगर राज्य स्पार्टा और आस-पास के अन्य कतिपय स्थानों में भी एक सीमा तक ऐसा जीवन पाया जाता था। प्लेटो के ऊपर इस जीवन का प्रभाव पड़ा और उसने शासकवर्ग के लिए इस जीवन को उचित समझा। प्रारम्भिक ईसाई धर्म में इन विचारों का प्रभाव था। मध्यकाल में, स्थान-स्थान पर, कृषि-व्यवस्था, नगर-संघ और मठों के जीवन में इसका प्रभाव था। धर्म-सुधार के बाद के किसान-विद्रोह ऐसे ही विचारों से प्रभावित हुए थे। पूँजीवाद के आरम्भ के साथ ही, एक बार फिर, समाजवादी विचारों का उदय हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश विचारक ओवेन (Owen) आदि अनेक लेखक ऐसे हुए जिन्होंने न केवल समाजवाद का प्रचार किया, वरन् ऐसे अनेकों प्रयोग भी किये। परन्तु ये अधिकांशतः स्वप्नदर्शी (Utopian) थे। इन्होंने समाज का इतना वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया, जितना कार्ल-मार्क्स ने। अतः मार्क्स के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। क्योंकि आधुनिक समाजवाद पर मार्क्स का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है, अतः संक्षेपतः उसके विचारों को जानना आवश्यक है।

मार्क्स का कहना है कि उत्पादन के साधनों के विकास के साथ ही समाज का भी विकास हुआ है। उत्पादन के साधनों—तीर-कमान, जमीन, मशीन आदि के आधार पर ही पारस्परिक उत्पादन सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उनका असर समाज के स्वरूप, उसकी राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक संस्थाओं पर भी पड़ता है। समाज के विकास की एक स्थिति में उत्पादन के सम्बन्ध में शोषण के तत्त्व का प्रवेश हुआ। कुछ व्यक्तियों ने उत्पादन के साधनों पर निजी अधिकार स्थापित किया और अन्य व्यक्तियों का शोषण आरम्भ किया। क्योंकि स्वामी, सामन्त अथवा पूँजीपतिवर्ग के पास उत्पादन के साधन—जमीन अथवा मशीनें थीं। अतः वे अन्य व्यक्तियों को काम करने और अपनी शर्तें स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकते थे। जिनके हाथ में उत्पादन के साधन रहे उनके हाथ में ही शासन-सत्ता भी रही। शोषक और शोषित का संघर्ष निरन्तर चलता रहा।

पूँजीवादी समाज का विश्लेषण करते हुए उसने बतलाया कि उत्पादन के साधन—मशीन, कल, कारखाने, बैंक, बीमा आदि—पूँजीपति के हाथ में हैं, अतः जन-साधारण को मजबूर हो अपनी मेहनत बेचनी पड़ती है। उनकी मजदूरी का निर्णायक पूँजीपति ही है। मेहनत के बदले में उनको बहुत कम मजदूरी मिलती है। सारे मूल्यों का पैदा करनेवाला मजदूर है। परन्तु उसको पैदावार का एक छोटा भाग मिलता है। शेष मालिक के पास चला जाता है। इस प्रकार एक ओर पूँजीपति की पूँजी बढ़ती है और दूसरी ओर मजदूर का शोषण। अन्त में एक स्थिति ऐसी पैदा होती है, जब पैदावार बढ़ जाती है, परन्तु मजदूर की मजदूरी कम होने के कारण पैदावार के खरीदने वाले नहीं मिलते। समय-समय पर पूँजीवाद में ऐसे संकट आया करते हैं। इस संकट काल में बेकारी और मजदूरों की यातनाएँ बढ़ती हैं और छोटे-मोटे पूँजीपतियों का भी दिवाला निकल जाता है। यह समाज संकट और परिवर्त्तन की ओर बढ़ता है। यह स्वयं अपना शत्रु, मजदूरवर्ग पैदा करता है। मजदूरवर्ग को संगठित होकर, संसार के मजदूरों को एक साथ मिलकर पूँजीवादी व्यवस्था का

अन्त करना चाहिए। इसके लिए क्रान्ति आवश्यक है। ऐसे बड़े क्रान्तिकारी परिवर्त्तन क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राज्य के ऊपर शासकवर्ग का अधिकार होता है। पूँजीवादी समाज में राज्य पर पूँजीपतियों का अधिकार था, क्रान्ति के बाद मज़दूरवर्ग का राज होगा। परन्तु शीघ्र ही उत्पादन की शक्तियों का विकास होगा और प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी। साथ ही, पूँजीपति वर्ग के नाश के साथ शोषकवर्ग और वर्ग समाज का भी अन्त हो जायगा। इस समाज में सभी व्यक्ति काम करने वाले होंगे। अतः यह वर्ग-विहीन समाज होगा जिसको दमनकारी शासन-सत्ता, पुलिस, फ़ौज, नौकरशाही आदि की आवश्यकता न होगी। श्रेणी संघर्ष के अन्त के साथ राज्य का भी अन्त हो जायगा। किन्तु उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा और आर्थिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए आर्थिक संस्थाओं की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार अन्य प्रकार के जीवन के लिए अन्य सामाजिक संस्थाएँ होंगी।

मार्क्स के बाद समाजवाद का उद्देश्य तो स्पष्ट हो गया। इसका उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था और शोषण का अन्त, उत्पादन के साधन आदि का समाजीकरण और वितरण पर नियन्त्रण है। परन्तु साधनों का किस हद तक समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण किया जाय और वितरण के कौन से ढंगों को अपनाया जाय तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन उपायों को काम में लाया जाय, इस सम्बन्ध में मतभेद है। उग्रवादी विचारक क्रान्तिकारी उपायों के पक्ष में हैं। वे सभी आर्थिक-साधनों का एक साथ समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण करना चाहेंगे और यथासम्भव आर्थिक समानता भी स्थापित करेंगे। सुधारवादी विचारक शान्ति मार्ग के पक्ष में हैं। वे इन साधनों का धीरे-धीरे समाजीकरण करेंगे और आर्थिक समानता भी क्रमशः स्थापित करेंगे। सुधारवादी समाजवादी राज्य को अधिक लोकतंत्रवादी बनाकर उसकी शक्ति द्वारा, उसके कार्य और अधिकार क्षेत्र को बढ़ाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते हैं।

समाजवादी राज्य के कार्य-क्षेत्र को किस सीमा तक विस्तृत करना चाहते हैं? जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। उग्रवादी विचारक सभी उद्योग, भूमि, पूँजी, उत्पादन के साधन, यातायात आदि पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार प्रयोग की वस्तुओं को छोड़ सभी सम्पत्ति पर राज्य अथवा समाज का अधिकार हो जायगा, वह सबसे बड़ा स्वामी होगा। राज्य अथवा समाज, बैंक और बीमा, रेल और तार, खानें, नहरें, पुल, नाव, जहाज, पानी, बिजली, आदि का प्रबन्ध करेगा। उसको

निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए, इलाज, पेंशन, मातृत्व, रहने के मकान, काम, आराम आदि का भी प्रबन्ध करना चाहिए। उपर्युक्त बातों से अनुमान किया जा सकता है कि राज्य अथवा समाज के कार्य केवल नकारात्मक नहीं। व्यक्तिवादियों की भांति वह पुलिस, सेना और शासन कार्य के लिए ही नहीं वरन् विस्तृत पैमाने पर समाज-सेवा और जन-कल्याण भी उसका कार्य है।

समाजवाद के पक्ष में कई प्रकार के तर्क हैं। ये हैं आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक, व्यावहारिक आदि।

इनका कहना है कि **आर्थिक दृष्टि** से उत्पादन और वितरण का ढंग अवैज्ञानिक हैं। इसका आधार स्वतन्त्र प्रतियोगिता है। इस प्रतियोगिता में प्रत्येक पूँजीपति अधिक से अधिक उत्पन्न करना चाहता है किन्तु उसको खपत का कोई अन्दाज़ नहीं होता। इसी कारण उत्पादन अधिक हो जाता है और लाभ की लिप्सा में वह मज़दूर को कम से कम देता है, अतः अधिक उत्पादन का संकट उपस्थित होता है, जिसमें लाखों मज़दूर बेकार और बेघरबार हो जाते हैं और दूसरी ओर उत्पादन को जलाना, गलाना और सड़ाना पड़ता है। अनेकों छोटे पूँजीपति भी इसी क्रम में मिट जाते हैं। प्रत्येक पूँजीपति अपने माल के विज्ञापन में भी व्यय करता है। कभी ग़लत चीजों का विज्ञापन हो जाता है और इससे जनता को धोखा होता है। अच्छी मशीनों के उपयोग अथवा मेहनत से मज़दूर अथवा समाज को लाभ नहीं होता। उल्टा उसका शोषण बढ़ता है, अथवा बेकारी का भी डर रहता है। इस व्यवस्था में अपव्यय निहित है। दूसरी ओर समाजवाद में योजना सम्भव है। उसमें आवश्यकता का पता लग जाता है और केवल उतना ही पैदा करने की आवश्यकता होती है। अधिक पैदा होने पर पैदावार को मज़दूरों के बीच वितरण किया जा सकता है अथवा काम के घण्टे कम किये जा सकते हैं। समाजवाद में शोषण का प्रश्न नहीं उठता। इसके विरुद्ध, यह कहा जा सकता है कि राज्य सर्वशक्तिमान् हो जायगा और व्यक्तिगत स्वाधीनता असम्भव हो जायगी। परन्तु उत्तर यह है कि इस समय आर्थिक जीवन में पूँजीपति की तानाशाही है। इसको हटा पूँजीवाद समाज प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए समान अवसर नहीं देता। पूँजीपति भूमि और उत्पादन के अन्य साधनों का स्वामी होता है। वह लगान, किराया, ब्याज, मुनाफ़ा आदि के रूप में बैठे की कमाई करता है। वह सट्टे से भी रुपया कमाता है। उत्पादन के साधनों का एकाधिकार होने के कारण वह मज़दूर पर अपनी शर्तें लाद सकता है। अतः पूँजीपति और मज़दूर किसी प्रकार भी बराबर नहीं हो सकते। मज़दूर को मजबूर होकर मज़दूरी बेचनी पड़ती है। अन्यथा

उसको केवल भूखा मरने भर की स्वतन्त्रता है। इस ग़रीबी और असमानता की अवस्था में उसकी राजनीतिक अथवा क़ानूनी समानता, उसकी मतदान की स्वतन्त्रता के कोई अर्थ नहीं रह जाते। वह धनाभाव के कारण चुनाव के लिए खड़ा नहीं हो सकता, स्वयं शासक नहीं बन सकता। अधिक-से-अधिक उसको शासकों के चुनने का अधिकार भर मिलता है और असमानता की दशा में, वह मतदान की स्वतन्त्रता का भी लाभ नहीं उठा सकता। उसको राजनीतिक दबाव में मत देना पड़ता है। इस प्रकार पूँजीवाद केवल कुछ धनिकों को ही स्वतन्त्रता देता है। इस व्यवस्था में सच्चा लोकतन्त्र सम्भव नहीं। इसके विपरीत समाजवाद व्यक्ति को उन्नति का समान अवसर देकर उसको सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करेगा और ऐसे समाज में ही सच्चा लोकतन्त्र सम्भव है।

अतः यह जानना ज़रूरी है कि समाजवाद लोकतन्त्र अथवा स्वातन्त्र्य विरोधी नहीं। वह लोकतन्त्र का हामी है, स्वतन्त्रताओं की परिधि के अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाना चाहता है और इस प्रकार राज्य के सीमित पूँजीवादी स्वरूप को जनतन्त्रात्मक और सच्चा लोकतन्त्र बनाना चाहता है।

समाजवादी विचारक अपने पक्ष की पुष्टि के लिए वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तर्क भी देते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य का स्वभाव परिवर्तनशील है। उसके ऊपर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। जहाँ वह स्वार्थी है, वहाँ परमार्थी भी है, जहाँ प्रतियोगिताप्रिय है, वहाँ सहयोगप्रिय भी है। पूँजीवाद मनुष्य प्रकृति के केवल एक पक्ष, बुरे पक्ष पर ज़ोर देता है। वह प्रतियोगिता और स्वार्थी प्रवृत्ति को उत्तेजित करता है। पूँजीवाद लाभ की भावना से प्रेरित होता है। वह व्यक्तिगत लाभ के लिए समाज की हानि तक कर सकता है। बिना लाभ के पैदावार बन्द कर सकता है, उसको नष्ट कर सकता है, मज़दूरों को बेकार और बे-घरबार कर सकता है। पूँजीवाद के लिए केवल धन का ही मोल है, उसी का सम्मान है। अतः वह भौतिक उन्नति और बेईमानी को प्रोत्साहन देता है। इसके विपरीत समाजवाद समाजहित, समाज सेवा, परमार्थ सहकारिता आदि पर जोर देता है और नैतिक तथा आध्यात्मिक एवं बौद्धिक तत्त्वों, जीवन के उच्च मूल्यों को प्रोत्साहन देता है।

समाजवाद समाज को सच्चे रूप में सावयवी मानता है। व्यक्ति समाज का एक अवयव, एक अंगमात्र है। यदि समाज जीवित है और उन्नति करता है, तब उसके अवयव भी उसके साथ उन्नति करेंगे। अतः व्यक्ति को समाजहित का चिन्तन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अधिकांश मूल्य या तो प्रकृति की देन हैं, जैसे ज़मीन, खानें, कच्चा माल आदि, अथवा महान् आत्माओं की जैसे आविष्कार, कला आदि। इनके ऊपर समाज का अधिकार होना

चाहिए और इनसे सारे समाज को लाभ होना चाहिए, केवल किसी व्यक्ति विशेष, किसी पूँजीपति को नहीं।

समाजवादियों का विरोध भी आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक आदि आधार पर होता है। उनका कहना है कि राज के लिए सारे आर्थिक जीवन का प्रबन्ध और नियन्त्रण, उसका उत्पादन और विभाजन, मज़दूरी और मूल्य निर्धारण, समाज की आवश्यकता का पता लगाना और फिर योजना के अनुसार सही मात्रा में आवश्यक वस्तु पैदा करना आदि प्रायः असम्भव है। प्रथम तो राज्य में इतनी सामर्थ्य ही नहीं। इनका कहना है कि साम्यवादी राज्य की योग्यता को बहुत ज्यादा आँकते हैं। यदि हो भी तो जो दोष व्यक्तिगत उद्योग-धन्धों में होते हैं, वही राज्य में भी पैदा हो जाएँगे। कहा जाता है कि पूँजीपतियों का राज्य से लगाव उसको दूषित करता है। परन्तु यदि राजकीय कर्मचारी स्वयं ही उद्योगों के प्रबन्धक बन गये, तब वही दूषण, वही बेईमानी और दुराचार राज्य में भी आ जाएँगे। इसके अतिरिक्त, यदि राज्य इतनी शक्ति का प्रयोग करेगा तब अवश्य ही उसमें नौकरशाही और निरंकुशता आ जायगी और लोकतन्त्र का नाश हो जायगा।

उनकी दूसरी कठिनाई मनोवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि समाजवादी मनुष्य के स्वभाव को भी सही तौर से नहीं आँकते। मनुष्य को न तो काम करने की आदत है और न समाज सेवा की। वह कर्त्तव्य की भावना से नहीं, स्वार्थ की भावना से काम करता है। यदि उसको अच्छे काम के कारण अधिक भाग नहीं मिलेगा, यदि उसको आलसी के बराबर ही वेतन मिलेगा तब वह अच्छा और अधिक काम न करेगा। ऐसी स्थिति में बुरा और कम काम होगा। यही दशा सरकारी मैनेजरों की भी होगी। काम में उनका अपना स्वार्थ न होगा। परिणाम यह होगा कि पैदावार कम होगी और समाज उन्नति के स्थान में अवनति करेगा। अन्यथा व्यक्ति को राजकीय अनुशासन के सहारे काम करना पड़ेगा और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण होगा। इसी प्रकार जहाँ तक पैदावार का सम्बन्ध है, उसमें बहुत से प्रकार और क़िस्में न रह जाएँगी। सब चीजें एक प्रकार की होंगी।

आलोचना में तथ्य है। परन्तु वर्त्तमान समाजवाद ने सोवियत तथा अन्य देशों में इसका ध्यान रक्खा है। इसमें सन्देह नहीं कि योजना का काम आसान नहीं, परन्तु फिर भी सफलतापूर्वक किया गया है। इसी प्रकार राजकीय कर्मचारियों और मज़दूरों, सभी को काम में दिलचस्पी रखने के लिए उनको भाँति-भाँति के प्रलोभन—अधिक वेतन, पुरस्कार आदि—दिये जाते हैं। साथ ही सामाजिक अपील भी की जाती है। समाजवादियों ने

केन्द्रीकरण और नौकरशाही का जवाब विकेन्द्रीकरण और स्थानीयकरण तथा सामाजिक नियन्त्रण से दिया है। वे नहीं चाहते कि प्रत्येक उद्योग आदि का नियन्त्रण राज्य से ही हो। अनेक उद्योग सहकारी अथवा स्थानीय आधार पर किये जा सकते हैं।

यह भी मानना पड़ेगा कि स्वतन्त्र व्यापार (Laissez faire) की नीति का पालन आज किसी भी देश में नहीं होता। पिछले दो युद्धों में यह नीति छोड़ी जा चुकी है। अधिकांश राज्य न केवल अपने आयात-निर्यात पर नियन्त्रण रखते हैं और न कुछ राज्य आर्थिक आत्मनिर्भरता (Economic Autarchy) के सिद्धान्त का अनुकरण करते हैं, वरन् अमरीका जैसे देश भी एकाधिकारों के ऊपर नियन्त्रण करते हैं। युद्ध के बीच तो राष्ट्र अनेकों पहलुओं पर हावी हो जाते हैं और भाँति-भाँति के नियन्त्रण लागू करते हैं। अमरीकी सरकार देश की आय का लगभग चौथाई और ब्रिटिश सरकार लगभग तिहाई स्वयं खर्च करते हैं। इस विस्तृत राज्य-क्षेत्र को ही देखकर दूसरे महायुद्ध के बीच, ब्रिटेन और सोवियत देश के बीच के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए जार्ज बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) ने कहा था कि यदि सोवियत देश चोटी तक समाजवादी है तो ब्रिटेन भी गले तक समाजवादी हो चुका है। कहने का तात्पर्य यह कि स्वतन्त्र-व्यापार (Laissez faire) वाला राज्य के सीमित कार्य-क्षेत्र वाला व्यक्तिवादी सिद्धान्त मिट चुका है। उसको ऐतिहासिक शक्तियों ने ही रद कर दिया। आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और भारत जैसे देशों में, जहाँ व्यक्तिगत पूँजी पर्याप्त नहीं, राज्य स्वयं राजकीय उद्योगों का निर्माण करता है।

समाजवादी प्रभाव में अनेक देश सम्पत्ति के समाजीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। व्यक्ति को समान अवसर देने के प्रयत्न में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी क़ानून बनाए जा रहे हैं। भारतीय संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का यही आशय है। जैसा कि गेटिल (Gettle) का कहना है, पहले की भाँति न तो अब प्रबल सरकार से भय है और न असीमित प्रतियोगिता के सिद्धान्त में विश्वास है। इनके स्थान में अनुचित प्रतियोगिता के नियमन और सामाजिक क्षमता और लोक-कल्याण के हित एक शक्तिशाली सरकार की आवश्यकता को स्वीकार किया जाने लगा है। आधुनिक जीवन की जटिल समस्याओं के साथ-साथ चलने के लिए प्रजातन्त्र के स्वरूप को सामाजिक और औद्योगिक अर्थ देकर पूर्ण किया जा रहा है।

अध्याय २४

राज्य का कार्य-क्षेत्र (क)

(Sphere of State Activity)

नए सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही राज्य के संगठन और कार्यक्षेत्र के संबन्ध में कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। आधुनिक राज्यों ने इनका व्यवहार भी किया है। अधिकांशतः इनके ऊपर संवैधानिक प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रवाद की प्रतिक्रिया हुई है। ये उसके आलोचक हैं और इसको अधूरा मानते हैं। इन विचारों में, आर्थिक हितों का महत्व, उनका राज्य पर प्रभाव भी स्पष्ट है। मोटे तौर पर ये विचारधाराएँ दो प्रकार की हैं। एक वे जिनके ऊपर समाजवाद का प्रभाव है और दूसरी वे जो फ़ासिस्ट अथवा नात्सी विचारधाराएँ हैं। समाजवादी विचारधाराओं के ऊपर पिछली शताब्दी के दोनों ही प्रभाव प्रकट हैं। अराजकतावादी विचार राज्य में अविश्वास प्रकट करते हैं और ये आज सिंडिकवाद (Syndicalism) और गिल्ड (संघ) समाजवाद (Guild Socialism) द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। दूसरे प्रकार की विचारधाराएँ आज भी केन्द्रित और शक्तिवान राज्य में विश्वास प्रकट करते हैं। ये धाराएँ समूहवाद (Collectionism) और साम्यवाद (कम्यूनिज्म) (Communism) हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सभी समाजवादी विचारधाराएँ समाज के सामूहिक संगठन, और लोकहित के लिए, उत्पादन के साधन और विनिमय के सामूहिक स्वामित्त्व में विश्वास करते हैं। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति पूँजीवाद की बुराइयों के विरोध में हुई है। पूँजीवाद सम्पत्ति के निजी स्वामित्त्व में विश्वास करता है और लाभ के आधार पर चलता है। पूँजीवाद में आर्थिक और अवसर की असमानताएँ निहित हैं। इस व्यवस्था में आर्थिक संकट निहित हैं, जिसके कारण जीवन में असुरक्षा रहती है। पूँजीपति के हाथ में आर्थिक और एक हद तक राजनीतिक शक्ति होने के कारण मज़दूर का दर्जा ग़ुलाम का जैसा होता है। पूँजीवाद जनहित के लिए नहीं, केवल लाभ के लिए पैदा करता है। उत्पादन की प्रक्रिया में मज़दूर एक मशीन मात्र बन जाता है। उसके नियन्त्रण में मज़दूर का कोई हाथ नहीं होता।

समाजवादियों की धारणा है कि इन सब दोषों की जड़ निज सम्पत्ति (Private Property) का अधिकार है। अतः वे उत्पादन के साधनों (means of production) का समाजीकरण चाहते हैं। परन्तु समाजीकरण के लिए योजना की भी आवश्यकता है। सभी समाजवादी उत्पादन के साधन, विनिमय, आयात-निर्यात आदि के समाजीकरण के पक्ष में हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके भावी उद्देश्य और लक्ष्य-प्राप्ति के साधन भिन्न हैं। समूहवादी और गिल्ड (संघ) समाजवादी सुधारवादी उपायों के समर्थक हैं और सिंडिक समाजवादी तथा साम्यवादी क्रान्तिकारी उपायों के पक्ष में हैं।

समूहवाद
(Collectionism)

हम ऊपर देख चुके हैं कि मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण कर समाजवाद को वैज्ञानिक रूप दिया था। अतः वह पहला वैज्ञानिक समाजवादी था। हमने संक्षेप में उसके सिद्धान्तों का भी वर्णन किया है। शेष तत्वों पर साम्यवाद के संबन्ध में विचार किया जायगा। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि मार्क्स का सभी समाजवादी धाराओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उसकी पूँजीवादी समाज की आलोचना को सभी ने किसी न किसी अंशतक अपनाया है। परन्तु क्योंकि पूँजीवाद को पिछड़े देशों के औपनिवेशिक बाजार मिल गए और उत्पादन के नए तरीकों (बिजली आदि) का आविष्कार हुआ। अतः पूँजीवाद का संकट कुछ दिनों के लिये टल गया और पूँजीवादी अपने देश के मज़दूर वर्ग को अधिक मज़दूरी और मताधिकार दे सके। इन परिवर्तनों का प्रभाव समाजवादी विचारधाराओं पर पड़ा और यह आशा की जाने लगी कि शान्ति और अहिंसात्मक तथा वैधानिक उपायों से ही मज़दूर वर्ग राज्य पर अधिकार स्थापित कर सकता है और इस प्रकार समाजवादी राज्य स्थापित हो सकता है। अतः क्रान्तिकारी समाज के स्थान में सुधारवादी (Reformist) विचारधाराओं की नींव पड़ी। इन विचारों को पुनरावृत्तिवाद (Revisionism) अथवा राजकीय समाजवाद (State Socialism) अथवा समूह (समष्टि) वाद (Collectionism) के नाम से भी पुकारा जाता है। ब्रिटेन में यह विचारधारा फ़ेबियनवाद (Fabianism) के नाम से प्रसिद्ध है।

फ़ेबियन संस्था (समाज) की नींव ब्रिटेन में सन् १८८४ में पड़ी। इसके संस्थापकों में प्रमुख बर्नार्ड शॉ (Bernard shaw), सिडनी और ब्येट्रिसवैब (Sydney and Beatrice Webb), ग्राहम वालास (Graham Wallas), एच० जी० वेल्स (H.G.Walls) और एनी बेसेन्ट (Annie Besant) आदि

हैं। इस संस्था का नाम योरोप की पौराणिक कथा पर निर्धारित है और इसके उपायों का परिचायक हैं। फ़ेबियस ने हनीबल (Hannibal) के साथ युद्ध में बड़े धैर्य से काम लिया और समय आने पर सख्त चोट कर शत्रुओं को पछाड़ दिया। इस विचारधारा पर रोबर्ट ऑवेन (Robert Owen) आदि ब्रिटिश समाजवादियों, क्रिश्चियन फ़ादर (Christian Father) मार्क्स, डारविन (Darwin) के विकासवाद आदि का प्रभाव है। ये ब्रिटेन की परिस्थितियों जैसे लोकतन्त्र में विश्वास से भी प्रभावित हुए हैं।

ये पूँजीवाद के कटु आलोचक हैं। उसको शोषण और असमानता की जड़ समझते हैं। वे इस अवस्था को अनैतिक भी मानते हैं। ये मार्क्स की भाँति केवल मज़दूर को ही मूल्य का स्रष्टा नहीं मानते। इनके विचार के अनुसार सारा समाज ही मूल्यों का स्रष्टा है। अतः सम्पत्ति पर पूँजीपति का नहीं वरन् समाज का अधिकार होना चाहिए। पूँजीवाद में असमानता, अरक्षा की भावना, दीनता आदि निहित हैं। अतः इस व्यवस्था का अन्त होना चाहिये। इसके स्थान में सम्पत्ति का सामूहिक और लोकतन्त्रात्मक स्वामित्व और नियन्त्रण होना चाहिए।

जहाँ तक उपायों का संबन्ध है, शनैःवाद की शरण लेनी चाहिए। लोक-सभा अथवा नगर और ज़िलापालिका आदि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं द्वारा अधिक से अधिक सार्वजनिक हित के साधनों पर समाज, नगर, राज्य आदि का अधिकार स्थापित करना चाहिये। जैसे, बिजली, गैस, ट्राम और बस एवं स्थानीय रेल, डाक आदि। विधान द्वारा काम के घण्टे, आराम के घण्टे, बीमा-पेंशन, वेतन, हारीबीमारी का बीमा, बेकारी का बीमा आदि का प्रबन्ध करना चाहिए। सम्पत्तिवानों, पूँजीपतियों आदि की आय, उनकी मृत्यु के बाद उनके धन (Death duties) पर भारी टैक्स लगाकर उनकी आय को कम करना और विधान द्वारा मज़दूरों की आय को बढ़ाकर आर्थिक समानता की ओर बढ़ना चाहिए। सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी क़ानूनों से प्रत्येक जन को समान सुविधा प्रदान करनी चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे, भूमि, कल-कारखाने आदि का समाजीकरण होना चाहिए।

क्योंकि ये राज्य के विरोधी नहीं, वरन् समाजवाद को लोकतन्त्रात्मक राज्य का विकासमात्र मानते हैं। वे समाजवाद की स्थापना के लिए राज्य और उसकी संस्थाओं-जैसे, लोकसभा, म्यूनिसिपैलिटी आदि का प्रयोग करना चाहते हैं। अतः इनके सिद्धान्त को राजकीय समाजवाद (State Socialism), लोकसभात्मक समाजवाद (Parliamentary Socialism) तथा म्यूनिसिपल समाजवाद (Municipal Socialism) आदि भी कहा जाता है। ये राज्य

के पक्षपाती हैं और समाजवादी व्यवस्था में भी राज्य को राजकीय सम्पत्ति का स्वामी और उत्पादन के नियामक के रूप में देखना चाहते हैं।

समूहवाद और साम्यवाद में भेद हैं। साम्यवाद पूँजीवादी राज्य को उस समाज का दलाल समझता है और क्रान्ति द्वारा उसका अन्त कर शीघ्र ही समाजवादी समाज की रचना करना चाहता है। उसके अनुसार संक्रामक काल में सर्वहारावर्ग (मज़दूर) का निरंकुश शासन स्थापित होगा ताकि पूँजीवाद की सत्ता और उसके भग्नावशेषों का उन्मूलन किया जा सके। उसके बाद, जब शोषकवर्ग रह ही नहीं जाएगा, तब वर्गविहीन समाज स्थापित होगा और राज्य अनावश्यक होगा और उसका लोप हो जायगा। समूहवाद प्रचार और वैधानिक उपायों में विश्वास करता है और शनैः-शनैः समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है। वह क्रान्ति और संक्रामक काल के लिए भी निरंकुश शासन का विरोध करता है। वह वर्तमान राज्य की लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का प्रयोग कर अपने लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है। और सामाजिक सम्पत्ति के स्वामित्व और उत्पादन के नियमन के लिए राज्य को भविष्य में भी आवश्यक समझता है।

सिंडिकवाद
(Syndicalism)

इस विचारधारा का जन्म फ्रान्स में हुआ। इसके लिए यहाँ विशेष परिस्थितियाँ थीं। फ्रांस में औद्योगीकरण उस स्तर तक न पहुँचा था जिस स्तर तक उसका ब्रिटेन में विकास हुआ था। यहाँ छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रधानता थी। अतः यहाँ मज़दूर संगठन भी इतने मज़बूत न थे जितने ब्रिटेन में। इसलिए मज़दूर वर्ग को अपनी संगठित शक्ति में भी इतना विश्वास न था। इसी कारण वे सुधारवादी और वैधानिक उपायों में विश्वास न करते थे। यही उनका अनुभव था। यहाँ का पूँजीवाद उनको इतनी सुविधाएँ और स्वतन्त्रताएँ देने को तैयार न था, जितनी ब्रिटेन में संभव हो सकी। यदि कभी मज़दूर किसी व्यक्ति को चुनकर लोक सभा में भेजते भी थे तो वह पूँजीपति वर्ग के हाथों बिक जाता था। इस कारण और भी उनको राज्य और राजनीतिक उपायों में अविश्वास हो गया था। फ्रांस में क्रान्ति की परम्परा भी थी। अतः उन्होंने क्रान्ति का मार्ग अपनाया। लगभग ऐसी ही परिस्थिति इटली में भी थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी मज़दूरों पर दमन होता था, जिसके विरुद्ध उन्होंने संसार के औद्योगिक मज़दूर (Industrial Workers of the World I.W.W.) नाम की संस्था स्थापित की। इस प्रकार उक्त विचारधारा का प्रभाव फ्रांस, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका में रहा है।

सिंडिकवाद की धातु फ्रांसीसी शब्द सिंडीकाट (Syndicat) है, जिसके अर्थ मज़दूर संघ हैं। यह मज़दूर संघ का दर्शन है। इस दर्शन में श्रमजीवी, उत्पादक को महत्व दिया गया है। फ्रांस के विशेष प्रकार के मज़दूर संगठन का भी इस विचारधारा पर प्रभाव पड़ा है। यहाँ एक ओर तो उद्योगों के आधार पर स्थानीय और फिर उनके राष्ट्रीय संगठन हैं और दूसरी ओर विभिन्न उद्योगों के मज़दूरों का स्थानीय संघ भी है, जिसका राष्ट्रीय-संगठन है। पहले को वे कॉनफ़ेदरेशियों ज़नरल दु-त्रावाल (Confédération Généra'l du Travail) और दूसरे को बोर्सेज़ दु-त्रावाल (Bourses du Travail) कहते हैं। इनका ऐसा विश्वास है कि भावी समाज को भी इन मज़दूर संघों के बलपर चलाया जा सकता है। जोड (Joad) इसकी परिभाषा इस प्रकार करता है। "ऐसे प्रकार का समाज सिद्धान्त जो मज़दूर संघ को नए समाज का मूल आधार और उसकी स्थापना का उपाय-यन्त्र मानता हो।"

मार्क्सवाद का बुद्धिवाद में विश्वास है। परन्तु इस विचारधारा पर फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ के अन्तरात्मावाद अथवा प्रेरणावाद (Intuitionism) का असर है। इसके मुख्य विचार सोरेल (Sorel १८४७–१९२२) और पैलुतिए (Pelloutier १८६७–१९०१) है। सोरेल का आम हड़ताल में उसी प्रकार विश्वास था जिस प्रकार ईसाइयों का ईसा के पुनर्जन्म (Resurrection) में। वह हड़ताल की उपयोगिता अथवा हानि के संबन्ध में तर्क का पक्षपाती न था। वह उसको पुराण सत्य (Myth) की भाँति स्वीकार कराना चाहता था। सिंडिकवाद पर अराजकवाद का भी असर है। वह राज्य और राजनीति तथा दलों में अविश्वास करता है और केवल मज़दूर आत्मीयता और संगठन में विश्वास रखता है। यह विचारधारा समाजवाद के आर्थिक और अराजकतावाद के राजनीतिक तथा मज़दूर संगठन के विचारों का संमिश्रण है। इसका दर्शन व्यावहारिक (Pragmatic) है। यह विचार-शक्ति की अपेक्षा भावना, प्रेरणा आदि को महत्व देता है।

अन्य समाजवादियों की भाँति यह दर्शन पूँजीवादी समाज का मूल्य दोष निजी सम्पत्ति व्यवस्था को समझता है। इसके कारण समाज शोषक और शोषित वर्ग में बँटा हुआ है। राज्य पर पूँजीपतिवर्ग का अधिकार है। अतः वह शासक वर्ग का सहायक है और हड़ताल के समय मज़दूरों का दमन करता है। उनके हित के लिए ही वह युद्ध करता है और मज़दूरों के शोषण में सहायक होता है। जिस वर्ग के हाथ में आर्थिक शक्ति है, वही शासन सत्ता का भी अधिकारी है। अतः जबतक सम्पत्ति का समाजीकरण नहीं होता, सच्ची जनसत्ता की स्थापना असम्भव है।

वे राज्य को मौलिकता का विरोधी मानते हैं। उनका विश्वास है कि शासन स्वयं ही धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ जायगा और पतन की ओर बढ़ेगा। इधर मज़दूरों में वर्ग चेतना बढ़ेगी और एक ऐसी स्थिति आएगी जब स्वयं आम-हड़ताल द्वारा पूँजीवाद का अन्त हो जायगा। इस क्रान्ति में मज़दूर संघों का विशेष स्थान होगा ये बायकाट (बहिष्कार), तोड़-फोड़ (Sabotage ध्वंसात्मक कार्य) हड़ताल आदि उपायों के प्रयोग में विश्वास करते हैं। इनका कहना है कि जो व्यवसाय मज़दूरों की माँगों को न माने उनके यहाँ काम न करना चाहिए और न उनका सामान ही ख़रीदना चाहिए। मशीन आदि को तोड़ कर पूँजीपतियों को क्षति पहुँचाना चाहिए, काम को बिल्कुल नियमानुकूल कर देना चाहिए आदि आमहड़ताल से उनका अर्थ मुख्य उद्योगों की आम-हड़ताल से है, सब मज़दूरों की हड़ताल से नहीं।

जहाँ तक भावी समाज का सम्बन्ध है, वे सिद्धान्ततः इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं। कारण यह है कि इस सम्बन्ध में स्पष्ट होने से उनको विवाद का भय है और उससे आपस में फूट पड़ने की सम्भावना है। तथापि उनके राष्ट्रीय मज़दूर संघ उत्पादन के साधनों के स्वामी बन जाएँगे। उसका संगठन और नियन्त्रण स्थानीय आधार पर होगा। इनके आपसी सम्बन्ध, स्थानीय पैमाने पर, मिली-जुली मज़दूर सभा द्वारा निर्धारित होंगे। इन सभाओं को पुलिस और न्याय सम्बन्धी शक्ति भी प्राप्त होगी। स्थानीय मज़दूर विनिमय (Local Labour Exchange) और राष्ट्रीय मज़दूर संघों के डेलीगेटों की एक कांग्रेस होगी। इसकी राष्ट्रीय संस्थाओं के हाथ में रेल, डाक आदि जैसे विभाग होंगे और यह संस्था राष्ट्रीय पैमाने पर नियमन कार्य करेगी।

इस विचारधारा की मुख्य विशेषता इसका अत्यन्त विकेन्द्रीकरण और न्यूनतम नियन्त्रण हैं। यह कार्य के आधार पर शक्ति विभाजन का पक्षपाती है और बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। यह नियन्त्रण को शिथिल करने के पक्ष में है और अराजकतावादी आन्दोलन की ओर संकेत करता है। यह अपने संगठन में आर्थिक इकाइयों को आधार मानता है और इस विषय में गिल्ड समाजवाद और सोवियतवाद से इसका सादृश्य है। यह आर्थिक संघवाद और मज़दूरों के नियन्त्रण के पक्ष में है और साथ ही पूँजीपतियों के राज्य के स्थान में मज़दूर नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है।

आलोचना :—सिंडिकवाद ने भावी समाज का स्पष्ट वर्णन ही नहीं किया, अतः उसकी आलोचना सम्भव नहीं। जहाँ तक उनके उपाय का सम्बन्ध है, यह कहा जाता है कि यदि जनता में इतनी सहानुभूति हो जितनी आम हड़ताल

के लिए आवश्यक है तब उसकी आवश्यकता ही न होगी। केवल वोट से काम चल सकता है। दूसरी ओर, आम हड़ताल में मज़दूरों की यातनाओं के अतिरिक्त उसके असफल होने और निरंकुश शासन स्थापित होने का भी भय है। ध्वंसात्मक उपायों से मज़दूर आन्दोलन बढ़ता नहीं कमज़ोर पड़ता है। परन्तु यह आन्दोलन राज्य के दोषों की ओर सही संकेत करता है। इनका निवारण होना चाहिए।

गिल्ड (संघ) समाजवाद (Guild Socialism) का मुख्य प्रभाव ब्रिटेन में रहा है। इसके विचारकों में मुख्य लेखक कोल (G. D. H. Cole) होबसन (S. G. Hobson), पैण्टी (A. A. J. Penty) आदि रहे हैं। यह बीसवीं शताब्दी की विचारधारा है। इस समय मज़दूरों के ऊपर ब्रिटेन में भी पूँजीवादी अर्थ संकटों का प्रभाव पड़ने लगा था। उनको राज्य से भी कोई सहायता न मिली, अतः राज्य से विश्वास उठ गया। अतः ये भी मुख्यतः मज़दूरों की ही संगठित शक्ति में विश्वास करते हैं। परन्तु साथ ही राज्य को भी कुछ कामों के लिए जीवित रखना चाहते हैं। अतः इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये राजकीय स्वामित्व के समाजवादी और मज़दूर नियन्त्रण के सिंडिकवादी विचारों को मिलाते हैं। हाँ, ये राजनीतिक और आर्थिक कार्यों को अलग कर देखते हैं। सिंडिकवाद केवल उत्पादक के हितों से दिलचस्पी रखता है। परन्तु ये उत्पादक और भोक्ता दोनों के हितों की रक्षा करते हैं। मज़दूरों का संगठन पेशे के आधार पर होगा और वे उत्पादन का नियन्त्रण करेंगे ; राज्य भोक्ता का प्रतिनिधित्व करेगा।

अन्य समाजवादियों की भाँति वे इस समाज की आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक बुराइयों के लिए पूँजीवाद को ही दोषी ठहराते हैं। इस व्यवस्था में अधिक उत्पादन से संकट और बेकारी का भय रहता है और उसका लाभ पूँजीपति ही उठाता है। मनुष्य मशीन का पुर्जा बन जाता है। उसकी कलात्मक शक्ति और मौलिकता का ह्रास होता है। लोकतन्त्र में भी ग़रीब मज़दूर को केवल मत देने अर्थात् शासकवर्ग को चुनने का अधिकार है। वह स्वयं शासक नहीं हो सकता। इस लोकतन्त्र का लाभ केवल पूँजीपति उठाते हैं। क्षेत्र के प्रतिनिधित्त्व में वास्तव प्रतिनिधित्त्व सम्भव ही नहीं। यह प्रतिनिधि केवल एक पेशे के सम्बन्ध में जानकारी रख सकता है, सबके बारे में नहीं। जिनके पास धन है वे राज्य शासन पर हावी हो जाते हैं। सच्चा प्रतिनिधित्व केवल डेलीगेट कर सकते हैं। अतः उनका विचार है कि राज्य विभिन्न पेशों का संघ होना चाहिए और उसको केवल भोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उनका यह भी विचार है कि मनुष्य की

विभिन्न शक्ति और इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं। जैसे धार्मिक, आर्थिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि। राज्य भी इन अनेक संस्थाओं में से एक है। प्रत्येक संस्था का अपना संगठन होना चाहिए और उनको अपने कामों में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सब संस्थाओं को बराबर समझा जाय और राज्य को केवल नियामक का काम करना चाहिए। अथवा, यह काम भी इन सब संस्थाओं द्वारा चुनी हुई एक संस्था द्वारा हो। इसमें राज्य का स्थान अन्य संस्थाओं के बराबर होगा। इस प्रकार अराजकतावादी और सिंडिकवादियों की भाँति गिल्ड समाजवादी भी राज्य के प्रति अविश्वास प्रकट करते हैं, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में। ये राजकीय समाजवाद के विरोधी हैं। इनका विचार है कि केन्द्रीकरण से नौकरशाही और लोकतन्त्र विरोधी शासन पैदा होगा। ये विकेन्द्रीकरण के पक्ष में हैं और राज्य को केवल शिक्षा, सर्वसाधारण का स्वास्थ्य, विदेशों से सम्बन्ध जैसे विषय देना चाहते हैं। स्वतन्त्र और सहयोगी समूह काम के घण्टे, मज़दूरी, कीमत, काम की सुविधाएँ आदि का नियन्त्रण और नियमन करेंगे। इस प्रकार इनके अनुसार दो प्रजातन्त्र स्थापित होंगे, एक आर्थिक और दूसरा राजनीतिक, और दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र होंगे।

वे चाहते हैं कि प्रत्येक उद्योग का शासन एक गिल्ड द्वारा हो। भोक्ताओं का अपना अलग संगठन हो जो उत्पादकों के साथ सहयोग करे और उत्पादन के खर्चे और चीज़ों की कीमत निर्धारित करने में सहायक हो। एक आम (लोक) सभा हो जो क्षेत्रों से चुनी जाय और जो आम विषयों के अधिकार में हो, जैसे सुरक्षा (सेना आदि) और कर। इसके अतिरिक्त स्थानीय विषयों के लिए स्थानीय संस्थाएँ होनी चाहिए। जहाँ तक राज्य का औद्योगिक संस्थाओं से सम्बन्ध है, इसके ऊपर दो मत हैं। एक मत के अनुसार राज्य को औद्योगिक गिल्डों के ऊपर समाजहित में नियामक शक्ति मिलनी चाहिए। दूसरों का कहना यह है कि यह क्षेत्र के हिसाब से जनता की प्रतिनिधि होने के कारण केवल भोक्ताओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है अतः पुलिस और न्याय जैसे दमन विभाग एक नियामक संस्था (निकाय) के नियन्त्रण में होने चाहिए। इस संस्था में उत्पादक और भोक्ता दोनों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। औद्योगिक विषयों में राज्य को प्रभु नहीं होना चाहिए और पेशेवार सरकारी शक्ति का बँटवारा होना चाहिए। बाद में वे राष्ट्रीय के स्थान में स्थानीय नियमन को महत्त्व देने लगे और राज्य में विभिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधित्व का समर्थन करने लगे। इस प्रकार वे राज्य के स्थान में स्वाभाविक संस्थाओं के संघ को महत्त्व देने लगे।

राजकीय समाजवादियों की धारणा थी कि ज्यों-ज्यों पूँजी का केन्द्रीकरण होगा त्यों-ही-त्यों यह समाज समाजवाद की ओर बढ़ेगा। गिल्ड समाजवादी इनके राजनीतिक ढंगों को अपनाना चाहते हैं, पार्लियामेण्ट में जाना चाहते हैं। परन्तु अकेले इस उपाय को पर्याप्त नहीं समझते। सिंडिकवादियों की भाँति ये मज़दूर संघों के संगठन और उनके दबाव से भी काम लेना चाहते हैं। परन्तु विद्रोह अथवा क्रान्ति में विश्वास नहीं करते। इनका कहना है कि राज्य की संगठित शक्ति के सामने और शस्त्रास्त्र न होने के कारण विद्रोह असम्भव प्रायः है और उसमें असफलता ही अधिक सम्भव है। अतः वे मज़दूर संगठनों को दो कारणों से मज़बूत करना चाहते हैं, एक तो यह कि इनके द्वारा वे अपनी माँगें मनवा सकेंगे और दूसरा यह कि भावी समाज के निर्माण में ये सभाएँ सहायक होंगी। सिंडिकवाद भी मज़दूर सभाओं के इन दोनों प्रयोगों को स्वीकार करता है। इनके पूर्व मज़दूर सभाएँ कुशल और अनाड़ी मज़दूरों में बँटी हुई थीं। इनका अपना अलग स्थानीय और राष्ट्रीय संगठन होता था। परन्तु इनका उद्योग के हिसाब से, विभागवार कुशल और अनाड़ी का मिला-जुला संगठन न था। इनका कहना था कि पुराने ढंग का संगठन कुशल और अनाड़ी के बीच तनाव पैदा करता है और प्रत्येक उद्योग के सब मज़दूरों का एक संगठन न होने के कारण उनकी संस्था को कमज़ोर और काम को कठिन बना देता है। अतः ये शिल्पी संगठनों के स्थान में उद्योगी संगठन, अर्थात् एक उद्योग में एक यूनियन चाहते हैं और शत प्रतिशत मज़दूरों को उसमें लाना चाहते हैं। साथ ही, मज़दूरों के राजनीतिक और हड़ताल के दबाव से उनके लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ लेना चाहते हैं। इस प्रकार वे पूँजीपति से पैदावार के लिए सामूहिक समझौते कर स्वतन्त्र रूप से पैदा करने का अधिकार प्राप्त करते हैं, अथवा उत्पादन में मज़दूरों की चुनी हुई परिषदों (Councils) की माँग करते हैं।

गिल्ड समाजवादी बड़े पैमाने के मशीन उद्योगों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिचायक हैं। इनका कहना है कि उत्पादन का यह ढंग व्यक्ति की मौलिकता और कलात्मक शक्तियों का नाश करता है। अतः इनमें अनेक लेखक मध्ययुगीय, विकेन्द्रित और छोटे पैमाने के उद्योगों में विश्वास करते हैं। इनका कहना है कि इस प्रकार मज़दूर के व्यक्तित्त्व का विकास होता रहेगा और वह मशीन का पुर्जा मात्र न बन कर अपनी कृति में गर्व का अनुभव करेगा। इसी कारण उन्होंने अपनी विचारधारा को **गिल्ड** समाजवाद कहा है। मध्ययुग में इसी प्रकार की उत्पादन व्यवस्था थी। अतः इनके ऊपर मध्ययुग का प्रभाव भी स्पष्ट है। परन्तु अन्य लेखक उद्योगों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं।

उनका कहना है कि इस प्रकार मज़दूरों का संगठन और शक्ति कमज़ोर पड़ जायगी और मज़दूर संगठनों के बिना नया समाज नहीं बनाया जा सकता।

गिल्ड समाजवाद नौकरशाही और केन्द्रीकरण के दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। इसके स्थान में वह विकेन्द्रीकरण और स्थानीय तथा क्षेत्रीय स्वराज्य चाहता है। वह उद्योगों में भी स्वशासन की माँग करता है, राज्य से उद्योग को अलग रखना चाहता है और राज्य में पेशेवार प्रतिनिधित्व चाहता है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और मौलिकता की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति को विकेन्द्रित करना और विभिन्न संस्थाओं की स्वतन्त्रता को महत्त्व देना चाहता है। अतः यह विचारधारा बहुलवादी है। वह एक ऐसे समाज यन्त्र की स्थापना करना चाहता है, जिसमें मनुष्य के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व हो। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह व्यवस्था अराजकता पैदा न करेगी? अथवा एक सर्वशक्तिमान् नियामक शक्ति, जो राज्य के समान ही शक्तिशाली हो पैदा न हो जाएगी? गिल्ड समाजवादी राज्य का अन्त करना नहीं चाहते, वे उसकी शक्तियों का विभाजन कर उसका पुनः संगठन करना चाहते हैं, उसको कमज़ोर बनाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए वे आर्थिक प्रश्नों के गिल्ड और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों को राज्य के हाथ में छोड़ना चाहते हैं। परन्तु सच यह है कि आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निकट सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि यह मनुष्य के स्वभाव से ज़रूरत से ज़्यादा आशा रखते हैं, समाज की एकता पर कुठाराघात करते हैं और एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जो व्यवहार में असम्भव होगा।

साम्यवाद (Communism):—इस विचारधारा का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसके अनुसार संसार के कई देशों में राज्य स्थापित हो चुके हैं। इन आदर्शों के अनुसार पहली क्रान्ति, सन् १९१७ में, रूस में हुई और सोवियत देश की स्थापना हुई। इस प्रयोग को अब लगभग ४० वर्ष हो गए। इसका प्रभाव पूर्वीय योरोप (पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया आदि) और पूर्वीय एशिया (चीन, कोरिया, हिन्द-चीन आदि) के लगभग नब्बे करोड़ प्राणियों पर पड़ चुका है। अतः इस विचारधारा के न केवल सिद्धान्त वरन् व्यवहार का भी अध्ययन किया जा सकता है।

इन सिद्धान्तों का मुख्य प्रतिपादक लेनिन (१८७०-१९२४) को बताया जाता है। परन्तु लेनिन का सहयोगी और शिष्य स्तालिन लेनिनवाद की इस प्रकार परिभाषा करता है, "लेनिनवाद साम्राज्यवाद और मज़दूर-क्रान्ति के काल का मार्क्सवाद है।" इससे सिद्ध होता है कि साम्यवाद की मार्क्सवादी परम्परा हैं। लेनिन स्वयं मार्क्सवाद के ऋण को स्वीकार करता है। परन्तु

यह पर्याप्त नहीं। स्तालिन के अनुसार साम्यवाद हठी विचारधारा नहीं। वह सृजनशील है। अतः वैज्ञानिक ढंग से वह नई परिस्थितियों का विश्लेषण करती और उनके हल खोजती है। यह विचारधारा किसी स्थान विशेष अथवा काल से बँधी नहीं। यह अन्तर्राष्ट्रीय है। अतः इस विचार के प्रतिपादक मार्क्स और लेनिन के बाद स्तालिन, माओ तथा अन्य देशों के साम्यवादी विचारक भी हैं।

हम मार्क्स (१८१८—१८८३) के सम्बन्ध में कुछ शब्द पहले ही कह चुके हैं। यह वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादक कहा जाता है। यह जर्मनी देश में पैदा हुआ था। इसने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें केपीटल (पूँजी Capital) मुख्य है। इसने कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र (Communist Manifesto) भी लिखा। साम्यवादी लेखक इसके विचारों के मूल तत्त्वों को ज्यों का त्यों अपना लेते हैं। इनमें द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद (Dialectical and Historical Materialism) मूल्य और अतिरिक्त मूल्य (Value and Surplus Value) का सिद्धान्त, क्रान्ति और सर्वहारा का निरंकुश शासन (Dictatorship of the Proletariat) और राज्य तथा भावी समाज सम्बन्धी विचार मुख्य हैं।

मार्क्स का विचार था कि विश्व विचारमय नहीं वरन् भौतिक वास्तविकता है। परन्तु भूत (पदार्थ) अचल नहीं। वह चल अवस्था में पाया जाता है। वह परिवर्त्तनशील है। उसकी गति के नियम हैं। यह द्वन्द्वात्मक प्रकार से गतिशील है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियम समाज पर भी लागू होते हैं। सामाजिक परिवर्त्तन इन्हीं नियमों के अनुसार होते हैं। अतः समाज का स्वरूप उत्पादन के प्रकार (Mode of Production) से निर्धारित है। ज्यों-ज्यों उत्पादन के साधनों में उन्नति होती है, त्यों-ही-त्यों उत्पादन के सम्बन्ध और प्रकार परिवर्त्तित होते हैं। इनके अनुसार आदिकालीन जाति साम्यवादी समाज (Primitive clan Communism) से लेकर सामन्तवाद और पूँजीवादी समाज तक परिवर्त्तन हुए हैं और उसी नियम के अनुसार पूँजीवाद का अन्त हो समाजवादी समाज व्यवस्था स्थापित होगी।

पूँजीवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसने पूँजीवादी लाभ का स्रोत मज़दूर के श्रमशोषण को बताया। उसका कहना है कि पूँजीवाद की मुख्य विशेषता यह है कि यह अधिकांश पैदावार बाज़ार के लिए पैदा करता है। बाज़ार में प्रत्येक वस्तु अपने मूल्य पर बेची जाती है। परन्तु बेची जानेवाली चीज़ों में मज़दूर शक्ति भी है। मज़दूर को निर्वाह मात्र के लिए मज़दूरी मिलती है और वह अपनी मज़दूरी से कहीं अधिक मूल्यवान् पदार्थ पैदा करता है। इन

पदार्थों के मूल्य और मज़दूरी के बीच का भेद अतिरिक्त मूल्य है जो सारे पूँजीवादी समाज के लाभ का आधार है। इसी अतिरिक्त मूल्य में से भाँति-भाँति के लाभ, सूद, कमीशन आदि बँट जाते हैं।

ज्यों-ज्यों पूँजीवाद का विकास होता है, उसका लाभ, उसकी पूँजी और उसकी शोषण शक्ति बढ़ती जाती है। एक ओर लाभ की आशा में पूँजीवाद अपना उत्पादन बढ़ाता है, और दूसरी ओर मज़दूर की मज़दूरी अथवा माल ख़रीदने की क्षमता ज्यों की त्यों रहती है, अथवा कुछ घटती या बहुत कम बढ़ती है। अतः अधिक उत्पादन का संकट उपस्थित हो जाता है। इसमें न केवल मज़दूर बेकार होते हैं और न मिल कारखानें बन्द होते हैं, वरन् छोटे-मोटे पूँजीपति भी तबाह हो जाते हैं। इस प्रतियोगिता में बड़े पूँजीपति ही बच पाते हैं और वे छोटे पूँजीपतियों को सटक कर और भी बड़े और एकाधिकारी हो जाते हैं। छोटा पूँजीपति मध्यवर्गीय हो जाता है और मध्यमवर्ग मज़दूरों की श्रेणी में भर्ती हो जाता है। अतः एक ओर पूँजीपतियों की संख्या घटती और दूसरी ओर मज़दूरवर्ग की संख्या बढ़ती है। मज़दूरवर्ग शोषण के सम्बन्ध में सचेत होता है, उसका संगठन और उसकी वर्ग चेतना बढ़ती है और फिर मज़दूरवर्गीय क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का नाश होगा। मार्क्सवाद क्रान्ति को ऐतिहासिक आवश्यकता और इतिहास के अनुभव का सार मानता है।

क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी राज्य, उसकी पुलिस सेना और शासन का अन्त होगा। यहाँ तक अराजकतावाद, मार्क्सवाद और सिंडिकवाद एक मत हैं। परन्तु मार्क्सवाद इस क्रान्ति के लिए मज़दूरवर्ग की केवल सदिच्छा पर ही विश्वास नहीं करता। वह उसके दल, संगठन को मज़बूत कर क्रान्ति करना चाहता है, वह उसकी राजनीतिक पार्टी बनाना चाहता है। साथ ही वह भविष्य में भी, पूँजीवाद के भग्नावशेषों का नाश करने के लिए मज़दूर-राज्य (Proletarian State) की आवश्यकता समझता है। यह राज्य मज़दूरवर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) होगा। इसके लिए आवश्यक है कि वह पूँजीवाद का नाश करे। इसके बाद जब पूँजीवाद का नाश हो जायगा और उत्पादन की शक्तियाँ पूँजीवादी बन्धनों से मुक्त हो उत्पादन बढ़ा देंगी तब कोई वर्ग न रह जाएँगे, शोषण का अन्त होगा और वर्ग-विहीन समाज स्थापित हो जाएगा। इस प्रक्रिया में पूँजीवादी समाज की समाप्ति के बाद, उत्पादन के साधन और पूँजी के समाजीकरण होने पर समाजवादी समाज की स्थापना होगी। इस समाज में पूँजीवादी समाज के भग्नावशेष उस वर्ग के व्यक्ति और उनका मनोविज्ञान शेष रह जायगा और उत्पादन अत्यधिक न बढ़ पाएगा। अतः समाजवादी समाज में राज्य की आवश्यकता होगी और

प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम करेगा और अपने काम के अनुसार वेतन पाएगा। परन्तु जब वर्ग मिट जाएँगे तब आज जैसे शासन की आवश्यकता न रह जाएगी, पुलिस और फ़ौज बेकार हो जाएँगे। केवल उत्पादन, वितरण और नियामक संस्थाएँ पर्याप्त होंगी। अतः राज्य की आवश्यकता न रह जायगी और उत्पादन की वृद्धि और मनुष्य स्वभाव में परिवर्त्तन के कारण प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार काम करेगा और आवश्यकतानुसार पाएगा। यह समाज साम्यवादी (Communist) समाज होगा।

जैसा कि स्तालिन द्वारा की गई लेनिनवाद की परिभाषा से स्पष्ट है, लेनिन ने मार्क्सवाद के उपर्युक्त तत्त्वों को अपनाया। परन्तु उसने इन तत्त्वों का नई परिस्थिति में प्रयोग किया, परिस्थिति के अनुसार इनमें संशोधन और परिवर्धन किया। स्तालिन का कहना है कि लेनिनवाद साम्राज्यवाद और मज़दूर क्रान्ति काल का लेनिनवाद है। जिस प्रकार मार्क्स ने पूँजीवादी समाज का विश्लेषण किया उसी प्रकार लेनिन ने साम्राज्यवाद की विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया और इस अध्ययन के आधार पर उसने प्रथम मज़दूर क्रान्ति के सिद्धान्त, उसकी कार्य और युद्धनीति (Tactics & Strategy) निर्धारित की और संसार की प्रथम समाजवादी क्रान्ति कर रूस में सोवियत सत्ता स्थापित की। लेनिन ने ही इस समाजवादी समाज के भी प्रथम सिद्धान्त निश्चय किए। लेनिन ने मार्क्सवादी दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति और कार्य-नीति, इन चारों को ही आगे बढ़ाया और तत्कालीन परिस्थितियों में इनका प्रयोग किया। जिस प्रकार मार्क्स को अपने कार्य में एंगिल्स से सहायता मिली थी उसी प्रकार लेनिन को अपने साथी स्तालिन से सहायता प्राप्त हुई।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को एकाधिकारी (Monopoly) अथवा पतनोन्मुख और मरणासन्न (Decaying and Moribund) पूँजीवाद कहा है। इस समय पूँजीवादी प्रतियोगिता नया रूप धारण करती है। विभिन्न उद्योगों में पूँजीपतियों का एकाधिकार होने के कारण इनकी आपसी प्रतियोगिता से ख़रीदार अथवा मज़दूर को लाभ नहीं होता। इस काल में माँग और ख़पत का सिद्धान्त (Demand and Supply) भी पूर्ण रूपेण लागू नहीं होता। इस युग में पूँजीवाद केवल पक्का माल ही विदेशों को नहीं भेजता वरन् पूँजी, रेल, तार, उद्योग, सरकारी ऋण भी पिछड़े हुए देशों और उपनिवेशों में लगाता है। वह पूँजी का निर्यात करता है। इस काल में बैंक पूँजी का महत्त्व बढ़ जाता है। संसार के पिछड़े देशों को उपनिवेशों में बाँट दिया जाता है। संसार में बाज़ारों का बँटवारा पूरा होने के बाद साम्राज्यवादी बाज़ार छीनने के प्रयत्न में आपस में लड़ जाते हैं। अतः साम्राज्यवादी अवस्था में पूँजीवाद

का संकट और भी गहरा हो जाता है। प्रतियोगिता देश के अन्दर ही सीमित नहीं रहती वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आरम्भ हो जाती है। विभिन्न देशों का मज़दूर वर्ग और भी सचेत हो जाता है, उसका भाईचारा और भी मज़बूत हो जाता है। उसको उपनिवेशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों से भी सहायता मिलती है। अतः ऐसी दशा में मज़दूर क्रान्तियाँ और भी सम्भव और आवश्यक हो जाती हैं। सम्भव इसलिए कि साम्राज्यवादी व्यवस्था संकट ग्रस्त होती है और आवश्यक इसलिए कि मानव-समाज के पास इससे छुटकारा पाने के सिवा और कोई चारा नहीं। लेनिन ने यह भी कहा कि इस काल में क्रान्ति का उद्योग प्रधान देश में होना आवश्यक नहीं। यह उस देश में पहले होगी जहाँ उसके लिए परिस्थितियाँ परिपक्व हैं और जहाँ साम्राज्यवादी व्यवस्था की बेड़ियाँ सबसे अधिक कमज़ोर हों। अतः क्रान्ति पहले ब्रिटेन आदि देशों में न होगी क्योंकि वहाँ साम्राज्यवाद मज़बूत है। वह रूस जैसे देश में होगी जहाँ यह व्यवस्था कमज़ोर है। लेनिन ने पार्टी संगठन, मज़दूर, किसान और मध्यवर्ग के सहयोग पर भी बहुत ज़ोर दिया।

साम्यवाद क्रान्तिकारी उपायों पर ज़ोर देता है। उसका कहना है कि जिन वर्गों के हाथ में आर्थिक शक्ति है वे बिना संघर्ष सत्ता न देंगे। जब क्रान्ति द्वारा मज़दूर वर्ग सत्तारूढ़ हो जाय तब उस सत्ता को स्थिर करने के लिए मज़दूर वर्ग के निरंकुश शासन (Proletarian Dictatorship) की आवश्यकता है। यह निरंकुश शासन पुराने शासक वर्ग और उसके साथियों से न केवल पूँजी और उत्पादन के साधन छीनेगा वरन् उनके राजनीतिक अधिकार भी छीन लेगा, उनको मताधिकार न रह जायगा। साथ ही जो वर्ग अत्यन्त विश्वासपात्र हैं अर्थात् मज़दूर वर्ग, उसको संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। इस बीच में केवल एक दल, कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) दल का अस्तित्व होगा ताकि किसी प्रकार का भ्रम-बाधा उपस्थित न हों। युवकों को नई शिक्षा दी जायगी। धीरे-धीरे वर्गों का लोप होने पर राज्य का अन्त हो जायगा। जनता पेशे के अनुसार संगठित हो जायगी और वह अपने काम के अनुसार वेतन पाएगी। सामाजिक नियन्त्रण जनता के हाथ में होगा। साम्यवाद का सिद्धान्त मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे और संगठन में विश्वास करता है। उसका कहना है कि देशों और राष्ट्रों के बीच संघर्ष पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण पैदा होते हैं। समाजवादी व्यवस्था को इनकी आवश्यकता नहीं। समाजवाद स्थापित होने पर संसार शान्ति से रह सकता है। परन्तु साम्यवाद के आलोचक सोवियत देश पर राष्ट्रीय और सैनिकवादी (Militarist) होने का दोष लगाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को अपनाया। उसने मार्क्सवाद का अवसरवादी और सुधारवादी भाष्यों से उद्धार कर उसके क्रान्तिकारी तथ्य का प्रचार किया और उन सिद्धान्तों के अनुसार क्रान्तिकारी दल की स्थापना की तथा एक क्रान्तिकारी अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव डाली। वह नगर के क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में किसान और सेना छोड़ने वाले सैनिकों की सहायता से क्रान्ति सम्पन्न कर सका। इस क्रान्ति का नेतृत्व एक मज़दूर दल ने किया जिसको लेनिन ने क्रान्तिकारी आदर्शों और अनुशासन के आधार पर बनाया था। माओ ने लेनिन के सिद्धान्तों को चीन जैसे पिछड़े और अर्ध औपनिवेशिक देश में लागू किया। उसने नगरों की अपेक्षा पिछड़े और पहाड़ी प्रदेशों में अपने क्रान्तिकारी क्षेत्र स्थापित किए। रूसी क्रान्ति के समय मज़दूर किसान और सिपाहियों के प्रतिनिधियों ने स्थान-स्थान पर सत्ता छीन कर अपनी संसदें (Councils) स्थापित कीं जिनको सोवियत कहा जाता था।

क्रान्ति के बाद गृहयुद्ध हुआ। विदेशी साम्राज्यवादियों ने हस्तक्षेप किया। अन्त में क्रान्ति की विजय के बाद निर्माण का प्रश्न उठा। सन् १९२४ में लेनिन की मृत्यु हो चुकी थी। परन्तु देश में इतनी क्षति हुई थी कि युद्ध के पूर्व के स्तर तक भी उत्पादन न पहुँच सका। यह दशा सन् १९२८—२९ तक सम्भव हो सकी।

सन् १९२८ से पंचवर्षीय योजनाओं का आरम्भ हुआ और इसी समय गाँव के अमीर किसान-वर्ग का अन्त कर सहकारी और सामूहिक खेती का आरम्भ हुआ। आरम्भ में आलोचकों ने इन योजनाओं का मज़ाक उड़ाया। अमीर किसानों ने भी आसानी से हार स्वीकार न की। परन्तु सन् १९३६ तक साम्यवाद की ओर आशातीत सफलता हुई। इसी बीच अन्य देशों ने भी सोवियत राज्य को मान्यता दी और उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मज़बूत हुए। ऐसी परिस्थिति में सोवियत ने नया संविधान बनाया जो पिछले २० वर्षों से लागू है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं।

सोवियत देश सोलह संघ प्रजातन्त्र, अनेक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र, स्वतन्त्र प्रान्त और राष्ट्रीय क्षेत्रों का संघ है। इसमें सत्ता जनता के हाथ में है जिसमें १८ वर्ष के प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार है। राजकीय शक्ति का सर्वोच्च संगठन सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) है। इसके दो सदन हैं। एक सदन का नाम संघ सोवियत (Soviet of the union) है और इसका चुनाव क्षेत्र के आधार पर होता है तथा प्रत्येक तीन लाख मतदाता एक प्रतिनिधि चुनते हैं। दूसरे सदन का नाम राष्ट्रों का सोवियत (Soviet of Nationalists) है और इसके लिए प्रत्येक संघ प्रजातन्त्र पच्चीस, स्वतन्त्र

प्रजातन्त्र (Autonomous Republic) ग्यारह, प्रत्येक स्वतन्त्र प्रान्त पाँच और प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र एक सदस्य चुनता है। दोनों सदनों के वैधानिक अधिकार सब तरह बराबर हैं और मतभेदों के न सुलझने पर इनका दुबारा चुनाव ही एक रास्ता है। सर्वोच्च सोवियत तैंतीस सदस्यों के एक प्रतिनिधि-मण्डल का चुनाव करती है जिनमें एक प्रधान, सोलह उपप्रधान, एक मन्त्री और पन्द्रह अन्य सदस्य होते हैं। यह प्रतिनिधि-मण्डल सर्वोच्च सोवियत की अनुपस्थिति में उसके कार्य अर्थात् क़ानूनों का निर्वाचन (Interpretation) आदि करता है और नियुक्ति अथवा पदच्युत भी करता है। सर्वोच्च सोवियत ही मन्त्रिमण्डल की भी नियुक्ति करता है और मन्त्रिमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी है। सोवियत मन्त्रिमण्डल में दो प्रकार के मन्त्री हैं एक के जो अखिल-संघ मन्त्री (All Union ministries) हैं और दूसरे संघ-प्रजातन्त्र (Union Republican) मन्त्री हैं। सर्वोच्च सोवियत के हाथ में विधायिनी और मन्त्रिमण्डल के हाथ में कार्यकारिणी शक्ति है। सोवियत राज्य संघ राज्य है। उसके प्रजातन्त्रों को सम्बन्ध विच्छेद तक का अधिकार है। परन्तु कहा जाता है कि यह केवल काग़ज़ी है। सोवियत साम्यवादी दल इनको एकता के सूत्र में जकड़े हुए है। साथ ही सोवियत संघ में सर्वोच्च-शक्तियाँ निहित हैं। जिस प्रकार केन्द्र में उसी प्रकार प्रजातन्त्रों में भी उनकी अपनी सर्वोच्च सोवियत हैं जिनका चुनाव सर्वसाधारण वयस्क मताधिकार से होता है और जो सभापति मण्डल और मन्त्रियों की नियुक्ति करती हैं। प्रत्येक क्षेत्र प्रान्त, स्वतन्त्र प्रान्त, क्षेत्र, जिला नगर और गाँव की स्थानीय सत्ता श्रमिकजन के डिपुटियों की सोवियत के हाथ में है। ये अपने विभिन्न क्षेत्रों से चुने जाते हैं और इनकी अपनी सोवियत कार्यकारिणी चुनती है, जो इनका सभापतित्व करते हैं। सोवियत संघ, प्रजातन्त्र और विभिन्न प्रान्तों के न्यायालयों को भी उनकी अपनी सर्वोच्च सोवियत चुनती है और ज़िले के जन न्यायालय ज़िले की जनता चुनती है। क़ानूनों पर अमल कराना, यह संघ और प्रजातन्त्र के प्रोक्यूरेटरों के हाथ में है और इनकी नियुक्ति भी सर्वोच्च सोवियत करती है। परन्तु प्रजातन्त्र आदि के प्रोक्यूरेटरों की नियुक्ति संघ सोवियत का प्रोक्यूरेटर करता है। सोवियत संविधान में नागरिकों को अनेक प्रकार के मूल-अधिकार दिए गए हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की समानता, काम करने और आराम के अधिकार, बुढ़ापे, बीमारी और पंगु होने पर जीविका का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, स्त्रियों और जातियों और अल्पमतों को समानता का अधिकार, विश्वास, भाषण, लेखन और संघ बनाने आदि के अधिकार मुख्य हैं।

मृत्यु के कुछ काल पूर्व ही स्तालिन ने सोवियत देश के सामन साम्यवाद निर्माण का ध्येय रखा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साम्यवाद समाजवादी समाज का ही विकसित, उच्च रूप है। स्तालिन का कहना है कि इसके लिए तीन बातों की आवश्यकता है : (१) सामाजिक उत्पादन का क्रमशः विस्तार। इसके लिए उत्पादन के साधनों के उत्पादन पर अपेक्षतः अधिक ध्यान देना होगा। क्योंकि इसके बिना पुनः उत्पादन, भोग उद्योगों के लिए अधिक मशीनें और उत्पादन उद्योगों के लिए मशीनें नहीं मिल सकतीं। इसके बिना उत्पादन में उन्नति सम्भव नहीं। (२) सामूहिक खेती का राजकीय अथवा सर्वसाधारण सम्पत्ति बन जाना, जिससे कि उत्पादित वस्तुओं के विनिमय को समाजहित में काम में लाया जा सके। इस प्रकार सामूहिक खेती का स्वामित्व राजकीय अथवा सामाजिक स्वामित्व में बदल जायगा और (३) समाज का सर्वांगी शारीरिक और मानसिक विकास, प्रत्येक व्यक्ति की पर्याप्त विविध प्रकार की टेकनीकल शिक्षा जिससे कि व्यक्ति सामाजिक विकास में स्वयं सक्रिय हो जाए और जिससे कि वह रुचि के अनुसार पेशा बदल सके ताकि कार्य-भार न बन जाए। इसके लिए सांस्कृतिक उन्नति के स्तर को और भी ऊँचा करना होगा और काम के घण्टे घटा कर पाँच या छः घण्टे प्रतिदिन काम और शेष आराम और फ़ुर्सत के घण्टे बढ़ाने होंगे।

स्तालिन के इन विचारों को कार्य रूप में परिणित करने और साम्यवादी समाज का निर्माण करने के लिए बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण की योजना लागू की गई है। इनको साम्यवादी समाज का निर्माण कहा जा रहा है।

साम्यवाद के विरोधी इसके भौतिकवादी दर्शन, इसकी वर्गसंघर्ष और क्रान्तिकारी विचारधारा, मूल्य का श्रम सिद्धान्त, इसके सर्वहारा के निरंकुश शासन आदि की कटु आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि भौतिकवादी दर्शन इतिहास के केवल एक ही पहलू, उदाहरणार्थ केवल आर्थिक पहलू पर ज़ोर देता है। वह भूगोल, धर्म आदि को छोड़ देता है। वर्ग संघर्ष क्रान्ति में विश्वास रखने के अर्थ वे यह समझते हैं कि साम्यवादी निराशावादी है, वह मनुष्य को अपनी ओर मोड़ने, प्रचार आदि में विश्वास नहीं करते। साथ ही उनका यह भी कहना है कि उनका मनुष्य स्वभाव की अच्छाई में बेहद विश्वास है। वे समझते हैं कि साम्यवाद मनुष्य के स्वभाव को बदल देगा। मूल्य का निर्णायक केवल श्रम ही नहीं, उसके अतिरिक्त पूँजी आदि भी हैं। अनेक आर्थिक सुझावों से पूँजीवाद अर्थ संकट से बचाव कर क्रान्ति की सम्भावना को कम कर देता है। निरंकुश शासन की भी कटु आलोचना की जाती है। उसकी लोकतन्त्र से तुलना की जाती है। सोवियत सरकार की अनेक बुराइयों,

उसकी नौकरशाही, स्वतन्त्रता की कमी आदि की ओर भी संकेत किया जाता है।

साम्यवादियों का उत्तर यह है कि वर्ग संघर्ष उनका अपना आविष्कार नहीं। वह तो शोषण समाज का एक अभिन्न अंग है। इतिहास बताता है कि शोषक वर्ग शासन सत्ता पर हावी रहता है और बिना क्रान्ति के शक्ति त्याग नहीं करता। मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अतिरिक्त सिद्धान्त मजदूर के शोषण और पूँजीवादी वास्तविकता को छिपाने के सिद्धान्त हैं। पूँजीवादी आर्थिक संकट का अस्थायी हल निकाल सकते हैं। परन्तु संकटों का अन्त उनकी व्यवस्था के अन्त के साथ ही होता है। सर्वहारा का निरंकुश शासन निरंकुश अवश्य है, परन्तु केवल पूँजीवादी तत्त्वों के लिए। वास्तव में पूँजीवादी लोकतन्त्र भी केवल पूँजीपतियों के हित का शासन है। दूसरी ओर सर्वहारा का निरंकुश शासन असंख्य जनता के हित का शासन होने के नाते पूँजीवादी लोकतन्त्र से भी अधिक लोकतन्त्रात्मक है।

हम ऊपर विभिन्न समाजवादी विचारधाराओं के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में बहुधा यह कहा जाता है कि यह काल्पनिक अधिक, व्यावहारिक कम है। यह आलोचनात्मक है, सृजनात्मक नहीं। यह ठीक ही है कि समाजवाद, पूँजीवाद और व्यक्तिवाद के दोषों—असमानता आदि को उभार कर ऊपर लाता है। वह सुख पूर्ण जीवन के लिए समाज द्वारा आर्थिक नियमन को आवश्यक समझता है। परन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि मानव समाज इतना अच्छा नहीं जितना समाजवादी समझते हैं। वह स्वार्थी है, सहयोगप्रिय नहीं। समाजवादी राज्य को इतना कार्य-भार देना चाहते हैं, जिसका सम्भालना उसके लिए असम्भव प्राय है। इस कारण व्यभिचार, नौकरशाही आदि आवश्यक हो जाएँगे और व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसका स्वतन्त्र विकास असम्भव प्राय होंगे। परन्तु पीगू (Pigue) जैसे अर्थशास्त्रियों का कथन है कि आधुनिक मशीन युग में काम को मनोरंजक बनाया जा सकता है और उद्योगों का प्रबन्ध विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक समितियों को देकर नौकरशाही के भय से छुटकारा मिल सकता है। मूल समस्या है जनहित और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—इन दो का सामंजस्य स्थापित करना।

यह ध्यान देने योग्य विषय है कि अनेक पूँजीवादी राज्यों ने समाजवाद के अनेक विचारों को व्यवहार में मान लिया है। जैसे, योजना, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, ब्याज की दर और लाभ का नियन्त्रण, वेतन का नियन्त्रण, उत्तराधिकार और मृत्यु पर टैक्स आदि।

फ़ासिज़्म
(Fascism)

इस विचारधारा का जन्मस्थान इटली है। इन विचारों के आधार पर यहाँ फ़ासिस्ट आन्दोलन की नींव भी पड़ी जिसका नेता मुसोलिनी था। मुसोलिनी स्वयं समाजवादी रह चुका था। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस देश में सिंडिकवादी विचारों का ज़ोर था। पेशेवार प्रतिनिधित्व का विचार फ़ासिज़्म ने इसी विचारधारा से लिया है। परन्तु यह विचारधारा राज्य विरोधी थी और मज़दूर सत्ता पर ज़ोर देती थी। वह क्रान्तिकारी और अन्तर्राष्ट्रीय थी। फ़ासिज़्म इन विचारों से कोसों दूर है। प्रथम महायुद्ध के बाद इटली भी मित्रराष्ट्रों के साथ विजयी हुआ, परन्तु उसको कुछ न मिला। उद्योग प्रधान न होने के कारण आर्थिक संकट का भी उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। ऐसी स्थिति में शासक वर्ग की सहायता से फ़ासिस्ट दल को सन् १९२२ में सत्ता प्राप्त हो गई और उसके बाद दूसरे महायुद्ध काल में सन् १९४३ ई० में मुसोलिनी की मृत्यु तक यह सत्ता इटली में क़ायम रही।

फ़ासिज़्म शब्द फ़ासिओ (Fascio) धातु से बना है। इस शब्द के अर्थ हैं समूह अथवा गट्ठा। टहनियां अथवा पौधे एक गट्ठे में मिल कर अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। प्राचीन रोम काल में लकड़ियों का गट्ठा और उसके बीच में एक कुल्हाड़ी का निशान वहाँ के कौंसलों (प्रधान) के सम्मान में लाया जाता था। यह सत्ता का प्रतीक था। फ़ासिस्टों ने इसी चिह्न को अपना चिह्न स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, फ़ासिस्टों को इस बात का गर्व था कि वे प्राचीन रोम के विजेताओं के वंशज हैं। उन्होंने प्राचीन रोम की सभ्यता और संस्कृति को अपने आन्दोलन के हित में प्रयोग किया और इस हेतु प्राचीन मन्दिर, महल तथा अन्य सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थानों को सुरक्षित रखने और उनका प्रचार करने का भी भरसक प्रयत्न किया। उनके हृदय में मेकियावली का विशेष सम्मान था। यह भी इटली के फ्लोरेंस नगर का रहनेवाला था। इसने इटली की एकता, राज्य की सर्वोच्चता, उसका विस्तार, शक्ति का प्रयोग, राज्य के हित में प्रत्येक भाँति का आचरण—इस प्रकार के विचार प्रकट किए थे। फ़ासिस्ट इसके विचारों से प्रेरणा लेते और उसको संसार का महान् राजनीतिज्ञ मानते थे। इसी प्रकार वे इटली के महान् देश-भक्त मेज़िनी के राजनीतिक विचारों का भी प्रयोग करते थे। मेज़िनी ने राष्ट्रीयता और देशभक्ति पर बहुत ज़ोर दिया है। इनके ऊपर क्रोचे (Croce) के व्यवहारवाद (Pragmatism) का प्रभाव है। वह कारलायल की भाँति व्यक्ति को महत्त्व देता है, उसको इतिहास में प्रमुख शक्ति मानता है। वीको

यह आर्थिक संगठन राज्य स्वयं जनता पर लादता है और उनके प्रतिनिधियों को भी स्वयं ही चुनता है। परन्तु इस विधान सभा को केवल अपना मत प्रकाशन का अधिकार था। वास्तविक शासन शक्ति कार्यकारिणी और शासन के अधिकारियों के हाथ में रहती थी। फ़ासिज़्म का एक दल राज्य और दल के नेता का सरकार पर नियन्त्रण में विश्वास है। वह शिक्षा और प्रचार द्वारा भावी जनता और भावी सन्तान को वश में रखने का प्रयत्न करता है। यह विचारधारा दुगुए (Duguit) के सामाजिक ऐक्य और समाज सेवा तथा सिंडिकवाद के आर्थिक संगठन का समन्वय है। वह संगठन पर ज़ोर देता है। काम, एकता, अनुशासन और व्यवहार उसके नारे हैं।

फ़ासिज़्म समाजवादी समानता का विरोधी है। वह संगठन के नाम पर सम्पत्ति के समाजीकरण का विरोध करता है और इसीलिए समाज संघर्ष का विरोध कर समाज सहयोग और समन्वयवाद पर ज़ोर देता है। वह निज की सम्पत्ति को कुटुम्बहित के लिए और सरकारी नियमन के बाद समाजहित के लिए आवश्यकीय समझता है।

फ़ासिज़्म अन्तर्राष्ट्रीयता का भी विरोधी है। वह राज्य को स्वतन्त्र और संगठित इकाई, एक सावयवी और जीवित इकाई और ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। राज्य का सर्वोच्च स्वरूप वह है जिसमें राजनीतिक ऐक्य के साथ ही भौगोलिक और जातीय एकता भी हो और जिसकी ऐतिहासिक परम्पराओं की एकता भी हो। राज्य का किसी दूसरे के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं, उसका कर्त्तव्य केवल स्वयं अपने प्रति है। उसको अपनी शक्ति को बढ़ाना, अपने राष्ट्रीय हितों का विकास करना चाहिए। यदि किसी राज्य को अपनी जनता के लिए निवासस्थान अथवा कच्चे माल की आवश्यकता है तो विस्तार की नीति उसके लिए उपयुक्त और उचित ही है। अतः फ़ासिस्ट विचारक सैन्य और साम्राज्यवाद में विश्वास करते हैं। मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसको अधीन कर लिया। वह प्राचीन रोम साम्राज्य के स्वप्न देखता था और भूमध्य सागर को इटली की झील बना देना चाहता था। वे शान्तिवादी नहीं। उनका युद्ध में विश्वास है। वे अन्तर्राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। वे हीगेल और बुसांके की भाँति राज्य की शक्ति और इच्छा के पहलू को महत्त्व देते हैं और उसको व्यक्तिगत नैतिकता से परे समझते हैं।

फ़ासिस्ट विचारधारा व्यक्तिवादी विचारधारा और समाजवाद तथा लोकतन्त्रवाद की विरोधी है। इसका प्रभाव जर्मनी और आस्ट्रिया पर भी पड़ा था।

राष्ट्रीय समाजवाद
(National Socialism)

जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, फ़ासिज़्म और राष्ट्रीय समाजवाद (अथवा नात्सीज़्म Nazism) बहुत भिन्न नहीं। दोनों विचारधाराएँ उदारवाद, समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, शान्तिवाद, लोकतन्त्र आदि विचारों के कट्टर शत्रु हैं। दोनों ही राष्ट्रवादी, राज्यवादी, एकदलवादी, जातिवादी (Racist) सैन्य और साम्राज्यवादी, नेतृत्व के सिद्धान्त को मानने वाली विचारधाराएँ हैं। नात्सीवाद ने फ़ासिज़्म से बहुत कुछ प्राप्त किया है।

जिस प्रकार फ़ासिज़्म का मुख्य प्रचारक मुसोलिनी था उसी प्रकार नात्सीवाद का प्रमुख प्रचारक हिटलर हुआ है। हिटलर ने इसका जर्मनी में प्रचार किया और वहाँ इन विचारों के अनुसार सन् १९३२—३३ में नात्सीदल का शासन स्थापित किया। युद्ध के बाद जर्मनी की दशा इटली से भी बुरी थी। वह परास्त देश था। इस कारण इसके ऊपर हरजाना लादा गया था और इसके उपनिवेश और बाज़ार छिन गए थे और सर पर क़र्जा लद गया था। जर्मनी का पूँजीवाद एकाधिकारी और मज़बूत साम्राज्यवादी पूँजीवाद था। यहाँ सामन्तवाद भी था और प्रशा के जुंकर (Junker) सामन्तवादियों की सैनिक परम्पराएँ थीं। जर्मनी का पूँजीपति और शासक वर्ग अपनी इन साम्राज्यवादी परम्पराओं को न भूल पाता था। इधर युद्ध ऋण और बाज़ार न होने के कारण जर्मनी में आर्थिक संकट ने विकट रूप धारण कर लिया। बेकारी फैल गई। इस अवस्था में साम्यवाद अथवा समाजवाद सम्भव था। परन्तु अभी मज़दूर आन्दोलन इतना संगठित और शक्तिशाली न था। इस भय से कि कहीं संकट काल में साम्यवाद स्थापित न हो जाय, वहाँ के धनिक वर्ग ने नात्सीदल को सहायता दे कर सत्तारूढ़ कर दिया।

आरम्भ में फ़ासिज़्म और नात्सीवाद, दोनों के पास अपना निजी दर्शन न था। ये लोकतन्त्र और साम्यवाद की आलोचना पर जीवित थे। आरम्भ में ये पूँजीवाद को भी बुरा-भला कहते थे ताकि मज़दूर वर्ग प्रभावित हो सके। ये व्यवहार पर आधारित आन्दोलन मात्र थे। परन्तु शीघ्र ही इनको सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ी। अतः आदर्शवादी और अवसरवादी सिद्धान्तों का सहारा लेकर इन्होंने अपने दर्शन का प्रतिपादन किया।

फ़ासिज़्म की भाँति नात्सीवाद भी राज्य को मुख्य और सावयवी मानता है। व्यक्ति गौण है। राज्य सम्पत्ति के नियमन का अधिकार रखता है।

परन्तु उसका स्वामी व्यक्ति होगा। आर्थिक जीवन में योजना का स्थान है। प्रत्येक मज़दूर को काम मिलेगा परन्तु हड़ताल का अधिकार न होगा।

राज्य का शासन एक दल के हाथ में होगा। लोकतन्त्र समाप्त कर दिया जायगा। यहाँ नेतृत्व सिद्धान्त को भी माना जाता था। दल का नेता ही राष्ट्र का नेता होता था। इनके अनुसार इतिहास में नेता का महत्व है। यहाँ कोई विधान सभा जैसी शक्ति न थी। कार्यकारिणी को ही सब शक्ति प्राप्त थी। सरकारी निर्देश (Decrees) ही क़ानून थे। समय समय पर हिटलर चुनाव करवाता था। परन्तु उसका तात्पर्य केवल अपने पक्ष में मत डलवा कर अपनी जनप्रियता का अनुमान करना था। प्रचार, शिक्षा, पुलिस आदि के सहारे जनता को वश में रखा जाता था।

फ़ासिज़्म की भाँति नात्सीवाद भी अपनी पुरानी परम्पराओं से प्रेरणा लेता था। जिस प्रकार मुसोलिनी रोम साम्राज्य की ओर देखता था, हिटलर प्राचीन जर्मन जाति की ओर, उसकी सैन्य परम्पराओं की ओर देखता था। इनका ईसाई धर्म की विनम्रता, उसके गुणों में विश्वास न था। ये लड़ाकू भावना, वीरता, प्राचीन युद्ध के देवताओं में विश्वास करते थे। ये युद्ध की भावनाओं, राज्य के विस्तार के विचारों का प्रचार करते थे। जिस प्रकार मुसोलिनी भूमध्य सागर को "हमारी झील" (Mare Nostrum) कहता था, इसी प्रकार "पूर्व की ओर बढ़ो" (Drang Nach Osten) हिटलर का नारा था। दोनों ही साम्राज्यवादी थे। ये शान्तिवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्के दुश्मन थे। हिटलर रहने के लिए भूमि (Lebensraum) चाहता था और उसके लिए युद्ध अवश्यम्भावी था।

हिटलर ने उच्च जाति (Superior Race) सिद्धान्त का प्रचार किया। वह जर्मनों को विशुद्ध आर्य अथवा नॉर्डिक जाति का मानता था। उसका कहना था कि संसार के सब महान् व्यक्ति इसी जाति ने पैदा किए हैं। यहाँ तक कि वह ईसा को भी आर्य मानता था। परन्तु काली जातियाँ, उसकी परिभाषा के अनुसार अनार्य थीं। इसी कारण वह योरोपीय रोमानी (Gypsy) का कट्टर शत्रु था। इसी आधार पर उसने यहूदियों के विरुद्ध जहाद की और जहाँ-जहाँ इसका प्रभाव जा सका, इसने यहूदियों को मिटाने, उनको नपुंसक बनाने, भट्टियों में जलाने आदि का प्रयत्न किया। इसका विशुद्ध रक्त के सिद्धान्त में विश्वास था।

नात्सीवाद स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं देता। वह केवल उनके शारीरिक और नैतिक विकास पर ज़ोर देता है, बौद्धिक विकास पर नहीं। उन्होंने विश्वविद्यालयों में स्त्रियों के लिए केवल दश प्रतिशत स्थान सुरक्षित

रखे थे। स्त्रियों का प्रथम कर्त्तव्य राष्ट्र के लिए अच्छी नस्ल की सन्तान पैदा करना था।

फ़ासिज़्म और नात्सीवाद सम्पत्ति के समाजीकरण और स्त्रियों की एकता के सम्बन्ध में बिल्कुल भिन्न हैं। साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास करता है। दोनों एक दल के शासन में विश्वास करते हैं। परन्तु एक ओर सीमित वर्ग का और उसके हित में शासन होता है, दूसरी ओर साम्यवादी शासन मज़दूर वर्ग का और उसके हित में शासन है।

नवीन विचारधाराओं के विश्लेषण से एक बात तो स्पष्ट है कि स्वतन्त्र व्यापार (Laissez faire) के युग का अन्त हो गया। समाजहित में समूह अथवा राज्य का हस्तक्षेप सभी मानते हैं, चाहे वे फ़ासिस्ट हों, कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) अथवा समाजवादी और सिंडिकवादी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह युग राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के संघर्ष का युग है। एक ओर राज्य समाजहित में आर्थिक शक्तियों पर अधिकार स्थापित करना चाहता है। दूसरी ओर आर्थिक शक्तियाँ भी अपनी समस्याओं के हल के लिए राज्य पर अधिकार स्थापित करना चाहती हैं। कहीं तटकर की माँग है तो कहीं कर की, कहीं मजदूरी बढ़ाने की माँग हैं तो कहीं औद्योगिक सुविधाओं की। मज़दूर और पूँजीपति दोनों ही अपने हित में राज्य पर अधिकार करना चाहते हैं। यदि एक अपने मत और संख्या अथवा क्रान्ति द्वारा उद्देश्य पूर्ति करना चाहता है तो दूसरा पक्ष भी अपनी आर्थिक शक्ति, प्रचार, सेना आदि की सहायता से फ़ासिस्ट जैसा अपना शासन स्थापित करना चाहता है। इन संघर्षों का क्या परिणाम होगा, क्या आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का कोई सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित हो सकेगा, यह भविष्य ही बताएगा। इस समय मुख्य प्रश्न यह है कि राज्य का आर्थिक विषयों में अधिकार-क्षेत्र क्या हो, उसको इन विषयों में किस सीमा तक हस्तक्षेप करने का अधिकार हो। इस प्रश्न पर विभिन्न विचारधाराओं के विभिन्न मत हैं।

गांधीवाद

गांधीवाद भारतवर्ष की विशेष परिस्थितियों की देन है। यह सिद्धान्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच प्रतिपादित हुआ है। गांधीजीने पिछली शताब्दी के अन्त में ही दक्षिणी अफ्रीका में इन सिद्धान्तों की खोज आरम्भ की थी। आतंकवादी उपाय व्यर्थ सिद्ध हो चुके थे, उदार और संवैधानिक उपायों से भी देश आगे बढ़ता दिखाई न देता था। गांधीजी ने अपने सत्य और अहिंसात्मक सक्रिय असहयोग और भद्र अवज्ञा आन्दोलन का मार्ग खोज निकाला।

गांधीजी के दर्शन पर कई प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने टाल्सटाय का अध्ययन किया था। इस स्रोत से वे योरोपीय अराजकतावाद के निकट पहुँच गए। परन्तु इससे उनके अहिंसात्मक विचारों की ही पुष्टि हुई। वे शक्ति के विरोधी हो गए। पुलिस और फ़ौज तथा सरकार की शक्ति को हिंसा मानने लगे। उन्होंने बाइबिल का अध्ययन किया था। साथ ही गीता और अन्य हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का भी। अतः उनकी धार्मिक प्रवृत्ति थी। वे ईश्वर और अन्तरात्मा में विश्वास करते थे। परन्तु वे गीता और तिलक से भी प्रभावित थे। अतः उनका निष्काम कर्म योग में विश्वास था। गांधीजी का नैतिकता में अटल विश्वास था। अतः सत्य के प्रयोग पर जोर देते थे। सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों ही दृष्टि से वे अहिंसात्मक उपायों पर जोर देते थे। तर्क यह था कि प्रथम तो हिंसा के लिए शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता है। उनका अभाव है और इस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरे वे किसी को शत्रु मानने को तैयार ही न थे। उनकी समझ के अनुसार कुछ व्यक्ति अज्ञानवश बुरे हो जाते हैं। आवश्यकता हिंसा की नहीं, हृदय परिवर्त्तन की है। अतः वे अपने उपायों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का भी हृदय परिवर्त्तन करना चाहते थे। गांधीजी भौतिक तत्त्वों की अपेक्षा आध्यात्मवाद को अधिक महत्त्व देते थे। अतः उनका जोर इच्छा-पूर्ति अथवा आवश्यकताओं को बढ़ाने पर नहीं, उनके सीमित करने, मन को वश में करने पर था।

अतः जहाँ तक सामाजिक परिवर्त्तनों का भी सम्बन्ध है वहां भी वे शान्तिमय और अहिंसात्मक उपायों के पक्ष में थे। उनका श्रेणी संघर्ष में नहीं, श्रेणी समन्वय में विश्वास था। वे राजा, जमींदार और पूंजीपति को सिद्धान्ततः शोषक नहीं, वरन् धरोहर रखनेवाला (Trustee) समझते थे। गांधीजी के धार्मिक और राजनीतिक विचारों का उनके आर्थिक विचारों पर प्रभाव पड़ा है।

यदि मनुष्य-जीवन का ध्येय आध्यात्मिक है, तब धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उसको केवल साधन मात्र समझना चाहिए। अधिक उत्पादन, बड़े पैमाने के उद्योग मनुष्य की इच्छाओं, उसके मन को बलवान् करेंगे। इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्रता खो देगा। वह मशीन का पुर्जा बन जायगा। बड़े पैमाने के उद्योग शक्ति, शोषण पूँजीवाद हिंसा को जन्म देंगे। इनके कारण राज्य की शक्ति भी बढ़ेगी। अतः गांधीजी का ग्राम उद्योग, कुटीर व्यवसाय में, सादा घरेलू चर्खा में विश्वास था। गांधीजी आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र ग्रामीण गणतन्त्र के स्वप्न देखते थे। इस दिशा में उनके विचार अराजकतावाद और गिल्ड समाजवादियों के जैसे थे। ऐसे गणतन्त्रों का भारतीय इतिहास में भी वर्णन मिलता है।

परन्तु आधुनिक युग में भारी उद्योग, यातायात के साधन की परमावश्यकता है। रेल, जहाज, तार आदि स्वयं भारी उद्योग हैं और उनके लिए कोयले और फ़ौलाद तथा बिजली जैसे भारी उद्योगों की आवश्यकता है। गांधीजी के विचारानुसार ये उद्योग राज अथवा समाज के पास होने चाहिए। इसके अतिरिक्त भोग उद्योगों (Consumption industries) का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और उनका आधार कुटीर अथवा ग्राम उद्योग हों। इनमें सहकारिता के सिद्धान्त को भी लागू किया जा सकता है और बेचने आदि का सामाजिक अथवा राजकीय आधार पर प्रबन्ध हो सकता है। इस प्रकार शोषक वर्ग का स्वयं ही अन्त हो जायगा। कल-कारखाने राज अथवा समाज के पास रहेंगे और शेष उत्पादन व्यक्तिगत कुटीर आधार पर होगा। जहाँ तक आयात-निर्यात का सम्बन्ध है, गांधीजी कम-से-कम विदेशी व्यापार के पक्ष में हैं। प्रत्येक देश ही नहीं, प्रत्येक क्षेत्र और गाँव को आत्मनिर्भर होने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का भी अन्त करना चाहते हैं। इस प्रकार गांधीजी लाभ की भावना, पूँजीवाद, आर्थिक विषमताएँ, हिंसा और युद्ध तथा वर्गों का अन्त कर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि व्यक्तिवादियों की भाँति गांधीजी पूँजी का अधिकार स्वतन्त्र रूप से पूँजीपतियों के हाथ में नहीं छोड़ना चाहते। भारी उद्योगों का स्वामित्व राज्य अथवा समाज के हाथ में होगा। समाज अन्य प्रकार से भी, जैसे सहकारी समितियों और बेचने के प्रबन्ध में सहायक होगा। अतः गांधीजी के विचारों के अनुसार भी राज्य अथवा समाज का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होगा। परन्तु उनके अहिंसात्मक विचारों के अनुसार पुलिस और सेना तथा सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित गांधीजी कुटीर और ग्राम-उद्योगों के पक्षपाती हैं। अतः वे समाजवादी और अराजकतावादी सिद्धान्तों का समन्वय उपस्थित करते प्रतीत होते हैं।

क्या यह व्यवस्था व्यवहार्य है? यह दूसरा ही प्रश्न है। यह भविष्य ही बताएगा। उत्पादन की अपार सम्भावनाओं के सामने मनुष्य न्यूनतम से सन्तुष्ट हो, वह अपने मन पर विजय प्राप्त करे, यह देखने की बात है। भोग के उद्योगों का विकेन्द्रीकरण कैसे होगा? क्या राज्य इस दिशा में अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा? जब उत्पादन और भारी उद्योगों का प्रबन्ध राज्य द्वारा किया जा सकता है, तब अन्य का भी इसी प्रकार प्रबन्ध हो सकता है। विकेन्द्रित और कुटीर उद्योग श्रम को बर्बाद करने, आराम के घण्टे कम करने के पिछड़े हुए तरीक़े हैं। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से स्थानीयता और राष्ट्र विरोधी

अनेकता की भावना के बढ़ने का भी भय है। केन्द्रित उद्योगों पर नियन्त्रण सरल है, विकेन्द्रित पर कठिन है! ऐसी दशा में व्यक्तिगत शोषण फिर से आरम्भ हो सकता है।

समाज कल्याण का सिद्धान्त
(Social Welfare)

स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त (Laissez faire) कुछ परिस्थितियों में पैदा हुआ था। वे परिस्थितियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो गयीं। इन विचारकों का कहना था कि यदि सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का अन्त होगा तो मालिक अथवा मज़दूर की पैदावार में कोई दिलचस्पी न रह जाएगी। नए जमाने में बड़े पैमाने के उद्योग, बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, बैंक आदि में कोई भी पूँजीपति निजी देख-रेख न कर सकता था। अधिकांशत: तो केवल उसकी पूँजी लगी होती है और ब्याज, मुनाफा या शेयर उसको बिना काम के ही मिल जाते हैं। उसका स्वयं मजदूर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मैनेजर और मजदूर दोनों ही समान रूप से उसके नौकर हैं। वह जैसा कि कहा जाता है हुण्डियां या चेक या कूपन काट कर ज़िन्दा रहता है। जीवन में उसका और कोई काम नहीं रहता। अतः पूँजीवादी सम्बन्ध अमूर्त्त हो जाते हैं। उनमें व्यक्तिगत लगाव, भ्रातृत्व भाव, मानवीय सहानुभूति आदि नहीं रह जाते। ऐसी स्थिति में शोषण और धोखे की सम्भावना बढ़ती है और राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है। बड़े पैमाने की पैदावार के लिए बाज़ारों की आवश्यकता पड़ती है और इसके लिए भी राज्य की आवश्यकता होती है। पूँजीवादी संकटों का भी विस्तार बढ़ जाता है और लाखों स्त्री-पुरुष बेकार हो जाते हैं, अतः बेकारों की रक्षा अथवा उनके भत्ते का प्रश्न उठता है। एकाधिकार स्थापित होने पर भाँति-भाँति के ग़लत ढंगों का प्रयोग सम्भव हो जाता है, प्रतियोगिता उग्र रूप धारण कर लेती है। जनता को इनसे बचाना पड़ता है।

मज़दूरों को मताधिकार का परिणाम यह हुआ कि उनके दल बन गए और उन्होंने पार्लियामेण्ट में अपनी रक्षा की माँग की। उन्होंने पूँजीवाद पर प्रतिबन्ध लगाने और धन के न्याय पूर्ण और सम बँटवारे की भी माँग की।

पिछले दो युद्धों के बीच राज्यों के कार्य-क्षेत्र और भी बढ़ गए। ये युद्ध बड़े पैमाने पर लड़े गए। इनमें राष्ट्र की समस्त शक्ति, सारी धन-सम्पत्ति का प्रयोग किया गया, अतः भारी टैक्स लगाए गए। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सारे देश की जनता को सेना में अथवा उद्योगों में काम करना पड़ा। राज्य ने जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू पर अपना नियन्त्रण अथवा नियमन किया। इससे भी जनता को राजकीय हस्तक्षेप की आदत पड़ गई।

इन परिस्थितियों में विचारकों ने वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था की त्रुटियों, सामाजिक असमानताओं आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया और लोक-हिताय राजकीय हस्तक्षेप के सिद्धान्त प्रतिपादित किए।

लगभग सभी सरकार लोक-कल्याण के सिद्धान्त को मानती है। इस सिद्धान्त में पहले सिद्धान्तों की जैसी दुरूहता और अमूर्त्तता नहीं है। यह स्पष्ट और व्यावहारिक है। यदि कोई क़ानून लोकहित में है तो वह अवश्य पास होना चाहिए। समाज कल्याण ही राज्य कार्य अथवा क़ानून की एकमात्र कसौटी है। विचार और व्यवहारों में समाज, एक बार फिर, उपयोगितावाद (Utilisationism) के निकट पहुँच गया है। आज क़ानून अथवा राज्य को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक नहीं माना जाता। हाँ, ज़रूरी यह है कि राज्य का कार्य जनहित के लिए हो, वह सम्भव हो और उससे हानि अधिक न हो। परिणाम में भले की मात्रा ही अधिक हो। गारनर का कहना है कि स्वतन्त्रता स्वयं से उद्देश्य नहीं, उसका उद्देश्य जीवन को पूर्ण बनाने में सहायक होना है। अतः राज्य उन सब कामों को कर सकता है जिनसे जीवन को पूर्ण बनाने में सहायता मिले। इस प्रकार, वह जीवन सम्भव बनाने के लिए न्यूनतम वेतन सम्बन्धी नियम बना सकता है। वह ज्ञान, विज्ञान, कला और साहित्य को प्रोत्साहन दे सकता है और आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप कर सकता है। केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोई काम व्यक्ति राज्य की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से कर सकता है, तब राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। गारनर कहता है कि, "अब एक बात में अधिकांश मनुष्य सहमत हैं, वह यह कि राज्य का कर्त्तव्य केवल पुलिस का काम, शान्ति स्थापित करना और व्यक्ति की रक्षा मात्र नहीं। इसका इससे भी ऊँचा कर्त्तव्य है। डकैती और क़त्ल से रक्षा के अतिरिक्त इसको कुछ और भी करना चाहिए।"

बहुलवादी मैकआइवर (MacIver) राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना चाहता है। उसका विचार है कि समाज में अन्य अनेक संस्थाएँ हैं, जिनके कार्य में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में वह कहता है कि (१) राज्य को विचार-स्वातन्त्र्य पर रोक नहीं लगानी चाहिए। इसी प्रकार साहित्य सृजन भी स्वतन्त्र होना चाहिए। हाँ, यदि ये विचार विद्रोह के लिए उत्तेजित करते हैं, तब उनको रोका जा सकता है। इस स्वतन्त्रता का अर्थ लाञ्छन लगाना भी नहीं होना चाहिए। कोई ऐसी बात भी नहीं कहनी चाहिए जिससे न्यायालय के निर्णय पर प्रभाव पड़े। (२) यह अवश्य है कि राज्य जनहित के कार्य करेगा और इनकी पूर्ति के लिए क़ानून बनाएगा। परन्तु क़ानून द्वारा मनुष्य को सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। नैतिकता स्वतन्त्र नैतिक

आचरण से सम्बन्ध रखती है। वह क़ानून द्वारा नहीं लादी जा सकती। किन्तु जहाँ एक ओर राज्य को क़ानून द्वारा नैतिकता लादने का प्रयत्न हानिकर होगा उसी प्रकार नैतिक आधार पर अल्पमत द्वारा राज्य का विरोध भी गलत और अनैतिक है। अन्यथा राज्य का चलना कठिन होगा। ऐसी दशा में राजकीय शक्ति का प्रयोग न्यायपूर्ण होगा। (३) धर्म को भी उसी प्रकार क़ानून से अलग रखना चाहिए जिस प्रकार नैतिकता को। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते तब उसके अस्तित्व का कोई कारण ही नहीं रह जाता। (४) राज्य को, जहाँ तक सम्भव हो, रीति-रिवाज़ को भी स्वतन्त्र छोड़ना चाहिए। ये जनता के स्वभाव से, उसके जीवन और विश्वासों से सम्बन्धित होते हैं। उनके ऊपर क़ानून से आक्रमण करना जनता को क्रुद्ध करना है। इस प्रकार जनता में विद्रोह अथवा क़ानून भंग करने की आदत के फैलने का भय रहता है। संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार का शराबबन्दी क़ानून इसका प्रमाण है। रीति-रिवाज की ही भाँति (५) फ़ैशन और (६) संस्कृति भी समूह की अपनी सृष्टि है। उनके ऊपर क़ानूनों का प्रहार अनुचित है। राज्य जीवन के नियमन मात्र के लिए है, उसके निर्माण के लिए नहीं, उसके सृजन के लिए नहीं। कला आदि में समाज की सृजन-शक्ति अभिव्यक्त होती है। (७) युद्ध काल में राज्य का नागरिक के जीवन पर भी अधिकार हो जाता है। वह अन्य समुदायों को भी मिटा सकता है। परन्तु ऐसी शक्ति का प्रयोग कहाँ तक उचित है? विशेषकर ऐसी दशा में जब राज्य अन्य अनेकों संस्थाओं में से केवल एक है? उसका कथन है कि इस शक्ति को भी सीमित करना चाहिए। अन्त में मैकाइवर का कहना है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र केवल उन कर्त्तव्यों तक सीमित होना चाहिए जिनका सम्बन्ध जन-साधारण से है, जिनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है। अतः उसको समाज की रक्षा और विकास के लिए शान्ति स्थापित करनी चाहिए। शान्ति निरुद्देश्य नहीं, सोद्देश्य होनी चाहिए। उसका उद्देश्य न्याय और स्वतन्त्रता है।

व्यवहार में राज्य को उन सब कार्यों को करने का अधिकार है, जो व्यक्ति अथवा समूह सुचारु रूप से नहीं कर सकते। ये समय और काल के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। परन्तु मोटे तौर से राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों के जीवन के लिए कम-से-कम स्वस्थ्य और अच्छे स्तर की सुविधाओं का प्रबन्ध करे, समाजहित के उन निर्माण कार्यों को अपने हाथ में ले जो व्यक्ति न कर सकें और जिनसे भावी सन्तान को लाभ हो, जैसे नगर-योजना-कार्य, मकान बनवाना, जंगल, झील और पहाड़ों की देख-रेख, सिंचाई का प्रबन्ध, ज़मीन के प्रयोग का

आचरण से सम्बन्ध रखती है। वह क़ानून द्वारा नहीं लादी जा सकती। किन्तु जहाँ एक ओर राज्य को क़ानून द्वारा नैतिकता लादने का प्रयत्न हानिकर होगा उसी प्रकार नैतिक आधार पर अल्पमत द्वारा राज्य का विरोध भी ग़लत और अनैतिक है। अन्यथा राज्य का चलना कठिन होगा। ऐसी दशा में राजकीय शक्ति का प्रयोग न्यायपूर्ण होगा। (३) धर्म को भी उसी प्रकार क़ानून से अलग रखना चाहिए जिस प्रकार नैतिकता को। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते तब उसके अस्तित्त्व का कोई कारण ही नहीं रह जाता। (४) राज्य को, जहाँ तक सम्भव हो, रीति-रिवाज़ को भी स्वतन्त्र छोड़ना चाहिए। ये जनता के स्वभाव से, उसके जीवन और विश्वासों से सम्बन्धित होते हैं। उनके ऊपर क़ानून से आक्रमण करना जनता को क्रुद्ध करना है। इस प्रकार जनता में विद्रोह अथवा क़ानून भंग करने की आदत के फैलने का भय रहता है। संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार का शराबबन्दी क़ानून इसका प्रमाण है। रीति-रिवाज की ही भाँति (५) फ़ैशन और (६) संस्कृति भी समूह की अपनी सृष्टि हैं। इनके ऊपर क़ानूनों का प्रहार अनुचित है। राज्य जीवन के नियमन मात्र के लिए है, उसके निर्माण के लिए नहीं, उसके सृजन के लिए नहीं। कला आदि में समाज की सृजन-शक्ति अभिव्यक्त होती है। (७) युद्ध काल में राज्य का नागरिक के जीवन पर भी अधिकार हो जाता है। वह अन्य समुदायों को भी मिटा सकता है। परन्तु ऐसी शक्ति का प्रयोग कहाँ तक उचित है? विशेषकर ऐसी दशा में जब राज्य अन्य अनेकों संस्थाओं में से केलव एक है? उसका कथन है कि इस शक्ति को भी सीमित करना चाहिए। अन्त में मैकआइवर का कहना है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र केवल उन कर्त्तव्यों तक सीमित होना चाहिए जिनका सम्बन्ध जन-साधारण से है, जिनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है। अतः उसको समाज की रक्षा और विकास के लिए शान्ति स्थापित करनी चाहिए। शान्ति निरुद्देश्य नहीं, सोद्देश्य होनी चाहिए। उसका उद्देश्य न्याय और स्वतन्त्रता है।

व्यवहार में राज्य को उन सब कार्यों को करने का अधिकार है, जो व्यक्ति अथवा समूह सुचारु रूप से नहीं कर सकते। ये समय और काल के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। परन्तु मोटे तौर से राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों के जीवन के लिए कम-से-कम स्वस्थ्य और अच्छे स्तर की सुविधाओं का प्रबन्ध करे, समाजहित के उन निर्माण कार्यों को अपने हाथ में ले जो व्यक्ति न कर सके और जिनसे भावी सन्तान को लाभ हो, जैसे नगर-योजना-कार्य, मकान बनवाना, जंगल, झील और पहाड़ों की देख-रेख, सिंचाई का प्रबन्ध, ज़मीन के प्रयोग का

प्रयत्न, पशु-पालन और खेती की उन्नति व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन देना, सिक्का और लेन-देन का नियन्त्रण, महामारियों की रोक-थाम आदि।

समाजशास्त्र के पण्डित प्रोफ़ेसर रौस (Ross) का विचार है कि समाज को अपना हस्तक्षेप उसी सीमा तक बढ़ाना चाहिए जिस सीमा तक व्यक्ति को। यद्यपि व्यक्तिगत रूप में चाहे हानि हो परन्तु समाज के सदस्य के नाते उससे लाभ अधिक हो। इस हस्तक्षेप से मनुष्य स्वतन्त्रता की हानि का अनुभव कर बेचैन न हो, उससे अनैतिक की रक्षा न हो और जीवन संघर्ष का नियम सीमित न हो जाए। इनमें अन्तिम दो विचारों के लिए मापदण्ड निर्धारित करना कठिन है। पहले दो सुझाव भी देखने में अच्छे प्रतीत होते हैं। परन्तु व्यवहार में वे भी कठिन सिद्ध होंगे।

अध्याय २५

राज्य के कार्य

(Functions of State)

पहले अध्याय में हम कह चुके हैं कि राज्य के कार्यों का राज्य के स्वभाव, उसके लक्ष्य और उसके कार्य-क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्तों से रहा है। यह कहना भी अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि राज्य के कार्य और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहा है। परिस्थितियों के बदलने पर जहाँ राज्य के कार्यों में परिवर्त्तन हुए हैं, वहाँ तत्सम्बन्धी सिद्धान्त भी बदले हैं, अथवा सिद्धान्तों के बदलने के साथ ही साथ राज्य के कार्यों में भी कुछ न कुछ परिवर्त्तन हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य के कार्यों का सम्बन्ध राज्य के सिद्धान्तों से रहा है। साथ ही इनका सम्बन्ध परिस्थितियों से, स्थान और काल से भी रहा है। सभी राज्यों के कार्य सदृश्य और समान नहीं। क्योंकि उनकी परिस्थितियाँ और सिद्धान्त भिन्न हैं। यद्यपि राज्य के कार्यों पर सिद्धान्त और परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह विषय केवल सैद्धान्तिक अथवा काल्पनिक नहीं, व्यावहारिक है। प्रत्येक राज्य के सिद्धान्त चाहे कुछ भी हों, उसके कुछ कार्य अवश्य हैं। हाँ, इतिहास यह बताता है कि यह घटते-बढ़ते रहे हैं। एक समय राज्य और धर्म, राज्य और नैतिकता, राज्य और आर्थिक प्रश्न अथवा कौटुम्बिक जीवन में भेद न माना जाता है। इस प्रकार राज्य का कार्य-क्षेत्र

अत्यन्त विस्तृत था। आधुनिक युग के आरम्भ में भी राज्य धार्मिक प्रश्नों में हस्तक्षेप करता था। परन्तु ज्यों-ज्यों जनता की चेतना बढ़ी और ज्यों-ज्यों उसने स्वतन्त्रता आदि की माँग की, राज्य का कार्य-क्षेत्र सीमित करने की माँग भी उसके साथ हुई। व्यक्तिवाद का सिद्धान्त राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करने का सिद्धान्त था। परन्तु जब लोकतन्त्रवाद स्थापित हो गया, तब राज-सत्ता और जनता के बीच की खाई पट गई। ऐसी अवस्था में राज्य के कार्यों को सीमित करना स्वयं अपने कार्य सीमित करना था। जैसा अन्य अध्यायों में कहा जा चुका है, परिस्थितियाँ भी बदलीं और राज्य के कर्त्तव्य बढ़ते गए। आज स्वतन्त्र व्यापार और व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों का बहुत कुछ ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है और लोक-कल्याण अथवा समाज-कल्याण के आधार पर राज्य के कार्य बढ़ते जाते हैं। परन्तु फिर भी राज्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं अपने कर्त्तव्यों का विस्तार बढ़ाने में लाभ की अपेक्षा हानि तो अधिक नहीं, कहीं व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास तो न हो जाएगा, कहीं जन-साधारण आत्म-विश्वास तो न खो बैठेंगे, कहीं सरकार में भ्रष्टाचार तो न फैल जाएगा?

यों तो राज्य के पास प्रभुत्त्व (Sovereignty) है। वह आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र और सर्वोच्च है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं। राज्य का सम्बन्ध अन्य राज्यों से है। इस सम्बन्ध में उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। जहाँ तक उसके आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध है, उसका अपने नागरिकों से सम्बन्ध है, और वह नागरिकों के आपसी सम्बन्धों का भी नियामक है। जिस प्रकार सिद्धान्ततः राज्य अपने बाह्य पक्ष में प्रभु और स्वतन्त्र है, परन्तु व्यवहार में उसकी सीमाएँ हैं, उसी प्रकार राज्य प्रभु (Sovereign) होते हुए भी अपने कार्यों को सीमित करता है। वह अपने को संविधान और व्यक्ति तथा समूह के अधिकारों से सीमित करता है। यह सत्य है कि युद्ध के समय आवश्यकतानुसार वह अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत कर जीवन के लगभग प्रत्येक अंग पर हावी हो जाता है।

राज्य के कार्यों को मोटेतौर पर दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम वे जो राज्य के अस्तित्त्व के लिए आवश्यक अथवा अनिवार्य हैं। इनको मौलिक भी कहा जाता है। दूसरे वे जो निवार्य अथवा ऐच्छिक हैं।

(१) अनिवार्य अथवा मूल (Essential or Fundamental) कार्य :—ये वे कार्य हैं, जिनका राज्य की प्रकृति अथवा उसके अस्तित्त्व से सम्बन्ध है। स्वतन्त्र और प्रभु सम्पन्न सत्ता होने के नाते उसका अन्य राज्य और अपने नागरिकों से सम्बन्ध है। अपने अस्तित्त्व के लिए उसको बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए उसको सेना और परराष्ट्र विभाग

तथा दूत आदि की आवश्यकता पड़ती है। आन्तरिक पक्ष में, अपने अस्तित्व के लिए उसको शान्ति की आवश्यकता है। इसके लिए पुलिस, शासन, न्यायालय आदि चाहिए। इन कर्त्तव्यों के पालन के लिए राज्य को धन चाहिए। इसके लिए कर लागू करने की आवश्यकता है। आन्तरिक शान्ति के लिए ही नागरिकों के आपसी सम्बन्धों के नियमन की भी आवश्यकता है। इसके लिए सिक्के, बाट, नाप के गज़, आपसी समझौते आदि सम्बन्धी अनेक क़ानून और उनके लिए न्यायालयों की आवश्यकता है। अपने अस्तित्त्व के लिए बाहरी आक्रमणों से रक्षा और देश के अन्दर शान्ति स्थापित करना—ये कार्य राज्य प्राचीन काल से करता चला आया है। आज भी प्रत्येक राज्य इन कार्यों का पालन करता है। ये कार्य राज्य के अनिवार्य अथवा मूलभूत कार्य हैं।

वुडरो विल्सन इन कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार रखता है :—(१) शान्ति स्थापित करना तथा हिंसा और डकैती से व्यक्ति और सम्पत्ति की रक्षा। (२) स्त्री और पुरुष तथा माता-पिता और सन्तान के बीच के क़ानूनी सम्बन्धों को निश्चित करना। (३) सम्पत्ति स्वामित्त्व उसका देना अथवा लेन-देन, कर्ज़ का दायित्त्व और अपराध आदि का नियमन। (४) व्यक्तियों के बीच संविदा सम्बन्धी अधिकारों का निश्चय करना। (५) अपराध की परिभाषा और उसका दण्ड। (६) दीवानी के मुक़दमों में न्याय-दान। (७) राजनीतिक कर्त्तव्य, विशेष अधिकार और नागरिकों के सम्बन्धों का निश्चय करना, और (८) राज्य के अन्य राज्यों से सम्बन्ध, बाह्य आक्रमण अथवा अतिक्रमण से राज्य की रक्षा अथवा अपने राष्ट्रीय हितों का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पोषण।

गेटिल (Gettle) ने राज्य के प्रभुत्त्व के आधार पर इन कार्यों का वर्गीकरण किया है। बाह्य पक्ष में राज्य के कार्य, अधिकांशतः शक्ति के आधार पर हैं और आन्तरिक पक्ष में वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में, राज्य के मूल अथवा अनिवार्य कार्य शक्ति और स्वतन्त्रता पर निर्धारित हैं।

(अ) राज्य-शक्ति पर आधारित कार्य (Based on State Power) :—अन्य राज्यों से सम्बन्ध में, बाह्य सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग होता है। राज्य को अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए, ताकि कहीं कोई विदेशी राज्य आक्रमण द्वारा स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके, सेना की आवश्यकता होती है। यह सेना जल, स्थल और वायु तीनों प्रकार की होती है। यद्यपि आन्तरिक शान्ति के लिए अधिकांशतः पुलिस का प्रयोग होना चाहिए और ऐसा ही होता भी है, परन्तु कभी-कभी शान्ति और क़ानून की रक्षा के लिए भी सेनाओं का प्रयोग किया जाता है। जल-सेना जहाजी व्यापार की रक्षा के लिए भी प्रयोग की जाती है। वायु-सेना का भी यह प्रयोग सम्भव है और समय-समय

पर किया जाता है। हमारे देश में, हैदराबाद की पुलिस कार्यवाही में सन् १९४८ में सेना का प्रयोग किया गया था। जल और वायु-सेना को व्यापार की रक्षा के हित चीनी समुद्र और प्रशान्त महासागर में काम में लाया जाता है। अन्य देशों से स्वतन्त्रता की रक्षा का ही दूसरा स्वरूप कूटनीति है। अपनी रक्षा के लिए राज्य इसका भी प्रयोग करता है और अपने देश में परराष्ट्र विभाग स्थापित करता है तथा अन्य देशों को अपने दूत भेजता है। अपनी सुरक्षा और देश में शान्ति और सुव्यवस्था रखने के लिए राज्य को पुलिस और फ़ौजदारी क़ानून की आवश्यकता होती है। इन सबके लिए धन की और वैयक्तिक निजी सम्पत्ति पर राज्यहित में अधिकार करने, प्रवर अधिकार (Right of Eminent Domain) की आवश्यकता होती है। अतः राज्य को पुलिस और सेना रखने और इनके हेतु प्रवर अधिकार और कर लगाने का अधिकार है।

(आ) वैयक्तिक अधिकार पर आधारित कार्य (Based on Individual Rights):—इन अधिकारों के दो पहलू हैं। एक : सकारात्मक। राज्य नागरिकों को शासन में भाग लेने का अधिकार देता है, उनको राजनीतिक शिक्षा देता है और राज्य के संगठन और प्रशासन में सुधार करता है। राज्य राजनीतिक अधिकार देता है और मतदान और चुनाव सम्बन्धी क़ानून बनाता है। दो : नकारात्मक। राज्य व्यक्ति को उसके जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति आदि सम्बन्धी अधिकारों की सुरक्षा का वचन देता है और क़ानून तथा न्यायालयों द्वारा इनको सम्भव बनाता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के नागरिक अधिकारों को सुरक्षित करता है। जहाँ तक सम्पत्ति के अधिकार का सम्बन्ध है, राज्य उसकी रक्षा ही नहीं, करता, वरन् उसके बेचने अथवा देने अथवा और किसी प्रकार का संविदा (इक़रारनामा) करने का अधिकार भी सुरक्षित करता है।

(२) **ऐच्छिक (Optional) कार्य :**—ऐसे कार्यों की आवश्यकता इसलिए नहीं कि इनके बिना राज्य का अस्तित्त्व ख़तरे में पड़ जाएगा। राज्य की शक्ति अथवा रक्षा और शान्ति अथवा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं। तथापि इनका जन-कल्याण से गहरा सम्बन्ध है। इनके द्वारा समाज की आर्थिक, नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति का प्रयत्न किया जाता है। ये कार्य ऐच्छिक हैं। परन्तु आज के युग में इनके और अनिवार्य कार्यों के बीच कोई दीवार खड़ी करना प्रायः असम्भव है। आधुनिक विचारकों का विश्वास है कि राज्य केवल अपने अस्तित्त्व की रक्षा अथवा शान्ति मात्र के ही लिए नही, वरन् वह जनहित कार्यों, समाज-कल्याण के लिए भी है। और

इनके अनुसार, वही राज्य सबसे अच्छा है, जो सबसे अधिक जनहित कार्य करता है। इसके अतिरिक्त इस 'प्रकार' में वे सब कर्त्तव्य भी शामिल हैं जो व्यक्ति अथवा एक सीमित समूह या तो कर ही नहीं सकता, अथवा यदि प्रयत्न भी करे तो अच्छी तरह न कर सकेगा।

वुडरो विलसन ने ऐच्छिक कार्यों को इस प्रकार गिनाया है—(१) व्यापार और उद्योग का नियमन, (२) मज़दूरी का नियमन, (३) सार्वजनिक मार्गों की देख-रेख, रेलों का प्रबन्ध और आन्तरिक उन्नति-कार्य, (४) डाक और तार की देख-रेख, (५) गैस बनाना और बाँटना, पानी का प्रबन्ध आदि (६) सफाई का प्रबन्ध और तत्सम्बन्धी व्यापार का नियमन, (७) शिक्षा, (८) पंगु और दीन की देख-रेख, (९) जंगल आदि की रक्षा और नदियों में मछलियों का पालना आदि और (१०) राज्य अथवा समाज-हित में व्यक्ति के व्यय को सीमित करना, जसे शराबबन्दी आदि।

गेटिल इस प्रकार के कार्यों को भी दो प्रकारों में विभाजित करता है। एक : समाजवादी (Socialism) और दो : असमाजवादी (Non-Socialism)। लेखक स्वयं स्वीकार करता है कि इनके बीच भी कोई लकीर खींचना कठिन है। जो कार्य कल तक व्यक्ति के निजी कर्त्तव्य समझे जाते थे वे आज राज्य के कार्यों की परिधि में आ गए हैं। सामाजिक और आर्थिक परिवर्त्तनों के साथ राज्य के इन कार्यों में परिवर्त्तन होता रहता है। कुछ अर्थों में आज राज्य के कार्य पहले की अपेक्षा सीमित हैं। एक ऐसा भी समय था, जब राज्य का व्यक्ति के व्यक्तिगत और निजी जीवन, उसके बौद्धिक और धार्मिक, कौटुम्बिक और आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार था। अब राज्य उस सीमा तक हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु आज की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति एक बार फिर उसके अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए बाध्य करती है। इन परिस्थितियों और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हम पहले ही विचार कर चुके हैं। आधुनिक राज्य कुटुम्ब, उत्तराधिकार, विवाह और तलाक़ आदि के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करता है। वह उन कामों को भी करता है जो कल तक व्यक्ति स्वयं ही किया करता था। जैसे शिक्षा-प्रबन्ध, अथवा अनाथालयों की स्थापना आदि।

(अ) असमाजवादी (Non-Socialistic) ऐच्छिक कार्य :—ये कार्य अनिवार्य नहीं, परन्तु फिर भी राज्य के लिए स्वाभाविक और सामान्य हैं। क्योंकि यदि राज्य इनको स्वयं न करेगा तब या तो ये किए ही न जाएँगे, अन्यथा अच्छी तरह न किए जा सकेंगे। कदाचित इसलिए कि ये समाज के लिए हितकारी हो सकते हैं, व्यक्ति के लिए लाभदायी नहीं। अतः इस प्रकार के कार्य

व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र को न तो सीमित करते हैं और न उसमें कोई हस्तक्षेप ही करते हैं। इस शीर्षक में दीन और अपाहिजों की देख-रेख, सार्वजनिक पार्क, निर्माण, स्वास्थ्य और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आते हैं। राज्य ऐसी सूचना और आँकड़े भी इकट्ठा करता है, जिससे जनता को लाभ हो। राज्य रेल, तार, डाक, नहर, सड़क, पुल, बन्दरगाह आदि बनवाता और उनकी देख-रेख करता है जिससे कि व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि हो। वह सार्वजनिक हित में पेशे और व्यापार का नियमन भी करता है।

(आ) समाजवादी (Socialism) ऐच्छिक कार्य :—समाजवादी कार्य वे कार्य हैं जिनको व्यक्ति करना चाहेगा और कर सकता है, परन्तु क्योंकि राज्य समझता है कि या तो व्यक्तिगत स्वामित्व दोषपूर्ण हैं अथवा वह स्वयं इन कार्यों को ज़्यादा अच्छी तरह कर सकता है, अतः वह इन कार्यों को पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में स्वयं अपने हाथ में ले लेता है। ऐसे कार्यों के अनेक उदाहरण हैं, जैसे रेल, तार, फ़ोन, गैस, पानी, बिजली, बिजलीघर, थियेटर (रंगमंच) मकान, दुकान, विश्वविद्यालय, म्यूज़ियम धन अथवा तटकर से उद्योगों को प्रोत्साहन, नौकरी दिलाने के दफ्तर, पेंशन का प्रबन्ध, श्रम का नियमन, समाज उन्नति, आर्थिक समानता, सम्पत्ति का सम-वितरण और समान सुविधाओं सम्बन्धी अन्य अनेक कार्य।

जहाँ तक राज्य के कार्यों का सम्बन्ध है सोवियत और समाजवादी देशों में न केवल राज्य सभी अनिवार्य कार्यों को स्वयं करता है, वरन् ऐच्छिक कार्य में वह आर्थिक जीवन के ऊपर पूर्ण रूपेण हावी है। औद्योगिक उत्पादन का ९० प्रतिशत से अधिक राज्य के हाथ में है। बैंक, बीमा, व्यापार, आयात-निर्यात के साधन आदि सभी पर राज्य का अधिकार है। सोवियत संविधान के आरम्भ की कुछ धाराओं के पढ़ने से ही इसका कुछ अनुमान हो जाता है। जो पूँजी और सम्पत्ति राज्य की नहीं उसके ऊपर भी नगरपालिका अथवा सामूहिक खेती आदि का अधिकार है। ये धाराएँ इस प्रकार हैं :—

धारा (४) : समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ का आर्थिक आधार समाजवादी आर्थिक व्यवस्था और उत्पादन के साधन और यन्त्रों का समाजवादी स्वामित्त्व है। समाजवादी व्यवस्था के उन्मूलन, उत्पादन के साधन और यन्त्रों के व्यक्तिगत स्वामित्त्व का नाश और व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण की समाप्ति के बाद यह व्यवस्था दृढ़ रूप से स्थापित हो गई है।

धारा (५) : समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ में समाजवादी सम्पत्ति या तो राजकीय सम्पत्ति (समस्त जनता की सम्पत्ति) अथवा सहयोगी और

सामूहिक खेत सम्पत्ति (सामूहिक खेत अथवा सहयोगी समितियों की सम्पत्ति) के रूप में विद्यमान है।

धारा (६) : भूमि, खनिज पदार्थ, पानी (नदियाँ आदि) जंगल, मिल, कारखानें, खानें, रेल, पानी और हवाई यातायात, बैंक, कम्यूनीकेशन बड़े पैमाने के राज्य द्वारा संगठित कृषि उद्योग (राजकीय खेत, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन जैसे साधन) नगरपालिका उद्योग, नगर और औद्योगिक क़स्बों के अधिकांश रहने के घर, राज्य की सम्पत्ति हैं अर्थात् वे समस्त जनता के हैं।

धारा (७) : सामूहिक खेतों और सहयोगी संस्थाओं के उद्योग और उनके पशु और औज़ार, सामूहिक खेतों और सहयोगी संस्थाओं की पैदावार, उनके सार्वजनिक भवन, सामूहिक खेत और सहयोगी संस्थाओं की सार्वजनिक और समाजवादी सम्पत्ति है।

उपर्युक्त चार धाराओं से समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ में राजकीय और सामूहिक तथा सहयोगी सम्पत्ति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसकी तुलना में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अनुमान निम्न धाराओं से होगा।

धारा (७) का शेष : सार्वजनिक सामूहिक खेत उद्योग से प्राप्त आधारभूत आय के अतिरिक्त, सामूहिक खेत के प्रत्येक कुटुम्ब के पास कृषि संस्था के नियमों के अनुसार अपने निजी प्रयोग के लिए एक घरेलू छोटा-सा जमीन का टुकड़ा, उसकी अपनी निजी सम्पत्ति, निजी ज़मीन पर खेती का अधिकार, रहने का घर-पशु, मुर्गियाँ और छोटे-मोटे औज़ार भी हैं।

धारा (९) : समाजवादी सोवियत गणराज्य संघ आर्थिक व्यवस्था का मुख्य स्वरूप समाजवादी आर्थिक व्यवस्था है। इसके साथ क़ानून व्यक्तिगत किसान और दस्तकार की छोटी और निजी आर्थिक व्यवस्था की भी आज्ञा देता है जिसका आधार निजी श्रम है और जो अन्य के श्रम के शोषण को वर्जित करता है।

पहली चार धाराओं में जो विषय गिनाए गए हैं उनमें से अधिकांश पूँजी वादी देशों में व्यक्तिगत सम्पत्ति माने जाते हैं। धारा (७) और (९)से पता चलता है कि सोवियत देश में पूँजी का अधिकार, अर्थात् किसी को व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण का अधिकार नहीं है। किन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि वहाँ व्यक्ति को सम्पत्ति का कोई अधिकार ही नहीं। उपर्युक्त दो धाराओं से किसानों और व्यक्तिगत काम करनेवालों की सम्पत्ति का कुछ अनुमान होता है। परन्तु निम्न धारा व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रश्न को और भी स्पष्ट कर देती है।

धारा (१०) : क़ानून, व्यक्तिगत काम से प्राप्त आय और बचत, रहने के घर, घरेलू उद्योग और घरेलू व्यक्तिगत प्रयोग की चीजें और सुविधाएँ और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार आदि निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करता है।

जहाँ तक राज्य के कर्त्तव्यों का सम्बन्ध है अन्य देशों में भी जीवन के अनेक अंगों में राजकीय और सामाजिक हस्तक्षेप की सीमा बढ़ गई है। जहाँ तक अनिवार्य कार्यों का सम्बन्ध है उनके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। ये कार्य प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक हैं। ऐच्छिक कार्यों को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) सामाजिक, (२) आर्थिक, (३) शिक्षा सम्बन्धी और (४) अन्य।

सामाजिक कार्यों में मुख्य कार्य कुटुम्ब सम्बन्धी हैं। इसमें शराबबन्दी जैसे कार्य भी शामिल किए जा सकते हैं। कुटुम्ब एक स्वाभाविक संस्था है। इसका सम्बन्ध स्त्री और पुरुष तथा माता-पिता एवं बच्चों के आपसी सम्बन्ध से है। यह नागरिकता की शिक्षा की पहली सीढ़ी है। एक समय वह भी था जब कुटुम्ब ही राज्य की इकाई समझा जाता था। कौटुम्बिक सम्बन्ध अधिकांशतः रिवाज़ द्वारा नियमित थे। राज्य इन सम्बन्धों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। वह केवल इन रिवाज़ों को ही स्वीकार कर लेता था और इनके आधार पर निर्णय देता था। आज भी, राज्य इन रिवाज़ों को आसानी से नहीं बदलता। परन्तु फिर भी अनेक प्रकार से कुटुम्ब सम्बन्धी क़ानून बनाता है। जैसे, विवाह सम्बन्धी आयु को निश्चित कर बाल-विवाह असम्भव बना देना अथवा विवाह के पूर्व दम्पत्ति के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में परीक्षा का नियम बनाना जिससे कि अस्वस्थ अथवा हानिकर बीमारियों के रोगी विवाह कर भावी रुग्ण सन्तान न पैदा कर सकें, अथवा विवाह और बच्चों के लिए भत्ता देकर विवाह और जनवृद्धि को प्रोत्साहित करना, बच्चों की देख-रेख सम्बन्धी क़ानून बनाना, जिन बच्चों के माता-पिता बेपरवाह हैं, उन बच्चों की देख-रेख का राजकीय प्रबन्ध, मातृत्व की रक्षा सम्बन्धी क़ानून और उनके लिए अस्पताल आदि, तलाक़ सम्बन्धी नियमन और परित्यक्ताओं के लिए भत्ते का प्रबन्ध, बुढ़ापे की पेंशन अथवा बीमें का प्रबन्ध और उनके रहने के लिए विशेष प्रकार के गृह। राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध आदि।

जहाँ तक आर्थिक जीवन का सम्बन्ध है, इसको दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) उत्पादन और (२) विभाजन। उत्पादन को भी मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) औद्योगिक, और (२) कृषि।

जहाँ तक कृषि कर्म का सम्बन्ध है, यह समाजवादी और सोवियत देश को छोड़ अधिकांशतः व्यक्तिगत आधार पर ही किया जाता है। परन्तु राज्य इस कार्य में भी भाँति-भाँति से नियमन करता है। यथा किसानों की पैदावार को बेचने का प्रबन्ध करना (Marketing), उनकी आय पर टैक्स लगाना, किसानी पैदावार की क़ीमत को गिरने से रोकने के लिए उसको राज्य की ओर

से ख़रीदना, सिंचाई का प्रबन्ध, अच्छे बीज और खाद आदि के सम्बन्ध में अनुसंधान करना, किसानों को ज़मींदारों के शोषण से बचाना आदि।

औद्योगिक उत्पादन में कई तत्त्वों की आवश्यकता होती है। इनमें (१) उद्योगों का स्वामी, (२) मज़दूर, (३) भोक्ता और (४) पूँजी लगानेवाला मुख्य हैं। इन चारों ही दिशाओं में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता जाता है।

जहाँ तक उद्योगों के स्वामित्त्व का प्रश्न है, हम देख चुके हैं कि एक ओर समाजवादी दृष्टिकोण है और दूसरी ओर व्यक्तिवादी और पूँजीवादी दृष्टिकोण। परन्तु दोनों ही चाहते हैं कि स्वतन्त्र राज्य औद्योगिक उन्नति कर आत्म निर्भर और समृद्ध हो। इसके लिए राज्य को अपने उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करनी पड़ती है। राज्य विदेशी माल पर भाँति-भाँति के आयात तट-कर लगाता है और कच्चे माल की निर्यात पर भी रोक लगाता है। राज्य अपने देश के माल की खपत के लिए बाज़ारों की खोज करता और भाँति-भाँति के व्यापारी समझौते करता है। दूतावासों में जहाँ अन्य प्रकार के सहायक दूत होते हैं, वहाँ आर्थिक दूत भी होते हैं।

लोकतन्त्र के युग में मज़दूरों को केवल पूँजीपति की कृपा पर नहीं छोड़ा जा सकता। उसका स्वास्थ्य, उसका रहन-सहन का स्तर, उसका कल्याण, ये सब सामाजिक समस्याएँ हैं। अतः उनके न्यूनतम वेतन अथवा बेकारी का भत्ता, उनकी नौकरी का प्रबन्ध, उनके काम की परिस्थितियाँ, फैक्टरी के निर्माण उसमें हवा और रोशनी और गर्मी की मात्रा, मशीनों से मज़दूर की रक्षा का प्रश्न, अंग-भंग का बीमा, काम के घण्टे, छुट्टी, आराम का प्रबन्ध, इलाज का प्रबन्ध, पेंशन, स्त्रियों और बच्चों के काम का प्रश्न आदि अनेक प्रश्न हैं, जिनमें राज्य हस्तक्षेप करता है।

इसी प्रकार भोक्ता (Consumer) की रक्षा का भी प्रश्न है। भय रहता है कि कहीं व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यवस्था में जनता को आवश्यक चीजों की कमी न पड़ जाए, कहीं एकाधिकार के युग में चीज़ों के अधिक दाम न बढ़ा दिये जाएँ, कहीं ख़राब और अस्वस्थकर चीज़ें न बेची जाएँ, आदि। इसी कारण ऐसे अनेक कार्य राज्य अथवा समाज स्वयं अपने हाथ में ले लेता है। जैसे गैस, बिजली, पानी, दूध आदि का प्रबन्ध। खाने आदि के लिए सफ़ाई सम्बन्धी नियम बनाए जाते हैं। एकाधिकार अथवा चोरबाज़ार विरोधी क़ानून बना कर क़ीमतों को बढ़ने से रोका जाता है। इसी कारण राशनिंग (Rationing) भी किया जाता है। भोक्ता को एजेण्टों और बिचोलियों से बचाने के लिए, उत्पादक और भोक्ता के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर मध्यस्थ का लाभ समाप्त करने और चीज़ों के दाम घटाने के लिए शासन सहयोगी भण्डार स्थापित करने में सहायता देता है।

पूँजी लगानेवालों की रक्षा का प्रश्न भी उठता है। पूँजी लगानेवालों में केवल बड़े-बड़े पूँजीपति ही नहीं होते। इसमें अनेकों वे जन-साधारण भी हैं जो या तो बीमा करा लेते हैं अथवा अपनी बचत को बैंकों में जमा कर देते हैं अथवा कम्पनी के कुछ शेयर खरीदते हैं। राज्य यह प्रयत्न करता है कि इनके हित सुरक्षित रहें और कोई पूँजीपति बैंक अथवा कम्पनी का मालिक इन छोटे-मोटे अथवा अन्य पूँजी लगानेवालों को धोखा न दे सके। बैंक, बीमा अथवा अन्य कम्पनियों के कुप्रबन्ध अथवा आकस्मिक ही नहीं वरन् कभी-कभी जान-बूझ कर दिवालिया बना दी जाती हैं। इस प्रकार लाखों मध्यमवर्गीय पूँजी लगानेवालों की गाढ़ी कमाई ख़त्म हो जाती है। इन पूँजी लगानेवालों की रक्षा के लिए राज्य नियम बनाता है।

अन्तिम आर्थिक प्रश्न बँटवारे का है। उत्पादन का विभाजन किस प्रकार हो? क्या उत्पादन के ऊपर मिल और फैक्टरी मालिक का ही अधिकार हो? क्या उसको मनचाहा लाभ लेने का अधिकार है, क्या वह कम-से-कम मज़दूरी दे सकता है? क्या समाज धन की इतनी विषमताओं, ख़रीदने की शक्ति के इतने भेद को सहन करे? इन असमानताओं का आर्थिक और राजनीतिक तथा नैतिक पक्ष भी होता है। असमानताओं के कारण न केवल ग़रीब-अमीर के बीच की खाई बनती है, वरन् ग़रीबों के पास खरीदने की शक्ति न रहने पर आर्थिक संकट और बेकारी का भय उपस्थित होता है। अमीर अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और उद्दण्ड हो जाते हैं, ग़रीब अपने को छोटा समझता है और आत्म-सम्मान खो बैठता है। सामाजिक असमानता के वातावरण में राजनीतिक अथवा क़ाननी समानता अवास्तविक हो जाती हैं। दूसरी ओर जनता के हाथ में प्रभुत्व शक्ति जाने और उसको मताधिकार मिलने पर ऐसी शक्तियों का जन्म होता है जो आर्थिक और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष करती हैं। सामाजिक सुरक्षा की माँग उठाई जाती है। अतः राज्य धन के न्यायपूर्ण बँटवारे का काम हाथ में लेता है। इस कार्य को कई प्रकार से किया जाता है। धनिकों की आय को कई प्रकार के करों द्वारा कम किया जाता है, जैसे आय, उत्तराधिकार और मृत्यु कर आदि। इस कर को जनहित में व्यय किया जाता है, विशेषतः उनके हित में जो ग़रीब हैं। जनता के लिए निःशुल्क शिक्षा, मुफ्त इलाज आदि का प्रबन्ध किया जाता है। बेकारों के लिए काम और मज़दूरों के लिए जीविका निर्वाह योग्य कम-से-कम मज़दूरी सम्बन्धी क़ानून बनाए जाते हैं। आदि।

लगभग सभी राज्य यह स्वीकार करते हैं कि जनता को शिक्षित बनाना उनका कर्त्तव्य है। यहाँ तक कि विभिन्न देशों में प्राथमिक और माध्यमिक

तक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य की जाती है। अनेक देशों में पुस्तक और ग़रीबों के लिए खाने तक का प्रबन्ध भी राज्य अथवा समाज की ओर से किया जाता है। राज्य योग्य विद्यार्थियों की उच्च शिक्षा का पूर्ण दायित्त्व भी स्वीकार करता है।

राज्य स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक कार्य स्वयं करता है। बहुत-सा अन्वेषण, अनुसंधान अथवा सूचना का कार्य करता है, जिससे जनता को लाभ हो।

सारांश यह कि इस लोकतन्त्र के समय में स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त (Laissez faire) के सिद्धान्त सही नहीं माने जाते। इनका स्थान समाज-कल्याण के सिद्धान्त ने ले लिया है। परन्तु इस समाज कल्याण के सिद्धान्त का स्थान और काल के अनुसार विभिन्न प्रकार से प्रयोग होता है।

अध्याय २६

राज्य के कार्य और भारत

(The State India)

जहाँ तक भारतीय राज्य का सम्बन्ध है, ब्रिटिश राज्य काल में भी राज्य अनिवार्य-कार्य अर्थात् सैन्य, पुलिस और न्याय शासन आदि करता ही रहा। हाँ, जहाँ तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं, राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का सम्बन्ध है, उनकी परिधि गुलामी के समय में सीमित होना प्रायः आवश्यक थी। ब्रिटिश राज्यकाल में राज्य समाज-सेवी नहीं, समाज-शोषक ही हो सकता था। अतः कल्याण राज्य की धारणा तो प्रायः असम्भव थी। परन्तु फिर भी शासन सुविधा और आवश्यकता के अनुसार ब्रिटिश शासकों को भी अनेक ऐच्छिक कार्य करने पड़े। उन्होंने यहाँ रेल, तार, बिजली घर, नहर आदि बनाए, सती और ठगी जैसी प्रथाओं को बन्द किया और अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार और प्रसार के लिए राजकीय स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय खोले। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में शनैः-शनैः राजनीतिक सुधार भी किए।

सन् १९३७ में, सन् १९३५ के भारतीय संविधान के अनुसार पहली बार प्रान्तों में भारतीय शासन स्थापित हुए, परन्तु दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर ये मन्त्रिमण्डल समाप्त हो गए। युद्ध के बाद सन् १९४६ में, फिर प्रान्तों में उत्तरदायित्व पूर्ण शासन बने और केन्द्र में भी भारतीय प्रतिनिधियों की सरकार

स्थापित हुई। सन् १९४७ में ब्रिटेन से समझौते के अनुसार शासन सत्ता भारत को वापिस मिली और भारत स्वतन्त्र उद्घोषित हुआ। संविधान सभा का चुनाव हुआ और उसने एक संविधान बनाया जो सन् १९५० से लागू हो गया। इस समय स्वतन्त्र भारत की अपनी सरकार ने अपने हाथ में अनेक कार्य लिए हैं। इनको समझने के लिए, इनकी पार्श्वभूमि को समझना आवश्यक है।

वर्त्तमान कांग्रेस सरकार का राष्ट्रीय आन्दोलन से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। उसके नेता राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता रहे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन में विभिन्न विचारधाराओं के व्यक्ति, समूह और दलों ने भाग लिया और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रम, उसकी नीति निर्धारण करने में सहयोग दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन पर दो व्यक्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा है, महात्मा गांधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू। महात्मा गांधी के राज्य कार्य क्षेत्र के विस्तार सम्बन्धी विचारों का पहले ही विचार किया जा चुका है। उनके विचार अराजकतावाद और सत्य-अहिंसा सिद्धान्त से प्रभावित हुए हैं। पण्डित नेहरू ने अपनी जीवनी में स्वीकार किया है कि युवाकाल में जब वे ब्रिटेन में विद्याध्ययन कर रहे थे, तब वे फ़ेबियनवाद के प्रभाव में थे। उस समय से आज तक उनके ऊपर इस प्रकार की समूह-समाजवादी विचारधारा का प्रभाव रहा है। भारत संसार का ही एक अंग है। उसके ऊपर अन्य देशों के प्रयोग और अनुभवों का प्रभाव पड़ता है। बीसवीं शताब्दी की दो सबसे बड़ी क्रान्तियाँ, प्रथम महायुद्ध के बाद रूसी और द्वितीय महायुद्ध के बाद चीनी क्रान्तियाँ हैं। जिस प्रकार इनका प्रभाव अन्य देशों और विचारधाराओं पर पड़ा है, उसी प्रकार भारत पर भी। इसके अतिरिक्त, भारत की अपनी पार्श्वभूमि और परिस्थितियाँ हैं। इन सबके प्रभाव में भारत के राज्य-कार्यों की सूची तैयार हुई है।

अखिल भारतीय कांग्रेस के जन्म के पूर्व भी राजा राममोहन राय और महर्षि दयानन्द जैसे सुधारकों ने समाज और शिक्षा सुधार की योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। अखिल भारतीय कांग्रेस ने अपने जन्म से ही राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की माँग की और उदारवादी नेताओं ने शिक्षा सुधार सम्बन्धी विचार देश के सम्मुख रखे। राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ और उसका नेतृत्व गांधीजी द्वारा सँभाले जाने के बाद इसके कार्यक्रम का विकास हुआ। मद्रास और करांची आदि अधिवेशनों में मूल अधिकारों की माँग की गई, विभिन्न अधिवेशनों में कृषि-व्यवस्था सुधार और औद्योगीकरण की सुविधाओं की भी माँग की गई। शराबबन्दी, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार राष्ट्रीय आन्दोलन के अभिन्न अंग बन गए। राष्ट्रीय आन्दोलन में युवक और युवतियों और स्त्रियों ने भाग लिया। इसका प्रभाव पुराने कौटुम्बिक सम्बन्धों पर पड़ा। पुराने

कौटुम्बिक बन्धन कुछ शिथिल हुए। व्यक्ति और स्त्रियों को कुछ स्वतन्त्रता मिली। इसी दौरान में स्त्रियों के आन्दोलन का भी आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन यदि चाहता भी तो स्वतन्त्रता पाने अथवा शासन का अवसर मिलने के बाद इन वादों, इस कार्यक्रम को भुला न सकता था। अतः स्वतन्त्रता के बाद इनको राज्य कार्य की सूची में, किसी न किसी रूप में रखा गया।

इस सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों का विश्लेषण किया जा चुका है। गांधीजी अराजकतावाद के प्रभाव के कारण कुटीर उद्योगों के पक्ष में थे, भारी उद्योगों के नहीं। परन्तु इस युग में कुछ भारी उद्योगों के बिना काम भी नहीं चलता। साथ ही गांधीजी शोषण के विरोधी थे और वर्गविहीन समाज बनाना चाहते थे। अतः उनका विचार था कि भोक्ता उद्योग (Consumer Industries) छोटे पैमाने के हों और अन्य आवश्यकीय उद्योग बड़े पैमाने के हो सकते हैं। परन्तु वे व्यक्ति के शोषण के लिए प्रयक्त न हों। अतः उनका स्वामित्त्व राज्य के पास होना चाहिए। जहाँ तक भारी उद्योगों का सम्बन्ध है, भारतीय सरकार गांधीजी के सिद्धान्तों को अपनाकर राज्य के हाथ में रखती है।

इस दिशा में भारत की अपनी मज़बूरियाँ भी हैं। भारत ही नहीं ये मज़बूरियाँ अनेकों पिछड़े देशों की हैं। गारनर के अनुसार इन समस्याओं का आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड को भी सामना करना पड़ा है। अमरीका, ब्रिटेन और योरोप के अन्य देशों में पूँजीवाद को विकास के लिए अवसर मिला, उनको पिछड़े हुए देश और उपनिवेशों के बाज़ार मिले। अतः उक्त देशों का औद्योगीकरण पूँजीपतियों ने स्वयं किया। उनके पास पूँजी थी और अन्य साधन भी थे। उन परिस्थितियों में व्यक्तिवादी और स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त चल जाते थे। राज्य अपने कर्त्तव्यों को पुलिस और सेना तथा न्याय आदि तक सीमित रख कर भी संतोष कर सकता था और पूँजीपतियों के नेतृत्त्व में समाज आर्थिक उन्नति कर सकता था। यदि अन्य उन्नत देशों की पंक्ति में भारत को भी खड़ा होना है तो उसको तीव्र गति से आर्थिक उन्नति करनी चाहिए, औद्योगीकरण करना चाहिए। भारतीय उद्योगपतियों के पास न तो इतनी पूँजी है, और न विदेशी बाज़ार जिससे पिछड़े और औपनिवेशिक देशों के शोषण की आशा की जा सकती है। भारी उद्योगों के लिए करोड़ों की पूँजी चाहिए, कई वर्ष निर्माण के लिए और उसके बाद पूँजी को पूरा करने के लिए चाहिए। केवल उसके बाद लाभ की आशा की जा सकती है। एक साधारण उद्योगपति, पूँजी लगाने वाला बैंक अथवा शेयरदाता अधिक दिनों तक लाभ की प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं होता। फिर यदि बाज़ारों को खुली प्रतियोगिता के लिए छोड़ दिया जाए तो भारतीय उद्योग कभी पनप ही न सकें। क्योंकि एक

तो संसार के उद्योग बहुत आगे बढ़ चुके हैं और दूसरे अमरीका और अन्य योरोपीय उद्योगपतियों के पास इतनी पूँजी है कि प्रतियोगिता में भारतीय पूँजीपतियों का हमारे बाज़ारों में दिवाला निकल सकते हैं। अतः प्रथम तो भारतीय उद्योग राजकीय संरक्षण में ही पनप सकते हैं। इनके लिए आवश्यकता है कि राज्य विदेशी निर्यात पर भारी तटकर लगा कर विदेशी माल का भारत में आना प्रायः असम्भव कर दे। दूसरे, जिन उद्योगों को निजी-पूँजी आरम्भ नहीं कर सकती, और ये अधिकांशतः भारी उद्योग हैं, राज्य उनका स्वयं निर्माण करे। मोटेतौर से भारतीय सरकार की यही नीति है।

समाजवादी विचारों के प्रभाव के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से ही भारतीय नेता कल्याण राज्य, लोक-कल्याण आदि की भावनाओं से प्रेरित हुए हैं। अतः नई सरकार के स्थापन काल से ही उसके स्वरूप को उन्होंने कल्याण राज्य (Welfare State) अथवा सहकारी समानतन्त्र (Co-operative Commonwealth) कह कर पुकारा है। और क्योंकि अब सरकारी पूँजी की मात्रा उद्योगों में बढ़ती जाती है और क्योंकि पूँजी अथवा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद की एक विशेषता है, अतः इन नए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को समाजवादी ढंग की सामाजिक व्यवस्था (Socialistic Pattern of Society) कह कर पुकारा जाता है। यह समाजवादी ढंग (Socialistic Pattern) का समाज है, पूर्ण रूपेण समाजवादी (Socialist) समाज नहीं। यह अपने ही ढंग का समाज है। इसकी मुख्य विशेषता इस समय यह है कि इस समाज में पूँजीवाद से संघर्ष नहीं, उसके बढ़ने के लिए भी पर्याप्त अवकाश है। वह अपनी पूँजी लगा सकता है और लाभ उठा सकता है। साथ ही, राज्य का ध्यान कल्याण राज्य स्थापित करने की ओर हैं। अतः यथासम्भव, भारतीय राज्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और क़ानूनी एकता स्थापित कर सब नागरिकों को समान अवकाश देना चाहता है।

जहाँ तक १९४७ से पूर्व भारतीय राज्य के कार्यों का सम्बन्ध है, पहला प्रश्न तो यही उठाया जा सकता है कि क्या भारत एक राज्य था? अन्यथा वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग, उसका एक उपनिवेश, एक अधीन राज्य मात्र था। राजनीतिक रूप से भारत को राज्य कहना कठिन है। उसका अपना न तो बाह्य और न आन्तरिक प्रभुत्त्व (Sovereignty) था। उसकी गृह और वैदेशिक नीति ब्रिटिश हित में उनके ही एजेण्टों, गवर्नर जनरल आदि द्वारा चलाई जाती थी। परन्तु फिर भी अनेक कार्यों के लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य की मान्यता दी गई थी और वह राज्य के अनेक कार्य करता भी था। जहाँ तक शक्ति सम्बन्धी अनिवार्य कार्यों का सम्बन्ध है, जिस प्रकार

अन्य राज्य करते हैं उसी प्रकार भारत भी करता था। हाँ, भेद केवल इतना था कि स्वतन्त्र राज्य अपनी रक्षा और देश में शान्ति के लिए सेना और पुलिस का प्रयोग करते हैं और उस समय भारत की सेनाओं का प्रयोग भारत की ग़ुलामी की रक्षा के लिए अथवा ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए होता था। पुलिस भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करती थी। यह भेद महत्त्वपूर्ण है। उस समय की भारतीय सेना स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सेना नहीं कही जा सकती थी। इसी प्रकार व्यक्ति के स्वतन्त्रता सम्बन्धी राज्य कार्यों की भी दशा थी। भारतीय जनता को केवल सीमित राजनीतिक, नागरिक अथवा क़ानूनी अधिकार थे। भारत की ओर से बार-बार मूल अधिकारों की माँग उठाई जाती थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार यह कह कर ठुकरा देती थी कि अधिकार केवल संविधान की स्वीकृति और मान्यता से नहीं मिल जाते। उनके लिए ब्रिटेन की जैसी परम्पराओं और समाज चेतना की आवश्यकता है। यही ऐच्छिक कार्यों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जिन कार्यों से ब्रिटिश साम्राज्य को बल मिलता अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन जिन कार्यों को करने के लिए बाध्य करता, वे कार्य किए जाते थे। ब्रिटिश साम्राज्य समाज कल्याण की भावना से प्रेरित होकर यहाँ सामाजिक, आर्थिक आदि कार्य न करता था।

सन् १९४७ के बाद परिस्थिति में मूल परिवर्तन हुआ है। जहाँ तक शक्ति सम्बन्धी राज्य के अनिवार्य कार्यों का सम्बन्ध है वह आज भी वही कार्य करता है जो पहले ब्रिटिश काल में किए जाते थे। भेद इतना है कि अब पुलिस और सैन्य कार्य देश की स्वतन्त्रता की रक्षा और धन-जन की सुरक्षा और शान्ति के लिए किए जाते हैं और यह भेद महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में व्यक्ति के विविध प्रकार के राजनीतिक, और नागरिक अधिकारों की परिधि बढ़ जाने के कारण राज्य के दायित्व बढ़ गए हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान के भाग ३ में मूल अधिकारों की सूची दी गई है। अनुच्छेद (१४) व्यक्ति को विधि के समक्ष समता का अधिकार देता है, अनुच्छेद (१५) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है, अनुच्छेद (१६) राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर समता का अधिकार देता है, अनुच्छेद (१७) अस्पृश्यता का अन्त करता है, अनुच्छेद (१८) ख़िताबों का अन्त करता है, अनुच्छेद (१९) सब नागरिकों को (क) वाक्-स्वातन्त्र्य अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का, (ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, (ग) संस्था या संघ बनाने का, (घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का, (ङ) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का;

(च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का तथा (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने का, अधिकार देता है, अनुच्छेद (२०) (२१) और (२२) व्यक्ति को अपराधों के लिए दोष सिद्धि के विषय में संरक्षण, प्राण और दैहिक स्वाधीनता का संरक्षण और कुछ अवस्थाओं में बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण के अधिकार देते हैं। अनुच्छेद (२३) और (२४) मानव के बलात् श्रम और कारखाने आदि में बच्चों को नौकर रखने का प्रतिशेध करते हैं, अनुच्छेद (२५) और (२६) अन्तःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने के आचरण और प्रचार करने और धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता देते हैं। अनुच्छेद (२७), (२८), (२९) और (३०) धार्मिक कर, धार्मिक शिक्षा अल्पसंख्यकों को सांस्कृतिक और शिक्षा की स्वतन्त्रता देते हैं और अनुच्छेद (३१) व्यक्ति को सम्पत्ति अर्जन की स्वतन्त्रता देता है। संविधान का भाग होने के कारण ये अधिकार मूल हैं। संविधान द्वारा दिए गए हैं, विधि द्वारा नहीं। अतः ये संविधान संशोधन विधि से ही परिवर्तित किए जा सकते हैं। यदि राज्य का कोई क़ानून इनसे असंगत है तब उस हद तक क़ानून रद्द समझा जाएगा।

जहाँ तक ऐच्छिक विषयों का सम्बन्ध है, समाजवादी और असमाजवादी कार्यों के बीच कोई निश्चित लकीर खींचना सम्भव नहीं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जो राज्य समाजवादी नहीं भी हैं वे भी कल्याण-राज्य के सिद्धान्त की ओर झुक रहे हैं और अनेकों ऐसे कार्य करते हैं जो समाजवादी राज्य करते हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि ब्रिटेन अथवा अमरीका समाजवादी राज्य नहीं, परन्तु फिर भी वहाँ व्यक्ति के लिए अधिक सुविधा और सुरक्षाएँ हैं और नागरिकों की आय में इतनी विषमता नहीं, वहाँ के सामाजिक जीवन में ग़रीब और अमीर के बीच इतनी खाई नहीं जितनी भारतवर्ष में है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एक समाजवादी राज्य लगभग उन सभी कार्यों को करता है जिनको असमाजवादी राज्य के कार्य कह सकते हैं। भारत की कल्याण राज्य की धारणा उसके संविधान के भाग ४ राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व में निहित है। राज्य उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। अनुच्छेद (३८) के अनुसार "लोक-कल्याण की उन्नति के हेतु राज्य सामाजिक व्यवस्था बनाएगा।" अनुच्छेद (३९) के अनुसार "राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) समान रूप से नर और नारी, सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्त्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो ;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो ;

(घ) पुरुषों और स्त्रियों, दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो, तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोज़गारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो।

(च) शैशव और किशोरावस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।"

अनुच्छेद (४०) के अनुसार राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा और अनुच्छेद (४१) के अनुसार "राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहानि तथा अन्य अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्य-साधन उपबन्ध करेगा। अन्य अनुबन्धों में काम की यथोचित दशा और प्रसूति सहायता, श्रमिकों के लिए निर्वाह, मज़दूरी आदि, नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता, बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, आहार पुष्टि तल और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्त्तव्य, कृषि और पशु-पालन संगठन, राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारकों, स्थानों और चीज़ों का रक्षण आदि का उल्लेख है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि राज्य लोकहित सम्बन्धी अनेक कार्य अपने हाथ में लेना चाहता है। परन्तु राज्य जिन कार्यों को हाथ में ले चुका है, उनको संक्षेप में देने का प्रयत्न निम्न पंक्तियों में किया गया है।

समाजवादी अथवा असमाजवादी कार्य सूची की बारीकियों में न पड़ भारतीय राज्य और समाज के नए उद्देश्य की ओर ध्यान आकर्षित करना अधिक उपयुक्त होगा। इसी के आधार पर भारतीय राज्य के ऐच्छिक कार्यों का विश्लेषण किया जाएगा। भारतीय शासक दल (कांग्रेस) और भारतीय सरकार समाजवादी ढंग के समाज (Socialistic Pattern of Society) का निर्माण करना चाहते हैं। इसकी विशेषताएँ निम्न हैं :—

(१) इस समाज में व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण का अन्त करने का प्रयत्न किया जाएगा। अर्थात् उत्पादन के साधनों का यथासम्भव राष्ट्रीय अथवा समाजीकरण होगा। अधिकांश बड़े पैमाने के उद्योग, मूल उद्योग आदि का राज्य स्वयं निर्माण करेगा। (२) राज्य तुरन्त ही पूँजीवाद का अन्त न करेगा और न उनके लाभ का ही अन्त करेगा, परन्तु उनके शोषण की शक्ति

पर प्रतिबन्ध लगाएगा, मज़दूर आदि की रक्षा-हित क़ानून बनाएगा, पूँजीपतियों की आय को टैक्स द्वारा कम करके आर्थिक समानता और वर्गहीनता की ओर बढ़ेगा। (३) इसी प्रकार ग्राम जीवन में भी शोषण का अन्त और समता स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। (४) राज्य व्यक्ति को भाँति-भाँति की सुविधाएँ और सुरक्षा प्रदान करेगा। (५) यह सब कार्य शान्तिमय उपायों द्वारा किए जाएँगे। (६) व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखा जाएगा आदि।

भारत की केवल आर्थिक ही नहीं वरन् शिक्षा आदि अन्य अनेक क्षेत्रों में उन्नति के लिए भारतीय सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के ढंग को अपनाया है। पंचवर्षीय योजनाओं का आरम्भ सोवियत देश से हुआ। अतः इनका योजनात्मक अथवा साम्यवादी एवं समाजवादी उत्पादन से सम्बन्ध रहा है। आरम्भ काल में योजनात्मक उत्पादन की कड़ी आलोचना की गई, इसको साम्यवादी, बोल्शेविक अथवा निरंकुशवादी ढंग कहा गया। किन्तु इस समय इसको न केवल समाजवादी और सोवियत देश अपनाते हैं—वहाँ तो किसी अन्य आधार पर उत्पादन कठिन है—परन्तु अन्य देश भी अपनाने लगे हैं। भारत ने एक दो योजनाओं के विवरण बनाए हैं, परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं तक को ध्यान में रखा है।

भारतीय राज्य के वर्त्तमान ऐच्छिक कार्यों को मोटेतौर से चार भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) आर्थिक, (२) सामाजिक, (३) शिक्षा सम्बन्धी, और (४) अन्य।

(१) **आर्थिक कार्य** :—भारतवर्ष के लिए आर्थिक कार्यों का बहुत बड़ा महत्त्व है। आर्थिक रूप से भारत पिछड़े हुए देशों में रहा है। यद्यपि यहाँ का बहुमत ग्रामीण जीवन व्यतीत करता है और अधिकांश जनसंख्या खेती पर जीवित है तथापि ब्रिटिश काल में ऐसी दुर्दशा हुई कि भारत खाद्य और कृषि पदार्थों में भी आत्म-निर्भर न रह गया था। उसको करोड़ों रुपए के खाद्य पदार्थ अमरीका तथा अन्य देशों से मँगाने पड़ते थे। उद्योग-धन्धों में तो देश बिल्कुल ही पिछड़ा हुआ था। अतः यदि देश को आगे बढ़ना था तो उसको खाद्य पदार्थ और उद्योग-धन्धों में आत्म-निर्भर होना आवश्यक था। भारतवर्ष के लिए कृषि और उद्योग दोनों की उन्नति की आवश्यकता थी। क्योंकि कृषि में उन्नति के बिना देश में आए दिन अकाल की सम्भावना बनी रहती थी और बाहर से खाद्य पदार्थ मँगाने के कारण देश दिवालिया बना रहता था। इधर औद्योगीकरण के लिए पूँजी न रह जाती थी और ग्राम की ग़रीब जनता के पास पैसा न होने के कारण मशीन की चीज़ों का बाज़ार सीमित हो जाता था जिससे औद्योगीकरण के रास्ते में रुकावट पैदा होती थी। औद्योगीकरण के बिना खेती की

उन्नति भी असम्भव है। खेती के लिए रासायनिक खाद और मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। तभी खेती की सच्ची उन्नति हो सकती है। ये उद्योग-धन्धों से प्राप्त होते हैं। उद्योग-धन्धों के बढ़ने से ग्राम की अतिरिक्त जनता इनकी ओर खिचती है। इस प्रकार ग्राम की बेकारी कम होती है और किसान को अधिक ज़मीन मिलने के कारण वे समृद्ध होते हैं।

(क) **कृषि कार्य :—**ऊपर कृषि के महत्त्व की ओर ध्यान दिलाया गया है। परन्तु इसकी अनेक समस्याएँ हैं। सबसे बड़ी समस्या तो कृषि उत्पादन के सम्बन्धों की समस्या थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में ही किसान आन्दोलन ज़मींदारी उन्मूलन की माँग कर रहा था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इसका स्थगित करना कठिन था। प्रश्न यह था कि क्या सरकार और किसान के बीच ज़मींदार जैसे बिचोलिए की आवश्यकता है? ज़मींदारी व्यवस्था के अन्य भी दोष थे, अतः विभिन्न प्रान्तों ने कृषि सम्बन्धी क़ानून बना कर इस प्रथा का उन्मूलन किया। उत्तर प्रदेश में किसानों को ज़मीन बेच कर उनको "भूमिधर" के अधिकार भी दिए गए जिनके अनुसार उनका लगान आधा हो गया। इन क़ानूनों का आशय सरकार और किसान के बीच से मध्यस्थ को हटाना था। इससे शासन को भी बल मिला। इसके अतिरिक्त सरकार ने खाद, बीज, सिंचाई, तक़ावी का ऋण आदि देकर भी खेती को प्रोत्साहन दिया। उसने तराई की ज़मीन और बंजर ज़मीन को भी खेती योग्य बना कर खेती के क्षेत्र का विस्तार किया। इस सम्बन्ध में राज्य ने किसानों को ऋण देने की व्यवस्था की है और पुराने ऋणों से उनका उद्धार करने का भी प्रयत्न किया है। राज्य ने किसानों की सुविधा के लिए बाज़ारों का प्रबन्ध और सहयोगी संस्थाओं का प्रचार किया है। अच्छे बीज और खाद आदि का अनुसंधान कार्य भी राज्य द्वारा किया जाता है। किसानों को सस्ती के संकट से बचाने के लिए राज्य उनकी पैदावार ख़रीदने का भी विचार रखता है।

(ख) **उद्योग :—**उद्योगों का हमारे लिए विशेष महत्त्व है। औद्योगीकरण के बिना न केवल कृषि और उद्योगों की उन्नति असम्भव है, न केवल रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सकता, वरन् देश की स्वतन्त्रता भी सम्भव नहीं। देश की रक्षा के लिए वर्त्तमान काल में मशीनों, तोप, टैंक, मोटर और हवाई जहाजों आदि की आवश्यकता होती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में व्यक्तिगत पूँजी का अभाव होने के कारण अनेकों उद्योग राज्य को स्वयं बनाने पड़े हैं। इनमें सिंधरी का खाद का कारखाना, अनेक बिजली घर, रेल के इंजिन के कारखानें, खानें, पेट्रोल के कारखाने आदि मुख्य हैं। नए फ़ौलाद के कारखाने राज्य की ओर से बनाए जाएँगे। इसी प्रकार नई खानें भी राज्य की होंगी।

उद्योगों के कार्य के सम्बन्धों को चार तत्त्वों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वामित्त्व, (२) श्रम, (३) पूँजी और (४) भोक्ता। भारत में उद्योगों का स्वामित्त्व एक हद तक निजी है, परन्तु उसके ऊपर भी सरकारी नियन्त्रण है। इसके अतिरिक्त राजकीय और राज्य तथा व्यक्तिगत पूँजीपति अथवा निजी कम्पनियों के मिले-जुले उद्योग हैं। राज्य निजी उद्योगों को भी भाँति-भाँति की सुविधा और सहायता देता है। राज्य ने श्रमिक (मज़दूर) और भोक्ता (Consumer) की रक्षा के लिए अनेक क़ानून बनाए हैं। इसी प्रकार पूँजी लगानेवाले की रक्षा के लिए बैंक और बीमा आदि के सम्बन्ध में क़ानून बनाए गए हैं। सरकार इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया के राष्ट्रीय-करण के लिए भी प्रयत्नशील है। भारतीय उद्योगों की रक्षा के लिए सरकार विदेशी माल पर भारी तटकर लगाती है और उनकी खपत के लिए विदेशी बाज़ार खोजती तथा अन्य देशों से व्यापारिक समझौते करती है।

उत्पादन की वृद्धि के बिना देश समृद्धशाली नहीं हो सकता। परन्तु वितरण का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उत्पादन का। क्योंकि यदि वितरण ठीक नहीं तो सम्भव है कि समाज में आर्थिक संकट उपस्थित हो जाएँ और उससे उत्पादन को धक्का लगे। इसके अतिरिक्त असमान वितरण से श्रमजीवी को काम में दिलचस्पी नहीं रह जाती। आर्थिक विषमता से सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक परिणाम भी घातक होते हैं। अतः यथा-सम्भव समाज अथवा राज्य को आर्थिक समता और सम वितरण की ओर बढ़ना चाहिए। भारतीय राज्य और समाज के सामने समाजवादी ढंग के समाज का लक्ष्य होने के बाद और चारा भी नहीं रह जाता। इसके लिए आवश्यक है कि विविध प्रकार से अधिक आयों को कर द्वारा कम किया जाए। इसके लिए आय, मृत्यु, उत्तराधिकार आदि पर कर लगाए जा सकते हैं और अमीरों के ख़रीदने योग्य आराम की चीज़ों, जैसे मोटर, रेडियो आदि पर भारी बिक्री कर लगाए जा सकते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक पैमाने पर समान और मुफ्त सुविधाएँ दी जा सकती हैं, जैसे, इलाज, शिक्षा, पेंशन, मातृत्त्व आदि की सुविधाएँ। भारतीय सरकार ने इस ओर भी पहले क़दम उठाए हैं।

(२) **सामाजिक :—**सामाजिक, आर्थिक आदि उन्नति एक दूसरे पर अवलम्बित होती है। उदाहरण के लिए यदि नारियाँ घरों के अन्दर ही रहेंगी तो उनकी मानसिक, शारीरिक आदि उन्नति में बाधा पड़ेगी। वे घर से बाहर नहीं आ सकतीं। वे अन्य देशों की भाँति दुकान और दफ्तर, मिल और कार-खानों में काम नहीं कर सकतीं। जनसंख्या के आधे भाग को इस प्रकार पंगु

बनाने से समाज-उन्नति में बाधा उपस्थित हो सकती है। अनेक सुधारकों ने इस प्रकार के सुधारों की ओर ध्यान दिया। ब्रिटिश राज्य काल में भी विवाह सम्बन्धी क़ानून (१९२९ में) पास हुआ जिसको "शारदा बिल" के नाम से पुकारा जाता है। इसका आशय बाल-विवाह को बन्द करना था। इस क़ानून को केवल सीमित सफलता मिली। क्योंकि जनता में इतनी चेतना न थी कि ऐसे क़ानून का पालन करती। परन्तु मध्यम वर्ग ने, अधिकांशत: इसका पालन किया। जहाँ तक इन क़ानूनों का सम्बन्ध है, यह आवश्यक है कि जनता के रिवाज़ों और उसकी चेतना का ध्यान रखा जाए। इनके समर्थन के लिए यह भी आवश्यक है कि क़ानून के पास होने से पहले और उसके बाद जनता में प्रचार किया जाए ताकि इन क़ानूनों का पालन हो सके। अन्यथा, सामाजिक परम्पराओं से टक्कर लेना कठिन कार्य है। जनता इन क़ानूनों के प्रति अन्य-मनस्क हो सकती है। इस प्रकार उसको क़ानूनों की अवज्ञा करने की आदत पड़ जाएगी और यह किसी राज्य के लिए भयावह परिस्थिति होगी। इस सम्बन्ध में भारतीय सरकार का ध्यान दो सामाजिक कार्यों की ओर आकर्षित करना उपयुक्त होगा।

(१) **शराबबन्दी :**—गांधीजी के प्रभाव में जिस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन ने विदेशी सामान के बहिष्कार का आन्दोलन चलाया था उसी प्रकार एक समय शराबबन्दी आन्दोलन भी चलाया गया था। सन् १९३७ में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें बनाए जाने पर यह प्रश्न व्यावहारिक रूप में सामने आया। मद्रास की तथा अन्य कांग्रेसी सरकारों ने इस सम्बन्ध में क़ानून बनाए और अपने प्रान्तों में आंशिक अथवा पूर्ण रूप से शराबबन्दी आरम्भ की। उस समय यह कहा गया कि इससे जनता को लाभ हुआ है। इससे व्यक्ति की आय शराब में खर्च न होकर खाने आदि पर खर्च की जाती है जिससे कुटुम्ब का स्वास्थ्य अच्छा होता है। इससे मनुष्य का नैतिक सुधार होता है, तथा स्त्री और पुरुष एवं पिता तथा सन्तान के सम्बन्धों में सुधार होता है।

परन्तु इस प्रश्न का दूसरा भी पक्ष था। सर्वप्रथम तो यह कि शराब के टैक्स (करों) से प्राप्त सरकारों की आय न केवल ख़त्म हो जाती थी और यह आय प्रान्तीय सरकारों के लिए महत्त्वपूर्ण थी, वरन् इसकी जगह सरकार को शराबबन्दी के लिए सरकारी निरीक्षक आदि अनेक कर्मचारी रखने पड़ते थे। अत: करोड़ों के लाभ के स्थान में सरकारों को करोड़ों रुपए की हानि थी। इसके अतिरिक्त शराब के व्यापारी और इस व्यापार में लगे हुए कर्मचारी और श्रमिक बेकार हो गए। ताड़ी का व्यापार बन्द होने पर हजारों और लाखों व्यक्ति बेकार हो गए। शराब पीने वालों ने शराब छोड़ी, यह भी संदिग्ध

विषय है। अनेक स्थानों पर ग़ैर-क़ानूनी ढंग से इसका बनना आरम्भ हुआ। इस आधार पर एक चोरबाजार और अवैध व्यापार उठ खड़ा हुआ। युद्ध के बीच कांग्रेसी सरकारों के खत्म होने के बाद ब्रिटिश शासकों को इसके लिए कोई उत्साह भी न रह गया था।

युद्ध के बाद ज्यों ही कांग्रेस सरकारें बनीं, यह प्रश्न फिर उठा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, शराबबन्दी देश के संविधान के निर्देशक तत्वों का अंग है। विभिन्न प्रान्तों में आंशिक रूप से यह लागू भी है। यह सच है कि भारत की परिस्थिति अमरीका तथा योरोपीय देशों से भिन्न है। यहाँ देश के दोनों प्रमुख धर्म—हिन्दू और मुस्लिम—धार्मिक रूप से शराब के विरोधी हैं। भारतीय जलवायु में न केवल इसकी कोई आवश्यकता है, वरन् गर्मी के कारण यहाँ यह हानिकारक भी है। कदाचित् भारत के अधिकांश निवासी स्वयं ही शराब नहीं पीते। इसका पीना बुरा भी मानते हैं। प्रश्न केवल यह है कि इस उद्देश्य की किस प्रकार पूर्ति की जाए? अनेक व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों अथवा दु:खों से त्राण पाने, अथवा अनेक श्रमिक अपनी थकावट को भूलने के लिए भी इसकी लत में पड़ जाते हैं। इनके जीवन को सुखमय बनाना और इनके लिए मनोरंजन के साधन उपलब्ध करना तथा इनके काम को भी हल्का और मनोरंजक बनाना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी ओर शराबबन्दी द्वारा उत्पन्न बेकारी और राज्यों की घटती हुई आय तथा इस क़ानून के ख़र्चे के पक्ष को भी नहीं भुलाया जा सकता। हाल ही में आन्ध्र देश में इस प्रश्न की जाँच हुई और कमेटी की रिपोर्ट शराबबन्दी के विरुद्ध थी। वहाँ की कांग्रेसी सरकार की हार का एक यह भी कारण था कि वह शराबबन्दी के कार्यक्रम पर दृढ़ रही और उसने कमेटी की रिपोर्ट को अस्वीकार किया।

(२) **हिन्दू कोड बिल :**—यह सामाजिक सुधार का दूसरा बड़ा क़दम है, जिसको भारत सरकार ने उठाया है। इस सम्बन्ध में राव कमेटी द्वारा एक बिल सन् १९४७ में धारा सभा में पेश किया गया था। परन्तु सन् १९५१ तक भी यह पास न हो सका। लोकसभा की अवधि समाप्त होने पर इस बिल का भी अन्त हो गया। परन्तु इस लोकसभा में यह फिर से सन् १९५२ में रखा गया है। इसका आशय हिन्दू विवाह पद्धति में सुधार करना, पूरे देश के हिन्दू विवाह नियमों में एकता स्थापित करना आदि है। विभिन्न पक्षों से इसका घोर विरोध भी है। विशेषकर इसलिए कि यह क़ानून तलाक़ का अधिकार स्वीकार करता है और स्त्री को भी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाता है। यह क़ानून एक पति और एक पत्नी वृत को भी क़ानून की शक्ल देता है।

मोटेतौर से इसके पक्ष के तर्क ये हैं—सभी सभ्य देशों में एक पति और एक पत्नीवृत स्वीकार किया जा चुका है। भारत को भी इस नियम का पालन करना चाहिए। यह सत्य है कि व्यवहार में अधिकांशतः यही होता है। परन्तु इस क़ानून के अपवाद भी अनेकों पाए जाते हैं। विशेषकर पिछड़ी जातियों में और पुरुषों की ओर से। इससे स्त्रियों को अत्यन्त दुःख सहन करना पड़ता है। उनका घर में आदर नहीं होता।

तलाक़ और सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी स्त्रियों को समानता और स्वतन्त्रता देने की ओर एक क़दम है। हमारे समाज में स्त्री काम करती है। परन्तु वह केवल घर का काम करती है। कमाने, रुपए पैदा करने का काम पुरुष करता है। पिता अथवा पति की सम्पत्ति में स्त्री का कोई भाग नहीं होता। अतः स्त्री को किसी प्रकार का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार नहीं। परिणाम यह कि उसका समाज में कोई स्थान, उसका कोई सम्मान नहीं रह जाता। स्वयं वह अपने को दास अथवा आश्रित समझ बैठती है। उसके व्यक्तित्त्व का विकास नहीं होता। अतः यह आवश्यक है कि उसको सम्पत्ति का अधिकार हो।

तलाक़ के अर्थ स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों की अराजकता नहीं। इन सम्बन्धों को स्वतन्त्र आधार पर रखने का प्रयत्न है जिससे कि पति और पत्नी दोनों ही एक दूसरे को समान समझें। एक दूसरे का आदर करें और सच्चा प्रेमभाव पैदा हो। यह कहा जाता है कि हिन्दू धर्म में विवाह एक संस्कार है, यह शाश्वत सम्बन्ध है। परन्तु अनेकों ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं जब यह बन्धन असम्भव हो जाता है। इसका टूटना ही दम्पत्ति के लिए और समाज के लिए हितकर होता है। यदि आपसी मन मुटाव बढ़ कर नित्य के कलह का रूप धारण करे तो उसका न केवल स्त्री और पुरुष वरन् सन्तान पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। विवाह के पूर्व पति अथवा पत्नी को ऐसे रोग हो सकते हैं जिनका विवाह के बाद पता लगने पर विवाहित जीवन सदा के लिए दुःखमय हो सकता है। विवाह के बाद भी ऐसी परिस्थितियाँ सम्भव हैं। अतः ऐसी अनेक परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित में यही है कि उसको तलाक़ का अधिकार हो।

(३) **शिक्षा सम्बन्धी कार्य :**—समाज अथवा राज्य की उन्नति में शिक्षा का क्या स्थान है इसका महत्त्व समझना भी परमावश्यक है। जब उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी ने उन्नति की ओर पग बढ़ाने का निश्चय किया तो उसने देश में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार वह शीघ्र ही अन्य योरोपीय देशों के निकट पहुँच गया और उनसे आगे बढ़ गया। इसके बाद योरोप के अन्य देशों ने भी शिक्षा का महत्त्व समझा। शिक्षा केवल ज्ञान के

लिए ही आवश्यक नहीं। खत पढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो इसकी आवश्यकता है ही। परन्तु यदि देश को औद्योगिक और कृषि में उन्नति करना है, तब इसके लिए भी गणित और विज्ञान और विभिन्न प्रकार की जानकारी की आवश्यकता है। शिक्षा के बिना समाज सुधार भी असम्भव हो जाता है। परन्तु इसके रास्ते में अनेक रुकावटें हैं। सबसे पहली और बड़ी रुकावट तो यह है कि भारतीय जीवन में अभी इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। किसान का अभी वही पुराना जीवन है। उसके पास मुश्किल से साल में एक-दो पत्र आते होंगे। उनको वह गाँव के शिक्षक अथवा पटवारी से पढ़वा लेता है। यदि वह शिक्षित भी है तो उसका जीवन में कोई उपयोग और प्रयोग न होने के कारण भूल जाता है। युद्ध काल में शिक्षित क्लर्कों की आवश्यकता पड़ी थी। उस समय ग्रामीण जनता में भी शिक्षा के प्रति उत्साह था। इस समय शिक्षित वर्ग में बेकारी बढ़ने के कारण वह जोश भी ठण्डा हो चला है। ग्रामीण पैदावार के दाम गिरने, मध्यम वर्ग की आय न बढ़ने और शिक्षा के व्यय के बढ़ने के कारण भी अनेक बच्चे अशिक्षित रहने लगे हैं। दूसरी कठिनाई है सरकारों के पास धन न होने की। कहा जाता है कि दस वर्ष की शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए देश को २०० करोड़ रु० की आवश्यकता होगी और यह उस समय जब कि प्रत्येक विद्यार्थी के ऊपर केवल लगभग २) व्यय किए जाएँ। ब्रिटेन में प्रत्येक विद्यार्थी के ऊपर लगभग ८०) खर्च किए जाते हैं। भारत ब्रिटेन के बराबर खर्च नहीं कर सकता। परन्तु यदि शिक्षा स्तर का ध्यान रखना है तब केवल २) प्रति विद्यार्थी व्यय करने से शिक्षा में उन्नति नहीं की जा सकती।

सन् १९५१ की जनसंख्या के अनुसार भारत में केवल १६ प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हैं। इनमें भी अधिकांश नाममात्र के लिए ही शिक्षित हैं। पंचवर्षीय योजना में शिक्षा विकास का भी स्थान है। उसने उच्च और माध्यमिक शिक्षा के लिए कमीशन नियुक्त कर जाँच कराई है। संघ सरकार शिक्षा की उन्नति के लिए राज्यों को सहायता भी दे रही है। विश्व-विद्यालयों की शिक्षा की सहायता के लिए संघ सरकार ने एक ग्राण्ट कमीशन (Grants Commission) भी नियुक्त किया है।

(४) **अन्य कार्य :**—अन्य कार्यों में वैज्ञानिक और अनुसंधान कार्य मुख्य हैं। सरकार ने वैज्ञानिक और कृषि तथा अर्थ सम्बन्धी अनुसंधान के लिए विभिन्न स्थानों पर इन्स्टीट्यूट स्थापित किए हैं। अणु-शक्ति सम्बन्धी कार्य भी संघ सरकार की ओर से किया जा रहा है।

सहायक पाठ्य ग्रन्थों की सूची

राजनीतिशास्त्र के अध्ययन करने तथा इस ग्रन्थ के लिखने में लेखकों को जो ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हुए उनकी सूची यहाँ दी जाती है। अधिक विस्तृत अध्ययन के लिए विद्यार्थी उनकी सहायता ले सकते हैं :

Amos, S.	The Science of Politics
Aristotle	The Politics
Austin, J.	Lectures on Jurisprudence
Argal, R.	Municipal Govt. in India
Barkar	Political Thought From Spencer to today
Beard, G. A.	American Government and Politics
Bluntshchli, J. K.	Theory of the State
Bosanquet, B.	Philosophical Theory of the State
Bryce, J.	The American Commonwealth
,, ,,	Modern Democracies
,, ,,	Studies In History and Jurisprudence
Buell, R. L. & others	New Governments in Europe
,, ,,	Democratic Governments in Europe
Burns, C. D.	Political Ideals
Carr, E. H.	Nationalism And After
Cohen, H. E.	Recent Theories of Sovereignty
Coker	Recent Political Thought
Crane, R. T.	The State In Constitutional And International Law
De Conlanges, Fustel	The Ancient City
Deaby, J. Q.	Development of the State
Dicey, A. V.	Law of the Constitution
Dodd, W. F.	Modern Constitutions
Dunning, . W A.	History of Political Theories
Eaton, D. B.	Government of Municipalities
Ely, R. T.	Socialism and Social Reform
Figgis, J. N.	Theory of Divine Right of Kings
Filmer, Sir Robert	Patriarcha
Finer	Theory and Practice of Modern Governments
Follett	The New State
Fowler, W. W.	The City State of the Greeks and Romans
Freeman, E. A.	Comparative Politics

Freeman, E. A.	History of Federal Government
Garner, J. W.	Introduction to Political Science
,, ,, ,,	Political Science and Government
Gettel, R. G.	Introduction to Political Science
,, ,, ,,	History of Political Thought
Gierke, O.	Political Theories of the Middle Ages
Gilchrist, R. N.	Principles of Political Science
Goodnow, F. J.	Municipal Government
,, ,, ,,	Municipal Problems
,, ,, ,,	Politics and Administration
Graham Wallas	Our Social Heritage
Gurian	Bolshevism in Theory and Practice
Gyanchand	Financial System of India
,,	Essentials of Federal Finance
Hobbes	Leviathan
Hobhouse	Social Evolution And Political Thought
Hobson, J.	Evolution of Modern Capitalism
Holland, T. E.	Elements of Jurisprudence
Hoover, C. B.	Dictators of Democracies
Jayaswal, K. P.	Hindu Polity
Jenks, E.	History of Politics
,, ,,	An Outline of English Local Government
Tennings W. I.	Cabinet Government
,, ,, ,,	Law and the Constitution
Joad, M.	Liberty Today
Jhonson, A. W.	The Unicameral Legislature
Jones, W. T.	Masters of Political Thought
Keith, A. B.	Responsible Government in the Dominions
Labonlaye	The Modern State
Laski, H. J.	Grammar of Politics
,, ,,	Introduction to Politics
,, ,,	Parliamentary Government In England
Leacock, S.	Elements of Political Science
Locke, John	Two Treatises on Government
Lowell, A. L.	Essays on Government
	The Government of England
Machiavelli	The Prince
MacIver	The Modern State
,,	Community
Maine, Sir Henry	Ancient Law
,, ,,	Early History of Institutions

Maine, Sir Henry	Early Law and Customs
Magyars Zoltan	Industrial State
Majumdar, R. C.	Corporate Life In Ancient India
Majumdar, B. B.	History of Political Thought From Rammohan to Dayanand
Marriot	Mechanism of the Modern State
,,	English Political Institutions
Maud, J. P. R.	Local Government in Modern England
M'kechnie, W. S.	The State and the Individual
McLennan, J. F.	The Patriarchal Theory
Merriam, C. E.	History of the Theory of Sovereignty since Rousseau
Merriam and Burns	History of Political Theories
Mill, J. S.	On Liberty
Montesquien	Spirit of the Laws
Ogg, F. A.	English Government And Politics
Ostrogorski, M.	Democracy and the Political Parties
Plato	The Republic
Pollock, E.	Introduction to the History of the Science of Politics
Ritchie, D. G.	Natural Rights
Rockow	Contemporary Political Thought In England
Roussean	Social Contract
Sabine	History of Political Thought
Sait	Government And Parties In France
Schuman	F. L. International Politics
Sharp, W. R.	The Government of the French Republic
Sidwick, H.	Elements of Politics
,, ,,	Development of European Polity
Spearman, Dianna	Modern Dictatorship
Strong	Modern Political Institutions
Webb, S. and B.	Soviet Communism, A New Civilization
Willoughby, .W W.	The Nature of the State
,, ,,	American Constitutional System
,, ,,	Political Theories of the Ancient World
,, ,,	A Study of Political Philosophy
Wilson, W.	The State
,, ,,	Constitutional Government In the U.S.A.
,, ,,	Congressional Government
Zimmern, A. E.	Nationality And Government
,, ,, ,,	The Third Empire

अभ्यास के प्रश्न

अध्याय १

1. Is there a science of Politics ? What are the Methods which it pursues for the gathering of its material ? (Agra 1953)

2. Define Political Science and distinguish it from Politics and Political Philosophy. Is Political Science really a Science ? (Agra 1951)

3. Elucidate the following statements indicating clearly the nature and scope of Political Science :

   (*a*) Politics are vulgar when not liberalised by history ; and history fades into mere literature when it loses sight of its relation to Politics.

   (*b*) Economic life is conditioned by political institutions and ideas ; political movements are profoundly influ-nced by economic causes. (Agra 1950)

4. "Political Science is ultimately related to all those sciences which deal with man in organised society". Expand the Statement. (Rajputana 1951)

5. (*a*) Define the scope of Political Science.

   (*b*) Bring out the relation between Political Science and (i) History and (ii) Economics. (Punjab 1950)

अध्याय २ और ३

1. Define the State and discuss the essential elements which constitute it. (Agra 1954)

2. "The State is an Organism". Summarise and criticise the theory of Herbert Spencer as embodied in this quotation. (Agra 1954)

3. 'A nation is not necessarily a state any more than a state is necessarily a nation'. Explain the meaning of this statement and clearly differentiate 'State' from 'Nation' and 'Nationality'. (Agra 1951)

4. Distinguish clearly between Society, State, and Nation. (Punjab 1951)

5. Discuss briefly the main forces which have led to the emergence of the state. (Rajputana 1948)

6. Clearly distinguish between 'State' and 'Society' and explain how the two are inter-related. (Nagpur 1949)

7. Briefly state the Organic Theory of the State and estimate its value. (Nagpur 1949)

8. 'The State is natural'. 'The State comes into being for the sake of life, it continues for the sake of good life'. Describe in the light of these statements. Aristotle's theory of the origin and nature of the state. (Allahabad 1943)

अध्याय ४

1. 'Government is the offspring of evil, bearing about it the marks of its parentage' (Herbert Spencer). Examine this statement. (Rajputana 1951)

2. In Rousseau's account of the process by which the state was created 'the method of Hobbes and the conclusion of Locke, were curiously combined ? Explains. (Nagpur 1949)

3. Is force or consent the basis of the state ? Estimate the part played by these two elements in political obligation. (Agra 1953)

4. Discuss briefly the main forces which have led to the emergence of the state. (Rajputana 1948)

5. "Will, not force, is the basis of the State". Discuss this statement. (Banaras 1946)

अध्याय ५ और ६

1. Give a short account of the patriarchal theory of the origin of the state. What objections have been raised to this theory ? (Agra 1954)

2. Explain the Social contract theory of the Origin of the State with special reference to one leading exponent of this theory. (Rajputana 1951)

3. How do Hobbes, Locke and Rousseau differ from one another in their interpretation of the social contract theory and its implications ? (Calcutta 1950)

4. Describe in outline the patriarchal and Matriarchal theories of the origin of Society. (Punjab 1943)

5. "The accepted theory of the origin of the State of the Historical or Evolutionary theory" Discuss.
(Calcutta 1952)

6. Examine Rousseau's Social Contract Theory with special reference to his doctrine of 'General Will'.
(Nagpur 1944)

7. 'Hobbes's Sovereignty is **de facto** sovereignty, Rousseau's **de jure** sovereignty'. Discuss this statement.
(Allahabad 1944)

अध्याय ७

1. "Sovereignty as ideally conceived in legal theory nowhere actually exists". Discuss. (Agra 1953)

2. Explain briefly Austin's theory of Sovereignty and the objections to which it is open to-day.
(Agra 1951 ; Rajputana 1949)

3. Sovereignty and liberty are not contradictory terms but co-relative, the same things viewed from different aspects".
(Punjab 1951)

4. Define sovereignty and point out its main attributes. Examine the validity of the concept of Sovereignty in the light of criticism levelled against it by the protagonists of the doctrine of political pluralism. (Patna 1945)

5. Discuss the pluralistic criticism of the classical theory of sovereignty. (Nagpur 1946)

अध्याय ८

1. Bring out the relation between Law and Morality.
(Punjab 1951)

2. Define Law. How is it related to public opinion ?
(Punjab 1950)

3. What are the sanctions behind International Law ? How far are they effective ? (Punjab 1950)

4. Point out the difference between the Rule of Law and Administrative Law. Which of them offers better protection to the liberty of the citizen ? (Nagpur 1949)

5. Discuss the various sources of Law and distinguish between Statute Law and Constitutional Law. (Nagpur 1945)

अध्याय ९

1. "What makes a claim a right is not the mere fact that it is recognised by law but that it is morally justified" ? Bring out the significance of this remark. (Agra 1954)
2. Explain the various meanings of the term 'Liberty'. Does democracy necessarily guarantee liberty ? (Agra 1954)
3. Discuss the doctrine of natural right. How does the conception of the fundamental rights of the individual in some of the modern constituitions at once embody and restrict it ? (Agra 1953)
4. 'The liberty of the individual is not always in inverse ratio to the amount of State regulation'. Explain and illustrate this proposition. (Agra 1949)
5. What do you understand by the terms 'liberty' and 'equality'. Are they necessarily incompatible ? (Allahabad 1942)
6. Compare the conception of Locke, Green and Spencer in regard to Natural Right. Which do you think is the most correct ? (Allahabad 1943)

अध्याय १०

1. Describe the different methods of acquisition of citizenship. (Calcutta 1943)
2. How is citizenship acquired ? What is the difference between a citizen and an alien ? (Patna 1946)
3. Citizenship has been defined as the "contribution of one's instructed judgment to the public good". Examine this statement. (Lucknow 1946)

अध्याय ११

1. What do you mean by the term 'constitution' ? How far do you agree with the dictum of de tocqueville that "the British Constitution has no existence". (Agra 1942)
2. Elucidate Lowell's dictum that the distinction between Rigid and Flexible constitutions is one of degree rather than of kind. (Allahabad 1943)
3. Are the constitutions of *(a)* U. S. A. *(b)* England and *(c)* India rigid or flexible ? Give your reasons. (Nagpur 1944)

4. Discuss the value of fundamental rights in modern constitutions. (Madras 1944)

5. Explain how constitutions are made and amended. (Banaras 1947)

अध्याय १२

1. Do you consider Aristotle's classification of States as obsolete ? If so, suggest a classification in harmony with modern conditions. (Agra 1951)

2. What principles would you adopt in classifying Governments ? Illustrate your answer by referring to existing Governments. (Patna 1944)

3. Every government, whatever be the form is essentially an oligarchy. Examine. (Nagpur 1945)

4. Explain the different ways in which forms of government are classified. To which category would you assign the Government of India ? (Bombay 1950)

5. What is the importance of monarchies in the present day constitutions ? (Banaras 1946)

अध्याय १३, १४ और १५

1. "Democracy is the cult of incompetence" (Faquet). Comment. (Allahabad 1941)

2. What do you understand by the term Democratic Ideal ? Have the events of the last thirty years shaken your belief in the ideal ? Give reasons. (Patna 1945)

3. What have been the major defects of modern democracies ? Suggest measures for remedying them. (Calcutta 1946)

4. Differentiate clearly between Parliamentary and Presidential forms of Government. In which form do you think public liberty is more and better realised ? (Agra 1944)

5. Explain the statement that Federal Government is a sort of compromise between unitary government and confederate government. (Agra 1945)

6. Point out the differences between Unitary and Federal State and explain clearly the basic principles of federalism. (Agra 1947)

7. Compare the merits of Parliamentary and Presidential forms of Government. Which do you think is suitable for India ? (Nagpur 1947)

8. "A Federal State is a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of State rights". Elucidate and point out the elements of strength and weakness in a federal constitution. (Nagpur 1947)

अध्याय १६

1. "While the principle of Separation of Powers is generally admitted as valid the practical difficulties experienced in working it make it of little value to us today". State clearly what you understand by the theory of the Separation of Powers as stated by Montesquieu and show what are the practical difficulties in working it. (Agra 1946)

2. Strict separation of powers is not only impracticable, it is undesirable. Examine this statement. (Rajputana 1951)

3. Discuss the theory of separation of powers with special reference to its practical application. (Punjab 1951)

4. State and criticise the theory of Separation of Powers. (Allahabad 1941)

5. What is meant by Separation of Powers. How far is this separation found in India ?

अध्याय १७, १८ और १६

1. To what extent, if any, should a member of a legislature be bound by the instructions of his constituents. (Andhra 1942)

2. What are the devices of direct democracy that prevail in Switzerland ? How do you account for the fact that they have not worked successfully in other countries ?

3. Discuss the arguments for and against direct democracy with special reference to its devices of Initiative and Referendum. (Nagpur 1944)

4. What is meant by Plural Executive ? How does it differ from Cabinet Government ? Discuss with Illustrations Switzerland and Canada. (Nagpur 1944)

5. Explain the difference between the systems of the Parliamentary and the Presidential Executive with reference to France and the U. S. A. (Dacca 1944)
6. Clearly bring out the difference between Parliamentary, Presidential, Collegiate and Dictatorial forms of executive in the modern state. (Madras 1944)
7. Discuss the importance of Judiciary in a Federal State. (Utkal 1948)
8. Compare the position of the Federal Judiciary in the U. S. A. with that of Switzerland. (Bombay 1947)

अध्याय २०

1. Discuss the final basis of local government in India today and suggest improvement.
2. Describe the principal sources of income of local bodies in India and discuss their adequacy.
3. How do you explain the unsatisfactory character of local Government in India ? What remedies would you suggest ?
4. Describe the composition and powers of local bodies in India ? (Mysore 1949)

अध्याय २१

1. Describe the part played by political parties in democracies and totalitarian states. (Andhra 1947 ; Agra 1954)
2. Discuss the strength and weakness of political parties in the modern democratic states. What difference do you observe in this regard in dictatorial states ?
3. Discuss the use, abuse, and true role of the party system in a democracy. What do you think to be the future of party system ? (Patna 1944)
4. The tyranny of the modern party system impairs the efficiency of Parliamentary government. Discuss this in relation to the U. S. A. and France. (Utkal 1948)

अध्याय २२ से २६ तक

1. "The State can best further the happiness of individuals by interfering in their personal affairs as little as possible". Examine this statement critically. (Agra 1954)

2. What constitutes the legitimate functions of the State as conceived by the individualists ? Examine critically their points of view. (Agra 1944)
3. "The State is essentially an organisation for the promotion of the greatest happiness of the greatest number". Discuss this statement. (Agra 1951)
4. "The State is an entity over and apart from the people who compose it with a real will and personality of its own". Examine critically the theory of State as embodied in the above statement. (Agra 1950)
5. Discuss the ground on which the Individualistic theory of the functions of government is based. (Nagpur 1949)
6. "Various theories regarding the ends of the State represent but partial truths". Explain. (Rajputana 1951)
7. "The true interests of the individual and the true interests of the State are one and the same, viz. the fullest and freest development of human personality".

   Discuss the above statement in the light of the tenets of the Idealistic School of Political Thought. (Rajputana 1949)
8. Explain the aims and objects of State Socialism. (Punjab 1947)